UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182885

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—730—28-4-81—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. 11808 Accession No. P/G 111733

Author N1463

Title

This book should be returned on or before the date last marked below

Text Book

20 JAN 1987

भारतीय काव्य-शास्त्र
की
परम्परा

[भरत से लेकर वर्तमान हिन्दी-आलोचकों तक के
सैद्धान्तिक वक्तव्यों का संचयन]

★

सम्पादक—डा० नगेन्द्र

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई सड़क, दिल्ली

प्रकाशक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई सडक, दिल्ली

मुद्रक
युनिवर्सिटी प्रेस
दिल्ली-८

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' को

सप्रणाम !

श्रद्धेय दादा !

यह सम्पादित ग्रन्थ कदाचित् आपके गौरव के अनुकूल नही है। परन्तु आपकी आशुतोषता का दुरुपयोग तो सभी करते हैं, फिर मैं ही क्यो वञ्चित रहूँ ?

नगेन्द्र

निवेदन

विगत कुछ वर्षों से एक ऐसे ग्रंथ की रूपरेखा मेरे मन में धीरे-धीरे बन रही थी जिसके द्वारा भारतीय काव्य-शास्त्र की समृद्ध परम्परा का क्रमबद्ध निरूपण प्रस्तुत किया जा सके। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी की परिणति है। इसमे भरत से लेकर हिन्दी के वर्तमान आलोचको तक के प्रतिनिधि काव्य-सिद्धान्तो का संकलन है। ग्रन्थ का सम्पादन हिन्दी के काव्य-जिज्ञासु के लिए किया गया है, अत संस्कृत आचार्यो के वक्तव्यो का हिन्दी अनुवाद पहले और मूल बाद मे दिया गया है। इस कार्य के सम्पादन मे अत्यधिक श्रम और व्यय के अतिरिक्त तरह-तरह की बाधाओ का भी सामना करना पडा जिनके कारण अनेक बार गतिरोध उपस्थित हो गया था। परन्तु मेरे मन ने हार नही मानी और अन्त मे यह ग्रन्थ किसी न किसी रूप मे पूर्ण होकर आपके सम्मुख प्रस्तुत है। अपने ढग का यह प्रथम प्रयास है। इस प्रकार के सकलन-ग्रन्थ में चयन के विषय मे मत-भेद सहज सम्भव है—केवल आलोचको के निर्वाचन मे ही नही, उनके वक्तव्यो के निर्वाचन के सम्बन्ध मे भी तीव्र मतभेद हो सकता है। इस प्रसग मे पूर्ण मतैक्य अथवा सबका परितोष सम्भव नही है, अतएव कोई सफाई देना व्यर्थ है। मुझे आशका है कि मेरी भाँति पाठको को यहाँ स्वर्गीय हरिऔध का अभाव खटकेगा, प्रयत्न करने पर भी हम अधिकृत अनुमति प्राप्त करने मे असमर्थ रहे। मेरे मन मे हिन्दीतर भारतीय भाषाओ के काव्य-सिद्धान्तो का समावेश करने का विचार भी अनेक बार आया, पर उसके लिए कदाचित् दूसरा भाग ही अपेक्षित होगा।

इस ग्रंथ के सम्पादन मे मुझे अपने सहयोगियो तथा विद्यार्थियो का सहयोग आरम्भ से ही प्राप्त रहा है। वास्तव मे यह कार्य अपने आप में इतना बिखरा हुआ था कि इन सबकी सामयिक सहायता के बिना मै कृतकार्य हो ही नही सकता था। अतएव मेरे ये सभी सहायक डा० सावित्री सिन्हा, डा० उदयभानुसिह, श्री सत्यदेव चौधरी, श्री महेन्द्रनाथ चौबे और श्री सुरेशचन्द्र गुप्त—स्नेहाभार के पात्र है। इन्होने

जिस तत्परता के साथ मुझे सहयोग दिया है उसका स्मरण कर मैं इस समय एक प्रकार के सुखद गर्व का अनुभव कर रहा हूँ :

होता है कृतकृत्य सहज बहुजन-गृही ।

अन्त में मैं प्रस्तुत ग्रन्थ को अलंकृत करने वाले कृती आचार्यों के प्रति विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ । उनके अनुवादक और (अनुमति के लिए) उनके उत्तराधिकारी भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं ।

बुद्धजयन्ती, सम्वत् २०१३ विक्रमी
दिल्ली विश्वविद्यालय ।

नगेन्द्र

क्रमणिका

१. *भरत मुनि*

हिन्दी अनुवाद

रस-वर्णन; भाव-वर्णन; भावों का रस में विनियोग; अलंकार; काव्य-दोष; गुण, अलंकार; गुण, दोष और रस-संश्रयत्व १५

मूल पाठ (संस्कृत) ३३

२. *भामह* ३४

हिन्दी अनुवाद

काव्य-प्रशंसा; काव्य-साधन; काव्य-लक्षण; काव्य-भेद; वैदर्भ और गौड़ीय का भेद; वक्रोक्ति का माहात्म्य; सामान्य दोष; वाणी-दोष; दोषों के अन्य भेद; दोष का गुणत्व-साधन; गुण; अतिशयोक्ति; वक्रोक्ति; काव्य का माहात्म्य; शब्दों का असाधुत्व ३९

मूल पाठ (संस्कृत) ४६

३. *दण्डी* ४७

हिन्दी अनुवाद

काव्य और उसके भेद [महाकाव्य, गद्य-काव्य, आख्यायिका]; काव्य-मार्ग और गुण; काव्य-हेतु; अलंकार का स्वरूप; अतिशयोक्ति अलंकार; प्रेयस्, रसवत् और ऊर्जस्वि अलंकार; श्लेष अलंकार; काव्य-दोष ५४

मूल पाठ (संस्कृत) ६१

४. *उद्भट* ६२

हिन्दी अनुवाद

रसवत् अलंकार; प्रेयः अलंकार; ऊर्जस्वि अलंकार; समाहित अलंकार; उदात्त अलंकार; गुण और अलंकार में भेद; रीति और गुण का परस्पर सम्बन्ध-निर्देश, अभिधा-व्यापार, अलंकार ६५

मूल पाठ (संस्कृत) ६८

५. *वामन* ६९

हिन्दी अनुवाद

काव्य और अलंकार; काव्य का प्रयोजन; काव्य के अधिकारी; काव्य-रीति; काव्य के अंग; काव्य के भेद ८४

मूल पाठ (संस्कृत) ९४

६. *रुद्रट* ९५

हिन्दी अनुवाद

काव्य के प्रयोजन; काव्य-हेतु; अलंकार-वर्गीकरण ९८

मूल पाठ (संस्कृत) १०१

७. *आनन्दवर्द्धन* १०२

हिन्दी अनुवाद

ध्वनि की स्थिति और स्वरूप; ध्वनि के भेद; प्रबन्ध-काव्य में रसाभिव्यंजना; रस-विरोधी तत्त्व; प्रबन्ध-काव्य में अंगी रस; शृंगार का प्रमुख रसत्व; गुणीभूत व्यंग्य; चित्र-काव्य का स्वरूप; कवि-प्रतिभा १२८

मूल पाठ (संस्कृत) १४६

८. *अभिनवगुप्त* १४७

हिन्दी अनुवाद

भरत-सूत्र की व्याख्या; शान्त रस १५६

मूल पाठ (संस्कृत) १६३

९. *राज शेखर* १६४

हिन्दी अनुवाद

काव्य की रचना और स्वरूप; कवि-प्रतिभा और आलोचक; प्रतिभा और व्युत्पत्ति; काव्यार्थ १९२

मूल पाठ (संस्कृत) २०७

१०. धनंजय और धनिक २०८

हिन्दी अनुवाद

रूपक के भेद; नृत्य और नृत्त; रूपक के तीन आधार; रस और शब्द-शक्ति का सम्बन्ध; रसास्वाद और उसके भोक्ता; काव्य से स्वादोद्भूति और रस-संख्या; रस-स्वरूप का उपसंहार; शृंगार के विभाग २१६

मूल पाठ (संस्कृत) २२८

११. कुन्तक २२९

हिन्दी अनुवाद

काव्य-प्रयोजन; काव्य में अलंकार और अलंकार्य; काव्य और साहित्य; साहित्य का स्वरूप; वक्रोक्तिः स्वभावोक्ति-निराकरण। २५१

मूल पाठ (संस्कृत) २६३

१२. महिम भट्ट २६४

हिन्दी अनुवाद

वाक्य का स्वरूप; अर्थ के दो प्रकार; अनुमेयार्थ का स्वरूप और उसके भेद; वाक्यार्थ के भेद; अनुमेय-विषयता; वस्तु और अलंकार में औपचारिक व्यंग्यत्व की भी असम्भावना; रत्यादि भावों की प्रतीति के विषय में शंका और उसका परिहार; ध्वनि का परार्थानुमान में अन्तर्भाव; वाक्यार्थ की साध्य-साधना-भाव-गभंता; रत्यादि के सुख-हेतुत्व पर आक्षेप; विभावादि और हेत्वादि की अभेद-शंका; कृत्रिम विभावादि के द्वारा रसास्वाद; व्यक्ति का लक्षण और उसके तीन भेद; वाच्य में व्यक्ति-लक्षण की असंगति; काव्य का स्वरूप; अभिधा-स्थापना; काव्य में गम्य-गमक भाव। २७४

मूल पाठ (संस्कृत) २८४

१३. भोज २८५

हिन्दी अनुवाद

वाङ्मय के भेद; वाङ्मय के अन्य तीन प्रकार; रीति; अरीतिमत् दोष। २९१

मूल पाठ (संस्कृत) २९८

१४. *क्षेमेन्द्र* २९९

हिन्दी अनुवाद

औचित्य-निरूपण; पद-औचित्य; वाक्य-औचित्य; प्रबन्ध-औचित्य; गुणौचित्य; अलंकार-औचित्य; रसौचित्य; तत्त्व-औचित्य; सत्त्व-औचित्य; स्वभाव-औचित्य; प्रतिभा-औचित्य। ३०८

मूल पाठ (संस्कृत) ३१७

१५. *मम्मट*

हिन्दी अनुवाद

काव्य-प्रकरण; रस-निष्पत्ति; काव्य-दोष का स्वरूप; काव्य-गुण-निरूपण ३२३

मूल पाठ (संस्कृत) ३२७

१६. *रुय्यक* ३२८

हिन्दी अनुवाद

पूर्ववर्ती आचार्यों की काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी धारणाओं का पर्यवेक्षण ३३०

मूल पाठ (संस्कृत) ३३२

१७. *विश्वनाथ*

हिन्दी अनुवाद

काव्य-फल; काव्य का स्वरूप; काव्य के रूप; गद्य-काव्य ३४४

मूल पाठ (संस्कृत) ३५३

१८. *पण्डितराज जगन्नाथ* ३५४

हिन्दी अनुवाद

काव्य-लक्षण; काव्य-हेतुक प्रतिभा; काव्य-भेद; ध्वनि-काव्य के भेद; रस-ध्वनि; रस-भेद; गुण-निरूपण ३७७

मूल पाठ (संस्कृत) ३९२

१९. *केशवदास* ३९५

सामान्य काव्य-सिद्धान्त; रस-प्रसंग; काव्य-वृत्तियाँ ४००

२०. *चिन्तामणि* ४०१

सामान्य काव्य-सिद्धान्त; रस-प्रसंग; शब्दार्थ-निरूपण; अलंकार का स्वरूप; काव्य-दोष ४०५

२१ *कुलपति* ४०६

सामान्य काव्य-सिद्धान्त; शब्दार्थ-निरूपण; रस-प्रसंग; काव्य-वृत्तियाँ; काव्य-गुण; अलंकार का स्वरूप; काव्य-दोष ४१२

२२. *देव* ४१३

सामान्य काव्य-सिद्धान्त; रस-प्रसंग; काव्य-गुण; अलंकार-प्रयोग; शब्द-शक्तियाँ ४१७

२३. *श्रीपति* ४१८

काव्य की परिभाषा; काव्य-दोष; काव्य में अलंकार-प्रयोग; काव्य और रस ४१९

२४. *सोमनाथ* ४२०

सामान्य काव्य-सिद्धान्त; शब्द-शक्तियाँ; ध्वनि-प्रसंग; रस-प्रसंग अलंकार का स्वरूप; काव्य-दोष; काव्य-गुण ४२७

२५. *भिखारीदास* ४२८

सामान्य काव्य-सिद्धान्त; रस-प्रसंग; काव्य-वृत्तियाँ; काव्य-गुण; काव्य-दोष; शब्द-शक्तियाँ; तुक-विचार ४३५

२६. *प्रतापसाहि* ४३६

सामान्य काव्य-सिद्धान्त; रस-प्रसंग; ध्वनि-प्रसंग; शब्द-शक्तियाँ; काव्य-गुण;काव्य-दोष ४४०

२७. *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र* ४४१

नाटक का स्वरूप; नाटक-रचना की नवीन पद्धति; नाटक-रचना की प्रणाली ४४६

२८. *महावीरप्रसाद द्विवेदी* ४४७

कविता और छन्द; कविता की भाषा; कविता में अर्थ का गौरव; काव्य का विषय; काव्य में नायिका-भेद ४५६

२९. *मिश्रबन्धु* ४५७

काव्योत्कर्ष; समालोचक के गुण; काव्य का सत्य ४५८

३०. *कन्हैयालाल पोद्दार* ४५९

भक्ति रस है या भाव; व्यंजना-शक्ति का प्रतिपादन ४७३

३१. *रामचन्द्र शुक्ल* ४७४

अलंकार-अलंकार्य का भेद; साधारणीकरण; रसात्मकता की दो कोटियाँ; प्रत्यक्ष रसानुभूति; काव्य के विभाग; काव्य का लक्ष्य; प्रकृति-वर्णन और रस; भाव; भारतीय काव्य में प्रेम-पद्धति; प्रबन्ध-कल्पना; सम्बन्ध-निर्वाह; चमत्कार-पद्धति और रस-पद्धति; काव्य में कल्पना; सम्बन्ध-निर्वाह; चमत्कार-पद्धति और रस-पद्धति; काव्य में कल्पना का प्रयोग; काव्य का स्वरूप; अलंकार-विधान ४९२

३२. *श्यामसुन्दर दास* ४८३

साहित्य का स्वरूप; कला और आचार-शास्त्र; आलोचना के प्रकार ५०५

३३. *पद्मसिंह शर्मा* ५०६

काव्य में शृंगार रस; काव्य में भाव-वक्रता ५११

३४. *कृष्णबिहारी मिश्र* ५१२

भाषा का माधुर्य; समालोचना; तुलनात्मक समालोचना; रसराज; भाव-सादृश्य ५२३

३५. *गुलाबराय*

काव्य का सौन्दर्य; काव्य और साहित्य; प्रगति काव्य; दुःखान्त नाटक; साहित्य में चरित्र-चित्रण; साधारणीकरण का स्वरूप ५३४

३६. *जयशंकर 'प्रसाद'* ५३५

काव्य; कला; यथार्थवाद; छायावाद; नाटकों में रस का प्रयोग; रंगमंच ५४२

३७. *सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'* ५४३

कवित्त-छन्द; मुक्त काव्य और मुक्त छन्द ५४८

३८ *सुमित्रानन्दन पंत*

काव्य-भाषा; अलंकार; कविता और छन्द; काव्य का सत्य; काव्य और सौन्दर्य; काव्य और सिद्धि; काव्य में सत्य, शिव और सुन्दर; काव्य के नवीन आदर्श; कला और जन-जीवन; आदर्श और वस्तुवाद ५६१

३९. *महादेवी वर्मा* ५६२

काव्य-कला; बुद्धि-तत्त्व और हृदय-तत्त्व; सौन्दर्य; उपयोगी और ललित कला; बुद्धि-तत्त्व और राग-तत्त्व; कविता की परिभाषा; छायावाद; गीति-काव्य; आदर्श और यथार्थ; यथार्थवाद ५७०

४०. *लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'* ५७१

काव्य मे आदर्श और यथार्थ; काव्य की प्रेरणा; काव्य मे प्रतीक-योजना; काव्य में छन्द-प्रयोग ५८४

४१ *हजारीप्रसाद द्विवेदी* ५८५

भाषा की सहजता; साहित्य और सामंजस्य; यथार्थवाद; मानवतावाद; समालोचना और अध्ययन; साहित्य में शव-साधना और शिव-साधना ५९५

४२. *नन्ददुलारे वाजपेयी* ५९६

कविता का स्वरूप; साहित्य का प्रयोजन—आत्मानुभूति; छायावाद का स्वरूप ६०५

४३ *अपना मत* ६०६

साधारणीकरण; रस की स्थिति; साहित्य में आत्माभिव्यक्ति ६१६

१

संस्कृत

भरत मुनि

(समय—विक्रम-पूर्व द्वितीय शतक से द्वितीय शतक विक्रमी तक)

ग्रन्थ—नाट्य-शास्त्र

हिन्दी-अनुवाद

१. रस-वर्णन

नाटक मे ये आठ रस होते हैं—१. शृंगार, २. हास्य, ३. करुण, ४. रौद्र, ५. वीर, ६. भयानक, ७. वीभत्स और ८. अद्‌भुत (६।१५)। ये आठ रस महात्मा ब्रह्माजी ने कहे हैं। अब स्थायी, संचारी और सात्त्विक भावों का वर्णन करेंगे (१६)। रसों के स्थायी (आदि से लेकर अन्त तक रहने वाले) भाव आठ हैं १. (शृंगार का) रति, २. (हास्य का) हास, ३. (करुण का) शोक, ४. (रौद्र का) क्रोध, ५. (वीर का) उत्साह, ६. (भयानक का) भय, ७. (वीभत्स का) जुगुप्सा, ८. (अद्‌भुत का) विस्मय (१७)।

व्यभिचारी भाव ३३ हैं, यथा—१. निर्वेद, २. ग्लानि, ३. शंका, ४. असूया, ५. मद, ६. श्रम, ७. आलस्य, ८. दैन्य (दीनता), ९. चिन्ता, १०. मोह, ११. स्मृति, १२. धृति, १३. व्रीडा, १४. चपलता, १५. हर्ष, १६. आवेग, १७. जड़ता, १८. गर्व, १९. विषाद, २०. औत्सुक्य, २१. निद्रा, २२. अपस्मार (मिर्गी), २३. सुप्त, २४. प्रबोध, २५. अमर्ष (असहनशीलता), २६. अवहित्थ (भाव का छिपाना), २७. उग्रता, २८. मति, २९ व्याधि, ३०. उन्माद, ३१ मरण, ३२. त्रास, ३३. वितर्क (१८-२१)।

सात्त्विक भाव आठ होते हैं—१ स्तम्भ, २ स्वेद, ३ रोमांच, ४ स्वर-भंग, ५ वेपथु (कँपकँपी), ६ वैवर्ण्य, ७ अश्रु, ८ प्रलय (२२)। अभिनय ४ प्रकार के होते हैं—१ आंगिक, २ वाचिक, ३ आहार्य, ४ सात्त्विक। ये नाटक के आश्रय होते हैं (२३)। धर्मी दो प्रकार का होता है—१ लोक-धर्मी, २ नाटय-धर्मी। चार वृत्तियाँ होती हैं, जिनमें नाटय प्रतिष्ठित हैं, १ भारती, २ सात्वती, ३ कैशिकी, ४ आरभटी। (८।२४)। नाटय-प्रवृत्तियाँ ये हैं—आवन्ती, दाक्षिणात्या, औड्रमागधी, पांचाली और मध्यमा। (२५-२६)।

पहले हम रसों की व्याख्या करेंगे। रस के बिना किसी भी अर्थ का प्रवर्तन नहीं होता। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इन तीनों के संयोग से रस निष्पन्न होता है। (प्र०) इसमें उदाहरण क्या है? (उ०) जैसे—कई प्रकार के व्यंजन और औषधि-द्रव्यों के संयोग से रस निष्पन्न हुआ करता है, वैसे ही नाना भावों के इकट्ठे होने पर रस निष्पन्न हो जाता है। जैसे गुड़ आदि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से छः रस बनते हैं इसी प्रकार स्थायी भाव नाना भावों से युक्त होकर रस बनते हैं। ऋषि कहने लगे—रस क्या पदार्थ है? (उ०) आस्वाद आना ही रस है। (प्र०) रस का आस्वाद कैसे आता है? (उ०) जैसे सहृदय लोग भाँति-भाँति के व्यंजनों से पके हुए अन्न को खाते हुए रसों का स्वाद प्राप्त करते हैं, और प्रसन्न भी होते हैं, वैसे ही दर्शक लोग नाना भावों के अभिनय (नाटच) से व्यंजित तथा वाणी, अंग और सत्त्व से मिले हुए स्थायी भावों का आस्वाद प्राप्त करते हैं। इसलिए ये नाटच-रस हैं। (पृ० ७१) इस सम्बन्ध में परम्परा से आये हुए ये दो श्लोक हैं।—जैसे बहुत द्रव्यों और व्यंजनों से मिले अन्न को खाते हुए लोग उसका आस्वाद लेते हैं, वैसे ही पंडितगण भावों के अभिनय (नाटच) से मिले हुए स्थायी भावों का मन से आस्वाद लेते हैं, इसलिए ये नाटच-रस कहलाते हैं (६।३२-३३)।

यहाँ प्रश्न है कि—रसों से भाव बनते हैं या भावो से रस? इसमें कई महानुभावों का मत है कि आपस के सम्बन्ध से इनकी उत्पत्ति होती है। पर यह ठीक नहीं। क्यों? इसलिए कि—भावों से रसों की निष्पत्ति दीखती है, रसों से भावों की नही। उसमें श्लोक हैं—

क्योंकि ये भाँति-भाँति के अभिनय वाले रसों को भावित करते हैं अतः ये भाव कहाते हैं नाटच-प्रयोक्ताओं को यह जान रखना चाहिये। ३४। जैसे बहुत प्रकार के द्रव्यों से व्यंजन अभिव्यक्त होता है, इसी प्रकार भाव भी रसों को अभिव्यक्त करते हैं। ३५। रस भावहीन नहीं होता, भाव रसहीन नही हुआ करता। अभिनय में उसकी परस्पर सिद्धि होती है। ३६। व्यंजन और औषधि का संयोग जैसे अन्न को सुस्वादु बना देता है, वैसे भाव और रस भी एक दूसरे को अभिव्यक्त करते हैं। जैसे बीज से वृक्ष होता है, और वृक्ष से फूल-फल होते हैं, वैसे ही सभी रस मूल होते—उनमें भाव व्यवस्थित होते हैं। ३८।

अब इन रसों की उत्पत्ति, रंग, देवता और उदाहरणों की व्याख्या करेंगे। उनकी उत्पत्ति के कारण चार रस हैं, १ शृंगार, २ रौद्र, ३ वीर, ४ वीभत्स। इसमें—शृंगार से हास्य होता है और रौद्र से करुण रस। वीर से अद्भुत रस उत्पन्न होता है, और वीभत्स से भयानक। ३९। शृंगार का अनुकरण ही हास्य माना

गया है। रौद्र का कार्य करुण रस है। ४०। वीर का कर्म अद्‌भुत है, वीभत्स का दर्शन ही भयानक है। ४१।

रसों के वर्ण

शृंगार श्याम, हास्य श्वेत, करुण कबूतर के रंग वाला, और रौद्र लाल होता है। ४२। वीर गोरा और भयानक काला होता है। वीभत्स नीला, और अद्‌भुत पीले रग का माना गया है। ४३।

रसों के देवता

शृंगार का देवता विष्णु, हास्य का प्रमथ (महादेव का गण), रौद्र का रुद्र, करुण का यम। ४४। वीभत्स का महाकाल, भयानक का कालदेव, वीर का देवता महेन्द्र और अद्‌भुत का ब्रह्मा है। ४५। इनकी उत्पत्ति, वर्ण और देवता बता दिये गये। अब विभाव, अनुभाव, व्यभिचारियों सहित रसों के लक्षण कहेंगे और स्थायी-भावों का रसत्व कहेंगे।

इनमें शृंगार रति स्थायी भाव से बनता है, उसका वेश उज्ज्वल होता है। संसार में जो पवित्र, स्वच्छ और दर्शनीय हो वह शृंगार से उपमित होता है। उज्ज्वल वेश वाला शृंगारवान कहा जाता है। जैसे पुरुषों के नाम, गोत्र, कुल और आचार से उत्पन्न एवं आप्तोपदेश से सिद्ध हुआ करते हैं, वैसे ही इन रसों और भावों तथा नाटकाश्रित पदार्थों के नाम भी आप्तोपदेश से सिद्ध और आचार से बनते हैं। इसी प्रकार मनोहर तथा उज्ज्वल वेश होने से इस रस का नाम शृंगार पड़ गया है। वह स्त्री पुरुषों के निमित्त से होता है, उत्तम यौवन की प्रकृति के अनुकूल होता है। उसके दो आश्रय वा भेद हैं : १ सम्भोग और २ विप्रलम्भ।

इनमें सम्भोग ऋतु, मालाएँ, अनुलेप, गहने, प्रियजन, विषय, अच्छा घर, उपभोग, उपवन-गमन, अनुभव, श्रवण, दर्शन, क्रीड़ा, लीला आदि विभावों से उत्पन्न होता है। उसका अभिनय नेत्र-चतुरता, भवों का मटकाना, कटाक्ष करना, ललित-मधुर अंग-विक्षेप, वाक्य आदि अनुभावों से प्रयुक्त करना चाहिये। भय, आलस्य, उग्रता और घृणा को छोड़ कर शेष व्यभिचारी भाव होते हैं। विप्रलम्भ शृंगार का निर्वेद (विरक्ति), ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, उत्कण्ठा, निद्रा, सुप्त, स्वप्न, विव्वोक व्याधि, उन्माद (पागलपन), अपस्मार (मिर्गी), जड़ता, मरण आदि अनुभावों से अभिनय करना चाहिये।

(प्र०) यदि इस प्रकार शृंगार रति से उत्पन्न होता है, तो इसमें करुणाश्रयी भाव कैसे होते हैं ? (उ०) पहले कह चुके हैं कि—शृंगार संयोग और वियोग से होता है। वैशिक शास्त्रों मे उसकी दस अवस्थाएँ होती हैं। उन अवस्थाओं को सामान्य अभिनय में कहेगे।

करुण रस शाप, क्लेश, विनिपात, इष्टजन-वियोग, धन-नाश, वध तथा बन्धन से उदित होता है। इसमे उत्कण्ठा और चिन्ता से समुत्थित निरपेक्ष (बेपरवाही का) भाव होता है। विप्रलम्भ मे सापेक्ष (दूसरे की अपेक्षा करने वाला) भाव होता है। इस तरह करुण अन्य है और विप्रलम्भ अन्य। इस प्रकार यह शृंगार सब भावों से संयुक्त होता है। (पृष्ठ ७३)

और भी—सुखप्राय और इष्ट-सम्पन्न, ऋतु, माला आदि का सेवन करने वाला, प्रमदा (युवती) से सयुक्त पुरुष शृंगार कहा गया है। (६।४६) इस विषय में दो आर्याछन्दोबद्ध सूत्र भी हैं।—ऋतु, माला और अलंकारों से, प्रियजन, गान-विद्या तथा काव्यों की सेवाओं से, उपवन में जाने तथा भ्रमण से शृगार रस उत्पन्न होता है। ४७। नेत्र तथा मुख की प्रसन्नता से, मुस्कान, मधुर वचन, धैर्य तथा प्रमोदों से, मनोहर अंग-विकारों से उसके अभिनय का प्रयोग करना चाहिये। ४८।

हास्य—इसका स्थायी भाव हास होता है, वह बिगड़े हुए वेश और गहने, ढिठाई और चंचलता, झगड़ा, असत् प्रलाप, व्यंग, दोष-कथन आदि विभावों से उत्पन्न होता है। ओठ काटना, नाक, गाल का हिलाना, दृष्टि का सिकोड़ना, पसीना, मुख की लालिमा, पार्श्व-ग्रहण आदि अनुभावों से उसके अभिनय का प्रयोग करना चाहिये। उसके व्यभिचारी आलस्य, अवहित्था (अपना भाव छिपाना), ऊंघना, नीद, स्वप्न, जागना, असूया (ईर्ष्या व निन्दा) आदि होते हैं। वह दो प्रकार का होता है—१ आत्मस्थ और २ परस्थ। जब स्वयं हँसता है तब आत्मस्थ, जब दूसरे को हँसाता है तब परस्थ होता है।

इस विषय में परंपरागत दो आर्या श्लोक हैं—उलटे गहने पहनने से, विकृत आचार, विकृत नाम वा वेशों से, विकृत अर्थ-विशेषों से, हँसने से इस ना। हास्य होता है।।६-४९। विकृत आचार तथा वाक्यों से तथा अंग-विकार तथा विकृत वेशों से लोगों को हँसाने से हास्य रस जानना चाहिये। ५०। यह रस स्त्री तथा नीच प्रकृति वालों में बहुत दिखाई पड़ता है। इसके छः भेद जानने चाहियें, उन्हें मैं कहता हूँ—(५१)। १ स्मित, २ हसित, ३ विहसित, ४ उपहसित, ५ अपहसित, ६ अतिहसित—ये भेद हैं। उत्तम, मध्यम, अधम प्रकृति में दो-दो भेद होते हैं। ५२। स्मित और

हसित उत्तमों के, विहसित और उपहसित मध्यमों के, अपहसित और अतिहसित अधमों के जानने चाहियें । ५३ ।

इसमें श्लोक हैं —गाल कुछ हँस से रहे हों, कटाक्ष सौष्ठव से युक्त हों, दाँत न दीख रहे हों । यह धीर स्मित उत्तमों का होता है ।५४। नेत्र खिले हों तथा मुख भी, गाल खिले हुए हों, दाँत कुछ दिखाई पड़ें, यह हसित कहा जाता है ।५५। आँखें और गाल सिकुड़े हुए हों, मधुर स्वर-युक्त हो, समय पर आया हुआ, मुख के राग से मिला हुआ विहसित होता है । ५६ । नाक फूली हुई हो, कुटिल दृष्टि से देखे, कन्धा और सिर संकुचित हो—यह उपहसित होता है । ५७ । ये दोनों मध्यमों के होते हैं । असमय पर हँसना, हँसते हुए आँखों में आँसू आ जावे, कन्धा और सिर हिलें, वह अपहसित होता है । ५८ । नेत्रो में ज़ोर से आँसू आ जावें, चिल्लाने का स्वर आवे, उद्धतता हो, हाथ से अपने बगल को दबा ले, यह अतिहसित होता है ।५९। यह अधमों का होता है । नाटक में उत्तम, अधम, मध्यमों के कार्य से उत्पन्न जो हास की स्थितियाँ हों, उनका इस प्रकार प्रयोग करे । ६० । इस प्रकार आत्म-समुत्थ तथा पर-समुत्थ दो प्रकार का हास्य रस तीन प्रकृतियों वाला होने से छः भेदों वाला हो जाता है । ६१ ।

करुण रस शोक स्थायी भाव से उत्पन्न होता है । वह शापजन्य क्लेश-पात, इष्टजन-वियोग, विभव (धन)-नाश, वध, बन्धन, भगदड़, दुर्घटना व्यसन (आपत्ति) के संयोग आदि विभावों से उत्पन्न होता है । इसका अभिनय (नाट्य) आँसू गिरना, शोक-मूलक विलाप, मुँह का सूखना, मुँह का रग फीका पड़ जाना, गात्र-पतन, निःश्वास, विस्मृति आदि अनुभावो से करना चाहिये । इसमे—निर्वेद (विरक्ति), ग्लानि, चिन्ता, उत्कण्ठा, आवेग, मोह, श्रम, भय, विषाद, दीनता, व्याधि, जडता, उन्माद, मिर्गी, भय, आलस्य, मृत्यु, थर्राहट, कँपकँपी, भिन्न-वर्णता, आँसू, स्वर-भेद आदि व्यभिचारी भाव हैं । इस के सम्बन्ध में श्लोक हैं—

इष्ट (प्रिय) की मृत्यु देखने से अथवा अप्रिय वचन के आश्रय से—इन भाव-विशेषों से करुण रस हुआ करता है । ६२ । इस रस का साँसें खीचना, रोना, बेहोशी, विलाप-प्रलाप तथा देह के आयास और हानि से अभिनय करना चाहिये । ६३ ।

रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध होता है, यह राक्षस, दैत्य और उद्धत मनुष्यों से उत्पन्न होता है और युद्ध का हेतु होता है । यह क्रोध किसी के निरादर, किसी पर आक्षेप, अपमान, असत्य बोलना, वाणी की कठोरता, द्रोह, मत्सरता आदि विभावों से उत्पन्न होता है । इसके पीटना, फाडना, तंग करना, चीरना, काटना, चोट करना, छीना-झपटी, शस्त्र मारना, मुक्का मारना, लहू निकालना, अस्त्र खींचना आदि कार्य

होते हैं। लाल नेत्र, पसीना, भ्रकुटि, हाथ, दाँत, ओठ का दबाना, गाल का फड़कना, हाथ के अग्रभाग को दबोचना—इन अनुभावों से इसके अभिनय का प्रयोग करना चाहिये। इसके व्यभिचारी हैं —सम्मोह, उत्साह, वेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, स्वेद (पसीना), वेपथु (काँपना), रोमांच, गद्गद् आदि। (प्र०) जो कहा है कि रौद्र रस राक्षसों का होता है, तो क्या दूसरों का नही होता ? (उ०) दूसरों का भी रौद्र होता है, पर राक्षसों का तो इस पर विशेष अधिकार होता है। राक्षस लोग स्वभाव से ही रौद्र हैं, बहुत बाहुओं वाले, बहुत मुखों वाले, बिखरे हुए पिंगल केश वाले, लाल और उद्धत आँखों वाले, भयानक और काले होते हैं। जो कुछ गुस्से में स्वभाव एवं चेष्टा, वाणी और अंग आदि है, वे सब रौद्र हैं। उनके अनुगामी जो पुरुष हैं, उनका भी युद्धादि के कारण रौद्र रस जानना चाहिये। इसमें परम्परागत दो आर्या छन्द हैं—

बल-प्रयोग, चोट मारना, अंग-भंग करना, छेदन, फाड़ना, लड़ाई की हलचलें, इनसे रौद्र होता है। ६४। तरह-तरह के शस्त्रों से युक्त, कबन्ध और भुजाओं के काटने से—इन अर्थ-विशेषों से रौद्र के अभिनय का प्रयोग करना चाहिये। ६५। इस प्रकार रौद्र रस रौद्र वाणी, अंग और चेष्टा वाला, शस्त्रप्रहार-बहुल, उग्र-कर्म-क्रिया-रूप देखा गया। ६६।

वीर रस उत्तम प्रकृति वालों में रहता है, उत्साह उसका स्थायी भाव होता है। वह असंमोह, अध्यवसाय (निश्चय), नीति, विनय, बहुत पराक्रम, शक्ति, प्रताप, प्रभाव आदि विभावों से उत्पन्न होता है। स्थिरता, शूरता, धैर्य, त्याग, वैशारद्य (चतुरता) इन अनुभावों से उसका अभिनय प्रयुक्त किया जाता है। उसके व्यभिचारी भाव धृति, मति, गर्व, वेग, उग्रता, अमर्ष (क्रोध), स्मृति, रोमांच आदि होते हैं। इसमें दो परम्परागत आर्या छन्द हैं—

उत्साह एवं अध्यवसाय से, विषाद (दुःख) न होने तथा विस्मय एवं मोह से, विविध अर्थ-विशेष से वीर रस हुआ करता है। ६७। स्मृति, धैर्य, वीर्य, शूरता, उत्साह, पराक्रम, प्रभाव, और आक्षेपपूर्ण वाक्यो से वीर रस का सम्यक् अभिनय करना चाहिए। ६८।

भयानक रस का स्थायी भाव भय हुआ करता है। वह विकृत शब्द वाले प्राणियों के दर्शन, गीदड़, उल्लू, डर, व्याकुलता, खाली घर, वन-प्रवेश, मरण, अपने सम्बन्धियों की मृत्यु वा बन्धन के देखने, सुनने, कहने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। उसका कम्पित हाथ-पाँव, नेत्रों के हिलने, रोमांच, मुँह का रंग फीका हो जाने, स्वर-भंग आदि अनुभावों से अभिनय प्रयुक्त करना चाहिये। इसके व्यभिचारी होते हैं : स्तम्भ (थर्राहट,) स्वेद, गद्गद्, रोमांच, काँपना, स्वर-भंग,

मुंह का रंग उड़ जाना, शंका, मोह (मूर्च्छा), दीनता, आवेग, चपलता, डर, मिर्गी, मरण आदि। इसमें कई परंपरागत आर्या छन्द मिलते हैं—

विकृत शब्द वाले जीवों को देखने, युद्ध, जंगल, शून्य घर में जाने से, गुरु और राजा का अपराध करने से भयानक रस जानना चाहिये। ६९। अंगों में, मुख और दृष्टि में भेद पड़ने, जाँघें रुद्ध हो जाने, देखने में व्याकुलता होने, मुख के सन्न हो जाने या सूख जाने से, हृदय की धुकधुकी, और रोमांच—इनसे भय व्यक्त होता है। ७०। यह स्वाभाविक हुआ करता है, इसे सात्त्विक भावों से उत्पन्न करना चाहिये। फिर इन्ही भावो से और मृदु चेष्टाओं से इसका प्रयोग करना चाहिये।७१। हाथ-पाँव का काँपना, स्तब्धता, अंगों और हृदय का काँपना, ओठ, तालु और कण्ठ का सूख जाना, इनसे भयानक का अभिनय करना चाहिये। ७२।

बीभत्स रस का जुगुप्सा स्थायी भाव होता है। वह अमनोहर, तथा अप्रिय के देखने, अनिष्ट के सुनने, देखने एवं कहने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। सब अंगों का निष्क्रिय होना, मुंह का संकीर्ण होना, वमन, थूकना, अंगों का हिलना आदि अनुभावों से उसका अभिनय प्रयुक्त करना चाहिये। इसके व्यभिचारी भाव--अपस्मार (मिर्गी), वेग, मोह, व्याधि, मरण आदि हैं। इस विषय में परंपरागत दो आर्या छन्द हैं—

अप्रिय वस्तु के देखने से तथा रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द के दोषों से, बहुत-सी व्याकुलताओ से वीभत्स रस उत्पन्न होता है। ७३। मुख और नेत्र का संकोच, आँख और नाक बन्द करना, मुँह को झुकाना अव्यक्त पाद-पतन आदि से इसके अभिनय का प्रयोग करना चाहिए। ७४।

अद्‌भुत रस का विस्मय स्थायी भाव हुआ करता है, वह दिव्य वस्तु के देखने, मनचाही इच्छा की पूर्ति होने, उत्तम वन, देव-मन्दिरों में जाने, असम्भव इन्द्रजाल साधन आदि विभावों से उत्पन्न होता है। आँखें फाड़ना, टकटकी लगा कर देखना, रोमांच, आँसू, पसीना, हर्ष, साधुवाद देना, उपहार-दान, हा-हा करना, हाथ-मुंह, धोती-अंगुलि आदि का घुमाना—अनुभावों से उसका अभिनय प्रयुक्त करना चाहिये। इसके व्यभिचारी भाव हैं आँसू, स्तम्भ, पसीना, गद्‌गद्, रोमांच, आवेग, संभ्रम, जड़ता, प्रलय आदि। इसमें दो परम्परागत आर्या हैं—

अतिशयार्थ से युक्त वाक्य, शील, कर्म और रूप—इन अर्थ-विशेषों से अद्‌भुत रस जानना चाहिये।७५। स्पर्श करना, पकड़ना, उत्कण्ठित होना, हँसना, हो-हो

करना, साधुवाद, काँपना, गद्गद् वचन बोलना, पसीना आदि—इनसे उसका अभिनय होता है। ७६।

शृंगार तीन प्रकार का होता है—१ वागात्मक, २ नेपथ्यात्मक, ३ क्रियात्मक, । हास्य और रौद्र भी अंग, नेपथ्य और वाक्यों से तीन प्रकार के होते हैं। ७७। करुण तीन प्रकार का होता है—१ धर्म के उपघात से, २ क्षीणता और ३ शोक से उत्पन्न। ७८। वीर रस तीन प्रकार का होता है—१ दानवीर, २ धर्मवीर, ३ युद्धवीर। ७९। भयानक भी तीन प्रकार का होता है—१ बहाने से, २ अपराध से, ३ डर से। ८०। वीभत्स भी तीन प्रकार का होता है—१ क्षोभ से उत्पन्न, २ शुद्ध, ३ उद्वेगी या उद्वेग-जन्य। विष्ठा के कीड़े आदि से उद्वेगी, लहू आदि से क्षोभज होता है। ८१। अद्भुत रस दो प्रकार का होता है—१ दिव्य, २ आनन्दोत्पन्न। अलौकिक वस्तुओं के देखने से दिव्य और हर्ष से आनन्दज होता है। ८२। इस प्रकार आठ रसों के लक्षण जानने चाहिएँ, इसके बाद भावों का लक्षण कहूँगा। ८३।

(छठा अध्याय समाप्त हुआ)

२. भाव-वर्णन

अब भावों को कहेंगे—(प्र०) 'भाव' यह नाम क्यों दिया गया है, ये भाव क्या भावित करते हैं? (उ०) वाणी, अंग और सत्व से मिले हुए काव्य के अर्थों को भावित करते हैं--इसलिए इनका नाम भाव है। भाव—यह कारण का साधन है, क्योंकि भावित, वासित और कृत—ये पर्यायवाची हैं। लोक में भी सिद्ध है—एक दूसरे गन्ध या रस से सब भावित हो गया। व्याप्ति के लिए यहाँ श्लोक भी हैं—

विभाव से लाया हुआ जो अर्थ अनुभाव से तथा वाणी, अंग और सात्त्विक भाव के अभिनयों से प्रतीत होता है, उसका नाम भाव होता है। ७।१। वाणी, अंग और मुख के राग से, सत्त्व और अभिनय से कवि के आन्तरिक भाव को बताने वाला भाव कहा जाता है। २। कई प्रकार के अभिनय के सम्बन्ध वाले इन रसों को ये भावित करते हैं, इस कारण नाटक के प्रयोक्ताओं को इनका नाम भाव जानना चाहिये। ३

(प्र०) विभाव यह नाम क्यों हैं? (उ०) विभाव विशेष ज्ञान का अर्थ रखता है—विभाव, कारण, निमित्त, हेतु—ये पर्यायवाचक हैं। वाणी, अंग, सत्त्व अभिनय इनसे विशेषतः भावित होते हैं, इसलिए इनका नाम विभाव है। विभावितम् विज्ञातम् ये पर्यायवाची हैं। इसमें श्लोक है—

वाणी, अंग और अभिनय के आश्रय वाले बहुत से अर्थ इनसे विभावित होते हैं, अतः इनका नाम विभाव है। ४।

(प्र०) अनुभाव क्यों कहा जाता है ? (उ०) वाणी, अंग, तथा सत्त्व द्वारा सम्पादित, नानार्थों से निष्पन्न अभिनय को यह अनुभावित करता है, अतः यह अनुभाव है। इसमें श्लोक है—वाणी और अंगों के अभिनय से वाणी और अंग-उपांग से संयुक्त अर्थ जिससे अनुभावित होता है, उसका नाम अनुभाव माना गया है। ५।

इनमें आठ स्थायी भाव हैं, ३३ व्यभिचारी भाव हैं, ८ सात्त्विक भाव हैं—ये भेद हैं। इस प्रकार काव्य के रस की प्रकटता के कारण रूप ४९ भाव जानने चाहिएँ। इनके मिश्रण हो जाने मे रस की निष्पत्ति होती है। इसमें श्लोक भी हैं :

जो अर्थ हृदय को स्पर्श करता है, उसका भाव रस का उद्गम है और उस से शरीर इस प्रकार व्याप्त हो जाता है, जैसे सूखी लकड़ी अग्नि से। ७।

(प्र०) जब एक-दूसरे के अर्थों से आश्रित विभाव और अनुभाव से प्रकट किये हुए ४९ भावों के सम्मिश्रण से रस होते हैं, तब ८ स्थायी भाव ही रस कैसे बन जाते हैं ? (उ०) ऐसा ही है। (प्र०) क्यों ? (उ०) समान लक्षण वाले, समान हाथ, पैर, पेट वाले, समान ज्ञान वाले भी पुरुष कुल, शील, विद्या, कर्म, शिल्प, चतुरता से युक्त होकर राजा बन जाते हैं, उन्ही मे थोड़ी बुद्धि वाले पुरुष उन्ही के नौकर हो जाते हैं, वैसे ही विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव स्थायी भावों के उपगत होते हैं—अतः आश्रय होने से स्थायी भाव स्वामी-रूप होते हैं, वैसे ही स्थायी भाव-रूप शरीर में अन्य भाव गौण होते हैं। गुणवत्ता के कारण व्यभिचारी भाव उनकी सेवा करते हैं। (प्र०) इसमे दृष्टान्त क्या है ? (उ०) जैसे बहुत परिवार वाला होता हुआ भी राजा ही राजा नाम को प्राप्त करता है, दूसरा बड़ा पुरुष भी उस नाम को प्राप्त नही करता। बहुत पुरुष जा रहे हों, तो कोई किसी के लिए पूछता है कि यह कौन है, वह उसको उत्तर देता है कि—यह राजा है, वैसे ही राजा की तरह स्थायी भाव भी विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव से युक्त होकर रस नाम को प्राप्त करता है। इसमें श्लोक भी है—

जैसे पुरुषों का राजा होता है, जैसे शिष्यों का गुरु होता है, इसी प्रकार सब भावों में स्थायी* भाव इस काव्य-संसार में बडा होता है। ८।

---

* नाट्य शास्त्र में रति, हास आदि स्थायी भावों का स्वरूप-वर्णन लगभग वैसा ही है जैसा कि पूर्वोक्त शृंगार, हास्यादि रसों के अंतर्गत किया गया है।

व्यभिचारी भाव

अब व्यभिचारी भावों को कहेंगे—(प्र०) व्यभिचारी यह नाम क्यों है ? (उ०) वि-अभि यह दो उपसर्ग हैं, 'चर' गत्यर्थ-वाचक धातु है। वाणी, अंग, सत्त्व से मिले हुओं को विविधता से आभिमुख्य से रसो मे ले जाते हैं, अतः व्यभिचारी कहे जाते हैं। यहाँ 'चरन्ति' का अर्थ है ले जाना (प्र०) कैसे ले जाते हैं ? (उ०) जैसे सूर्य इस नक्षत्र को या उस दिन को ले जाता है। वह उन्हें बाहु वा कन्धे से नहीं ले जाता, किन्तु ऐसी ही लोक-प्रसिद्धि है। व्यभिचारी भावों के विषय में भी यही समझना चाहिए। सग्रह में अभिहित ये व्यभिचारी भाव ३३ हैं।

सात्त्विक भाव

(प्र०) क्या दूसरे भाव सत्त्व से भिन्न होते हैं, जो कि इन्हें सात्त्विक कहते हैं ? (उ०) सत्त्व मन से उत्पन्न होता है, वह मन के एकाग्र होने से उत्पन्न होता है। मन की एकाग्रता से सत्त्व की सृष्टि होती है। उसका रोमांच, अश्रु,वैवर्ण्य आदि से युक्त जो स्वभाव है उसका अनुकरण अन्यमनस्क भाव से नहीं हो सकता। अतः लोक-स्वभाव का अनुकरण करने के लिए नाटक में सत्त्व की अपेक्षा होती है। (प्र०) इस में दृष्टान्त क्या है ? (उ०) इस साहित्य-संसार में नाट्य-धर्म में प्रवृत्त सुख-दुःख के भावों का उपस्थापन अनुकूल सात्त्विक भावों के द्वारा करना चाहिए जिससे वे यथार्थ प्रतीत हों। उसमें दुःख रोदनात्मक होता है। उस दुःख को अदुःखी, तथा प्रहर्षात्मक सुख को असुखी प्रयोक्ता कैसे अभिनीत कर सकता है ? इनके अभिनय के लिए सत्त्व अभीष्ट होता है अतः ये भाव सात्त्विक कहलाते हैं। यही इसका सत्त्व है कि—दुःखी हो चाहे सुखी, उसे आँसू और रोमांच दिखलाने पड़ते हैं। १ स्तम्भ, १ स्वेद, ३ रोमांच, ४ स्वर-भंग, ५ वेपथु, ६ वैवर्ण्य, ७ अश्रु, ८ प्रलय—ये आठ सात्त्विक भाव हैं। ९३।

नमें **स्वेद** (पसीना) क्रोध, डर, हर्ष, लज्जा, दुःख, थकावट, रोग, ताप, चाट तथा व्यायाम, क्लेश, धूप तथा संपीड़न से होता है। ९४। **स्तम्भ** हर्ष, भय, रोग, हैरानी, दुःख, मस्ती, क्रोधादि से उत्पन्न होता है। **वेपथु** (कम्प) शीत, भय, हर्ष, क्रोध, स्पर्श, तथा बुढापे से होता है। ९५। **अश्रु** आनन्द वा क्रोध से, धुएँ, आँखों में अंजन करने, जँभाई, और डर से, शोक तथा टकटकी लगा कर देखने और शीत एवं रोग से होता है। ९६। **वैवर्ण्य** (मुँह का रंग फीका पड़ जाना) सर्दी, क्रोध, भय, श्रम, रोग, क्लम (थकावट) और ताप से उत्पन्न होता है। **रोमांच** स्पर्श, डर, शीत और हर्ष से तथा क्रोध एवं रोग से भी होता है। ९७। **स्वर-भंग** भय, हर्ष, क्रोध, ज्वर, रोग और मद से उत्पन्न होता है। **प्रलय** श्रम, मूर्छा, मद, नींद,

चोट और मोह से होता है। ९८। इस प्रकार विद्वानों को इन आठ सात्विक भावों को जानना चाहिये। अब इनका कर्म विभावानुभाव आदि द्वारा कहा जायेगा। ९९।

स्वेद का अभिनय पंखा लेने से तथा पसीना पोंछने से तथा वायु की अभिलाषा से उपस्थापित करना चाहिये। १००। **स्तम्भ** का अभिनय अभिज्ञ पुरुष चेष्टा (हिलना-जुलना) से रहित होकर, संज्ञा से रहित तथा स्तब्ध अंगों से करे।१०१। **वेपथु** का प्रयोग काँपने, स्फुरण, हिलने से करे। **स्वर-भेद** का प्रयोग भिन्न तथा गद्गद् स्वर से करे। १०२। **रोमांच** का अभिनय रोएँ खड़े होने से और पुलक की आवृत्ति से, तथा अंग-स्पर्श से करे। १०३। **अश्रु** का अभिनय आँखें पोंछने से, आँसुओं से करे। १०४। **वैवर्ण्य** का अभिनय मुख का रंग बदल कर नाड़ियों को दबा कर प्रयत्नपूर्वक करे। यह अंगों पर आश्रित है। **प्रलय** का अभिनय पृथिवी पर गिरने से करे। १०५।

३. भावों का रस में विनियोग

मैंने इन तीन प्रकार से उनचास भावों की यथावत् व्याख्या आपसे की। अब इनमे से जिन्हें जिस रस में विनियुक्त करना चाहिये, विप्र लोग उन्हे सुनें। ७।१०६।

ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चपलता, सुप्त, निद्रा, अवहित्थ, (भाव-गुप्ति), वेपथु, इन भावों का **शृंगार** में प्रयोग करे। १०७। आलस्य, उग्रता, घृणा, इन भावों को छोड़ कर शेष सभी भाव अपने नाम से शृंगार को उत्पन्न करते हैं। १०८। ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चपलता, सुप्त, निद्रा, तथा अवहित्थ ये भाव **हास्य** में हुआ करते हैं। १०९। **करुण** रस में निर्वेद (वैराग्य) चिन्ता, दीनता, ग्लानि, आँसू, जड़ता, मरण, और व्याधि—ये भाव होते हैं। ११०। **वीर** रस में असम्मोह (प्रत्युत्पन्नता) उत्साह, आवेग, हर्ष, मति, उग्रता, हर्ष, उन्माद, रोमांच, प्रतिबोध (ज्ञान), क्रोध, असूया, धृति, अभिमान तथा वितर्क ये भाव हुआ करते हैं। ११२।

रौद्र में गर्व, असूया, उत्साह, आवेग, मद, क्रोध, चपलता, हर्ष और उग्रता ये भाव हुआ करते हैं। ११३। **भयानक** में स्वेद, वेपथु, रोमांच, गद्गद, त्रास, मरण वा मुँह का रँग फीका हो जाना ये भाव हुआ करते हैं। ११४। **बीभत्स** में अपस्मार (मिर्गी), उन्माद, (पागलपन), विषाद (दुख), मद, मृत्यु, व्याधि (बीमारी), भय ये भाव हुआ करते हैं। ११५। **अद्भुत** में स्तम्भ (स्तब्धता), स्वेद (पसीना), मोह, रोमांच, विस्मय, आवेग, जड़ता, हर्ष और मूर्छा ये भाव हुआ करते हैं। ११६।

जो ये विविध अभिनयों में आश्रित सात्त्विक भाव हुआ करते हैं, नाटकों के प्रयोक्तागण उनका सब रसों में प्रयोग करें। ११७। कोई भी काव्य प्रयोग में एक रस वाला नहीं हो सकता, चाहे भाव हो, वा रस हो, प्रवृत्ति वा वृत्ति भी हो ।११८। सभी समवेत रसों मे जिसका रूप अधिक रहा हो, उस रस को स्थायी समझो, शेष रसों को व्यभिचारी। ११९। स्थायी रस विभाव अनुभावों से युक्त मुख्य कथा-वस्तु का आधार और संचारियों (व्यभिचारी) से संयुक्त होता है। १२०। प्रयोक्ता लोग स्थायी को अतिशयित सत्त्व से प्रयुक्त करें, संचारी को आकृति (मुद्रा) मात्र से क्योंकि वह स्थायी का सहायक है। १२१। विचित्रता विरक्ति नही देती, विचित्र वस्तु दुर्लभ हुआ करती है। विचित्र वस्तुओं का विमर्द (मिश्रण) यदि प्रयत्न से प्रयुक्त हो तो मनोरंजक होता है। १२२। आश्रय तथा अनेक अर्थों द्वारा सम्पाद्य नाटक में रस के स्थायी, सात्त्विक और व्यभिचारी भावों का विनियोग पुरुष पात्रों में करना चाहिए। १२३। इस प्रकार रस और भाव नाटक में व्यवस्थित होते हैं। जो इनको इस प्रकार जानता है, वह उत्तम सिद्धि को प्राप्त करता है।१२४।

(सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ)।

४. अलंकार

उपमा, रूपक, दीपक और यमक ये चार अलंकार नाटकों मे हुआ करते हैं। १७।४३। काव्य-रचनाओं में जो भी सादृश्य से उपमित किया जाए वह **उपमा** है। यह गुण और आकृति पर आश्रित होती है। ४४। एक की एक से उपमा करनी चाहिये, अथवा अनेक से एक की। अथवा एक से अनेक की तथा बहुतों की बहुतों से उपमा करनी चाहिये। ४५। 'तेरा मुख चन्द्र के तुल्य है' यह एक से एक की उपमा है, बहुतों से एक की उपमा नाटक मे होती है। ४६। नक्षत्र चन्द्रमा की तरह प्रकाशित होते हैं, यह एक की अनेक-विषया उपमा है। ४७। बाज (श्येन), मोर, गृद्ध पक्षियों के समान नेत्र—यह एक की बहुतों से उपमा है जो नाटकों में होती है। ४८। तेरा मुख चन्द्र सदृश है—यह एक से एक के सम्बन्ध पर आश्रित है। 'हाथी बादलों की तरह हैं'—यह बहुतों की बहुतों से उपमा है। ४९।

उपमा के ५ भेद होते हैं—१ प्रशंसा, २ निन्दा, ३ कल्पिता, ४ सदृशी, ५ किंचित्-सदृशी। १७।५०।

प्रशंसा का उदाहरण—मुनियों द्वारा बहुत कठिनता से साधित मूर्तिमती (साकार) सिद्धि (सफलता) की तरह उस विशालाक्षी को देख कर राजा प्रसन्न हुआ। ५१।

निन्दा का उदाहरण—जैसे बेल गले में पड़े हुए वनाग्नि से दग्ध वृक्ष का आलिंगन करती है, वैसे ही उस श्रीमती ने सब गुणों से हीन कठोर आकृति वाले उस पुरुष का आलिंगन किया। ५२।

कल्पिता—मद-जल को बहाने वाले, लीला से धीमे-धीमे चलने वाले हाथी जंगम पर्वतों के समान विराजमान हैं। ५३।

सदृशी—दूसरों के चित्त के अनुरोध से जो तूने कर्म किया है, वह अतिमानुष-कर्मा (मनुष्यों से बढ़ कर कर्म वाले) तेरे ही सदृश है। ५४।

किंचित्-सदृशी—पूर्ण चन्द्र-मुखी, नीलकमल-नेत्रा, मत्तगज-गमना यह मेरी सखी प्राप्त हुई है। ५५।

उपमा के यही सक्षेप से भेद जानने चाहिएँ; शेष जो लक्षणो द्वारा नही कहे गये हैं, उनका लोक से लक्षण जान लेना चाहिए। ५६।

नाना द्रव्यों के सम्बन्ध से जो गुणाश्रय उपमा हुआ करती है, जिस मे रूप का सम्यक् वर्णन होता है, उसका नाम **रूपक** होता है। ५७। अपने विकल्प से रचित तुल्य अवयवों वाला, कुछ सदृशता से युक्त रूप ही रूपक होता है। ५८। जैसे—

वे कमल-वदना, कुमुद-हासिनी, विकचकमल-नेत्रा वापी की स्त्रियाँ कूजित हंसों के द्वारा एक-दूसरे को बुलाती हुई-सी शोभित हुईं। ५९।

भिन्न विषयों वाले शब्दो का दीपक की भाँति एक वाक्य द्वारा सयोग होने पर **दीपक** होता है। ६०। जैसे—वहाँ पर हंसों से तालाब, फूलो से वृक्ष, मस्त भ्रमरों से कमल, गोष्ठियों (सभाओ) से बाग-बगीचे सदा पूर्ण किये जाते हैं। ६१। शब्दो की पुनरावृत्ति **यमक** होती है, उसके पादादि के भेद होते हैं + + + +। ६२।

५. काव्य-दोष

काव्य के दोष दस होते हैं—१ गूढ़ार्थ २ अर्थान्तर, ३ अर्थ-हीन, ४ भिन्नार्थ, ५ एकार्थ, ६ अभिप्लुतार्थ ७ न्यायापेत, ८ विषम, ९ विसन्धि, १० शब्द-च्युत।१७।८८।

जिसे पर्याय-शब्दों से कहा गया हो उसका नाम गूढ़ार्थ है। अवर्णनीय को जहाँ वर्णित किया जाए, उसका नाम **अर्थान्तर** होता है। ८९। असम्बद्धार्थक **अर्थ-हीन**

होता है। असभ्य और ग्राम्य का नाम **भिन्नार्थ** है। ९०। जहाँ विवक्षित तो दूसरा अर्थ हो, और भिन्न अर्थ कह दिया जाए, काव्यज्ञ विद्वान उसे भी भिन्नार्थ काव्य कहते हैं। ९१। जहाँ शब्दों के अर्थ-भेद या अर्थ-साम्य पर ध्यान न देकर उनके द्वारा एक अर्थ का कथन हो वह **एकार्थ** होता है। जिसके प्रत्येक पाद में (वाक्यार्थ) संक्षेपतः पूर्ण किया जाय वह **अभिलुप्तार्थ** होता है। ९२। प्रमाण-रहित का नाम **न्यायापेत** होता है। छन्द के दोष का नाम **विषम** होता है। ९३। जहाँ शब्द अनुप्रतिष्ठ (सन्धि-रहित) हो वह **विसन्धि** कहा जाता है। अशब्द के जोड़ने का नाम **शब्द-हीन** (शब्द-च्युत) होता है। ९४। ये दोष नाटकाश्रित होते हैं, यही विपरीत होकर काव्यों मे गुण कहाते हैं—यह विद्वानों को समझ रखना चाहिए। ९५।

६. गुण

काव्य के ये दस गुण होते हैं १ श्लेष, २ प्रसाद, ३ समता, ४ समाधि, ५ माधुर्य, ६ ओज, ७ पद-सौकुमार्य, ८ अर्थ-व्यक्ति, ९ उदारता, १० कान्ति। १७।९६

(जो रचना) वृत्ति (तर्क) से विचार करके ग्रहण की जाये, स्वभाव से स्फुट तथा स्वतः सुप्रतिबद्ध हो, वहाँ **श्लेष** होता है। ९७। इष्ट अर्थों से परस्पर-सम्बद्ध पदो की श्लिष्टता का नाम श्लेष होता है। ९८। जहाँ शब्द और अर्थ के संयोग के सरल होने के कारण विद्वानो द्वारा अव्याख्यात होने पर भी शब्द का अर्थ स्फुट हो जाए वहाँ **प्रसाद** होता है। ९९। जहाँ अलंकार और गुण समभाव से विद्यमान हो कर एक दूसरे के सदृश तथा शोभावर्धक हों वहाँ **समता** नामक गुण होता है। १००। जहाँ उपमा से व्यंजित तथा प्राप्त अर्थो का यत्न-पूर्वक अतिसंयोग [समासरूपेण सुसम्बद्ध प्रयोग] किया जाय, वहाँ **समाधि** गुण होता है। १०१। जो वाक्य बहुत बार सुना जाए, या पुनः-पुनः कहा जाए, फिर भी उद्विग्न न करे, वह **माधुर्य** माना गया है। १०२। जो बन्ध निन्दित तथा हीन होने पर भी उदात्त का अवभावक हो और जहाँ शब्द तथा अर्थ की सम्पत्ति हो वह **ओज** नाम का गुण कहलाता है। १०३। जो सुश्लिष्ट सन्धि वाले सुख-प्रयोज्य शब्दों से और सुकुमार अर्थ से युक्त हो, वह **सौकुमार्य** कहा जाता है।१०४। प्रयोग के बाद ही जिसका मन में अर्थ प्रविष्ट हो जाय, वह **अर्थ-व्यक्ति** होती है। १०५। सौष्ठव से मिले हुए सुप्रकार से कथित अनेक अतिचित्र अर्थ-विशेषों से युक्त गुण का नाम **उदात्त** (उदारता) होता है। १०६। जो शब्द-बंध मन और कान का विषय हो, प्रयोग द्वारा आह्लाद-कारक हो, उसका नाम **कान्ति** है। १०७।

७. अलंकार, गुण, दोष और रस-संश्रयत्व

इस प्रकार यह अलंकार, गुण एवं दोष बतला दिये गये, अब इनका रसाश्रित प्रयोग दिखलाया जाता है (१७।१०८)। वीर, रौद्र और अद्‌भुत रसों (के वर्णन) में लघु अक्षरों से तथा उपमा, रूपकादि अलंकारों से युक्त रचना का प्रयोग करना चाहिए। १०९। वीभत्स रस में गुरु अक्षरों का प्रयोग होना चाहिए और रौद्र तथा वीर रसों के द्वारा चित्रित धर्षण के कारण व्यक्त करुण रस के स्थल में भी कभी-कभी गुरु अक्षरों का प्रयोग हो सकता है। ११०। शृंगार रस के नाटक मे रूपक और दीपक अलंकारों का प्रयोग होना चाहिए, तथा वह (प्रधान-रूप से) नारी-वृत्त पर आश्रित होना चाहिए। १११। वीर रस के काव्य मे सयुक्त वर्णों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाए और इस मे जगती, अतिजगती और संकृति छन्दो का प्रयोग करना चाहिए। ११२। युद्धों और उपद्रवों के वर्णन मे उत्कृति छन्द का प्रयोग होना चाहिए तथा करुण रस में शक्करी और अतिधृति का। ११३। जो छन्द वीर मे कहे है, रौद्र रस मे भी उनका प्रयोग करना चाहिये। शेष रसों के अर्थानुसार प्रयोक्ता लोग यथायोग्य छन्द प्रयुक्त करें। ११४।

अनुवादक—पं० बीनानाथ शर्मा शास्त्री सारस्वत

मूलपाठ (संस्कृत)

[नाट्यशास्त्रम्]*

१. रसवर्णनम्

शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥६।१५॥

एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता ब्रुहिणेन महात्मना ।
पुनश्च भावान् वक्ष्यामि स्थायिसंचारिसत्त्वजान् ॥६।१६॥

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥६।१७॥

निर्वेदग्लानिशंकाख्यास्तथासूयामदश्रमाः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥६।१८॥

व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥६।१९॥

सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिरथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥६।२०॥

त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥६।२१॥

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमांचः स्वरसादोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥६।२२॥

आङ्गिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्त्विकस्तथा ।
चत्वारोऽभिनया ह्येते विज्ञेया नाट्यसंश्रयाः ॥६।२३॥

लोकधर्मी नाट्यधर्मी धर्मी तु द्विविधः स्मृतः ।
भारती सात्त्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा ॥६।२४॥

* चौखम्बा संस्कृत सीरीज द्वारा प्रकाशित संस्करण

चतस्रो वृत्तयो ह्योता यासु नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।
अवन्ती दाक्षिणात्या च तथा चैवोड्रमागधी ॥६।२५॥

पाञ्चाली मध्यमा चैव ज्ञेया नाट्यप्रवृत्तयः ।
× × × × ॥६।२६॥

तत्र रसानेव तावदादावभिधास्यामः । न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते । विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः । को वा दृष्टान्त इति चेत्—उच्यते यथा नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः । यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधीभिश्च षड् रसा निर्वर्त्यन्ते, एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति । ऋषय ऊचुः । रस इति कः पदार्थः ? अत्रोच्यते । आस्वाद्यत्वात् । कथमास्वाद्यो रसः ? अत्रोच्यते । यथाहि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाप्यधिगच्छन्ति तथा नाना भावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः । तस्मात् नाट्यरसा इति व्याख्याताः ।

अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः ।

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम् ।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भुक्तं भुक्तविदो जनाः ॥६।३२॥

भावाभिनयसंयुक्ताः स्थायिभावास्ततो बुधाः ।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ॥६।३३॥

अत्राह । किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति ? अत्र केषाञ्चिन्मतं परस्परसम्बन्धादेषामभिनिर्वृत्तिरिति । तन्न । कस्मात् ? उच्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिरिति, न तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति ।

तत्र श्लोकाः ।

नानाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥६।३४॥

नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा ।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह ॥६।३५॥

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ॥६।३६॥

व्यजनौषधिसंयोगाद्यथा न स्वादुता भवेत् ।
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ॥६।३७॥

यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा ।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेषु भावा व्यवस्थिताः ॥६।३८॥

तदेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः । तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः । तद्यथा शृंगारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति ।

अत्र

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्रात्तु करुणो रसः ।
वीराच्चैवोद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥६।३९॥

शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्य इति संज्ञितः ।
रौद्रस्यैव च यत् कर्म स ज्ञेयो करुणो रसः ॥६।४०॥

वीरस्यापि च यत् कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः ।
बीभत्सदर्शनं यच्च भवेत् स तु भयानकः ॥६।४१॥

अथ वर्णाः

श्यामो भवेत्तु शृंगारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः ।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः ॥६।४२॥

गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चापि भयानकः ।
नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुत :स्मृतः ॥६।४३॥

अथ दैवतानि

शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः ।
रौद्रो रुद्राधिदेवश्च करुणो यमदैवतः ॥६।४४॥

बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः ।
वीरो महेन्द्रदेवः स्यादद्भुतो ब्रह्मदैवतः ॥६।४५॥

एवमेतेषामुत्पत्तिवर्णदैवतान्यभिव्याख्यातानि । इदानीं विभावानुभावव्यभिचारिसंयुक्तानां लक्षणदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः । स्थायिभावांश्च रसत्वमुपनेष्यामः ।

तत्र शृंगारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः। यथा यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणानुमीयते। यस्तावदुज्ज्वलवेषः स शृङ्गारवानित्युच्यते। यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि तथैवैषां रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि नामानि भवन्ति। तदेवमेव गुर्वाचारसिद्धो हृद्योज्वलवेषात्मकः शृंगारो रसः। स च स्त्रीपुंसहेतुक उत्तमयुवप्रकृतिः। तस्य ह्ये अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतुमाल्यानुलेपनालङ्कारेष्टजनविषयवरभवनोपभोगोपवनगमनानुभवनश्रवणदर्शनक्रीडा-लीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य नयनचातुर्यभ्रूविक्षेपकटाक्षसञ्चारललितमधुराङ्गहार-वाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणस्त्रासालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्जम्। विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशङ्कासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रासुप्तस्वप्नविबोधाध्युन्मादापस्मारजाड्यमरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः। अत्राह यद्येवं रतिप्रभवः शृंगारः कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा भवन्ति ? अत्रोच्यते पूर्वमेवाभिहितं सम्भोगविप्रलम्भकृतः शृंगार इति। वैशिकशास्त्रेश्च दशावस्थोऽभिहितः। ताश्चावस्थाः सामान्याभिनये वक्ष्यामः।

करुणस्तु शापक्लेशविनिपातनेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धनसमुत्थो निरपेक्षभाव औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः। सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणः अन्यश्च विप्रलम्भः। एवमेष सर्वभावसंयुक्तः शृङ्गारो भवति। (पृ० ७३)

अपि च

सुखप्रायेष्टसम्पन्न ऋतुमाल्यादिसेवकः।
पुरुषः प्रमदायुक्तः शृङ्गार इति संज्ञितः ॥६।४६॥

अपि चात्र सूत्रानुबद्धे आर्ये भवतः

ऋतुमाल्यालंकारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः।
उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति ॥६।४७॥

नयनवदनप्रसादैः स्मितमधुरवचोधृतिप्रमोदैश्च।
मधुरैश्चाङ्गविकारैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥६।४८॥

अथ हास्यो नाम हासस्थायिभावात्मकः। स च विकृतवेषालंकारधाष्टर्य-लौल्यकलहासत्प्रलापव्यङ्गदर्शनदोषोदाहरणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्यौष्ठदंशन-नासाकपोलस्पन्दनदृष्टिव्याकोशाकुञ्चनस्वेदास्यरागपार्श्वग्रहणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्य आलस्यावहित्थातन्द्रानिद्रास्वप्नप्रबोधासूयादयः। द्विवि-

यश्चायम् आत्मस्थः परस्थश्च । यदा स्वयं हसति तदात्मस्थः । यदापरं हासयति तदा परस्थः ।

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः

विपरीतालङ्कारैर्विकृताचाराभिधानवेषैश्च ।
विकृतैरर्थविशेषैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः ॥६।४६॥

विकृताकारैर्वाक्यैरङ्गविकारैर्विकृतवेषैश्च ।
हासयति जनं यस्मात् तस्माद् ज्ञेयो रसो हास्यः ॥६।५०॥

स्त्रीनीचप्रकृतावेष भूयिष्ठं दृश्यते रसः ।
षड् भेदाश्चास्य विज्ञेयास्तांश्च वक्ष्याम्यहं पुनः ॥६।५१॥

स्मितमथ हसितं विहसितमुपहसितञ्चापहसितमतिहसितम् ।
द्वौ द्वौ भेदौ स्यातामुत्तममध्यमाधमप्रकृतौ ॥६।५२॥

स्मितहसिते ज्येष्ठानां मध्यानां विहसितोपहसिते च ।
अधमानामपहसितं तथातिहसितं च विज्ञेयम् ॥६।५३॥

अत्र श्लोकाः

ईषद्विहसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्ठवान्वितैः ।
अलक्षितद्विजं धीरमुत्तमानां स्मितं भवेत् ॥६।५४॥

उत्फुल्लाननेत्रस्तु गण्डैर्विहसितैरथ ।
किञ्चिल्लक्षितदन्तं च हसितं तद्विधीयते ॥६।५५॥

अथ मध्यानाम्

आकुञ्चिताक्षिगण्डं यत् सस्वरं मधुरं तथा ।
कालागतं साम्यरागं तद्वै विहसितं भवेत् ॥६।५६॥

उत्फुल्लनासिकं यच्च जिह्मदृष्टिनिरीक्षणम् ।
निकुञ्चितांसकशिरस्तच्चोपहसितं भवेत् ॥६।५७॥

अधमानाम्

अस्थानहसितं यत्र साश्रुनेत्रं तथैव च ।
उत्कम्पितांसकशिरस्तच्चापहसितं भवेत् ॥६।५८॥

संरब्धसाश्रुनेत्रं च विक्रुष्टस्वरमुद्धतम् ।
करोपगूढपार्श्वं च तच्ज्ञातिहसितं भवेत् ॥६।५९॥

हासस्थानानि यानि स्युः कार्योत्पन्नानि नाटके ।
उत्तमाधममध्यानामेवं तानि प्रयोजयेत् ॥६।६०॥

एवमात्मसमुत्थं च तथा परसमुत्थितम् ।
द्विविधस्त्रिप्रकृतिकः षड्भेदोऽथ रसः स्मृतः ॥६।६१॥

अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः । स च शापक्लेशविनिपातेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धविद्रवोपघातव्यसनसंयोगाविभिर्विभावैः समुपजायते । अस्य चाश्रुपातनपरिदेवनमुखशोषणवैवर्ण्यस्तम्भगात्रसादनिश्वासस्मृतिविलोपाविभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदग्लानिचिन्तौत्सुक्यावेगमोहश्रमभयविषाददैन्यव्याधिजडतोन्मादापस्मारत्रासालस्यमरणस्तम्भवेपथुवैवर्ण्याश्रुस्वरभेदादयः ।

अत्रार्ये भवतः

इष्टवधदर्शनाद् वा विप्रियवचनस्य संश्रयाद् वापि ।
एभिर्भावविशेषैः करुणरसो नाम संभवति ॥६।६२॥

श्वसन (वि) रुदितैर्मोहोद्गमैश्च परिदेवितैर्विलापैश्च ।
अभिनेयः करुणरसो देहायासाभिघातैश्च ॥६।६३॥

अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मकः । रक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रभवः सङ्ग्रामहेतुकः । स च क्रोधधर्षणाधिक्षेपावमाननानृतवचनवाक्पारुष्यद्रोहमात्सर्याविभिर्विभावैः समुपजायते । तस्य च ताडनपाटनपीडनच्छेदनभेदनप्रहरणप्रहरणशस्त्रसंपातसंप्रहाररुधिरास्त्रकर्षणाद्यानि कार्याणि । पुनश्च रक्तनयनस्वेदभ्रुकुटीकरदन्तौष्ठपीडनगण्डस्फुरणहस्ताग्रनिष्पेषादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । व्यभिचारिणश्चास्य सम्मोहोत्साहवेगामर्षचपलतौग्र्यस्वेदवेपथुरोमाञ्चगद्गदादयः । अत्राह—यदभिहितं राक्षसादीनां रौद्रो रसः किमन्येषां नास्तीत्युच्यते । अस्त्यन्येषामपि रौद्रः । किं चाधिकारोऽत्र गृह्यते । ते हि स्वभावत एव रौद्रा बहुबाहवो बहुमुखाः प्रोद्भूतविकीर्णपिङ्गलशिरोजा रक्तोद्वृत्तविलोचना भीमासितरूपिणश्चैव । यच्च किञ्चित्समारभ्यन्ते स्वभावचेष्टितं वागङ्गादिकं वा तत्सर्वं रौद्रमेवेति । तेषां चानुगामिनो ये पुरुषास्तेषामपि संप्रहारकृतो रौद्ररसोऽनुमन्तव्यः । अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

सत्त्वप्रहारघातनविकृतच्छेदनविदारणैश्चैव ।
संग्रामसंभ्रमोत्थैरेभिः संजायते रौद्रः ॥६।६४॥

नानाप्रहरणकुलशिरःकबन्धभुजकर्त्तनैश्चैव ।
एभिश्चार्थविशेषैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥६।६५॥

इति रौद्ररसो वृष्टो रौद्रवागङ्गचेष्टितः ।
शस्त्रप्रहारभूयिष्ठ · उग्रकर्मक्रियात्मकः ॥६।६६॥

अथ वीरो नाम उत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः । स च असंमोहाध्यवसायनयविनयबहुलपराक्रमशक्तिप्रतापप्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य स्थैर्यशौर्यधैर्यत्यागवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । सञ्चारिभावाश्चास्य धृतिमतिगर्ववेगौग्र्यामर्षस्मृतिरोमाञ्चादयः ।

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः

उत्साहाध्यवसायादविषादित्वादविस्मयान्मोहात् ।
विविधादर्थविशेषाद् वीररसो नाम सम्भवति ॥६।६७॥

स्मृतिधैर्यवीर्यशौर्योत्साहपराक्रमप्रभावैश्च ।
वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररसः सम्यगभिनेयः ॥६।६८॥

अथ भयानको नाम भयस्थायिभावात्मकः । स च विकृतरवसत्त्वदर्शनशिवोलूकत्रासोद्वेगशून्यागारारण्यप्रवेशमरणस्वजनवधबन्धनदर्शनश्रुतिकथादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य प्रवेपितकरचरणनयनचलनपुलकमुखवैवर्ण्यस्वरभेदादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । व्यभिचारिभावाश्चास्य स्तम्भस्वेदगद्गद्रोमाञ्चवेपथुस्वरभेदवैवर्ण्यशङ्कामोहदैन्यावेगचापलत्रासापस्मारमरणादयः ।

अत्रानुवंश्या आर्या भवन्ति

विकृतरवसत्त्वदर्शनसंग्रामारण्यशून्यगृहगमनात् ।
गुरुनृपयोरपराधात् कृतकश्च भयानको ज्ञेयः । ६।६९॥

गात्रमुखदृष्टिभेदैरूरुस्तम्भाभिवीक्षणोद्वेगैः ।
सन्नमुखशोषहृदयस्पन्दनरोमोद्गमैश्च भयम् ॥६।७०॥

एतत् स्वभावजं स्यात् सत्त्वसमुत्थं तथैव कर्तव्यम् ।
पुनरेभिरेव भावैः कृतकं मृदुचेष्टितैश्च कार्यम् ॥६।७१॥

करचरणवेपथुस्तम्भगात्रहृदयप्रकम्पेन ।
शुष्कौष्ठतालुकण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेयः ॥६।७२॥

अथ बीभत्सो नाम जुगुप्सास्थायिभावात्मकः। स चाहृद्याप्रियावेक्षानिष्टश्रवणदर्शनपरिकीर्तनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य सर्वाङ्गहारमुखनेत्रविधूर्णनं हृल्लेखनिष्ठीवनोद्वेजनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिभावाश्चास्यापस्मारवेगमोहव्याधिमरणादयः।

अत्रानुवंश्ये आर्य भवतः

अनभिहितदर्शनेन च रसगन्धस्पर्शशब्ददोषैश्च।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सरसः समुद्भवति ॥६।७३॥

मुखनेत्रविधूर्णननयननासाप्रच्छादनावनमितास्यैः।
अव्यक्तपादपतनैः सम्यगभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥६।७४॥

अथाद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मकः। स च दिव्यदर्शनेप्सितमनोरथावाप्त्युत्तमभवनदेवकुलाभिगमनासंभाव्यमानमाहेन्द्रजालसाधनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य नयनविस्तारानिमिषप्रेक्षणरोमाञ्चाश्रुस्वेदहर्षसाधुवादप्रदानबन्धहाहाकारकरचरणाङ्गुलिभ्रमणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिभावाश्चास्याश्रुस्तम्भस्वेदगद्गदरोमाञ्चावेगसंभ्रमजडताप्रलयादयः।

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः

यत्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं शीलं च कर्म रूपं च।
एभिस्त्वर्थविशेषैः रसोऽद्भुतो नाम विज्ञेयः ॥६।७५॥

स्पर्शग्रहोत्कहसनैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च।
वेपथुगद्गदवचनैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य ॥६।७६॥

शृङ्गारं त्रिविधं विद्यात् वाङ्नेपथ्यक्रियात्मकम्।
अङ्गनेपथ्यवाक्यैश्च हास्यरौद्रौ त्रिधा स्मृतौ ॥६।७७॥

धर्मोपघातजश्चैव तथा त्वपचयोद्भवः।
तथा शोककृतश्चैव करुणस्त्रिविधः स्मृतः ॥६।७८॥

दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च।
रसवीरमपि प्राहुस्तज्ज्ञास्त्रिविधसम्मतम् ॥६।७९॥

व्याजाच्चैवापराधाच्च विस्रासितकमेव च।
पुनर्भयानकं चापि विद्यात् त्रिविधमेव च ॥६।८०॥

बीभत्सः क्षोभजः शुद्ध उद्वेगी स्यात्तृतीयकः ।
विष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभजो रुधिराविजः ॥६।८१॥

दिव्यश्चानन्दजश्चैव द्विधा ख्यातोऽद्भुतो रसः ।
दिव्यदर्शनजो दिव्यो हर्षादानन्दजः स्मृतः ॥६।८२॥

एवमेते रसा ज्ञेयास्त्वष्टौ लक्षणलक्षिताः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भावानामपि लक्षणम् ॥६।८३॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे रसविकल्पो नाम षष्ठोऽध्यायः

२. भाववर्णनम्

भावानिदानीं वक्ष्यामः ।

अत्राह—भावा इति कस्मात् ? किं भावयन्तीति भावाः ? उच्यते—वागङ्ग-सत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः । भाव इति कारणसाधनं यथा भावितो वासितः कृत इत्यर्थान्तरम । लोकेऽपि सिद्धं ग्रहो ह्यन्योन्यगन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितम् । अपि च व्याप्त्यर्थं श्लोकाश्चात्र भवन्ति ।

विभावेनाहृतो योऽर्थस्त्वनुभावेन गम्यते ।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥७।१॥

वागङ्गमुखरागैश्च सत्त्वेनाभिनयेन च ।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ॥७।२॥

नानाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाटचयोक्तृभिः ॥७।३॥

विभाव इति कस्मादुच्यते । विभावो विज्ञानार्थः । विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः । विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इति विभावः । यथा विभावितं विज्ञातमित्यर्थान्तरम् ।

अत्र श्लोकः

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रिताः ।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥७।४॥

अथानुभावा इति कस्मादुच्यते यदयमनुभावयति नानार्थाभिनिष्पन्नो वागङ्गसत्त्वैः कृतोभिनय इति

अत्र श्लोकः

वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥७।५॥

तत्राष्टौ भावाः स्थायिनः, त्रयस्त्रिंशत् व्यभिचारिणः, अष्टौ सात्त्विका इति भेदाः । एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपञ्चाशत् भावाः प्रत्यवगन्तव्याः । एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते । भवति चात्र श्लोकः ।

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः ।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥७।७॥

अत्राह—यदान्योन्यार्थसंश्रितैर्विभावानुभावव्यभिचारिभिरेकोनपञ्चाशद्भावैः सामान्यगुणयोगेनाभिनिष्पद्यन्ते रसाः, कथमिदानीमेते स्थायिनोऽष्टौ भावा रसत्वमाप्नुवन्तीत्युच्यते ? एवमेतदिति । कस्मात् ? यथाहि समानलक्षणास्तुल्यपाणिपादोदरसमानाः समानप्रत्यया अपि पुरुषाः कुलशीलविद्याकर्मशिल्पविचक्षणत्वयुक्ता राजत्वमाप्नुवन्ति तत्रैव चान्येऽल्पबुद्धयस्तेषामेवानुचरा भवन्ति । तथा विभावानुभावव्यभिचारिणः स्थायिभावानुपासृता भवन्तीत्याश्रयत्वात् स्वामिभूताश्च स्थायिनो भावाः । तद्वत् स्थायिनि वपुषि गुणीभूता अन्ये भावाः । तान् गुणवत्तयाऽऽश्रयन्ते परिजनभूता व्यभिचारिणो भावाः । को दृष्टान्त इति ? यथा नरेन्द्रो बहुजनपरिवारोऽपि सन् स एव नाम लभते नान्यः सुमहानपि पुरुषः । बहुषु गच्छत्सु कश्चित् क्वचित् पृच्छति कोऽयमिति । स च तमाह राजेत्येव । तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृत्तः स्थायी भावो रसनाम लभते नरेन्द्रवत् ।

भवति चात्र श्लोकः

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः ।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ॥७।८॥

व्यभिचारिभावाः

व्यभिचारिण इदानीं वक्ष्यामः । अत्राह । व्यभिचारिण इति कस्मादुच्यते ? वि अभि इत्येतावुपसर्गौ । चर गतौ धातुः । धात्वर्थवागङ्गसत्त्वोपेतान् विविधमभिमुखेन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः । चरन्ति नयन्तीत्यर्थः । कथं नयन्ति ? उच्यते । यथा सूर्य

इदं नक्षत्रममुं वासरं नयतीति । न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नीयते । किंतु लोकप्रसिद्धमेतत् । यथायं सूर्यो नक्षत्रमिदं वा नयतीति एवमेते व्यभिचारिण इत्यवगन्तव्याः । प्रति व्यभिचारिणस्त इमे एवं गृहीतास्त्रयस्त्रिंशद्भावाः ।

सात्त्विकभावाः

अत्राह किमन्ये भावाः सत्त्वेन विनाभिधीयन्ते यत एते सात्त्विका इत्युच्यन्ते ? अत्रोच्यते इह सत्त्वं नाम मनःप्रभवम् । तच्च समाहितमनस्त्वात् उत्पद्यते । मनःसमाधानाच्च सत्त्वनिवृत्तिर्भवति । तस्य च योऽसौ स्वभावः स्तम्भस्वेदरोमाञ्चाश्रुवैवर्ण्यादिको न दृश्यते मनसा कर्तुमिति लोकस्वभावानुकरणत्वाच्च नान्यस्य सत्त्वमीप्सितम् । अत्राह को दृष्टान्त इति चेत्, अत्रोच्यते इह हि नाट्यधर्मः प्रवृत्तः सुखदुःखकृतो भावः तथासत्त्वविशुद्धाधिष्ठितः कार्यो यथास्वरूपो भवति । तत्र दुःखं नाम रोदनात्मकम् । तत्कथमदुःखितेन, सुखं प्रहर्षात्मकं असुखितेनाभिनेतुं शक्यते इति सत्त्वसमीप्सितमिति कृत्वा सात्त्विको नाम भावः । एतदेवास्य सत्त्वं यददुःखितेन सुखितेन वा अश्रुरोमाञ्चौ दर्शयितव्याविति व्याख्यातम् । इमे

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरसादोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलयः इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥७।९३॥

तत्र

क्रोधभयहर्षलज्जादुःखश्रमरोगतापघातेभ्यः ।
व्यायामक्लमघर्मात् स्वेदः संपीडनाच्चैव ॥७।९४॥

हर्षभयरोगविस्मयविषादमदरोषसम्भवः स्तम्भः ।
शीतभयहर्षरोषस्पर्शजरासम्भवः कम्पः ॥७।९५॥

घ्रानन्वामर्षाभ्यां धूमाञ्जनजृम्भणभयाच्च ।
शोकानिमिषप्रेक्षणशीताद्रोगात् भवेदस्रम् ॥ ७।९६ ॥

शीतक्रोधभयश्रमरोगक्लमतापजं च वैवर्ण्यम् ।
स्पर्शभयशीतहर्षात् क्रोधाद्रोगाच्च रोमाञ्चः ॥७।९७॥

स्वरसादो भयहर्षक्रोधज्वररोगमदजनितः ।
श्रममूर्च्छामदनिद्राभिघातमोहादिभिः प्रलयः ॥७।९८॥

एवमेते बुधैर्ज्ञेया भावा ह्यष्टौ तु सात्त्विकाः ।
कर्म चैषां प्रवक्ष्यामि ह्यनुभावानुभावकम् ॥७।९९॥

व्यञ्जनग्रहणाच्चापि स्वेदापनयनेन च ।
स्वेदस्याभिनयो योज्यस्तथा वाताभिलाषतः ॥७।१००॥

निश्चेष्टो निष्प्रकम्पश्च स्मितशून्यजडाकृतिः ।
निःसंज्ञस्तब्धगात्रश्च स्तम्भं त्वभिनयेद् बुधः ॥७।१०१॥

वेपनात् स्फुरणात् कम्पात् वेपथुं सम्प्रयोजयेत् ।
स्वरभेदं तथा चैव भिन्नगद्गदनिस्वनैः ॥७।१०२॥

मुहुः कण्टकितत्वेन तथोल्लुकसनेन (?) च ।
रोमाञ्चस्त्वभिनेयोऽसौ गात्रसंस्पर्शनेन च ॥७।१०३॥

नेत्रसंमार्जनैर्बाष्पैरश्रु त्वभिनयेद् बुधः ।
मुखवर्णपरावृत्या नाडीपीडनयोगतः ॥७।१०४॥

वैवर्ण्यमभिनेतव्यं प्रयत्नादङ्गसंश्रयम् ।
मेदिनीपतनाच्चापि प्रलयाभिनयो भवेत् ॥७।१०५॥

भावानां रसे विनियोगः

एकोनपञ्चाशदिमे यथावद् भावा व्यवस्था गदिता मया वः ।
येषां च ये यत्र रसे नियोज्यास्तान् श्रोतुमर्हन्ति च विप्रमुख्याः ॥७।१०६॥

ग्लानिः शङ्का ह्यसूया च श्रमश्चपलता तथा ।
सुप्तं निद्रावहित्थं च शृंगारे वेपथुस्तथा ॥७।१०७॥

आलस्यौग्रयजुगुप्साभिर्भावैस्तु परिवर्जिताः ।
उद्भावयन्ति शृङ्गारं सर्वे भावाः स्वसंज्ञया ॥७।१०८॥

ग्लानिः शङ्का ह्यसूया च श्रमश्चपलता तथा ।
सुप्तनिद्रावहित्थं च हास्ये भावाः प्रकीर्तिताः ॥७।१०९॥

निर्वेदश्चैव चिन्ता च वैन्यग्लान्यश्रुमेव च ।
जडता मरणं चैव व्याधिश्च करुणे रसे ॥७।११०॥

असम्मोहस्तथोत्साह आवेगो हर्ष एव च ।
मतिश्चैव तथोग्रत्वं हर्ष उन्माद एव च ॥७।१११॥

रोमाञ्चः प्रतिबोधश्च क्रोधासूये धृतिस्तथा ।
गर्वश्चैव वितर्कश्च वीरे भावा भवन्ति हि ॥७।११२॥

गर्वोऽसूया तथोत्साहः आवेगो मद एव च ।
क्रोधश्चपलता हर्षो रौद्रे तूग्रत्वमेव च ॥७।११३॥

स्वेदश्च वेपथुश्चैव रोमाञ्चो गद्गदस्तथा ।
त्रासश्च मरणं चैव वैवर्ण्यं च भयानके ॥७।११४॥

अपस्मारस्तथोन्मादो विषादो मद एव च ।
मृत्युव्याधी भयं चैव भावा बीभत्ससंश्रिता ॥७।११५॥

स्तम्भः स्वेदश्च मोहश्च रोमाञ्चो विस्मयस्तथा ।
आवेगो जडता हर्षो मूर्च्छा चैवाद्भुताश्रयाः ॥७।११६॥

ये ह्येते सात्त्विका भावा नानाभिनयसंश्रिता ।
रसेष्वेतेषु सर्वेषु विज्ञेया नाटचयोक्तृभिः ॥७।११७॥

न ह्येकरसजं काव्यं किञ्चिदस्ति प्रयोगतः ।
भावो वापि रसो वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा ॥७।११८॥

सर्वेषां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु ।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषा सञ्चारिणो मताः ॥७।११९॥

विभावानुभावयुतो ह्यङ्गवस्तुसमाश्रयः ।
संचारिभिस्तु संयुक्तः स्थाय्येव तु रसो भवेत् ॥७।१२०॥

स्थायी सत्त्वातिरेकेण प्रयोक्तव्यः प्रयोक्तृभिः ।
सञ्चार्याकारमात्रेण स्थायी यस्माद् व्यवस्थित. ॥७।१२१॥

चित्राणि न विरज्यन्ते लोके चित्रं हि दुर्लभम् ।
विमर्दो रागमायाति प्रयुक्तमपि यत्नतः ॥७।१२२॥

नानार्थभावनिष्पन्ना स्थायिसत्त्वविचारिण ।
पुंसानुकीर्णाः कर्तव्याः काव्ये सत्त्वरसाश्रये ॥७।१२३॥

एवं रसाश्च भावाश्च व्यवस्था नाटके स्मृताः ।
य एवमेतान् जानाति स गच्छेत्सिद्धिमुत्तमाम् ॥७।१२४॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे भावव्यञ्जको नाम सप्तमोऽध्यायः ।

अलंकारः

उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा ।
अलङ्कारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः ॥१७।४३॥

यत्किञ्चित् काव्यबन्धेषु साद्दश्येनोपमीयते ।
उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ॥१७।४४॥

एकस्यैकेन सा कार्यानेकेनाप्यथवा पुनः ।
अनेकस्य तथैकेन बहूनां बहुभिस्तथा ॥१७।४५॥

तुल्यं ते शशिना वक्त्रमिति ह्येककृता भवेत् ।
एकस्य बहुभिः सा स्यादुपमा नाटकाश्रया ॥१७।४६॥

शशाङ्कवत् प्रकाशन्ते ज्योतींषीति भवेत्तु या ।
एकस्यानेकविषया सोपमा परिकीर्तिता ॥१७।४७॥

श्येनबर्हिणभासानां तुल्यार्थं इति या भवेत् ।
एकस्य बहुभिः साम्यादुपमा नाटकाश्रया ॥१७।४८॥

तुल्यं ते शशिना वक्त्रमित्येकेऽनेकसंश्रया ।
बहूनां बहुभिर्ज्ञेया घना इव गजा इति ॥१७।४९॥

प्रशंसा चैव निन्दा च कल्पिता सदृशी तथा ।
किञ्चिच्च सदृशी ज्ञेया ह्युपमा पञ्चधा बुधैः ॥१७।५०॥

प्रशंसा यथा—

दृष्ट्वा तु तां विशालाक्षीं तुतोष मनुजाधिपः ।
मुनिभिः साधितां कृच्छ्रात् सिद्धिं मूर्तिमतीमिव ॥१७।५१॥

निन्दा यथा—

सा तं सर्वगुणैर्हीनं सस्वजे कर्कशच्छविम् ।
वने कण्ठगतं वल्ली दावदग्धमिव द्रुमम् ॥१७।५२॥

कल्पिता यथा—

क्षरन्तो दानसलिलं लीलामन्थरगामिनः ।
मतङ्गजा विराजन्ते जङ्गमा इव पर्वताः ॥१७।५३॥

सदृशी यथा—

यत्त्वयाऽद्य कृतं कर्म परचित्तानुरोधिना ।
सदृशं तत्तवैव स्यादतिमानुषकर्मणः ॥१७।५४॥

किंचित्सदृशी यथा—

संपूर्णचन्द्रवदना नीलोत्पलदलेक्षणा ।
मत्तमातङ्गगमना संप्राप्तेयं सखी मम ॥१७।५५॥

उपमाया बुधैरेते भेदा ज्ञेयाः समासतः ।
शेषा ये लक्षणैर्नोक्तास्ते ग्राह्या काव्यलोकतः ॥१७।५६॥

नानाद्रव्यानुषङ्गाद्यैर्यदौपम्यं गुणाश्रयम् ।
रूपनिर्वर्णनायुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम् ॥१७।५७॥

स्वविकल्पेन रचितं तुल्यावयवलक्षणम् ।
किञ्चित्साद्दश्यसंपन्नं यद्रूपं रूपकं तु तत् ॥१७।५८॥

यथा—

पद्मानमास्ताः कुमुदप्रहासा
विकासिनीलोत्पलचारुनेत्राः ।
वापीस्त्रियो हंसकुलैर्ननद्भिर्—
विरेजुरन्योन्यमिवाह्वयन्त्यः ॥१७।५९॥

नानाधिकरणस्थानां शब्दानां संप्रदीपतः ।
एकवाक्येन संयोगो यस्तद्दीपकमुच्यते ॥१७।६०॥

यथा—

सरांसि हंसैः कुसुमैश्च वृक्षा
मत्तैर्द्विरेफैश्च सरोरुहाणि ।
गोष्ठीभिरुद्यानवनानि चैव
तस्मिन्नशून्यानि सदा क्रियन्ते ॥१७।६१॥

शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम् ।
विशेषदर्शनं चास्य गदतो मे निबोधत ॥१७।६२॥

काव्य-दोषाः

अगूढमर्थान्तरमर्थहीनं
भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम् ।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि
शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः ॥१७।८८॥

पर्यायशब्दाभिहितं गूढार्थमभिसंज्ञितम् ।
अवर्ण्यं वर्ण्यते यत्र तदर्थान्तरमिष्यते ॥१७।८९॥

अर्थहीनं त्वसम्बद्धं सा त्वशेषार्थमेव च ।
भिन्नार्थमभिविज्ञेयमसभ्यं ग्राम्यमेव च ॥१७.९०॥

(वि) वक्षितोऽन्य एवार्थो यत्रान्यार्थेन भिद्यते ।
भिन्नार्थं तदपि प्राहुः काव्यं काव्यविचक्षणाः ॥१७।९१॥

एकार्थस्याभिधानं यत् तदेकार्थमिति स्मृतम् ।
अभिप्लुतार्थं विज्ञेयं यत् पादेन समस्यते ॥१७।९२॥

न्यायादपेतं विज्ञेयं प्रमाणपरिवर्जितम् ।
वृत्त (दोषो) भवेद्यत्र विषमं नाम तद् भवेत् ॥१७।९३॥

अनुप्रतिष्ठाशब्दं यत् तद्विसन्धीति काशितम् ।
शब्दहीनं च विज्ञेयमशब्दस्य च योजनात् ॥१७।९४॥

एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः ।
एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः ॥१७।९५॥

गुणाः

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः
माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।

अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च
कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ॥१७।९६॥

विचार्यग्रहणं वृत्या स्फुटञ्चैव स्वभावत. ।
स्वत: सुप्रतिबन्धश्च श्लिष्टं तत्परिकीर्त्यते ॥१७।९७॥

ईप्सितेनार्थजातेन सम्बद्धानुपरस्परम् ।
श्लिष्टता या पदानां हि श्लेष इत्यभिधीयते ॥१७।९८ ॥

अप्यनुक्तो बुधैर्यत्र शब्दोऽर्थो वा प्रतीयते ।
सुखशब्दार्थसम्बोधात् प्रसाद: परिकीर्त्यते ॥१७।९९॥

अन्योन्यसदृशं यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणम् ।
अलंकारगुणाश्चैव समासात् समता यथा ॥१७।१००॥

उपमास्वियश्लिष्टानां (?) अर्थानां यत्नतस्तथा ।
प्राप्तानां चातिसंयोग: समाधि: परिकीर्त्यते ॥१७।१०१॥

बहुशो यच्छ्रुतं वाक्यं उक्तं वापि पुन: पुन: ।
नोद्वेजयति यस्माद्धि तस्माधुर्यामिति स्मृतम् ॥१७।१०२॥

अवगीताविहीनोऽपि स्यादुदात्तावभावक: ।
यत्र शब्दार्थसम्पत्तिस्तदोज: परिकीर्तितम् ॥१७।१०३॥

सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्तं सुश्लिष्टसन्धिभि: ।
सुकुमारार्थसंयुक्तं सौकुमार्यं तदुच्यते ॥१७।१०४॥

यस्यार्थानुप्रवेशेन मनसा परिकल्प्यते ।
अनन्तरं प्रयोगस्य साऽर्थव्यक्तिरुदाहृता ॥१७।१०५॥

अनेकार्थविशेषैर्यत् सूक्तै: सौष्ठवसंयुतै: ।
उपेतमतिचित्राथैरुदात्तं तच्च कीर्त्यते ॥१७।१०६॥

यो मनश्श्रोत्रविषय: प्रसादजनको भवेत् ।
शब्दबन्ध: प्रयोगेण स कान्त इति भण्यते ॥१७।१०७॥

अलंकार-गुणदोष-छन्दसां-रससंश्रयत्वम्

एवमेते ह्यलङ्कारा गुणा दोषाश्च कीर्तिताः ।
प्रयोगमेषां च पुनः वक्ष्यामि रससंश्रयम् ॥ ७।१०८॥

लघ्वक्षरप्रायकृतं उपमारूपकाश्रयम् ।
काव्यं कार्यं तु काव्यज्ञैः वीररौद्राद्भुताश्रयम् ॥ १७।१०९ ॥

गुर्वक्षरप्रायकृतं बीभत्से करुणे तथा ।
कदाचिद्रौद्रवीराभ्यां यदाधर्षणजं भवेत् ॥११।११०॥

रूपदीपकसंयुक्तं भार्यावृत्तसमाश्रयम् ।
शृंगारे रसकार्यं तु काव्यं स्यान्नाटकाश्रयम् ॥१७।१११॥

उत्तरोत्तरसंयुक्तं वीरे काव्यं तु यद् भवेत् ।
जगत्यातिजगत्यां वा संकृत्यां वापि तद् भवेत् ॥१७।११२॥

तथैव युद्धसंस्फेटा उत्कृत्यां सम्प्रकीर्तितौ ।
करुणे शक्वरी ज्ञेया तथैवातिधृतिर्भवेत् ॥१७।११३॥

यद् वीरे कीर्तितं च्छन्दः तद्रौद्रेऽपि प्रयोजयेत् ।
शेषाणामर्थयोगेन च्छन्दः कार्यं प्रयोक्तृभिः ॥१७।११४॥

भामह

(समय—षष्ठ शतक का मध्यकाल)

[ग्रन्थ—काव्यालङ्कार]

१. काव्य-प्रशंसा

अच्छे काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष मे और कलाओ मे चतुरता तथा प्रीति एव कीर्ति की देने वाली है ॥१।२॥

जैसे धनरहित दाता नही हो सकता, जैसे नपुंसक मे अस्त्र-चातुर्य, और अज्ञ में चातुर्य नही हो सकता, वैसे ही अकवि शास्त्र-ज्ञाता भी नही हो सकता ॥१।३॥

नम्रता के बिना लक्ष्मी क्या है ? चन्द्र के बिना भला रात कैसी ? सत्कवित्व से रहित वाणी-चातुर्य कैसा ? ॥१।४॥

गुरु के उपदेश से तो जड़बुद्धि भी शास्त्र पढ़ सकता है, काव्य तो किसी प्रतिभा (नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि)—शाली से ही बन पाता है ॥ १।५ ॥

अच्छे काव्य-रूप निबन्धों के रचयिताओं का चाहे स्वर्गवास भी हो चुका हो, पर उनका काव्य-रूप सुन्दर शरीर अक्षय ही रहा करता है ॥१।६॥

उसकी अनश्वर कीर्ति जब तक पृथ्वी-आकाश में व्याप्त है, तब तक वह पुण्यात्मा देव-पद पर आसीन है ॥१।७॥

अतः पृथिवी की स्थिति तक स्थिर कीर्ति की इच्छा वाले विद्वान पुरुष को काव्य-रचना का यत्न करना चाहिए ॥१।८॥

२. काव्य-साधन

काव्य-रचना के अभिलाषी पुरुष को शब्द, छन्द, कोष-प्रतिपादित अर्थ, ऐतिहासिक कथाएँ, लोक-व्यवहार, युक्ति और कलाओं का मनन करना चाहिए ॥१।९॥

शब्द और अर्थ को जानकर, उसके विद्वानों के समीप रह कर, दूसरों के निबन्धों को देख कर काव्य-रचना में प्रवृत्त होना चाहिए ॥१।१०॥

किसी भी अवस्था में एक पद भी सदोष नहीं लिखना चाहिए। कुत्सित पुत्र के समान कुलक्षण काव्य से भी (पुरुष) निन्दित होता है ॥१।११॥

कवि न होना अधर्म अथवा व्याधि या दण्ड का पात्र बनाता है, पर पण्डितों ने कुकवित्व को तो साक्षात् मृत्यु ही माना है ॥१।१२॥

काव्य के रूपक आदि अलंकारों का अन्य आचार्यों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है। स्त्री का सुन्दर मुख भी बिना भूषण के नहीं सजता ॥१।१३॥

कुछ विद्वान रूपकादि अर्थालंकारों को बाह्य (अर्थात् काव्यार्थ-प्रतीति के पीछे उत्पन्न होने वाले) बतलाते हैं। वे सुबन्त और तिङन्त पदों के अनुप्रास आदि वा रचनादि रूप शब्दालंकार को ही अधिक चमत्कारक मानते हैं और कहते हैं कि शब्द-रचना की चतुराई जितनी चित्ताकर्षक होती है उतनी अर्थालंकार की नहीं। परन्तु हमें तो दोनों प्रकार के भेदों मे विशिष्ट काव्य चमत्कारजनक होने से रुचते हैं ॥१।१४-१५॥

३. काव्य-लक्षण

शब्द और अर्थ मिल कर ही काव्य हुआ करता है। उसके गद्य और पद्य दो भेद हैं। फिर, काव्य, संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश तीन प्रकार का होता है ॥१।१६॥

४. काव्य-भेद

(प्रतिपाद्य वस्तु के आधार पर) काव्य के चार भेद हैं—देवादि-वृत्त का निरूपक कलाश्रित तथा शास्त्राश्रित काव्य और कल्पित वस्तु का निरूपक कलाश्रित और शास्त्राश्रित काव्य ॥१।१७॥

फिर (बन्ध की दृष्टि से) उसके पाँच भेद हैं। १ सर्गबद्ध २ अभिनेय वस्तु (नाटक) ३ आख्यायिका ४ कथा, ५ अनिबद्ध (मुक्तक) काव्य ॥१।१८॥

(क) महाकाव्य

महाकाव्य सर्गबद्ध होता है। वह महान् (विषय) का निरूपक और महान् होता है। उसमें अग्राम्य शब्द, सुन्दर अर्थ, अलंकार और सद्वस्तु होनी चाहिए ॥१।१९॥

उसमे मंत्र, दूत-प्रयाण, युद्ध, नायक का अभ्युदय, पाँच सन्धियाँ हों। बहुत व्याख्या के योग्य न हो, उत्कर्षयुक्त हो ॥१।२०॥

धर्म आदि चारो वर्गो का वर्णन होने पर भी प्रधानतया उसमे अर्थ उपदिष्ट हो। उसमे लोकस्वभाव का वर्णन हो और सभी रसो का पृथक् निरूपण हो ॥१।२१॥

कुल, बल, शास्त्राध्ययन आदि से नायक का उत्कर्ष बताकर, फिर दूसरे का उत्कर्ष कहने की इच्छा से उस नायक का वध न दिखाया जाय ॥१।२२॥

यदि उस नायक को काव्य के शरीर मे व्यापक नही करना और उसका अभ्युदय न दिखलाना हो, तो उसका आश्रयण तथा पहले स्तुति करना भी व्यर्थ है ॥१।२३॥

(ख) नाटक

नाटक मे अभिनय योग्य वर्णन होता है। उसमें द्विपदी, शम्या, रासक, स्कन्धक आदि होते हैं। दूसरे पण्डितों ने उसका विस्तार से निरूपण किया है ॥१।२४॥

(ग) आख्यायिका

जिसमे प्रकरण की आकुलता न हो, श्रव्य शब्द और अर्थ एव पद हो, गद्य का प्रयोग हो, अर्थ उदात्त (उत्कृष्ट) हो और उच्छवास हों उसे आख्यायिका कहते हैं ॥१।२५॥

उसमे नायक अपने वृत्त तथा चेष्टा का वर्णन करता है। वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दो का प्रयोग होता है; तथा यथावसर भविष्यत् अर्थ का निरूपण भी होता है ॥१।२६॥

(घ) कथा

कथा—कवि के साभिप्राय कथनों से युक्त होती है। उसका विषय कन्याहरण, युद्ध, वियोग (आदि) होता है ॥१।२७॥ इसमे वक्त्र, अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग नहीं होता; उच्छवास भी नही होते। उसमे संस्कृत भाषा का प्रयोग होता है तथा अपभ्रंश भाषा का भी ॥१।२८॥ नायक उसमे अपना चरित नही बताता; कुलीन पुरुष भला अपने गुणो का वर्णन कैसे कर सकता है ? ॥१।२९॥

(ङ) गाथा

श्लोकमात्र की प्रबंधरहित रचना गाथा होती है। उसमें वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति आदि सभी होते हैं ॥१।३०॥

५. वैदर्भ और गौड़ीय का भेद

वैदर्भ—दूसरे विद्वान् मानते हैं कि—वैदर्भ (मार्ग) तो कुछ और है, वही श्रेष्ठ है; सुन्दर अर्थवाला भी अन्य (मार्ग) श्रेष्ठ नही ॥१।३१॥

गौडीय—यह वैदर्भ ही गौड़ीय है, पृथक् मानने की आवश्यकता नही। निर्बुद्धि लोगो की दृष्टि मे गतानुगतिकतावश ये भिन्न-भिन्न नाम हैं ॥१।३२॥ (प्र०) अश्मकवंश आदि को वैदर्भ कहा जाता है (उ०) अच्छा यही सही; परन्तु नाम तो प्रायः अपनी इच्छा से रखा जाता है ॥१।३३॥ जिसमें अर्थ अपुष्ट हो, वक्रोक्ति न हो, प्रसाद गुण हो, सरल और कोमल हो वह वैदर्भ होता है। वह गेय (गीत) की भाँति भिन्न होता है, केवल सुनने में सुन्दर होता है ॥१।३४॥ अलंकार जिसमें हो, ग्राम्य-दोष न हो अर्थान्वित हो, आकुलता न हो, वही गौड़ीय है, वैदर्भी भी यही है, भिन्न नही ॥३५॥

६. वक्रोक्ति का माहात्म्य

'नितान्त' आदि शब्दों द्वारा व्यक्त अतिशयोक्ति से ही वाणी सौष्ठव नही हो जाता। वक्र-शब्द और अर्थ की उक्ति ही वाणी का काम्य अलकार है ॥१।३६॥

७. सामान्य दोष

कवि लोग नेयार्थ (जबर्दस्ती का अर्थ), क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्त, और गूढ़ शब्दों का प्रयोग नही करते ॥१।३७॥

८. वाणी दोष

श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट, तथा श्रुतिकष्ट—यह चार प्रकार के वाणी के दोष हैं ॥१।४७॥

९. दोषों के अन्य भेद

अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ ससंशय, अपक्रम, शब्द-हीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि, ॥४।१॥ देशविरुद्ध, कालविरुद्ध, प्रतिज्ञाहीन, हेतुहीन, दृष्टान्तहीन दोष (काव्य मे) नही होने चाहिये ॥४।२॥

१०. दोष का गुणत्व-साधन

विशेष स्थितिवश दुष्ट कथन भी शोभित होता है, जैसे कि मालाओं के मध्य में बँधा हुआ नीला पत्ता भी शोभित होता है ॥१।५४॥ कोई असाधु भी शब्द आश्रय के सौदर्य से शोभा को धारण कर लेता है, जैसे—ललना की आँखो मे स्थित काला अंजन भी शोभा पाता है ॥१।५५॥ 'हे कमल नयने ! तेरा यह मुख कुछ पाण्डुगण्ड (पीले कपोल) वाला है, यहाँ पर कुत्सित भी 'गण्ड' शब्द 'पाण्डु' शब्द के मेल से अच्छा माना जाता है ॥१।५६॥ इस शैली से दूसरे असाधु शब्द को भी युक्त जान लेना चाहिए। जैसे 'विक्लिन्नगण्डानां करिणां मदवारिभिः' ॥१।५७॥ और 'मदक्लिन्नकपोलानां द्विरदानां चतुश्शती'। इस प्रकार असाधु और साधु सुप्रयोग ही करना ठीक होता है ॥१।५८॥ 'एतद्ग्राह्यं सुरभिकुसुमं' इस ग्राम्य को रख देना चाहिये। सुप्रयुक्त किया हुआ यह शोभित हो जाता है, यही इसके प्रयोग का स्थान है। जैसे माली अच्छी तरह देख भाल कर माला को बनाता है, वैसे ही काव्यों मे भी शब्द-प्रयोग सावधानता से ही करना चाहिये ॥१५९॥

११. गुण

बुद्धिमान लोग माधुर्य और प्रसाद को चाहते हुए समासयुक्त बहुत पदों का प्रयोग नही करते ॥२।१॥ कई ओज गुण का प्रयोग करते हुए लम्बे समास भी कर दिया करते हैं। जैसे—'मन्दारकुसुमरेणुपिंजरितालका' ॥२।२॥ श्रव्य काव्य में बड़े समास न हों वह मधुर एवं प्रसाद-गुणयुक्त होना चाहिए—जिसे विद्वानों से लेकर स्त्री तथा बच्चे भी जान सकें ॥२।३॥

१२. अतिशयोक्ति

जो वचन किसी निमित्त से लोक-सीमा का अतिक्रमण कर जाय उसे अतिशयोक्ति अलंकार कहा जाता है ॥२।८१॥ जैसे—सप्तच्छद के वृक्ष अपने पुष्पों की शोभा को छीनने वाली चन्द्र की चन्द्रिका के कारण छिप गये, केवल भौरों की वाणी से अनुमित होते थे कि हैं ॥२।८२॥ यदि पानी की त्वचा भी साँप की केंचुली की तरह

अलग हो जाय तो जल में स्त्रियों के अंगों मे भी शुक्ल सूक्ष्म वस्त्र दीखे ॥२।८३॥ इस प्रकार अतिशय योग से कही हुई अतिशयोक्ति होती है, उसे यथा-शास्त्र जान लेना चाहिए ॥२।८४

१३. वक्रोक्ति

यही सारी अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति होती है। इससे अर्थ चमत्कृत हो जाता है। कवि को इसी मे यत्न करना चाहिये। कौन अलंकार है जो इससे रहित हो ॥२।८५॥ हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकार नही माने गये, क्योंकि ये समुदाय (इतिवृत्तात्मकता) के वाचक हैं, और वक्रोक्ति के अभिधान से शून्य हैं ॥२।८६॥ जैसे—'सूर्यास्त हो गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षीगण निवास के लिए जा रहे हैं, यह भी क्या कोई काव्य है ? इसे तो' वार्ता' कहते हैं ॥२।८७॥

१४. काव्य का माहात्म्य

स्वादु काव्य के रस से युक्त शास्त्र का भी उपयोग किया जाता है, पहले लोग शहद चाट कर पीछे कडवी दवाई पीते हैं ॥५।३॥ ऐसा कोई शब्द, अर्थ, न्याय वा कला नही है, जो काव्य का अंग न हो। अहो कवि पर कितना महान् भार है ? ॥५।४॥

१५. शब्दों का साधुत्व-असाधुत्व

वक्र वाणी वाले कवियों के प्रयोग मे जो शब्द, अर्थ प्रयोज्य वा अप्रयोज्य हैं, उनका हम विवेक बताते हैं ॥६।२३॥ अप्रयुक्त का प्रयोग नही करना चाहिए क्योंकि—वह चित्त को मोह में डाल देता है। जैसे कि—हन् धातु का गति अर्थ भी यद्यपि कहा गया है, पर उसका प्रयोग करना ठीक नही ॥६।२४॥

शिष्टों ने इसे कहा है—इसलिए भी उसका प्रयोग नही कर देना चाहिए। जो अर्थ अन्य एकदेशी शास्त्रो से सिद्ध हो, उसका भी प्रयोग नही करना चाहिए। छन्दोवत् (वेदवत्) जो प्रयोग हो, उनका भी सामान्यतया प्रयोग नही करना चाहिए, और छान्दस (वैदिक) पदो का भी कवि को प्रयोग न करना चाहिए ॥६।२७॥

जो क्रम से आया हो, कानो को सुख देने वाला हो ऐसे सार्थक शब्द का प्रयोग करना चाहिए। अभिव्यंजना की मनोहरता अलंकार से भी बढ़ कर है ॥६।२८॥

अनुवादक—पं० दीनानाथ शर्मा शास्त्री सारस्वत

भामह

[काव्यालङ्कार]*

१. काव्य-प्रशंसा

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥१।२॥

अधनस्येव वातूत्वं क्लीबस्येवास्त्रकौशलम् ।
अज्ञस्येव प्रगल्भत्वमकवेः शास्त्रवेदनम् ॥१।३॥

विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना ।
रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता ॥१।४॥

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम् ।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ॥१।५॥

उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम् ।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः ॥१।६॥

रुणद्धि रोदसी चास्य यावत् कीर्तिरनश्वरी ।
तावत् किलाऽयमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम् ॥१।७॥

अतोऽभिवाञ्छता कीर्तिं स्थेयसीमाभुवः स्थिते ।
यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः ॥१।८॥

२. काव्य-साधनानि

शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः ।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यवेधसी ॥१।९॥

शब्दाऽभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम् ।
विलोक्याऽन्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥१।१०॥

---

* चौखम्बा संस्कृत सीरीज में सन् १९२८ में प्रकाशित संस्करण

सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते ॥१।११॥

अकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा ।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥१।१२॥

रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ॥१।१३॥

रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ॥१।१४॥

तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ॥१।१५॥

३. काव्य-लक्षणम्

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यञ्च तद्द्विधा ।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥१।१६॥

४. काव्य-भेदाः

वृत्तदेवादिचरितशंसि चोत्पाद्यवस्तु च ।
कलाशास्त्राश्रयञ्चेति चतुर्धा भिद्यते पुनः ॥१।१७॥

सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे ।
अनिबद्धञ्च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते ॥१।१८॥

(क) महाकाव्यम्

सर्गबन्धो महाकाव्यं महताञ्च महच्च यत् ।
अग्राम्यशब्दमर्थ्यञ्च सालङ्कारं सदाश्रयम् ॥१।१९॥

मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत् ।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत् ॥१।२०॥

चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत् ।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ॥१।२१॥

नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुताविभिः ।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया ॥१।२२॥

यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापित्वमेष्यते ।
न चाभ्युदयभाक्त्वस्य मुधादौ ग्रहणस्तवौ ॥१।२३॥

(ख) नाटकम्

नाटकं द्विपदीशय्यारासकस्कन्धकादि यत् ।
उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्य विस्तरः ॥१।२४॥

(ग) आख्यायिका

प्रकृताना कुलश्रव्यशब्दार्थपदवृत्तिना ।
गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाख्यायिका मता ॥१।२५॥

वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम् ।
वक्त्रं चापरवक्त्रञ्च काले भाव्यार्थशंसि च ॥१।२६॥

(घ) कथा

कवेरभिप्रायकृतैः कथानै. कैश्चिदङ्किता ।
कन्याहरणसङ्ग्रामविप्रलम्भोदयान्विता ॥१।२७॥

न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि ।
संस्कृतं संस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक्तथा ॥१।२८॥

अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते ।
स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जन. ॥१।२९॥

(ङ) गाथा

अनिबद्धं पुनर्गाथाश्लोकमात्रादि तत् पुनः ।
युक्तं वक्त्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते ॥१।३०॥

५. वैदर्भ-गौडीययोर्भेदः

वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे ।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम् ॥१।३१॥

गौडीयमिदमेतत्तु, वैदर्भमिति किं पृथक् ।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ॥१।३२॥

ननु चाश्मकवंशादि वैदर्भमिति कथ्यते ।
कामं तथास्तु प्रायेण संज्ञेच्छातो विधीयते ॥१।३३॥

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम् ।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ॥१।३४॥

अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् ।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा ॥१।३५॥

६. वक्रोक्तेर्माहात्म्यम्

न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम् ।
वक्राऽभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः ॥१।३६॥

७. सामान्य-दोषाः

नेयार्थं क्लिष्टमन्यार्थमवाचकमयुक्तिमत् ।
गूढशब्दाभिधानञ्च कवयो न प्रयुञ्जते ॥१।३७॥

८. वाचां दोषा

श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पनादुष्टमित्यपि ।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम् ॥१।४७॥

९. अन्ये दोषा

अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् ।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धि च ॥४।१॥

देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च ।
प्रतिज्ञाहेतुदृष्टांतहीनं दुष्टं च नेष्यते ॥४।२॥

१०. दोषाणां गुणत्व-साधनम्

सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते ।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव ॥१।५४॥

किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि ।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥१।५५॥

आपाण्डुगण्डमेतत्ते वदनं वनजेक्षणे ।
सङ्गमात्पाण्डुशब्दस्य गण्डः साधु यथोदितम् ॥१।५६॥

अनयाऽन्यदपि ज्ञेयं दिशा युक्तमसाध्वपि ।
यथा विक्लिन्नगण्डानां करिणां मदवारिभिः ॥१।५७॥

मदक्लिन्नकपोलानां द्विरदानां चतुश्शती ।
यथा तद्वदसाधीयः साधीयश्च प्रयोजयेत् ॥१।५८॥

एतद् ग्राह्यं सुरभि कुसुमं ग्राम्यमेतन्निषेध्यं
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य ।
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालां
योज्यं काव्येष्ववहितधिया तद्वदेवाऽभिधानम् ॥१।५९॥

११. गुणाः

माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः ।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते ॥२।१॥

केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि ।
यथा मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका ॥२।२॥

श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते ।
आविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत् ॥२।३॥

१२. अतिशयोक्तिः

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा ॥२।८१॥

स्वपुष्पच्छविहारिण्या चन्द्रभासा तिरोहिताः ।
अन्वमीयन्त भृङ्गालिवाचा सप्तच्छदद्रुमाः ॥२।८२॥

अपां यदि त्वक् शिथिला च्युता स्यात् फणिनामिव ।
तदा शुक्लांशुकानि स्युरङ्गेष्वम्भसि योषिताम् ॥२।८३॥

इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः ।
सर्वेवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् तां यथागमम् ॥२।८४॥

१३. वक्रोक्तिः

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥२।८५॥

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ तदलङ्कारतया मतः ।
समुदायाऽभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥२।८६॥

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तामेनां प्रचक्षते ॥२।८७॥

१४. काव्यस्य माहात्म्यम्

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते ।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम् ॥५।३॥

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला ।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ॥५।४॥

१५. शब्दानां साधुत्वासाधुत्वम्

वक्रवाचां कवीनां ये प्रयोगं प्रति साधवः ।
प्रयोक्तुं ये न युक्ताश्च तद्विवेकोऽयमुच्यते ॥६।२३॥

नाऽप्रयुक्तं प्रयुञ्जीत चेतःसंमोहकारिणम् ।
तुल्यार्थत्वेऽपि हि ब्रूयात् को हन्ति गतिवाचिनम् ॥६।२४॥

न शिष्टैरुक्तमित्येव न तन्त्रान्तरसाधितम् ।
छन्दोवदिति चोत्सर्गान्न चापि च्छान्दसं वदेत् ॥६।२७॥

क्रमागतं श्रुतिसुखं शब्दमर्थ्यमुदीरयेत् ।
अतिशेते ह्यलङ्कारमन्यं व्यञ्जनचारुता ॥६।२८॥

दण्डी

(समय— सप्तम शतक का उत्तरार्ध)

[काव्यादर्श]

१. काव्य और उसके भेद

प्राचीन आचार्यों ने काव्यों के शरीर तथा अलकारो का दिग्दर्शन कराया है। इष्ट (अभीप्सित अथवा मनोरम) अर्थ से विभूषित पद-समूह ही काव्य-शरीर है ॥१।१०॥

(प्राचीन आचार्यों ने) काव्य शरीर के पद्य (छन्दोबद्ध), गद्य (छन्द-रहित) तथा पद्य-गद्य-मिश्रित (चम्पू) ये तीन विभाग किये हैं। पद्य मे चार चरण होते हैं और वह जाति छन्द व वृत्त छन्द के भेद से दो प्रकार का है ॥१।११॥

पद्य के अन्तर्गत आने वाले जातिवृत्त आदि छन्दों का वर्णन 'छन्दोविचिति' ग्रन्थ मे सविस्तर किया गया है। यह छन्द-विद्या गम्भीर काव्य-सागर को तैरने की इच्छा रखने वालों के लिये नाव (के समान) है ॥१।१२॥

मुक्तक, कुलक, कोश, सङ्घात आदि सर्गबन्ध महाकाव्य के अवयव मात्र हैं, अतः इनका विस्तृत पद्य-विस्तार नही किया गया है ॥१।१३॥

२. महाकाव्य

अनेक सर्गों मे जहाँ कथा का वर्णन हो वह महाकाव्य कहलाता है। उसका लक्षण यह है :—वह आशीर्वाद, नमस्कार या वस्तु-निर्देश द्वारा आरम्भ होता है ॥१।१४॥

इस की रचना ऐतिहासिक कथा या अन्य किसी उत्कृष्ट कथा के आधार पर होनी चाहिये। यह काव्य धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष का फलदायक हो। इसका नायक चतुर (बुद्धिमान) तथा उदात्त होना चाहिये ॥१।१५॥

महाकाव्य, नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु तथा चन्द्र और सूर्य के उदय और अस्त, उपवन और जल-क्रीड़ा, मधुपान और प्रेमोत्सव आदि के वर्णनों से अलंकृत होना चाहिये ॥१।१६॥

यह काव्य विरहजन्य प्रेम, विवाह, कुमारोत्पत्ति, विचार-विमर्श, राजदूतत्व, अभियान, युद्ध तथा नायक के जय-लाभ आदि के मनोहर प्रसंगो से युक्त होना चाहिये ॥१।१७॥

यह विभिन्न वृत्तान्तों से सुशोभित तथा सविस्तर वर्णन द्वारा हृदयङ्गम होना चाहिये। इसमे रस तथा भावों की लड़ी जड़ी हो। इसके सर्ग बहुत लम्बे-लम्बे न हो। सर्गो के छन्द श्रवणीय तथा अच्छी सन्धियों से युक्त होने चाहिये ॥१।१८॥

सर्गों का अन्तिम श्लोक सर्वत्र भिन्न वृत्तों से युक्त होना चाहिये। यह काव्य लोक-रञ्जक तथा अलंकारों से अलंकृत होना चाहिये। ऐसा उत्तम काव्य महा प्रलय के बाद भी कल्पों तक स्थिर रहता है ॥१।१९॥

महाकाव्य के उपरिवर्णित अङ्गो में से किसी की न्यूनता होने पर भी यदि उसमे प्रतिपाद्य विषयवस्तु रूप सम्पत्ति का गुण-सौन्दर्य सहृदय काव्य रसिकों के चित्त को आकृष्ट कर लेता है तो वह काव्य दूषित नही होता है ॥१।२०॥

प्रथम नायक के गुणों का वर्णन करके फिर उसके द्वारा उसके शत्रुओं की पराजय का वर्णन करना चाहिये। इस प्रकार की वर्णन-रीति स्वभावतः मनोहर शैली है ॥१।२१॥

शत्रु के भी वश, पराक्रम तथा पाण्डित्य आदि का वर्णन करने के पश्चात् नायक द्वारा उस पर विजय-प्राप्ति के माध्यम से नायक के उत्कर्ष का वर्णन करना हमे सन्तोषप्रद है ॥१॥२२॥

३. गद्य-काव्य

चरण-रहित पदसमूह का नाम गद्य है। इसके— आख्यायिका तथा कथा—ये दो भेद हैं। इनमें से आख्यायिका का लक्षण इस प्रकार है ॥१।२३॥

४. आख्यायिका

केवल नायक द्वारा ही वर्णित गद्य को आख्यायिका कहते है पर कथा नायक या किसी अन्य पात्र द्वारा भी कथित हो सकती है। यथार्थवक्ता नायक द्वारा अपने गुणों का स्वय वर्णन करना यहाँ दोष नही है ॥१।२४॥

परन्तु वहाँ आख्यायिका में भी अन्य पात्रों द्वारा कथन होने से इस नियम का उल्लंघन देखा गया है। अतः अन्य पात्र द्वारा या स्वयं नायक द्वारा कथन (आख्यायिका और कथा में) किस प्रकार भेद का कारण माना जा सकता है ? ॥१।२५।

यदि वक्त्र और अपरवक्त्र छन्द और उच्छ्वासों का विभाग होना आदि आख्यायिका के द्योतक चिह्न हैं, तो ये कथाओं में भी प्रसंगवश होने चाहिए ॥१।२६॥

(कथा में भी प्रसंगवश) आर्या आदि छन्दों के समान वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग क्यों न हो ? कथा में लम्भ आदि का भेद देखा ही गया है, उच्छ्वास भी रहे तो क्या हानि है ? ॥१।२७॥

इस प्रकार कथा और आख्यायिका, दोनों एक ही जाति की हैं, पर दो विभिन्न नामों से पुकारी गई हैं। अन्य आख्यान-जातियाँ (खण्डकथा, परिकथा आदि) भी इन दो के अंतर्गत ही आ जाती हैं ॥१।२८॥

कन्या का अपहरण, युद्ध, वियोगजन्य प्रेम (विप्रलंभ), उदय (उत्पत्ति या उन्नति) आदि (आख्यायिका के लक्षण) सर्गग्रथित महाकाव्य के समान ही हैं। अतः ये इसके विशेष गुण नही हैं ॥१।२९॥

'कवि द्वारा अभिप्राय-विशेष से बनाया हुआ' लक्षण कथा से अन्यत्र भीदू षित नहीं होता। अभीप्सित अर्थ की सिद्धि के लिये विद्वान् किसी भी घटना से अपने काव्य या कथा को प्रारम्भ करने का अधिकार रखते हैं ॥१।३०॥

गद्य-पद्य-मिश्रित रचना नाटक आदि दृश्य काव्यों में भी होती है, जिसका विस्तृत वर्णन [इस ग्रन्थ में] अन्यत्र किया गया है। एक गद्य-पद्यमयी रचना चम्पू भी कहलाती है ॥१।३१॥

इस प्रकार विद्वज्जन इस वाङ्मय को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा मिश्रित (विविध भाषा युक्त)—चार प्रकार का कहते हैं ॥१।३२॥

सर्ग में रचित महाकाव्य आदि संस्कृत भाषा में, स्कन्ध आदि में रचित काव्य प्राकृत भाषा में, ओसर आदि मे रचित काव्य अपभ्रंश भाषा में और नाटक आदि मिश्र भाषाओं में होते हैं ॥१।३७॥

कथा की रचना संस्कृत में तथा अन्य भाषाओं में भी होती है। विविध आश्चर्ययुक्त 'बृहत्कथा' को भूत-भाषा (पैशाची भाषा) में रचित कहा गया है ॥१।३८॥

लास्य (स्त्री-पुरुष का नृत्य), छलित (पुरुष का नृत्य) शम्पा (सिर पर हाथ रखके नृत्य करना) आदि नृत्य केवल देखने के लिये ही होते हैं। (ये दृश्य काव्य के अन्तर्गत आते हैं)। परन्तु इनसे भिन्न श्रव्य काव्य की श्रेणी मे आते हैं। इस तरह काव्य के दो प्रकार के मार्ग बतलाये गये हैं ॥१।३९॥

२. काव्यमार्ग और गुण

आपस में सूक्ष्म भेदों के कारण पृथक् हुई रीतियों के अनेक भेद हैं। उनमें से स्पष्ट भेद के कारण पृथक् रूप से परिलक्षित वैदर्भी तथा गौड़ी रीतियों का निरूपण किया जाता है ॥१।४०॥

श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि—ये दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं। गौड़ मार्ग में प्रायः इनका विपर्यय मिलता है ॥१।४१-४२॥

वाक्य तथा वस्तु (शब्द और अर्थ) में रस की स्थिति होती है और माधुर्य गुण रसयुक्त काव्य को ही कहते हैं। इसके द्वारा बुद्धिमान् उसी प्रकार हर्षित होते हैं, जिस प्रकार शहद से मधुमक्षिकाएँ मस्त होती हैं ॥१।५१॥

जिस किसी शब्द-समूह के उच्चारण द्वारा उसमे जो समता का अनुभव होता है, वह ही अनुभव-गम्य पद-स्थिति (व्यवधान-रहित पद-प्रयुक्ति) अनुप्रासयुक्त होकर रसोत्पत्ति करती है ॥१।५२॥

[कवि द्वारा] लोक-व्यवहार के परिपालन से अन्य अप्रस्तुत का धर्म जब अन्यत्र किसी वाक्यार्थ मे सम्यक्तया स्थापित किया जाता है, तब वह वाक्यार्थ समाधि-गुण-विशिष्ट कहा जाता है ॥१।९३॥

इस कारण (अतिशय चमत्कार-बाहुल्य) से यह समाधि नाम का गुण काव्य का सर्वस्व है। [गौड़, वैदर्भ आदि] सकल कवि-सम्प्रदाय इस प्रकार के उस समाधि गुण को [अपनी रचनाओं में स्थान देकर] समाहत करते हैं ॥१।१००॥

इस प्रकार प्रत्येक के अपने अपने स्वरूप के पृथक् निरूपण से [गौड़ी, और वैदर्भी] ये दोनों शैलियाँ भिन्न हैं। प्रत्येक कवि [की रचनाओं] में लक्षित विभिन्न भेदों [के अपरिमित होने के कारण उन] का वर्णन कर सकना कठिन है ॥१।१०१॥

३. काव्य-हेतु

(पूर्व-जन्म के संस्कारों से सम्पन्न, ईश्वर-प्रदत्त) स्वाभाविक प्रतिभा (प्रज्ञा), विविध विशुद्ध ज्ञान से युक्त अनेक शास्त्रों का ज्ञान, तथा अत्यन्त उत्साह-पूर्ण दृढ़ अभ्यास—ये सब एकत्र होकर कवित्व-सम्पदा के कारण होते हैं। १।१०३।

यद्यपि अलौकिक पूर्व-संस्कारों के गुणों से सम्बद्ध वह सहज प्रतिभा नही है (तब भी) काव्य आदि के अनुशीलन तथा अभ्यास आदि के सतत् प्रयत्न से वाग्देवी सरस्वती निश्चय ही कोई अलभ्य अनुग्रह करती ही है ॥१।१०४॥

इस कारण से कवित्व-जनित यश चाहने वालों को आलस्य-रहित होकर श्रमपूर्वक निश्चय वाग्देवी सरस्वती की निरन्तर उपासना करनी चाहिए। काव्य-निर्माण का सामर्थ्य कम होने पर भी काव्यानुशीलन के प्रयास मे परिश्रमी मनुष्य पण्डित-मंडलियों में रसास्वादन करने मे समर्थ होते हैं ॥१।१०५॥

४. अलंकार का स्वरूप

काव्य के सौन्दर्य-कारक धर्मों (विशिष्ट गुणों) को अलंकार कहते हैं। आज भी कवि लोग कल्पना के बल पर अलंकारों में विविध प्रकार की उद्भावनाएँ कर रहे हैं, अतः उनका पूर्ण रूप से वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है ? २।१।

५. अतिशयोक्ति अलंकार

प्रस्तुत वस्तु-गत उत्कर्ष का लोक-मर्यादा को उल्लंघन करके वर्णन करना अलंकारों मे उत्तम, अतिशयोक्ति अलंकार कहलाता है ॥२।२१४॥

वाचस्पति द्वारा पूजित अर्थात् परमश्रेष्ठ इस अतिशयोक्ति को [कवि लोग] अन्य अलंकारो का भी परम आश्रय कहते हैं ॥२।२२०॥

६. प्रेयस्, रसवत् और ऊर्जस्वि अलकार [और इनके अंतर्गत रसवर्णन]

अत्यन्त प्रीतिकर भाव के कथन को प्रेयः अलंकार कहते हैं। [सहृदयों को] रस के द्वारा उत्पन्न आनन्द देने वाले भाव के कथन को रसवत् अलंकार कहते हैं। जहाँ गर्व [अहंकार] की स्पष्ट अभिव्यक्ति की जाय, वहाँ ऊर्जस्वि अलंकार होता है। इस प्रकार उपर्युक्त तीनों अलंकारों का उत्कर्ष उचित है, अर्थात् इनकी अलंकारों के अन्तर्गत स्वीकृति करनी चाहिए ॥२।२७५॥

हे गोविन्द ! तेरे घर आने पर आज मुझे जो प्रसन्नता हुई है, वह किसी अन्य समय पर तेरे आने से फिर होगी । विदुर जी ने यह उपयुक्त ही कहा है, दूसरों में इतना धैर्य कहाँ ? तब विदुर के उस वचन से केवल भक्ति द्वारा पूजनीय हरि सन्तुष्ट हुए । २७६–२७७।

टिप्पणी— प्रस्तुत उदारहण मे वर्णित यह कथन हरि-विषयक प्रीतिकारक है अतः यहाँ प्रेयः अलंकार है ।

चन्द्रमा, सूर्य, वायु, पृथ्वी, आकाश, यजमान, अग्नि और जल इन स्थूल रूपो का अतिक्रमण करके स्थित हुए परमात्म-स्वरूप तुझको देखने के लिये हम कहाँ समर्थ हैं ? महेश्वर को साक्षात् (प्रत्यक्ष) देख लेने पर राजा राजवर्मा का इस प्रकार की प्रसन्नता द्योतित करना ही 'प्रेयः अलंकार' समझना चाहिए । २।२७८।२७९।

जिस प्रिया को दिवंगता समझ कर परलोक मे मिलने की इच्छा से मैं मरने का विचार कर रहा था, वही अवन्ती राजकुमारी किसी प्रकार यहाँ ही इसी जन्म मे मुझे प्राप्त हो गई । २।२८०।

पहले (भगवद्-विषयक प्रेम की व्यंजना करने वाली, न कि विभाव आदि से परिपुष्ट) प्रसन्नता प्रदर्शित की गई । वह उस प्रकार की (देवादि-विषयक पूर्व-प्रदर्शित) प्रीति-स्वरूप रति (विभाव, अनुभाव व्यभिचारी के सम्बन्ध से (अलौकिक आनन्द-प्रद होने से), शृंगार रसत्व को प्राप्त हुई । इस कारण से यह रसवत् अलंकार है । २।२८१।

जिसने मेरे सामने द्रौपदी को बालों से पकड़ कर खीचा था वही यह पापात्मा दुःशासन अब मुझे मिल गया है, क्या यह क्षण भर जीवित रहेगा ? शत्रु (आलम्बन) को देखकर भीम का क्रोध (स्थायी भाव) [विभावादि सामग्री के द्वारा] अत्यन्त उच्च अवस्था पर आरूढ़ होकर रौद्र रसत्व को प्राप्त हो गया—इस प्रकार यह कथन रसवत् अलंकार से युक्त हुआ । २।२८२।२८३।

समुद्रों सहित पृथ्वी को न जीत कर, अश्वमेध प्रभृति अनेक यज्ञों का यजन न करके और याचकों को धन वितरण न करके मैं कैसे राजा हो सकता हूँ ? इस प्रकार से [विभाव आदि से] परिपुष्ट स्वरूप वाला उत्साह (स्थायी भाव) वीररस के रूप में परिणत होता हुआ—इन कथनों में रसवत् अलंकार को दृढ़ करने में समर्थ हुआ अर्थात् रसवत् बना सका । २।२८४-२८५।

जिस कोमलांगी को पुष्पों की शय्या भी कष्टप्रद होती थी, वह तन्वङ्गी प्रज्वलित चिता पर कैसे आरोहण करती है ! इस प्रकार यहाँ विभाव आदि से परिपुष्ट करुण रस का स्थायी-भाव शोक रसवत् अलंकार को प्राप्त हुआ। इसी प्रकार बीभत्स हास्य, अद्भुत, भयानक रस भी होते हैं। २।२८६-२८७।

अंतड़ियों के आभूषणों से विभूषित राक्षस तेरे शत्रुओं के रुधिर को हस्ताञ्जलियों के द्वारा पी पी कर कबन्धों के साथ नृत्य कर रहे हैं।२।२८८।

हे सखि ! यद्यपि तेरा मान कम नही हुआ पर स्तन के ऊपर लगे हुए इस नवीन नखक्षत को अपने आँचल से छिपा ले। २।२८९।

आश्चर्य है कि इन कल्पवृक्षों के वस्त्र कोमल पत्ते हैं, आभूषण फूल-हार आदि हैं, तथा घर शाखायें हैं। [यह अद्भुत रस का उदाहरण है] ।२।२९०।

अपनी धार में निहित अग्नि वाला इन्द्र का यह वज्र है, जिसके स्मरण से दैत्यों की स्त्रियों का गर्भपात हो जाता है। [प्रस्तुत उदाहरण में भयानक रस है] ।२।२९१।

माधुर्य गुण में तो वाक्य का ग्राम्यता दोष से रहित होना रस का कारण दिखाया गया है; और यहाँ (रसवत् अलंकार में) वाणियों का आठ रसों से युक्त होना ही रसवत्ता माना गया है।२।२९२।

मैं तेरा शत्रु हूँ—यह सोचकर तेरे हृदय में मेरे कारण डर नहीं होना चाहिए। मुझ से विमुख हो जाने वालों पर मेरी तलवार कभी प्रहार नही करती। किसी अहंकारी पुरुष ने युद्ध में पराजित शत्रु को इस प्रकार कह कर छोड़ दिया। इस प्रकार के कथनों को ऊर्जस्वि जानना चाहिए। २।२९३-२९४।

७. श्लेष अलंकार

श्लेष प्रायः सब वक्रोक्तियों (वचन-भङ्गिमा-युक्त अलंकारों) की शोभा में अभिवृद्धि करता है। काव्य दो प्रकार का है—स्वभावोक्ति (वस्तु का स्वाभाविक रूप से वर्णन); तथा वक्रोक्ति (वस्तु का अलंकार-युक्त वर्णन) ।२।३६३।

८. काव्य-दोष

[काव्यमर्मज्ञ कवियों द्वारा काव्य के गुणों और दोषों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। दोष काव्य की विफलता के कारण हैं, और गुण संवृद्धि के .]

निरर्थक, विरुद्धार्थक, अभिन्नार्थक, संशययुक्त, क्रमरहित, अपेक्षित-शब्द-हीन, यतिभ्रष्ट (विच्छेदरहित), असमवृत्त, सन्धि-रहित। स्थान, समय, कला, लोक-न्याय तथा आगम का विरोध—इन दस दोषों का विद्वानों को काव्य में त्याग करना चाहिए। ३।१२५–१२६।

प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त—इनका अभाव काव्य में सदोष है अथवा नहीं, यह विचार प्रायः कठिन है। इस विचार पर पिष्टपेषण करने से क्या फल है ? ३।१२७।

पर्वत, वन, राष्ट्र आदि देश; रात्रि, दिन, ऋतु आदि काल; राग (काम) तथा धन के साधन नृत्य-गीत आदि अनेक कलाएं हैं।३।१६२।

'लोक' इस संज्ञा से स्थावर तथा जंगम प्राणियों का व्यवहार अभीष्ट है। हेतु-घटित विद्या (युक्तिमूलक शास्त्र) न्याय कहाता है, तथा स्मृति-सहित श्रुति (वेद) को आगम कहते हैं।३।१६३।

यदि कवि के प्रमाद से कुछ भी प्रसिद्धि के विपरीत वर्णित होता है, तो वही देश-कालादि विरोधी [दोष] माना जाता है।६।१६४।

पर ये सभी दोष कविकौशल [के बल] से कभी-कभी दोष-सीमा का उल्लंघन करके गुण भी बन जाते हैं।३।१७९।

अनु०—श्री रणवीरसिंह एम-ए०

दण्डी

[काव्यदर्शः]*

१. काव्यम्, तस्य भेदाश्च

तैः शरीरं च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः ।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥१।१०॥

पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम् ।
पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ॥१।११॥

छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रबन्धो निदर्शितः ।
सा विद्या नौर्विदुषां गम्भीरं काव्यसागरम् ॥१।१२॥

मुक्तकं कुलकं कोशः संघात इति तादृशः ।
सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः ॥१।१३॥

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ॥१।१४॥

इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम् ॥१।१५॥

नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ॥१६॥

विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः ।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ॥१।१७॥

अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् ।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः ॥१।१८॥

---

* ओरियण्टल बुक-सप्लाइंग एजन्सी, पूना, द्वारा सन् १९२४ में प्रकाशित संस्करण

सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम् ।
काव्यं कल्पोत्तरस्थायि जायते सदलंकृति ॥१।१९॥

न्यूनमप्यत्र यैःकैश्चिदङ्गैः काव्यं न दुष्यति ।
यद्यु पात्तेषु संपत्तिराराधयति तद्विदः ॥१।२०॥

गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम् ।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः ॥१।२१॥

वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि ।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च खिनोति नः ॥१।२२॥

अपादः पदसंतानो गद्यमाख्यायिकाकथे ।
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल ॥१।२३॥

नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा ।
स्वगुणाविष्क्रियादोषो नात्र भूतार्थशंसिनः ॥१।२४॥

अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात् ।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदकारणम् ॥१।२५॥

वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासत्वं च भेदकम् ।
चिह्नमाख्यायिकाश्चेत् प्रसङ्गेन कथास्वपि ॥१।२६॥

आर्यादिवत् प्रवेशः किं न वक्त्रापरवक्त्रयोः ।
भेदश्च दृष्टो लम्भादिरुच्छ्वासो वास्तु किं ततः ॥१।२७॥

तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता ।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ॥१।२८॥

कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयादयः ।
सर्गबन्धसमा एव नेते वैशेषिका गुणाः ॥१।२९॥

कविभावकृतं चिह्नमन्यत्रापि न दुष्यति ।
मुखमिष्टार्थसंसिद्धौ किं हि न स्यात् कृतात्मनाम् ॥१३।०॥

मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः ।
गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यपि विद्यते ॥१।३१॥

तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा ।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुराप्ताश्चतुर्विधम् ॥१।३२॥

संस्कृतं सर्गबन्धादि प्राकृतं स्कन्धकादि यत् ।
ओसरादिरपभ्रंशो नाटकादि तु मिश्रकम् ॥१।३७॥

कथा हि सर्वभाषाभिः संस्कृतेन च बध्यते ।
मूलभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम् ॥१।३८॥

लास्यच्छलितशम्पादि प्रेक्षार्थमितरत् पुनः ।
श्रव्यमेवेति सैषापि द्वयी गतिरुदाहृता ॥१।३९॥

२. काव्य-मार्गौ—गुणाश्च

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥१।४०॥

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः ॥१।४१॥

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः ।
एषां विपर्ययः प्रायो लक्ष्यते गौडवर्त्मनि ॥१।४२॥

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसः स्थितः ।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥१।५१॥

यया कयाचिच्छ्रुत्या यत् समानमनुभूयते ।
तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा ॥१।५२॥

अन्यधर्मस्ततोन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते तत्र स समाधिः स्मृतो यथा ॥१।९३॥

तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः ।
कविसार्थः समग्रोपि तमेकमुपजीवति ॥१।१००॥

इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात् ।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः ॥१।१०१॥

३. काव्यहेतवः

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोस्याः कारणं काव्यसंपदः ॥१।१०३॥

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना–
गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥१।१०४॥

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती ।
क्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः ।
कृशे कवित्वेपि जनाः कृतश्रमा
विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते ॥१।१०५॥

४. अलंकारस्वरूपम्

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्न्र्येन वक्ष्यति ॥२।१

५. अतिशयोक्तिरलंकारः

विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी ।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यया ॥२।२१४॥

अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥२।२२०॥

६. प्रेयोरसवदूर्जस्वालङ्काराः, [तेष्वन्तर्गतं रसनिरूपणञ्च]

प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद् रसपेशलम् ।
तेजस्वि रूढाहंकारं युक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम् ॥२।२७५॥

अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः ॥२।२७६॥

इत्याह युक्तं विदुरो नान्यतस्तावृशी धृतिः ।
भक्तिमात्रसमाराध्यः सुप्रीतश्च ततो हरिः ॥२।२७७॥

सोमः सूर्यो मरुद्भूमिर्व्योम होतानलो जलम् ।
इति रूपाण्यतिक्रम्य त्वां द्रष्टं देव के वयम् ॥२।२७८॥

इति साक्षात्कृते देवे राज्ञो यद्रातवर्मणः ।
प्रीतिप्रकाशनं तच्च प्रेय इत्यवगम्यताम् ॥२।२७९॥

मृतेति प्रेत्य संगन्तुं यया मे मरणं मतम् ।
सैवावन्ती मया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि ॥२।२८०॥

प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृङ्गारतां गता ।
रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद्वचः ॥२।२८१॥

निगृह्य केशेष्वाकृष्टा कृष्णा येनाग्रतो मम ।
सोयं दुःशासनः पापो लब्धः किं जीवति क्षणम् ॥२।२८२॥

इत्थारुह्य परां कोटिं क्रोधो रौद्रात्मतां गतः ।
भीमस्य पश्यतः शत्रुमित्येतद्रसवद्वचः ॥२।२८३॥

अजित्वा सार्णवामूर्वीमनिष्ट्वा विविधैर्मखैः ।
अदत्वा चार्थमर्थिभ्यो भवेयं पार्थिवः कथम् ॥२।२८४॥

इत्युत्साहः प्रकृष्टात्मा तिष्ठन् वीररसात्मना ।
रसवत्त्वं गिरामासां समर्थयितुमीश्वरः ॥२।२८५॥

यस्याः कुसुमशय्यापि कोमलाङ्गया रुजाकरी ।
साधिशेषे कथं देवि हुताशनवतीं चिताम् ॥२।२८६॥

इति कारुण्यमुद्रिक्तमलंकारतया स्मृतम् ।
तथापरेपि बीभत्सहास्याद्भुतभयानकाः ॥२।२८७॥

पायं पायं तवारीणां शोणितं पाणिसंपुटैः ।
कौणपाः सह नृत्यन्ति कबन्धैरन्त्रभूषणैः ॥२।२८८॥

इदमम्लानमानाया लग्नं स्तनतटे तव ।
छाद्यतामुत्तरीयेण नवं नखपदं सखि ॥२।२८९॥

अंशुकानि प्रवालानि पुष्पं हारादिभूषणम् ।
शाखाश्च मन्दिराण्येषां चित्रं नन्दनशाखिनाम् ॥२।२६०॥

इदं मधोनः कुलिशं धारासंनिहितानलम् ।
स्मरणं यस्य वैत्यस्त्रीगर्भपाताय कल्पते ॥२।२६१॥

वाच्यस्याग्राम्यतायोनिर्माधुर्य दर्शितो रसः ।
इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ॥२।२६२॥

अपकर्ताहमस्मीति हृदि ते मा स्म भूद्भयम् ।
विमुखेषु न मे खड्गः प्रहर्तुं जातु वाञ्छति ॥२।२६३॥

इति मुक्तः परो युद्धे निरुद्धो दर्पशालिना ।
पुंसा केनापि तज्ज्ञेयमूर्जस्वीत्येवमादिकम् ॥२।२६४॥

७. श्लेषोऽलंकारः

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥२।३६३॥

९. काव्य-दोषाः

[काव्ये दोषा गुणाश्चैव विज्ञातव्या विचक्षणैः ।
दोषा विपत्तये तत्र गुणाः संपत्तये यथ ॥]

अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् ।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसंधिकम् ॥३।१२५॥

देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
इति दोषा दर्शयंते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः ॥३।१२६॥

प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ ।
विचारः कर्कशः प्रायस्तेनालीढेन किं फलम् ॥३।१२७॥

देशोऽग्निवनराष्ट्रादिः कालो रात्रिदिवर्तवः ।
नृत्यगीतप्रभृतयः कलाः कामार्थसंश्रयाः ॥३।१६२॥

चराचराणां भूतानां प्रवृत्तिर्लोकसंज्ञिता ।
हेतुविद्यात्मको न्यायः सस्मृतिः श्रुतिरागमः ॥३॥१६३॥

तेषु तेष्वयथारूढं यदि किंचित् प्रवर्तते ।
कवेः प्रमादाद्देशादिविरोधीत्येतदुच्यते ॥३।१६४॥

विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात् ।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ॥३।१७९॥

उद्भट

(समय—नवम शतक का पूर्वार्द्ध)

(क) ग्रन्थ—काव्यालंकार-सार-संग्रह

१. रसवत् अलंकार

जिस काव्य में शृंगार आदि रसों का उदय स्पष्ट रूप से दिखाया जाए, उसे रसवत् अलंकार कहते हैं। [शृंगार आदि रसो का] यह उदय स्वशब्द, स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव और अभिनय (अनुभाव) के द्वारा होता है। ४।३

नाटच (काव्य) में रसों की संख्या नौ है—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत और शान्त। ४।४

उदाहरण

पार्वती के समस्त गुणों को देखने वाले महादेव जी का 'काम' अनेक संकल्पों को एकत्रित करके प्रबल हो उठा। पसीने से क्लिन्न उनके शरीर पर रोमाञ्च हो आया, ऐसा रोमाञ्च—जो कदम्ब की कलिका के मध्य भाग मे केसर-समूह के समान था। उनका मुख क्षण मे उत्सुकता से पूर्ण, क्षण मे चिन्ता के कारण निश्चल और क्षण में अत्यधिक आनन्द के कारण अलस आँखों से शोभित हो गया।

२. प्रेयः अलंकार

रति आदि भावो[1] के सूचक अनुभाव आदि[2] के द्वारा जिस काव्य की रचना की जाए, उसे प्रेयः अलकार से युक्त (काव्य) कहते हैं। ४।२

१. **काव्यालंकार-सार-संग्रह के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने 'रति आदि भावों' की संख्या निम्न प्रकार से पचास गिनाई है :—९ स्थायी भाव, ३३ संचारी भाव और ८ सात्त्विक भाव। [का० सा० सं० पृष्ठ ५०-५१]**

२. **'अनुभाव आदि' में 'आदि' से प्रतिहारेन्दुराज का तात्पर्य विभाव, व्यभिचारी भाव और स्थायी भावों से है। [वही]**

उदाहरण

अपने सुत (मृग-शावक) के प्रति वात्सल्य के कारण उसमें और अपने में किसी प्रकार का अन्तर न समझती हुई, स्पृहा [रति] से परिपूर्ण इस मृगी ने उसे अपनी गोद में बिठा कर उल्लाप करना प्रारम्भ कर दिया।

३. ऊर्जस्वि अलंकार

काम, क्रोध आदि के कारण अनौचित्य (लोक-व्यवहार) मे प्रवृत्त भावों अथवा रसों की रचना का नाम ऊर्जस्वि अलंकार है। ४।५

उदाहरण

ज्यों ही महादेव जी का काम बढ़ा, त्यो ही सत्य पथ को तिरस्कृत करके वह पार्वती को हठपूर्वक पकड़ने के लिए उद्यत हो गए। पृष्ठ ५४

४. समाहित अलंकार

जिस रचना में रस, भाव, रसाभास और भावाभास की शान्ति का वर्णन हो, तथा अन्य रसों के अनुभाव आदि को बिल्कुल स्थान न मिला हो, उसे समाहित अलंकार कहते हैं। ४।७

उदाहरण

पार्वती के सुन्दर नेत्रो, भ्रुवों के विभ्रमपूर्ण भ्रम और रोमाञ्च के स्वेद से युक्त प्रसन्न मुख-राग को देख कर महादेव जी काम के ज्वर से उद्दीप्त सब अङ्गों को धारण करते हुए कल्याणपूर्वक उनके पास सरक गए।

५. उदात्त अलंकार

किसी समृद्धिशाली वस्तु अथवा किसी महान् पुरुष के अप्रधान अथवा अङ्गरूप वर्णन को उदात्त अलंकार कहते हैं। ४।८

(ख) संस्कृत के काव्यशास्त्रों से उद्धृत उद्भट-सम्मत धारणाएं*

१. गुण और अलंकार में भेद

अलंकार-विभाग के दिखाने के लिए ग्रन्थकार विद्यानाथ इस विषय के लिए उपयोगी स्थल उद्भटादि-सम्मत गुण और अलंकार के भेद की चर्चा करते हैं—

"गुण और अलंकार (समान रूप से ही) चारुत्व के हेतु हैं, इन में केवल विषय अथवा आश्रय का ही भेद है—गुण संघटना (रचना, रीति) के आश्रित हैं, तो अलंकार शब्दार्थ के।"

[प्रतापरुद्र-यशोभूषण और उस पर रत्नापण टीका, पृष्ठ ३३७]

उद्भटादि आचार्यों ने गुण और अलंकारों का प्रायः साम्य ही सूचित किया है, उन्होंने इनमें केवल विषय-भेद का ही अन्तर माना है और गुणों को संघटना (रचना) का ही धर्म माना है।

[अलंकार-सर्वस्व, पृष्ठ ९]

"लौकिक शौर्यादि गुणों और हारादि अलंकारों में निस्सन्देह यह भेद है कि गुण समवाय (नित्य) सम्बन्ध से रहते हैं, और अलंकार संयोग (अनित्य) सम्बन्ध से, पर काव्यगत ओजः आदि गुणों और अनुप्रासोपमादि अलंकारों में कोई भेद नहीं है। वे काव्य में समवाय-सम्बन्ध से ही रहते हैं। लौकिक गुणालंकार के सदृश काव्यगत गुणालंकार में भी भेद समझना भेड़चाल है।"

[काव्य-प्रकाश, अष्टम उल्लास]

२. रीति और गुण का परस्पर सम्बन्ध—निर्देश

भट्ट उद्भट आदि के मत में गुण संघटना (रचना) के गुण हैं।

[ध्वन्यालोक-लोचन, पृष्ठ ३१०]

---

* उद्भट-प्रणीत दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—काव्यालंकार-संग्रह; और भामह-विवरण इनमें से द्वितीय ग्रन्थ अप्राप्य है। संस्कृत काव्य-शास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में उद्भट के नाम से यत्र-तत्र उल्लेख मिलते हैं, सम्भवतः ये उल्लेख भामह-विवरण से उद्धृत हैं, अथवा उस पर आधृत हैं। यहां कुछ एक प्राप्य स्थलों का अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है।

३. अभिधा व्यापार

भामह के 'शब्दाश्छन्दोभिधानार्थाः' (अर्थात् सामान्य रूप से रचना में शब्द अपने मुख्यार्थ के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं) इस कथन मे भट्ट उद्भट ने 'अभिधान' का 'शब्द' से भेद प्रकट करने के लिए कहा है कि **शब्दों का 'अभिधान' अर्थात् प्रधान अर्थ में प्रयोग अभिधा-व्यापार कहाता है। यही व्यापार मुख्य भी है, और अमुख्य (गौण) भी।**

[ध्वन्यालोक-लोचन, पृष्ठ ३२]

४. अलंकार

(क) जो रूपकादि अलंकार कुछ स्थलो पर वाच्य रूप से प्रसिद्ध हैं, उन्हे भट्ट उद्भट आदि ने अन्य अनेक स्थलो पर प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) रूप मे भी दिखाया है।

[ध्वन्यालोक, पृष्ठ २५८]

(ख) विवरण (भामह-विवरण) के कर्त्ता के मत में दीपक अलंकार का उपमा के साथ नित्य सम्बन्ध नही है।

[ध्वन्यालोक-लोचन, पृष्ठ २५८]

(ग) यहाँ (श्लेष अलंकार के प्रकरण में) आचार्य उद्भट कहते हैं कि जिस (विधान) की अप्राप्ति के अभाव मे अर्थात उसकी सदा प्राप्ति रहने पर जब कभी अन्य विधान आरम्भ किया जाता है, तो वह (नवीन विधान) उस (प्रथम विधान) का सदा बाधक हो जाता है—[व्याकरण के] इस नियम के अनुसार [श्लेष जैसे] नवीन अलकार की प्राप्ति ही अन्य अलंकारों का बाध कर देती है। [श्लेषालंकार-युक्त] कोई स्थल ऐसा नही है, जहाँ इस अलङ्कार का किसी अन्य अलंकार द्वारा बाध न हो जाए; अतः श्लिष्ट स्थलों में अन्य अलंकारों की विद्यमानता होने पर श्लेष अलंकार की ही स्वीकृति करनी चाहिए; क्योकि अन्य अलंकार तो श्लेष के बिना भी रह सकते हैं, पर श्लेष अलंकार अन्य अलंकारो के बिना नही रह सकता। यदि श्लिष्ट स्थलो में भी श्लेषेतर अलंकारों की स्वीकृति की गई, तो फिर 'श्लेष' का विषय ही समाप्त हो जाएगा।

[रस-गंगाधर, पृष्ठ ५२६]

अनुवादक : प्रो० सत्यदेव चौधरी, एम. ए.

उद्भट

क— [काव्यालङ्कारसारसंग्रहः]*

१. रसवदलङ्कारः

रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसोदयम् ।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥४।३॥

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः ॥४।४॥

तस्योदाहरणम्

इति भावयतस्तस्य समस्तान्पार्वतीगुणान् ।
संभृतानल्पसंकल्पः कन्दर्पः प्रबलोऽभवत् ॥
स्विद्यतापि स गात्रेण बभार पुलकोत्करम् ।
कदम्बकलिकाकोशकेसरप्रकरोपमम् ॥
क्षणमौत्सुक्यगर्भिण्या चिन्तानिश्चलया क्षणम् ।
क्षणं प्रमोदालसया वृशास्यास्यमभूष्यत ॥

२. प्रेयोऽलङ्कारः

रत्यादिकानां भावानामनुभावाविसूचनैः ।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ॥४।२॥

तस्योदाहरणम्

इयं च सुतवात्सल्यान्निर्विशेषा स्पृहावती ।
उल्लापयितुमारब्धा कृत्वेमं क्रोडमात्मनः ॥

---

*भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट द्वारा सन् १९५२ में प्रकाशित प्रथम संस्करण ।

३. ऊर्जस्व्यलङ्कारः

अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात् ।
भावानाञ्च रसानाञ्च बन्ध उर्जस्वि कथ्यते ॥४।५॥

तस्योदाहरणम्

तथा कामोऽस्य ववृधे यथा हिमगिरेः सुताम् ।
संग्रहीतुं प्रववृते हठेनापास्य सत्पथम् ॥

४. समाहितालङ्कारः

रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम् ।
अन्यानुभावनिःशून्यरूपं यत्तत्समाहितम् ॥४।७॥

तस्योदाहरणम्

अथ कान्तां वृशं वृष्ट्वा विभ्रमाच्च भ्रमं भ्रुवोः ।
प्रसन्नं मुखरागं च रोमाञ्चस्वेदसंकुलम् ॥
स्मरज्वरप्रदीप्तानि सर्वाङ्गानि समादधत् ।
उपासर्पद् गरिसुतां गिरिशः स्वस्तिपूर्वकम् ॥

५. उदात्तालङ्कारः

उदात्तमृद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम् ।
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम् ॥४।८॥

ख–[अन्यकाव्यशास्त्रेभ्यरुद्धृता उद्भटसम्मतसिद्धान्ताः]

१. गुणालङ्कारयोर्भेदः

अलङ्कारविभागं करिष्यमाणस्तदुपयोगितया उद्भटादिमतेनोक्तमेव गुणालङ्कार-भेदमनुवदति । चारुत्वहेतुत्वेऽपि गुणानामलङ्काराणां चाश्रयभेदाद् भेदव्यपदेशः । संघटनाश्रयाः गुणाः । शब्दार्थाश्रयस्त्वलङ्काराः ।

[प्रतापरुद्र-यशोभूषणम्, रत्नापणाख्या टीका च, पृ० ३३७]

उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम् । विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात् । संघटनाधर्मत्वेन चेष्टेः । [अलङ्कारसर्वस्वम्, पृष्ठ ९]

एवञ्च "समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः, इत्यस्तु गुणालङ्कारणां भेदः। ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डरिकाप्रवाहेणैषां भेदः।" [काव्यप्रकाशे अष्टमोल्लासः][1]

२. रीतिगुणयोः परस्परसम्बन्धनिर्देशः

'संघटनायाः धर्मा गुणा' इति भट्टोद्भटादयः।

[ध्वन्यालोकलोचनम्, पृष्ठ ३१०]

३. अभिधाव्यापारः

भामहेनोक्तम्—'शब्दाश्छन्दोभिधानार्थाः' इति अभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे—'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च।'

[ध्वन्यालोकलोचनम्, पृष्ठ ३२]

४. अलंकारः

(क) अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः। [ध्वन्यालोकः, पृष्ठ २५८]

(ख) विवरणकृत्—"दीपकस्य सर्वत्रोपमान्वयो नास्ति।" × × ×

[ध्वन्यालोकलोचनम्, पृष्ठ १२०]

(ग) अत्राहुरुद्भटाचार्यः—येन नाप्राप्ते यो विधिरभ्यते स तस्य बाधक इति न्यायेनालङ्कारान्तरविषय एवारभ्यमाणो ऽलङ्कारान्तरं बाधते। न चास्य विवक्तः कश्चिदस्ति विषयो यत्र सावकाशो नान्यं बाधेत। [रसगंगाधर, पृष्ठ ५२६]

---

१ भामहवृत्तौ भट्टोद्भटेनोक्तमुत्थाप्य दूषयति एवं चेत्यादि।

[का० प्र०, बालबोधिनी टीका, पृष्ठ ४७०]

आचार्य वामन

(समय—लगभग ८०० ई०)

[ग्रन्थ—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति*]

१. काव्य और अलंकार

काव्य, अलंकार (के योग) से (ही) उपादेय होता है ।।१, १, १।

काव्य, अलंकार (के योग) से निश्चय ही उपादेय (आदरणीय) होता है। (यद्यपि मुख्य रूप से) यह काव्य शब्द गुण तथा अलंकार से संस्कृत शब्द तथा अर्थ के लिए ही प्रयुक्त होता है (इसलिए अलंकार काव्य से भिन्न कोई ऐसी वस्तु नही है जिसका योग काव्य में हो। फिर भी यहाँ शब्दार्थ और काव्य का भेद मान कर काव्य शब्द) परन्तु लक्षणा से यहाँ केवल शब्दार्थ मात्र का बोधक (काव्य शब्द) लिया जाता है। (इसलिए अलंकार के योग से काव्य उपादेय होता है यह सूत्र का अर्थ उपपन्न हो जाता है) ॥ १ ॥

(काव्य की उपादेयता का प्रयोजक) यह अलंकार क्या (पदार्थ) है इस (शंका के होने पर उसके निवारण) के लिए कहते हैं—

(काव्य में) सौन्दर्य (के आधायक तत्त्व) का नाम अलंकार है ।१, १, २।

(भावार्थक) अलंकृति अलंकार (शब्द का मुख्यार्थ) है। (परन्तु) करण (में घञ् प्रत्यय द्वारा) व्युत्पत्ति (करने) से (यह) अलंकार शब्द उपमा आदि (प्रसिद्ध) अलंकार के अर्थ में (प्रयुक्त होता) है ॥ २ ॥

वह (सौन्दर्य-रूप अलंकार) दोषों के हान (परित्याग) और गुण तथा (सौन्दर्य के साधनभूत करणार्थक प्रसिद्ध उपमादि) अलंकारों के उपादान से होता है ।१, १, ३।

और वह (काव्य-सौन्दर्य-रूप) अलंकार दोषों के (परित्याग) हान तथा गुण एवं (उपमादि) अलकारों के उपादान से कवि सम्पादन कर सकता है ॥३॥

---

* आत्माराम एण्ड संस दिल्ली द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण

वे दोनों (दोषों का हान तथा गुणों का उपादान इस) शास्त्र से (हो सकते) हैं ।१, १, ४।

वे दोनों अर्थात् दोष तथा गुणालंकार के हान और उपादान (दोषों का हान तथा गुण और अलंकार का उपादान) इस (काव्यालकार-रूप) शास्त्र (के अध्ययन) से (ही) हो सकते हैं। शास्त्र से (दोषो के स्वरूप, लक्षण आदि को) जान कर दोषों का परित्याग करे और गुण तथा अलंकारों (के स्वरूप, लक्षण आदि को जान कर उन) का उपादान (अपने काव्य में यथोचित प्रयोग) करें। (इसी काव्य से सौन्दर्य की सिद्धि होती है) ॥४॥ (पृष्ठ ४-७)

२. काव्य का प्रयोजन

अलंकारयुक्त काव्य का क्या फल है जिससे इस (काव्य-निरूपण) के लिए यह (काव्यालंकारसूत्र-रूप ग्रन्थ, या उसके लिखने का यह प्रयास) किया गया है। (इस शंका के होने पर उसके उत्तर के लिए) यह कहते हैं :—

सुन्दर काव्य (कवि तथा पाठक दोनों की) प्रीति (आनन्द) का और (कवि के जीवन काल में तथा उसकी मृत्यु के बाद भी उसकी स्थायी) कीर्ति का हेतु होने से दृष्ट (ऐहिक) और अदृष्ट (आमुष्मिक दोनों प्रकार के) फल वाला होता है ।१, १, ५।

सत् (अर्थात) सुन्दर काव्य (कवि तथा पाठक दोनों की) प्रीति (आनन्द) का हेतु होने से दृष्ट (ऐहिक, लौकिक) फल वाला होता है। और (कवि के इस जीवन में तथा उसकी मृत्यु के बाद भी) कीर्ति का हेतु होने से अदृष्ट (आमुष्मिक) फल वाला होता है। इस विषय में (संग्रह-रूप स्वलिखित) श्लोक (निम्न प्रकार) हैं। (उनसे काव्य का और हमारे इस ग्रन्थ का प्रयोजन भली प्रकार विदित होता है।)

काव्य-रचना की प्रतिष्ठा (सुन्दर काव्य की रचना ही) यश की प्राप्ति का मार्ग कही जाती है। इसी प्रकार कुकवित्व की (उपहास्यता-रूप) विडम्बना को अकीर्ति का मार्ग कहा जाता है ॥१॥

विद्वान् लोग कीर्ति को जब तक संसार रहे तब तक (यावच्चन्द्रदिवाकरौ) रहने वाली तथा स्वर्ग-रूप फल को देने वाली कहते हैं। और अकीर्ति को आलोकहीन (अन्धकारमय) नरक स्थान की दूती कहते हैं ॥२॥

इसलिए कीर्ति को प्राप्त करने के लिए और अकीर्ति के विनाश के लिए श्रेष्ठ कवियों को (हमारे इस ग्रन्थ) 'काव्यालंकारसूत्र' के अर्थ को भली प्रकार हृदयंगम करना चाहिए। (इस 'काव्यालंकारसूत्र' के विषय को भली प्रकार हृदयंगम करने

के बाद काव्य-रचना में प्रवृत होने वाले कवि, उत्तम काव्य की रचना में समर्थ होकर, कीर्ति के भाजन बनेंगे और कुकवित्व के दोष से बच सकेंगे। (यह इस ग्रन्थ के प्रयोजन की स्थापना ग्रन्थकार ने की) ॥३।५॥ (पृष्ठ ७-८)

३. काव्य के अधिकारी

अधिकारी के निरूपण के लिए कहते हैं—

'अरोचकी' (विवेकी) और 'सतृणाभ्यवहारी' (अविवेकी) दो प्रकार के कवि होते हैं ।१, २, १।

यहाँ (इस संसार मे) दो प्रकार के कवि हो सकते हैं। (एक) 'अरोचकी' और (दूसरे) 'सतृणाभ्यवहारी'। यहाँ 'अरोचकी' और 'सतृणाभ्यवहारी' शब्द गौणार्थक (सादृश्यमूलक गौणी लक्षणा से प्रयुक्त हुए) हैं। (इन शब्दों का विवक्षित) वह अर्थ कौन सा है ? (यह प्रश्न करके उसका उत्तर देते हैं) 'विवेकित्व' (अरोचकी पद का) और 'अविवेकित्व' (सतृणाभ्यवहार शब्द का विवक्षित अर्थ है) ॥१॥

(उन दो प्रकार के कवियों में से) प्रथम (अरोचकी कवि ही) विवेकी होने से शिक्षा पाने के 'अधिकारी' हैं ।१, २, २।

(पूर्वोक्त दो प्रकार के कवियों में से) प्रथम अर्थात् 'अरोचकी' शिक्षा के योग्य अर्थात् उपदेश के पात्र हैं, विवेकशील अर्थात् विवेचनाशील होने से ॥२॥

दूसरे (अर्थात् 'सतृणाभ्यवहारी' अविवेकी कवि) उसके विपरीत होने से (अर्थात् विवेचनाशील न होने से) शिक्षा के अधिकारी नही हैं ।१, २, ३।

दूसरे अर्थात् 'सतृणाभ्यवहारी' उस (विवेचनशीलता) के विपरीत होन से शिक्षा के योग्य (काव्य-शिक्षा के अधिकारी) नहीं हैं। अविवेचनशील होने से। (यदि यह कहा जाय कि शास्त्र के पढ़ने से उनकी अविवेकशीलता दूर हो जायगी इसलिए उनको भी उपदेश देना चाहिए तो ग्रन्थकार इसका खण्डन करते हैं कि) और स्वभाव दूर नहीं किया जा सकता। इसलिए अनधिकारी व्यक्ति के ग्रन्थ पढ़ने से भी उसका वह अविवेक दूर होना सम्भव नही है ॥३॥

(प्रश्न) यदि ऐसा है तो (आपका) शास्त्र सबका अनुग्राहक नहीं हुआ ?

(उत्तर) तो (इस शास्त्र को सब का अनुग्राहक) मानता कौन है ? (अर्थात्) हम स्वयं इस शास्त्र को सबका अनुग्राहक नही मानते हैं। वह केवल विवेकशील

अधिकारी व्यक्तियों के लिए ही है, सबके लिए नहीं ।) इसी बात को (अगले सूत्र में) कहते हैं—

अनधिकारियों (अविवेकी, अयोग्य व्यक्तियों) में शास्त्र सफल नहीं हो सकता है ।१, २, ४।

(यह ही नहीं, कोई भी) शास्त्र अद्रव्य (अर्थात् अनधिकारी) विवेकी पुरुषों में सफल नहीं हो सकता है ।।४।।

(इसी विषय में) उदाहरण देते हैं—

निर्मली कीचड़ को स्वच्छ करने के लिए नहीं होती ।१, २, ५।

निर्मली (वृक्ष विशेष का फल) जैसे जल को स्वच्छ कर देता है इस प्रकार कीचड़ को स्वच्छ करने में समर्थ नही होता है ।।५।। (पृष्ठ १२-१८)

४. काव्य-रीति

अधिकारियों का निरूपण करके रीतियों के निश्चय के लिए कहते हैं—

रीति (ही) काव्य की आत्मा है ।१, २, ६।

यह रीति (ही) काव्य की आत्मा है । शरीर के समान यह वाक्य शेष समझना चाहिए ।।६।।

(प्रश्न) यह रीति क्या (पदार्थ) है, यह कहते हैं—

(उत्तर) विशेष प्रकार की पद-रचना (शैली) को रीति कहते हैं ।१, २, ७।

विशेष-युक्त पद-रचना रीति है ।।७।।

वह विशेष (जिससे युक्त पद-रचना को रीति कहते हैं) कौन-सा है, यह बतलाते हैं—

(विशिष्ट पद-रचना में) विशेष गुण (के अस्तित्व) स्वरूप है ।१, २, ८।

विशेष (ता) के गुण रूप हैं—जिन (गुणों) का वर्णन आगे किया जाएगा ।।८।।

वह (रीति) वैदर्भी, गौडी और पांचाली इस तरह तीन प्रकार की है ।१, २, ९।

उस रीति के तीन प्रकार के भेद होते हैं—(१) वैदर्भी, (२) गौडीया, और (३) पांचाली ।।९।।

(प्रश्न) क्या काव्यों के 'द्रव्य गुण' (विशेषता) की उत्पत्ति देश (विशेष) के कारण होती है, जिसके कारण (रीतियों में) यह देश विशेष (विदर्भ, गौड, पांचाल आदि) से (उनका) नामकरण किया है ?

(उत्तर) यह बात नहीं है।

जैसा कि कहते हैं :—

विदर्भादि (देशों) में आविष्कृत (देखी गई) होने से (रीतियों की देशों के नामों से) वह संज्ञाएँ रखी गई हैं।१, २, १०।

विदर्भ, गौड तथा पांचाल (देशों) में वहाँ के कवियों द्वारा वास्तविक रूप में (उपलब्ध, आविष्कृत या) प्रयुक्त होने से वे (उस प्रकार के) नाम रखे गए हैं। (वैसे) देशों मे काव्य का कोई उपकार नही होता है, (जिससे किसी देश के नाम पर रीतियों का नामकरण किया जाता) ॥१०॥

उन (रीतियों) का गुणों के भेद से भेद (होता है यह) कहते हैं—

समस्त गुणों से युक्त वैदर्भी (रीति) है।१, २, ११।

समस्त (अर्थात् दस शब्द-गुण तथा दस अर्थ-गुण) ओजः, प्रसाद आदि से युक्त रीति का नाम वैदर्भी रीति है। इस (वैदर्भी रीति के निरूपण) में निम्न दो श्लोक हैं—

(आगे कहे जाने वाले काव्य-) दोषों की मात्रा से भी रहित और समस्त गुणों से युक्त वीणा के स्वर के समान मधुर (लगने वाली) वैदर्भी रीति मानी जाती है।

उस (वैदर्भी रीति) की कवि लोग इस प्रकार स्तुति करते हैं—

(सुकवि-रूप योग्य) वक्ता, (सुन्दर वर्ण्य-विषय-रूप) अर्थ, और शब्दों पर अधिकार (शब्द कोष) रहते हुए भी जिस (विशिष्ट रचना-शैली) के बिना वाणी का मधु रस स्रवित नही होता है (वह ही वैदर्भी रीति है)।

(महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक का निम्न पद्य इस वैदर्भी रीति का सुन्दर) उदाहरण है —

(आज) भैंसे सीगों से बार-बार ताड़ित किए हुए कुएँ के समीपवर्ती पोखरों के जल में खूब डुबकी लगावें। (भैंसों और भैंसियों का यह स्वभाव है कि यदि उन्हें पोखरों का जल मिल जावे तो वह उसमे घुस जाते हैं। मुख को छोड़ कर शेष सारा शरीर पानी में डुबा लेते हैं। इससे शायद उनको मक्खियों के कष्ट से छुटकारा मिल

जाता है। परन्तु फिर भी उनका मुख भाग जो ऊपर रह जाता है उसमें मक्खियाँ लगती ही हैं। उस समय उन मक्खियों के उड़ाने के लिए वह जोर से सिर हिलाते रहते हैं, जिससे उनके सीग पानी में लगते रहते हैं। इसी दृश्य को कवि ने स्वभावोक्ति से 'गाहन्ता महिषा निपानसलिलं शृंगैर्मुहुस्ताडितम्' इन शब्दों में लिखा है।) मृगों (मृगों और मृगियो) का समूह (वृक्षों की शीतल) छाया में झुण्ड बना कर (निश्चिन्त होकर बैठ कर) बार-बार जुगाली करें। (जंगली) सूअरों की पंक्ति पल्वल (छोटे तालाब के किनारे) पर नागरमोथा (की जड़ों) को निश्चिन्त होकर खोदें (और खावें। नागरमोथा एक प्रकार की घास होती है। इसकी जड़ को सूअर अपनी थूथनी से खोद कर बड़े चाव से खाता है। इसी का वर्णन यहाँ कवि ने किया है। यह औषधि के रूप मे प्रयुक्त होती है और हवन-सामग्री में भी पड़ती है।) और प्रत्यंचा ढीली कर देने से आज हमारा यह धनुष भी विश्राम करे। ॥११॥

'ओजः' और 'कान्ति' (नामक केवल दो गुणो) से युक्त 'गौडी' (रीति) है।१, २, १२।

(पूर्वोक्त दस गुणों में से केवल दो) ओज और कान्ति जिस में पाए जावें वह ओजः—कान्तिमती गौडीया रीति (कही जाती) है। 'माधुर्यं' तथा 'सौकुमार्यं' (गुणो) के न होने से (यह गौडी रीति) समासबहुल और अत्यन्त उग्र पदों वाली होती है। (जैसा कि) उसके विषय में (निम्न) श्लोक (से प्रतीत होता) है।

(अत्यधिक) समासयुक्त, उत्कट पदों से युक्त 'ओजः' और 'कान्ति' गुणों से समन्वित रीति को रीति (शास्त्र) के पण्डित 'गौडीया' रीति कहते हैं।

(गौडीया रीति का) उदाहरण (निम्न श्लोक है):—

(श्री रामचन्द्रजी के द्वारा अनायास) हाथ में उठाए हुए (चन्द्रशेखर) शिवजी के धनुष के दण्ड के टूटने से उत्पन्न हुआ और आर्य (रामचन्द्रजी) के बाल-चरित्र रूप (उनके भावी जीवन की) प्रस्तावना का उद्घोषक, टंकार-ध्वनि (उस भीषण टंकार के कारण) एकदम काँप उठने (द्राक् झटिति पर्यस्ते चलिते) वाले (पृथ्वी तथा आकाश-रूप छोटे-छोटे) कपाल-सपुटों में सीमित (छोटे-से) ब्रह्माण्ड-रूप भाण्ड (घड़ा आदि रूप बर्तन) के भीतर घूमने के कारण और अधिक भयंकरता को प्राप्त होकर अब तक भी शान्त नही हुआ है। यह आश्चर्य है ॥१२॥

(ओज और कान्ति के विपरीत) 'माधुर्यं' और 'सौकुमार्यं' (रूप दो गुणों) से युक्त पांचाली रीति होती है। १, २, १३।

'माधुर्यं' तथा 'सौकुमार्यं' गुणों से युक्त 'पांचाली' नामक रीति होती है। (उसमें) ओज और कान्ति का अभाव होने से उसके पद (गाढत्व रूप 'ओज' से

विहीन) सुकुमार और (कान्ति का अभाव होने से) विच्छाय (कान्तिविहीन) होते हैं। जैसा कि (उस 'पांचाली' के विषय में निम्नलिखित प्राचीन) श्लोक है—

गाढ़बन्ध से रहित (ओजोविहीन) और शिथिल (अनुज्ज्वल) पद वाली, गौड़ी रीति के विषय-भूत, 'ओज' के विपरीत) 'माधुर्य' और (कान्ति के विपरीत) 'सौकुमार्य,' से युक्त सम्पूर्ण सौन्दर्य से शोभित 'रीति' को कवि 'पांचाली' रीति कहते हैं।

जैसे :—

हे पथिक ! इस ग्राम में अब पथिकों को (रात्रि में ठहरने के लिए) स्थान नहीं दिया जाता है। (क्योंकि एक बार ऐसे ही किसी पथिक को यहाँ ठहरा लिया था, परन्तु) रात्रि मे यहाँ विहार (बौद्ध मठ) के मण्डप के नीचे सोते हुए उस (नवयुवक पथिक) ने (वर्षा ऋतु की रात्रि में) मेघ के गर्जने पर उठ कर (उसके कारण) अपनी प्रिया को स्मरण करके वह (कर्म) किया (जो कहने योग्य भी नही है, और) जिसके कारण यहाँ (ग्राम) के लोग (पथिक के) वध के दण्ड की शंका से भयभीत हैं।

इन तीन रीतियों के भीतर काव्य इस प्रकार समाविष्ट हो जाता है, जिस प्रकार रेखाओं के भीतर चित्र प्रतिष्ठित होता है ॥१३॥

उनमें से प्रथम (अर्थात् वैदर्भी रीति) समस्त (अर्थात् दसों) गुणों से युक्त होने के कारण ग्राह्य है। (शेष दोनो उतनी ग्राह्य नही है) ।१, २, १४।

उन तीनों रीतियों मे से प्रथम अर्थात् वैदर्भी (रीति सबसे अधिक) ग्राह्य है, सम्पूर्ण (दसों) गुणों से युक्त होने के कारण ॥१४॥

अन्य दोनों (गौडी तथा पांचाली रीतियाँ) अल्प-गुण (केवल दो-दो गुण) वाली होने से (उतनी) ग्राह्य नही हैं।१, २, १५।

दूसरी गौडी और पांचाली (यह दोनों रीतियाँ) स्वल्पगुण वाली (केवल दो-दो गुण वाली) होने से (उतनी) ग्राह्य नही हैं ॥१५॥

उस (वैदर्भी रीति) के आरोहण के लिए दूसरी (गौडी तथा पांचाली रीति) का अभ्यास (उपयोगी या साधनभूत होता है), ऐसा कोई लोग मानते हैं।१, १, १६।

वह ठीक नही है। अतत्त्व के अभ्यास से तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती। १, २, १७।

अतत्त्व का अभ्यास करने वाले को तत्त्व की सिद्धि नहीं होती है ॥१७॥

(अपने इस कथन की पुष्टि मे) उदाहरण (के लिए) कहते हैं—

सन की डोरी (की पट्टियों) के बुनने का अभ्यास करने पर टसर (रेशम) के सूत्र के बुनने में विचक्षणता (कौशल) की प्राप्ति नहीं होती है ।१, २, १८।

सन के सूत्र से बुनने का अभ्यास करने वाला बुनकर टसर (रेशम) के सूत्र के बुनने में वैचित्र्य को प्राप्त नहीं करता है ॥१८॥

वह (वैदर्भी रीति) भी समास के न होने पर (और भी उत्कृष्ट) शुद्ध वैदर्भी कहलाती है ।१, २, १९।

वह वैदर्भी भी शुद्ध वैदर्भी कही जाती है यदि उसमें समासयुक्त पद न हों। (वैदर्भी का भी उत्कृष्ट रूप यह शुद्ध वैदर्भी है। यह अभिप्राय है) ॥१९॥

उसमें अर्थ-गुणों का वैभव (सम्पत्ति, समग्रता, पूर्ण सौन्दर्य) आस्वाद्य अर्थात् अनुभव करने योग्य होता है ।१, २, २०।

उस वैदर्भी (रीति) मे अर्थ-गुणों का वैभव आस्वाद के योग्य होता है ॥२०॥

उस (वैदर्भी रीति) के सहारे से अर्थगुणों का लेश मात्र भी आस्वाद के योग्य हो जाता है (अर्थगुण-सम्पत्ति की तो बात ही क्या !) ।१, २, २१।

उस (वैदर्भी रीति) के सहारे से अर्थ का लेश (सामान्य अर्थ) भी आस्वाद योग्य हो जाता है, अर्थगुण-सम्पत्ति की तो बात ही क्या कहना !

जैसा कि (वैदर्भी रीति की प्रशंसा में लिखे गए निम्न श्लोकों में) कहा है—

किन्तु वह (वैदर्भी रीतिमयी) कुछ और ही (प्रकार की लोकोत्तर) पद-रचना है जिसमें (निबद्ध होने पर) न कुछ (तुच्छ या असत्)-सी वस्तु भी कुछ (अलौकिक चमत्कारमय) सी प्रतीत होती है। और सहृदयों के कर्णगोचर होकर उनके चित्त को इस प्रकार आह्लादित करती है मानो (कहीं से) अमृत की वर्षा हो रही है।

जिस (वैदर्भी रीति) को (काव्य रूप) वाक्य में प्राप्त करके शब्द सौन्दर्य (वाचकश्रीः) थिरकने लगता है, जहाँ (वैदर्भी रीति मे पहुँच कर) नीरस (वितथ) वस्तु भी सरस (अवितथ) हो उठती है, सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाला कुछ ऐसा अनिर्वचनीय शब्दपाक वैदर्भी रीति मे (ही) कहीं उदय होता है। (जिसके कारण शब्द-शोभा मानो नाचने सी लगती है और नीरस वस्तु भी सरस हो जाती है। टीकाकार ने वितथ शब्द का अर्थ नीरस और अवितथ शब्द का अर्थ सरस किया है।) ॥२१॥

उस (वैदर्भी रीति) में रहने के कारण वह (अर्थगुण-सम्पत्ति भी) (उपचार या लक्षणा से) वैदर्भी (नाम से कही जा सकती) है ।१, २, २२।

वह अर्थगुण-सम्पत्ति भी वैदर्भी (नाम से) कही गई है। सूत्र में प्रयुक्त 'तात्स्थ्यात्' इस पद से उस (वैदर्भी रीति) मे स्थित होने के कारण (अर्थ-सम्पत्ति भी वैदर्भी नाम से कही गई है)। इस प्रकार उपचार (लक्षणा) से व्यवहार दिखलाते हैं) ॥२२॥ (पृष्ठ १८-३३)

५. काव्य के अंग (साधन)

काव्य के साधनों (अंगों) को दिखलाने के लिए कहते हैं—

(१) लोक (अर्थात् स्थावर-जंगमात्मक लोक का व्यवहार), (२) विद्या चौदह अथवा अठारह भेदों से प्रसिद्ध समस्त विद्याएँ), और (३) (काव्यों का ज्ञान, काव्यज्ञों की सेवा, पदों के निर्वाचन की सावधानता, और स्वाभाविक प्रतिभा, तथा उद्योग रूप पाँच को मिलाकर) प्रकीर्ण (फुटकर—इस प्रकार यह तीन मुख्य) काव्य (निर्माण में कौशल प्राप्त करने) के साधन हैं ।१, ३, १।

लोक-व्यवहार (यहाँ) लोक (शब्द से अभिप्रेत) है ।१, ३, २।

स्थावर (वृक्षादि अचल) और जंगम (चल मनुष्यादि) रूप (जगत्) लोक (शब्द का मुख्यार्थ) है। उसका वृत्त अर्थात् व्यवहार यह (लोकवृत्त पद का) अर्थ है ॥२॥

शब्द-स्मृति (व्याकरण-शास्त्र), अभिधान-कोश (कोशग्रन्थ), छन्दोविचिति (छन्दः शास्त्र), कला-शास्त्र (चौसठ प्रकार की कलाओं और चौदह प्रकार की उप-कलाओं के प्रतिपादक शास्त्र), काम-शास्त्र (वात्स्यायन आदि प्रणीत), और दण्ड-नीति (कौटिल्यादि प्रणीत अर्थशास्त्र) 'विद्या' (शब्द से ग्रहण करने योग्य) हैं ।१, ३, ३।

शब्द-स्मृति (व्याकरण) आदि का काव्य का पूर्ववर्तित्व (तत्पूर्वकत्व) काव्य-रचना में (सबसे) पहिले अपेक्षित होने के कारण (कहा गया) है ॥३॥

उनकी काव्यांगता की योजना करने के लिए कहते हैं—

शब्द-स्मृति (व्याकरण शास्त्र) से शब्द की शुद्धि होती है ।१, ३, ४।

शब्द-स्मृति अर्थात् व्याकरण से शब्दों की शुद्धि अर्थात् साधुत्व का निश्चय करना चाहिए। शुद्ध पदों को कवि निर्भय (निष्कम्प) होकर प्रयुक्त कर सकते हैं ॥४॥

अभिधान-कोश (के परिज्ञान) से पदों के (ठीक) अर्थ का निश्चय करना चाहिए ।१, ३, ५।

रचना में रखने योग्य पद का विचार करते हुए (यदि कोश का ज्ञान नही है तो) अर्थ का सन्देह रहने से (उस विशेष पद को) ग्रहण करे अथवा न करे, छोड़ दे अथवा न छोड़े यह (द्विविधा) काव्य-रचना में (बड़ा) विघ्न (करती) है। इसलिए अभिधान-कोश से पदों के अर्थ का (ठीक तरह से) निश्चय करना चाहिए।

अपूर्व (नए-नए) पद के लाभ को अभिधान-कोश का फल मानना उचित नहीं है। (क्योंकि महाकवियो द्वारा) अप्रयुक्त (पद का) प्रयोग उचित नही है।

(प्रश्न) फिर यदि प्रयुक्त (पदों) का (ही) प्रयोग किया जाता है तो (उनका तो अर्थ निश्चित ही है) फिर पदो की सन्दिग्धार्थकता की शका क्यों की है ?

(उत्तर) ऐसा कहना ठीक नही है। ऐसे शब्दों में सामान्य रूप से अर्थ की प्रतीति हो सकती है (परन्तु विशेष अर्थ का ज्ञान न होने से संशय अथवा अनुचित प्रयोग हो जाता है। ऐसे संशय के निवारण के लिए कोश का उपयोग करना चाहिए) जैसे कमर पर पहिने जाने वाले वस्त्र के बाँधने वाले नारे को 'नीवी' कहते हैं यह कोई (कवि सामान्य रूप से) जानता है। परन्तु 'नीवी संग्रथन नार्या जघनस्थस्य वासस:' इस नाममाला के प्रतीक को न जानने वाले (कवि) को, वह स्त्री का (नारा) या पुरुष का (नारा—नीवी कहलाता है) यह संशय हो सकता है। (जब वह इस 'नीवी संग्रथनं नार्या जघनस्थस्य वासस:' इत्यादि कोश को देख लेता है तब उसको वह निश्चय हो जाता है कि 'नीवी' शब्द पुरुष के नारे के लिए नही, केवल स्त्री के नारे के लिए प्रयुक्त करना चाहिए)।

प्रश्न—यदि 'नीवी' शब्द स्त्री के वस्त्र के नारे के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है) तो फिर,

नाना प्रकार के व्यंजनों के प्रचुर परिमाण (मे पेट में पहुँचने) से पेट फूलने वाले (भोजन-भट्ट) ने पहले से ही ढीले किए हुए अपने नारे को और भी ढीला कर दिया।

यह 'पुरुष के नारे के लिए 'नीवी' शब्द का) प्रयोग कैसे हुआ ?

(उत्तर) भ्रान्ति से अथवा उपचार से ॥५॥

छन्दोविचिति (छन्द-शास्त्र) से वृत्त (छन्द) विषयक संशय का नाश होता है ।१, ३, ६।

(यद्यपि) काव्य (रचना) के अभ्यास से (साधारणतः) वृत्तों का परिचय हो जाता है, फिर भी (कभी-कभी) मात्रिक वृत्त आदि में कहीं संशय हो सकता है। इसलिए छन्दःशास्त्र (के अभ्यास) से वृत्त (सम्बन्धी) संशय का निराकरण करना चाहिए ॥६॥

कला-शास्त्रों के द्वारा कला के तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।१, ३, ७।

गाना, नाचना, चित्र आदि कलाएं हैं। उनका प्रतिपादन करने वाले 'विशाखिल' आदि रचितशास्त्र कला-शास्त्र (कहलाते) हैं। उन (कला-शास्त्रों) से कलाओं के तत्त्वों का संवित् अर्थात् संवेदन (ज्ञान) करना चाहिए। कलाओं के तत्त्व को समझे बिना (काव्य में) कला (सम्बन्धी) वस्तु का भली प्रकार वर्णन करना सम्भव नहीं है। (इसलिए कलाओं का ज्ञान कवि के लिए आवश्यक है) ॥७॥

काम-शास्त्र (के अध्ययन) से काम-(सम्बन्धी) व्यवहार का (ज्ञान प्राप्त करना चाहिए)।१, ३, ८।

संवित् (इस पद) की (पूर्वसूत्र से) अनुवृत्ति आती है। काम-(सम्बन्धी) व्यवहार का ज्ञान काम-शास्त्र से करना चाहिए यह (इस सूत्र का अर्थ है)। काव्य की वस्तु में कामोपचार (कामशास्त्र-सम्बन्धी व्यवहार) का बाहुल्य रहता है, इसलिए (काम-शास्त्र का अध्ययन कवि के लिए अत्यन्त आवश्यक है) ॥८॥

दण्ड-नीति (कौटिल्यादि प्रणीत अर्थ-शास्त्र) से नय और अपनय का (ज्ञान करना चाहिए।१, ३, ९।

दण्ड-नीति (अर्थात् कौटिल्यादि-प्रणीत) अर्थ-शास्त्र से नय (उचित नीति) और अपनय (अनुचित नीति) का ज्ञान होता है। उनमें से (१. सन्धि, २. विग्रह, ३. यान, ४. आसन, ५. संश्रय, ६. द्वैधीभाव इन) षड्गुणों का यथोचित प्रयोग नय (कहलाता) है। उसके विपरीत (उन्हीं षड्गुणों का अनुचित प्रयोग) अपनय (कहलाता है)। उन दोनों (नय और अपनय) को जाने बिना नायक और प्रतिनायक के व्यवहार को (काव्य में भली प्रकार) वर्णन करना सम्भव नहीं है। (इसलिए दण्ड-नीति या अर्थ-शास्त्र का ज्ञान भी कवि के लिए आवश्यक है) ॥९॥

और इस (दण्ड-नीति के परिज्ञान) से (ही) इतिवृत्त (कथा के आख्यान वस्तु) की (काव्योपयोगी आवश्यक) कुटिलता होती है।१, ३, १०।

काव्य का शरीर-भूत इतिहासादि (आख्यान वस्तु) इतिवृत्त (शब्द से यहाँ अभिप्रेत) है। उसकी (काव्योपयोगी) विचित्रता (कुटिलता) उस दण्ड-नीति से (ही)

हो सकती है। 'आबलीयस' प्रभृति प्रयोगो की व्युत्पत्ति में (दण्ड-नीति का उपयोग है)। उस (दण्ड-नीति) के (तद्विषयक) ज्ञान का कारण होने से (दण्ड-नीति का ज्ञान भी काव्य के सौन्दर्याधान के निमित्त, कवि के लिए आवश्यक है)।

'अबलीयांसमधिकृत्य कृतमधिकरणं आबलीयसम्। प्रयोगा मित्रभेदसुहृल्लाभादयः।' वृत्ति मे आए हुए 'आबलीयस' तथा 'प्रयोग' शब्द की इस प्रकार की व्याख्या टीकाकार ने की है। 'आबलीयस' नाम का अधिकरण अर्थ-शास्त्र मे मिलता है।

इस प्रकार (यहाँ न कही हुई) अन्य विद्याओं का (काव्य के लिए) यथोचित उपयोग समझ लेना चाहिए (वर्णन करना चाहिए) ॥१०॥

(१) लक्ष्यज्ञत्व, (२) अभियोग, (३) वृद्ध-सेवा, (४) अवेक्षण, (५) प्रतिभान, और (६) अवधान (यह छः) प्रकीर्ण (शब्द से यहाँ अभिप्रेत) हैं।१, ३, ११।

उनमे से (अन्य महाकवियों के बनाए हुए) काव्यों का परिचय (पुनः पुनः अवलोकन) लक्ष्यज्ञत्व (पद से यहाँ अभिप्रेत) है।१, ३, १२।

दूसरों (अन्य महाकवियों) के काव्यो मे परिचय (अभ्यास) लक्ष्यज्ञत्व (कहलाता) है। उस (काव्यानुशीलन) से काव्य-रचना मे व्युत्पत्ति होती है। (इसलिए कविता करने की इच्छा रखने वाले को अन्य कवियों की रचनाओं का अनुशीलन अवश्य ही करना चाहिए) ॥१२॥

काव्य-रचना के लिए उद्योग 'अभियोग' (कहलाता) है।१, ३, १३।

(बन्धन अर्थात्) रचना (का नाम) बन्ध है। काव्य का बन्ध अर्थात् रचना काव्य-बन्ध (कहलाती) है। उसके लिए प्रयत्न (यहाँ सूत्र मे) अभियोग (शब्द से अभिप्रेत) है। वह (प्रयत्न) कवित्व के उत्कर्ष का आधान करता है ॥१३॥

काव्य की शिक्षा देने वाले गुरुओं की सेवा 'वृद्ध-सेवा' (शब्द से अभिप्रेत) है।१, ३, १४।

काव्योपदेश में गुरु (अर्थात् शिक्षा देने वाले) उपदेष्टा (काव्योपदेश-गुरु कहलाते हैं)। उनकी सेवा 'वृद्धसेवा' (शब्द से अभिप्रेत) है। उससे 'काव्यविद्या' (अर्थात् काव्य-निर्माण में नैपुण्य) की (अभ्यासी शिष्य में) संक्रान्ति होती है ॥१४॥

पद (विशेष) के (रचना) मे रखने और हटाने (के द्वारा उसके सौन्दर्य और उपयोगिता की परीक्षा करने) को अवेक्षण कहते हैं।१, ३, १५।

पद का आधान अर्थात् रखना, और उद्धरण अर्थात् निकालना उन दोनों (रूपों) में (उसकी उपयोगिता की परीक्षा) अवेक्षण है। इस विषय में (निम्नलिखित) दो श्लोक हैं :—

जब तक मन (पद की उपयोगिता के विषय में) स्थिर नही होता तब तक पद का रखना और हटाना होता (ही) रहता है। और (कवि के पदों में) स्थिरता स्थापित हो जाने पर तो सरस्वती सिद्ध हुई समझो।

जिस (अवस्था) में (पहुँच कर कवि के) पद परिवर्तन-सहत्व को छोड़ देते हैं (अर्थात् कवि ने जहाँ जो पद एक बार रख दिया उसको बदल करके कोई और अधिक सुन्दर शब्द वहाँ रख सकना सम्भव नही रहता है। कवि की) उस (स्थिति) को शब्द-विन्यास में निपुण (महाकवि) 'शब्दपाक' (पद से) कहते हैं ॥१५॥

कवित्व का बीज प्रतिभा (जन्मसिद्ध संस्कार विशेष) है।१, ३, १६।

कवित्व का बीज—कवित्व-बीज—(यह षष्ठी-तत्पुरुष समास कवित्व-बीज पद में है और उसका अर्थ) जन्मान्तरागत कोई (अपूर्व) संस्कार-विशेष है। जिस (प्रतिभा) के बिना काव्य बनता ही नही अथवा (जैसा-तैसा कुछ) बन भी जाय तो उपहास के योग्य होता है। (उस जन्म-सिद्ध प्रतिभा का होना कवि के लिए अत्यन्त आवश्यक है) ॥१६॥

चित्त की एकाग्रता अवधान (कहलाती है)।१, ३, १७।

चित्त की एकाग्रता अर्थात् बाह्य अर्थो से निवृत्ति अवधान (कहलाती) है। क्योंकि अवहित (एकाग्र) (चित्त ही) अर्थों को देखता है। (एकाग्रता के बिना कोई भी काम ठीक ढंग से नहीं होता है। इसलिए काव्य-रचना भी उसके बिना सम्भव नही है। वह चित्त की एकाग्रता कैसे प्राप्त हो, इसके लिए सूत्रकार आगे कहते हैं) ॥१७॥

वह (एकाग्रता-रूप अवधान) देश और काल से (प्राप्त होता है)।१, ३, १८।

वह अवधान (अर्थात् ऐकाग्रय) देश और काल (विशेष) से उत्पन्न होता है ॥१८॥

विविक्त (अर्थात् निर्जन) देश (एकाग्रता के लिए आवश्यक) है।१, ३, १९।

विविक्त का अर्थ निर्जन है। (स्थान की निर्जनता)। चित्त की एकाग्रता-सम्पादन के लिए अत्यन्त आवश्यक है ॥१९॥

रात्रि का चौथा प्रहर। (ब्राह्ममुहूर्त का काल चित्त की एकाग्रता के लिए सबसे अधिक उपयुक्त) काल है।१, ३, २०।

रात्रि का याम— रात्रियाम (यह षष्ठी तत्पुरुष समास) है। (याम का अर्थ) प्रहर है। तुरीय (का अर्थ) चतुर्थ। (रात्रि का चतुर्थ पहर, अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त का समय चित्त की एकाग्रता का उपयुक्त) काल है। उस (समय) के प्रभाव से विषयों से विरत और निर्मल चित्त एकाग्र हो जाता है। (वह समय काव्य-निर्माण के लिए अत्यन्त उपयोगी है) ॥२०॥ (पृष्ठ ३६-५४)

६. काव्य के भेद

इस प्रकार काव्य के साधनों का कथन करके काव्य के भेदों के निरूपण के लिए कहते हैं—

काव्य गद्य और पद्य (रूप से दो प्रकार का) होता है।१, ३, २१।

(काव्य के इन दोनों भेदों मे से) गद्य का पहले निर्देश उसकी विशेषताओं के दुर्ज्ञेय और उसकी रचना के कठिन होने के कारण किया गया है। जैसा कि (लोकोक्ति में) कहा है—

गद्य को कवियों की (प्रतिभा की) कसौटी कहते हैं ॥२१॥

वह (गद्य) भी तीन प्रकार का होता है यह दिखलाने के लिए कहते हैं—

गद्य (१) वृत्तगन्धि, (२) चूर्ण, और (३) उत्कलिकाप्राय (तीन प्रकार का) होता है।१, ३, २२।

उन (तीनों गद्य-भेदों) के लक्षण कहते हैं—

(जो गद्य पढ़ने में) पद्यभाग से युक्त (या उसके समान प्रतीत) हो (उसमें वृत्त अर्थात् छन्द की गन्ध होने से) उसको 'वृत्तगन्धि' कहते हैं।१, ३, २३।

('पद्यभागवत्' का समास कहते हैं) पद्य का भाग—पद्यभाग (यह षष्ठी तत्पुरुष समास है) उससे युक्त (या उसके समान गद्य) 'वृत्तगन्धि' (कहलाता) है। जैसे—

पाताल के तालु के तले में रहने वाले दानवों में।

इस (उदाहरण) में 'वसन्ततिलका' छन्द का भाग (एक चरण, पढ़ते ही) पहिचान लिया जाता है। (इसलिए इस गद्यांश में 'वसन्ततिलका' वृत्त की गन्ध होने से यह सारा गद्य-भाग जिसका यह एकदेश उदाहरणार्थ लिया गया है, 'वृतगन्धि' गद्य कहलाता है) ॥२३॥

असमस्त (अनाविद्ध) और ललित पदों से युक्त (गद्यभाग) 'चूर्ण' कहलाता है ।१, ३, २४।

अनाविद्ध अर्थात् दीर्घ-समास-रहित और सुन्दर कोमल पद जिस में हों वह अनाविद्ध ललितपद वाला गद्य 'चूर्ण' कहलाता है । जैसे—

कर्मों के अभ्यास से ही कौशल प्राप्त होता है । केवल एक बार गिरने से तो जल की बूँद भी पत्थर में गड्ढा नही डालती ॥२४॥

(चूर्णात्मक गद्य से) विपरीत 'उत्कलिकाप्राय' (गद्य) होता है ।१, ३, २५।

(चूर्णात्मक गद्य से) विपरीत अर्थात् दीर्घसमासयुक्त (आविद्ध) और उद्धत पदों से युक्त (गद्य) 'उत्कलिकाप्राय' (गद्य नाम से कहा जाता) है । जैसे :

बज्रकोटि के समान तीक्ष्ण नखो के कारण भयंकर थप्पड़ से विदीर्ण मत्त हाथी के कुम्भस्थल से गिरती हुए मदधारा से भीगे हुए अयालों के समूह से देदीप्यमान मुख वाले सिंह के होने पर ॥२५॥

पद्य अनेक प्रकार के होते हैं ।१, ३, २६।

सम, अर्धसम और विषम आदि भेद से पद्य अनेक प्रकार के होते हैं ॥२६॥

वह गद्यगद्यात्मक काव्य (प्रकारान्तर से) अनिबद्ध (फुटकर, मुक्तक आदि रूप में) और निबद्ध (परस्पर-सम्बद्ध खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि रूप मे) दो प्रकार के होता है ।१, ३, २७।

यह गद्य और पद्य-रूप काव्य अनिबद्ध (परस्पर-असम्बद्ध, फुटकर-मुक्तक आदि रूप) और निबद्ध (परस्पर-सम्बद्ध प्रबन्ध-काव्य—खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि रूप से) दो प्रकार का होता है । इन दोनो (मुक्तक अनिबद्ध, और निबद्ध प्रबन्ध-काव्यों) के प्रसिद्ध होने से (यहाँ उनके) लक्षण नही कहे हैं ॥२७॥

माला और मौर (शेखर) के समान उन दोनों (अनिबद्ध और निबद्ध काव्यों) की सिद्धि क्रमशः होती है ।१, ३, २८।

'तयोः' पद से अनिबद्ध और निबद्ध का ग्रहण होता है । क्रम से सिद्धि क्रम-सिद्धि (यह तृतीया तत्पुरुष समास) है । अनिबद्ध (मुक्तक) की सिद्धि हो जाने पर निबद्ध, (प्रबन्ध काव्य) की सिद्धि होती है । माला और मौर के समान । जैसे स्रक् अर्थात् माला के बन जाने पर (उससे ही) उत्तंस अर्थात् मौर (मुकुट, शेखर) बन जाता है ॥२८॥

कुछ (काव्य) मुक्तकों (की रचना) में ही समाप्त हो जाते हैं उनका दोष दिखलाने के लिए कहते हैं—

अग्नि के अकेले परमाणु के समान मुक्तक अकेला शोभित नहीं होता है ।१, ३, २९।

जैसे अग्नि का एक परमाणु नही चमकता है। इसी प्रकार अनिबद्ध (मुक्तक) काव्य प्रकाशित नही होता है। इसी विषय मे यह निम्न श्लोक है—

असंकलित (मुक्तक) काव्यों में चारुता नही आती। जैसे अग्नि के अलग-अलग परमाणु नही चमकते हैं (मिल कर ही चमकते हैं। इसी प्रकार प्रबन्ध-काव्य ही शोभित होते हैं। 'मुक्तक' उतने शोभित नही होते।) ॥२९॥

प्रबन्ध-काव्यों में दस प्रकार के रूपक उत्तम होते हैं ।१, ३, ३०।

सन्दर्भ अर्थात् प्रबन्ध-काव्यों में दस रूपक—नाटकादि उत्तम होते हैं ॥३०॥

वह (प्रबन्ध-काव्यों मे दशरूपक की उत्तमता) क्यों है यह बतलाते हैं—

वह (दस प्रकार के रूपक) चित्रपट के समान समस्त विशेषताओं से युक्त होने के कारण चित्र-रूप (आश्चर्यकारक तथा आनन्ददायक) हैं ।१, ३, ३१।

क्योंकि वह दस प्रकार का रूपक चित्रपट के समान चित्र-रूप (अभिनय के चित्र-रूप अथवा आश्चर्यकारक तथा आनन्ददायक) है, समस्त गुणो से पूर्ण होने से (और चित्रमय होने से वह चित्रपट के समान आकर्षक है) ॥३१॥

उस (दस रूपक) से (काव्य, आख्यायिका आदि साहित्य के) अन्य भेदों की कल्पना की जाती है ।१, ३, ३२।

उस 'दशरूपक' से (काव्यादि) अन्य भेदों की क्लृप्ति अर्थात् कल्पना होती है। यह सब जो कथा, आख्यायिका और महाकाव्य आदि हैं 'दशरूपक' का ही विस्तार मात्र है, उनके लक्षण अधिक मनोरंजक नही हैं, इसलिए हमने उनकी यहाँ उपेक्षा कर दी है। उनका ज्ञान अन्य ग्रन्थों से प्राप्त कर लेना चाहिए ॥३२॥

अनुवादक— आचार्य विश्वेश्वर

वामन

[काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति]*

१. अलंकार एव काव्यम्

काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् । १, १, १ ।

काव्यं खलु ग्राह्यमुपादेयं भवति, अलङ्कारात् । काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कार-संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते । भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते ॥१॥

कोऽसावलङ्कार इत्यत आह—

सौन्दर्यमलङ्कारः । १, १, २ ।

अलङ्कृतिरलङ्कारः । करणव्युत्पत्त्या पुनरलङ्कारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते ॥२॥

स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम् । १, १, ३ ।

स खल्वलङ्कारो दोषहानाद् गुणालङ्कारादानाच्च सम्पाद्यः कवेः ॥३॥

शास्त्रतस्ते । १, १, ४ ।

ते दोषगुणालङ्कारहानादाने । शास्त्रावस्मात् । शास्त्रतो हि ज्ञात्वा दोषान् जह्याद् गुणालङ्कारांश्चाददीत ॥४॥

२. काव्यस्य प्रयोजनम्

किं पुनः फलमलङ्कारवता काव्येन येनैतदर्थोऽयमित्याह—

काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् । १, १, ५ ।

काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् । काव्यं सत् चारु, दृष्टप्रयोजनं प्रीतिहेतुत्वात् । अदृष्टप्रयोजनं कीर्तिहेतुत्वात् । अत्र श्लोकाः—

प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः ।
अकीर्तिवर्तिनीं त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम् ॥१॥

---

*आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण

कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः ।
अकीर्तिं तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम् ॥२॥

तस्मात् कीर्तिमुपादातुमकीर्तिञ्च निर्बर्हितुम् ।
काव्यालङ्कारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवैः ॥३॥५॥

३. काव्याधिकारिणः

अधिकारिनिरूपणार्थमाह—

अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः । १, २, १ ।

इह खलु द्वये कवयः सम्भवन्ति । अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्चेति । अरोचकिसतृणाभ्यवहारिशब्दौ गौणार्थौ । कोऽसावर्थः । विवेकित्वमविवेकित्वञ्चेति ॥१॥

पूर्वे शिष्याः विवेकित्वात् । १, २, २ ।

पूर्वे खल्वरोचकिनः शिष्याः, शासनीयाः, विवेकित्वात् विवेचन-शीलत्वात् ॥२॥

नेतरे तद्विपर्ययात् । १, २, ३ ।

इतरे सतृणाभ्यवहारिणो न शिष्याः । तद्विपर्ययात् । अविवेचनशीलत्वात् । न च शीलमपाकर्तुं शक्यम् ॥३॥

नन्वेवं न शास्त्रं सर्वत्रानुग्राहि स्यात् । को वा मन्यते ? तदाह—

न शास्त्रमद्रव्येष्वर्थवत् । १, २, ४ ।

न खलु शास्त्रमद्रव्येष्वविवेककव्यर्थवत् ॥४॥

निदर्शनमाह—

न कतकं पङ्कप्रसादनाय । १, २, ५ ।

न हि कतकं पयस इव पङ्कप्रसादनाय भवति ॥५॥

४. काव्य-रीतिः

अधिकारिणो निरूप्य रीतिनिश्चयार्थमाह—

रीतिरात्मा काव्यस्य । १, २, ६ ।

रीतिर्नामेयमात्मा काव्यस्य शरीरस्येवेति वाक्यशेषः ॥६॥

किं पुनरियं रीतिरित्याह—

विशिष्टपदरचनारीतिः । १, २, ७ ।

विशेषवती पदानां रचना रीतिः ॥७॥

कोऽसौ विशेष इत्याह—

विशेषो गुणात्मा । १, २, ८ ।

वक्ष्यमाणगुणरूपो विशेषः ॥८॥

सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति । १, २, ९ ।

सा चेयं रीतिस्त्रेधा भिद्यते । वैदर्भी, गौडीया, पांचाली चेति ॥९॥

किं पुनर्देशवशाद् द्रव्यगुणोत्पत्तिः काव्यानां येनायं देशविशेषव्यपदेशः ? नैवम् ।

यदाह—

विदर्भाविष वृष्टत्वात् तत्समाख्या । १, २, १० ।

विदर्भगौडपाञ्चालेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वात तत्समाख्या । न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम् ॥१०॥

तासां गुणभेदाद् भेदमाह—

समग्रगुणा वैदर्भी । १, २, ११ ।

समग्रैरोजःप्रसादप्रमुखैर्गुणैरुपेता वैदर्भी नाम रीतिः ।

अत्र श्लोकौ—

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता ।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥

तामेतां कवयः स्तुवन्ति—

सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने ।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥

उदाहरणम्

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।
विस्रब्धं क्रियतां वराहतिततिर्मुस्ताक्षतिं पल्वले
विश्रान्ति लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥११॥

ओजः कान्तिमती गौडीया । १, २, १२ ।

ओजः कान्तिश्च विद्येते यस्यां सा ओजःकान्तिमती, गौडीया नाम रीतिः । माधुर्यसौकुमार्ययोरभावत् समासबहुला अत्युल्वणपदा च । अत्र श्लोकः—

समस्तात्युद्भटपदामोजःकान्तिगुणान्विताम् ।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः ॥

उदाहरणम्,

दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत—

टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।

ब्राह्मपर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-

भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥१२॥

माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली । १, २, १३ ।

माधुर्येण सौकुमार्येण च गुणेनोपपन्ना पाञ्चाली नाम रीतिः । ओजःकान्त्यभावादनुल्वणपदा विच्छाया च । तथा च श्लोकः—

अश्लिष्टश्लथभावां तां पूरणच्छायया श्रिताम् ।
मधुरां सुकुमाराञ्च पाञ्चालीं कवयो विदुः ॥

यथा

ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय नैव वसतिः पान्थाधुना दीयते,
रात्रावत्र विहारमण्डपतले पान्थः प्रसुप्तो युवा ।
तेनोत्थाय खलेन गर्जति घने स्मृत्वा प्रियां तत्कृतम्,
येनाद्यापि करङ्कदण्डपतनाशङ्की जनस्तिष्ठति ॥

एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति ॥१३॥

तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात् १, २, १४ ।

तासां तिसृणां रीतीनां पूर्वा वैदर्भी ग्राह्या गुणानां साकल्यात् ॥१४॥

न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात् । १, २, १५ ।

इतरे गौडीयपाञ्चाल्यौ न ग्राह्ये, स्तोकगुणत्वात् ॥१५॥

तदारोहणार्थमितराभ्यास इत्येके । १, २, १६ ।

तस्या वैदर्भ्या एवारोहणार्थमितरयोरपि रीत्योरभ्यास इत्येके मन्यन्ते ॥१६॥

तच्च न, अतत्त्वशीलस्य तत्त्वानिष्पतेः । १, २, १७ ।

निदर्शनमाह—

न शणसूत्रवानाभ्यासे त्रसरसूत्रवानवैचित्र्यलाभः । १, २, १८ ।

न हि शणसूत्रवानमभ्यसन् कुविन्दस्त्रसरसूत्रवानवैचित्र्यं लभते ॥१८॥

सापि समासाभावे शुद्धवैदर्भी । १, २, १९ ।

सापि वैदर्भी शुद्धवैदर्भी भण्यते, यदि समासवत् पदं न भवति ॥१९॥

तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या । १, २, २० ।

तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या भवति ॥२०॥

तदुपारोहादर्थगुणलेशोऽपि । १, २, २१ ।

तदुपधानतः खल्वर्थलेशोऽपि स्वदते । किमङ्ग पुनरर्थगुणसम्पत् ।

तथा चाहु :—

किन्त्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी,
यस्यां न किञ्चिदपि किञ्चिदिवावभाति ।
आनन्दयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता,
चेतः सताममृतवृष्टिरिव प्रविष्टा ॥

वचसि यमधिगम्य स्पन्दते वाचकश्री-
र्वितथमवितथत्वं यत्र वस्तु प्रयाति ।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ
सहृदयहृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः ॥२१॥

साऽपि वैदर्भी तात्स्थ्यात् । १, २, २२ ।

सापीयमर्थगुणसम्पद् वैदर्भीत्युक्ता । तात्स्थ्यादित्युपचारतो व्यवहारं दर्शयति ॥२२॥

५. काव्याङ्गानि

काव्याङ्गान्युपदर्शयितुमाह—

लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि ।१, ३, १।

उद्देशक्रमेणैतद् व्याचष्टे—

लोकवृत्त लोकः ।१, ३, २।

लोकः स्थावरजङ्गमात्मा । तस्य वर्तनं वृत्तमिति ॥२॥

शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्याः ।१,३,३।

शब्दस्मृत्यादीनां तत्पूर्वकत्वं पूर्वं काव्यबन्धेष्वपेक्षणीयत्वात् ॥३॥

तासां काव्याङ्गत्वं योजयितुमाह—

शब्दस्मृतेः शब्दशुद्धिः ।१, ३, ४।

शब्दस्मृतेर्व्याकरणात्, शब्दानां शुद्धिः साधुत्वनिश्चयः कर्तव्यः । शुद्धानि हि पदानि निष्कम्पैः कविभिः प्रयुज्यन्ते ॥४॥

अभिधानकोशतः पदार्थनिश्चयः ।१, ३, ५।

पदं हि रचनाप्रवेशयोग्यं भावयन् सन्दिग्धार्थत्वेन गृह्णीयान्न वा गृह्णीयात्, जह्यान्न वा जह्यादिति काव्यबन्धविघनः । तस्मादभिधानकोशतः पदार्थनिश्चयः कर्तव्य इति ।

अपूर्वाभिधानलाभार्थत्वं त्वयुक्तमभिधानकोशस्य । अप्रयुक्तस्याप्रयोज्यत्वात् ।

यदि तर्हि प्रयुक्तं प्रयुज्यते किमिति सन्दिग्धार्थत्वमाशङ्क्यते पदस्य ?

तन्न । तत्र सामान्येनार्थावगतिः सम्भवति । यथा नीवीशब्देन जघनवस्त्रग्रन्थिरुच्यते इति कस्यचिन्निश्चयः । स्त्रियो वा पुरुषस्य वेति संशयः । 'नीवी संग्रथनं नार्या जघनस्थस्य वाससः' इति नाममालाप्रतीकमपश्यतः इति ।

अत्र कथम्—

विचित्रभोजनाभोगवर्धमानोदरास्थिना ।
केनचित् पूर्वमुक्तोऽपि नीवीबन्धः शलथीकृतः ॥

इति प्रयोगः । भ्रान्तेरुपचाराद्वा ॥५॥

छन्दोविचितेर्वृत्तसंशयच्छेदः ।१, ३, ६।

काव्याभ्यासाद् वृत्तसंक्रान्तिर्भवत्येव, किन्तु मात्रावृत्तादिषु क्वचित् संशयः स्यात् । अतो वृत्तसंशयच्छेदश्छन्दोविचितेर्विषय इति ॥६॥

कलाशास्त्रेभ्यः कलातत्त्वस्य संवित् ।१, ३, ७।

कला गीतनृत्यचित्रादिकास्तासामभिधायकानि शास्त्राणि विशाखिलाविप्रणीतानि कलाशास्त्राणि । तेभ्यः कलातत्त्वस्य संवित् संवेदनम् । न हि कलातत्त्वानुपलब्धौ कलावस्तु सम्यङ् निबद्धुं शक्यमिति ॥७॥

कामशास्त्रतः कामोपचारस्य ।१, ३, ८।

संविदित्यनुवर्तते । कामोपचारस्य संवित् कामशास्त्रत इति । कामोपचारबहुलं हि वस्तु काव्यस्येति ॥८॥

दण्डनीतेर्नयापनययोः । १, ३, ९ ।

दण्डनीतेरर्थशास्त्रान्नयस्यापनयस्य च संविदिति । अत्र षाड्गुण्यस्य यथावत् प्रयोगो नयः । तद्विपरीतोऽपनयः । न तावविज्ञाय नायकप्रतिनायकयोर्वृत्तं शक्यं काव्ये निबद्धुमिति ॥९॥

इतिवृत्तकुटिलत्वञ्च ततः । १, ३, १० ।

इतिहासादिरितिवृत्तम् काव्यशरीरम् । तस्य कुटिलत्वम् । ततो दण्डनीतेः । आवलीयसप्रभृतिप्रयोगव्युत्पत्तौ, व्युत्पत्तिमूलत्वात् तस्याः । एवमन्यासामपि विद्यानां यथास्वमुपयोगो वर्णनीय इति ॥१०॥

लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं
प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम् । १, ३, ११ ।

तत्र काव्यपरिचयो लक्ष्यज्ञत्वम् । १, ३, १२ ।

अन्येषां काव्येषु परिचयो लक्ष्यज्ञत्वम्। ततो हि काव्यबन्धस्य व्युत्पत्तिर्भवति ॥१२॥

काव्यबन्धोद्यमोऽभियोगः। १, ३, १३।

बन्धनं बन्धः। काव्यस्य बन्धो रचना काव्यबन्धः। तत्रोद्यमोऽभियोगः। स हि कवित्वप्रकर्षमावधाति ॥१३॥

काव्योपदेशगुरुशुश्रूषणं वृद्धसेवा ॥१, ३, १४॥

काव्योपदेशे गुरव उपदेष्टारः। तेषां शुश्रूषणं वृद्धसेवा। ततः काव्यविद्यायाः संक्रान्तिर्भवति ॥१४॥

पदाधानोद्धरणमवेक्षणम् ॥१, ३, १५॥

पदस्याधानं न्यासः, उद्धरणमपसारणम्। तयोः खल्ववेक्षणम्। अत्र श्लोकौ—

आधानोद्धरणे तावद् यावद्दोलायते मनः।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ॥
यत् पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥१५॥

कवित्वबीजं प्रतिभानम्। १, ३, १६।

कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजम्। जन्मान्तरागतसंस्कारविशेषः कश्चित्। यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात् ॥१६॥

चित्तैकाग्र्यमवधानम्। १, ३, १७।

चित्तैकाग्र्यं बाह्यार्थनिवृत्तिस्तदवधानम्। अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यति ॥१७॥

तद्देशकालाभ्याम्। १, ३, १८।

तदवधानं देशात् कालाच्च समुत्पद्यते ॥१८॥

विविक्तो देशः। १, ३, १९।

विविक्तो निर्जनः ॥१९॥

रात्रियामस्तुरीयः कालः। १, ३, २०।

रात्रेर्यामो रात्रियामः प्रहरस्तुरीयश्चतुर्थः काल इति। तद्वशाद् विषयोपरतं चित्तं प्रसन्नमवधत्ते ॥२०॥

६. काव्यभेदाः

एवं काव्याङ्गान्युपदिश्य काव्यविशेषकथनार्थमाह—

काव्यं गद्यं पद्यञ्च । १, ३, २१ ।

गद्यस्य पूर्वनिर्देशो दुर्लक्ष्यविशेषत्वेन दुर्बन्धत्वात् । तथाहु :—

'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' ॥२१॥

तच्च त्रिधा भिन्नमिति दर्शयितुमाह—

गद्यं वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिकाप्रायञ्च । १, ३, २२ ।

तल्लक्षणान्याह—

पद्यभागवद् वृत्तगन्धि । १, ३, २३ ।

पद्यस्य भागाः पद्यभागाः । तद्वद् वृत्तगन्धि । यथा—

'पातालतालुतलवासिषु दानवेषु' इति ।

अत्र हि 'वसन्ततिलका' वृत्तस्य भागः प्रत्यभिज्ञायते ॥२३॥

अनाविद्धललितपदं चूर्णम् । १, ३, २४ ।

अनाविद्धान्यदीर्घसमासानि ललितान्यनुद्धतानि पदानि यस्मिंस्तदनाविद्धललित-पदं चूर्णमिति । यथा—

अभ्यासो हि कर्मणां कौशलमावहति । न हि सकृन्निपातमात्रेणोदबिन्दुरपि ग्रावणि निम्नतामादधाति ॥२४॥

विपरीतमुत्कलिकाप्रायम् । १, ३, २५ ।

विपरीतमाविद्धोद्धतपदमुत्कलिकाप्रायम् । यथा—

कुलिशशिखरखरनखरप्रचयप्रचण्डचपेटापाटितमत्तमातङ्गकुम्भस्थलगलन्मदच्छटा-च्छुरितचारुकेसरभारभासुरमुखे केसरिणि ॥२५॥

पद्यमनेकभेदम् । १, ३, २६ ।

पद्यं खल्वनेकेन समार्धसमविषमादिना भेदेन भिन्नं भवति ॥२६॥

तदनिबद्धं निबद्धञ्च । १, ३, २७ ।

तदिदं गद्यपद्यरूपं काव्यमनिबद्धं निबद्धञ्च । अनयोः प्रसिद्धत्वाल्लक्षणं नोक्तम् ॥२७॥

क्रमसिद्धिस्तयोः स्रगुत्तंसवत् । १, ३, २८ ।

तयोरित्यनिबद्धं निबद्धञ्च परामृश्येते । क्रमेण सिद्धिः क्रमसिद्धिः । अनिबद्धसिद्धौ निबद्धसिद्धिः । यथा स्रजि मालायां सिद्धायां, उत्तंसः शेखरः सिद्धयतीति ॥२८॥

केचिदनिबद्धा एव पर्यवसितास्तद्दूषणार्थमाह—

नानिबद्धं चकास्त्येकतेजः परमाणुवत् । १, ३, २९ ।

न खल्वनिबद्धं काव्यं चकास्ति, दीप्यते । यथैकतेजः परमाणुरिति ।

अत्र श्लोक :—

असङ्कलितरूपाणां काव्यानां नास्ति चारुता ।
न प्रत्येकं प्रकाशन्ते तैजसाः परमाणवः ॥२९॥

सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः । १, ३, ३० ।

सन्दर्भेषु प्रबन्धेषु दशरूपकं नाटकादि श्रेयः ॥३०॥

कस्मात् तदाह—

तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात् । १, ३, ३१।

तद् दशरूपकं हि यस्माच्चित्रं चित्रपटवत् । विशेषाणां साकल्यात् ॥३१॥

ततोऽन्यभेदकल्पितिः । १, ३, ३२ ।

ततो दशरूपकादन्येषां भेदानां कल्पितिः कल्पनमिति । दशरूपकस्यैव हीदं सर्वं विलसितम् । यच्च कथाख्यायिकं महाकाव्यमिति । तल्लक्षणाञ्च नातीव हृदयङ्गममित्युपेक्षितमस्माभिः । तदन्यतो ग्राह्यम् ॥३२॥

रुद्रट

[समय—नवम शताब्दी का आरम्भ]

ग्रन्थ—काव्यालंकार

१. काव्य-प्रयोजन

(सालंकारता के कारण) देदीप्यमान और (दोषाभाव के कारण) निर्मल रचना का निर्माता महाकवि सरस काव्य की रचना करता हुआ, अपने तथा नायक के प्रत्यक्ष, युगान्त तक रहने वाले, जगद्-व्यापी यश का विस्तार करता है ॥१।४॥

यदि उन नायकों के चरित्र को प्रबन्ध के रूप मे लिखने वाले सुकवि न होते तो उनके द्वारा बनाए हुए इन्द्रमहल आदि के समान समय पाकर नष्ट हो जाने पर कोई उनका नाम भी न जान पाता ॥१।५॥

इस प्रकार चिरस्थायी, महान्, निर्मल, अत्यधिक, सब मनुष्यों के प्रिय जिस राजादि के यश का कवि विस्तार करता है, उससे वह नायक अवश्य ही उपकृत होता है ॥१।६॥

परमार्थ-तत्त्व को जानने वाले वादियों का इस विषय में कोई विवाद नही कि परोपकार करना महान् धर्म के लिए होता है ॥१।७॥

रुचिर देव-स्तुति की रचना करने वाला कवि धन, विपत्तियो का विनाश, असाधारण आनन्द अथवा जिस किसी भी वस्तु की कामना करता है, वह सब कुछ प्राप्त करता है ॥१।८॥

उदाहरण-स्वरूप कुछ (अनिरुद्धादिक) व्यक्ति दुर्गा की स्तुति कर शत्रु की आधीनता रूप अपार विपत्ति से पार हो गए। कुछ (वीरदेवादि) व्यक्ति देवता की स्तुति से नीरोग हो गए; और कइयों ने अभीप्सित वर को पाया ॥१।९॥

यद्यपि राजाओ में परिवर्तन हो गया है; तथापि कविगण स्तुति कर जिनसे अभिप्सित वर पाते थे, वे देवगण आज भी वही हैं ॥१।१०॥

अथवा कहाँ तक वर्णन करे; क्योंकि असंख्य मणि वाले समुद्र की भाँति महान् यश के कारण इस काव्य-सागर के अनन्त गुणो की गणना करने मे कौन समर्थ है ॥१।११॥

इसलिए पुरुषार्थ की पूर्ण विशद सिद्धि चाहने वाले निपुण, सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञाता कवियो को ही निर्दोष काव्य की रचना मे प्रवृत्त होना चाहिए ॥१।१२॥

क्योकि ज्ञानी पुरुषो के ज्ञान का यही फल है कि विस्तृत व्याकरण, तर्क-शास्त्र आदि के द्वारा वाणी का संस्कार हो और उस वाणी का फल है सुन्दर काव्य ॥१।१३॥

क्योंकि रसिक जन नीरस शास्त्रो से भय खाते हैं, अतएव उनको शीघ्र सहज उपाय के द्वारा काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है ॥१२।१॥

२. काव्य-हेतु

दोषों के हान एवं अलंकारो के उपादान द्वारा, सुन्दर काव्य के निर्माण के लिए शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनो की आवश्यकता होती है ॥१।१४॥

जिसके होने पर स्वस्थ चित्त मे निरन्तर अनेक प्रकार के वाक्यों की स्फूर्त्ति होती है, तथा जिसकी विद्यमानता में शीघ्र ही अर्थ-प्रतिपादन मे समर्थ पद प्रस्फुटित होते हैं, उसको शक्ति कहते हैं ॥१।१५॥

इसी शक्ति को (दण्डिप्रमुख) आलंकारिको ने प्रतिभा कहा है। वह सहजा और उत्पाद्या भेद से दो प्रकार की है। पुरुष के साथ उत्पन्न होने से इन दोनो में सहजा श्रेष्ठ है ॥१।१६॥

यह सहजा शक्ति अपने आप उत्कर्षाधायक है, जो उत्पाद्या की हेतु है। उत्पाद्या तो बाद मे होने वाली व्युत्पत्ति से बड़े कष्ट से सिद्ध होती है ॥१।१७॥

छन्द, व्याकरण, कला, लोकस्थिति पद तथा पदार्थों के विशेष ज्ञान से उचित एवं अनुचित का सम्यक् परिज्ञान—संक्षेप में तो यही व्युत्पत्ति है; और विस्तार से, सर्वज्ञता ही को विस्तर-व्युत्पत्ति कहते हैं, क्योकि इस जगत मे कोई भी ऐसा वाच्य तथा वाचक नही जो काव्यांग न हो ॥१।१८, १९॥

सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञाता और शक्तिमान् भी कवि को सुजन (सहृदय) एवं सुकवि के पार्श्व में, रात-दिन, सर्वदा काव्य का अभ्यास करना चाहिए ॥१।२०॥

३. अलंकार-वर्गीकरण

अर्थालंकार चार हैं—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। अन्य सम्पूर्ण रूपकादि अलंकार इन्ही के विशेष रूप होते हैं ॥७।९॥

(क) वास्तव—

जो वस्तु के स्वरूप का वर्णन करे, उसे 'वास्तव' कहते हैं। वह अर्थ की पुष्टि करने वाला, विपरीत प्रतीति से निवृत्ति कराने वाला तथा उपमा, अतिशय एवं श्लेष से भिन्न होता है ॥७।१०॥

वास्तव के भेद—

उस वास्तव के सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित और एकावली—ये तेईस भेद होते हैं ॥७।११-१२॥

(ख) औपम्य—

जिसमें वक्ता, किसी वस्तु के स्वरूप का सम्यक् प्रतिपादन करने के लिए उसके समान दूसरी वस्तु का वर्णन करे, उसमे औपम्य अलंकार होता है ॥८।१॥

औपम्य के भेद—

उसके उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, सशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण—ये इक्कीस भेद होते हैं ॥८।२-३॥

(ग) अतिशय—

जहाँ कोई अर्थ और धर्म का नियम कही प्रसिद्धि के बाध से लोक का उल्लंघन करके अन्यथा स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, वहाँ अतिशय अलंकार होता है ॥९।१॥

अतिशय के भेद—

उसके पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात, अहेतु—ये बारह भेद होते हैं ॥९।२॥

(घ) श्लेष—

जहाँ अनेकार्थक पदो से एक ही वाक्य अनेक अर्थों का बोध कराता है, वहाँ श्लेष अलकार होता है ॥१०।१॥

श्लेष के भेद—

अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्त्व, विरोधाभास—ये दश शुद्ध-श्लेष के भेद हैं ॥१०।२॥

अनुवादक : श्री आर्येन्द्र शर्मा, एम० ए०

रुद्रट

[काव्यालङ्कारः]*

१. काव्यप्रयोजनम्

ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम् ।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि ॥१।४॥

तत्कारितसुरसदनप्रभृतिनि नष्टे तथाहि कालेन ।
न भवेन्नामापि ततो यदि न स्युः सुकवयो राज्ञाम् ॥१।५॥

इत्थं स्थास्नु गरीयो विमलमलं सकललोककमनीयम् ।
यो यस्य यशस्तनुते तेन कथं तस्य नोपकृतम् ॥१।६॥

अन्योपकारकरणं धर्माय महीयसे च भवतीति ।
अधिगतपरमार्थानामविवादो वादिनामत्र ॥१।७॥

अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदस्यास्य ।
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः ॥१।८॥

नुत्वा तथाहि दुर्गां केचित्तीर्णा दुरुत्तरां विपदम् ।
अपरे रोगविमुक्तिं वरमन्ये लेभिरेऽभिमतम् ॥१।९॥

आसाद्यते स्म सद्यः स्तुतिभिर्येभ्योऽभिवाञ्छितं कविभिः ।
अद्यापि त एव सुरा यदि नाम नराधिपा अन्ये ॥१।१०॥

कियदथवा वच्मि यतो गुरुगुणमणिसागरस्य काव्यस्य ।
कः खलु निखिलं कलयत्यलमलघुयशोनिदानस्य ॥१।११॥

तदिति पुरुषार्थसिद्धिं साधुविधार्यादूरविरलां कुशलैः ।
अधिगतसकलज्ञेयैः कर्तव्यं काव्यममलमलम् ॥१।१२॥

फलमिदमेव हि विदुषां शुचिपदवाक्यप्रमाणशास्त्रेभ्यः ।
यत्संस्कारो वाचां वाचश्च सुचारुकाव्यफलाः ॥१।१३॥

---

* निर्णयसागर प्रेस, बम्बई द्वारा सन् १९२८ में प्रकाशित तृतीय संस्करण

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ॥१२।१॥

२. काव्य-हेतवः

तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुणः करणे ।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः ॥१।१४॥

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य ।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥१।१५॥

प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति ।
पुंसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा ॥१।१६॥

स्वस्यासौ संस्कारे परमपरं मृगयते यतो हेतुम् ।
उत्पाद्या तु कथंचिद् व्युत्पत्त्या जन्यते परया ॥१।१७॥

छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात् ।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ॥१।१८॥

विस्तरतस्तु किमन्यत्तत इह वाच्यं न वाचकं लोके ।
न भवति यत्काव्याङ्गं सर्वज्ञत्वं ततोऽन्यैषा ॥१।१९॥

अधिगतसकलज्ञेयः सुकविः सुजनस्य संनिधौ नियतम् ।
नक्तंदिनमभ्यस्येदभियुक्तः शक्तिमान्काव्यम् ॥१।२०॥

३. अलकार-वर्गीकरणम्

अर्थस्यालङ्कारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः ।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः ॥७।९॥

(क) वास्तवम्

वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत् ।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशयमश्लेषम् ॥७।१०॥

तस्य सहोक्तिसमुच्चयजातियथासंख्यभावपर्यायाः ।
विषमानुमानदीपकपरिकरपरिवृत्तिपरिसंख्याः ॥७।११॥

हेतुः कारणमाला व्यतिरेकोऽन्योन्यमुत्तरं सारम् ।
सूक्ष्मं लेशोऽवसरो मीलितमेकावली भेदाः ॥७।१२॥

(ख) औपम्यम्

सम्यक्प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति ।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद्यत्तदौपम्यम् ॥८।१॥

उपमोत्प्रेक्षारूपकमपह्नुतिः संशयः समासोक्तिः ।
मतमुत्तरमन्योक्तिः प्रतीपमर्थान्तरन्यासः ॥८।२॥

उभयन्यासभ्रान्तिमदाक्षेपप्रत्यनीकदृष्टान्ताः ।
पूर्वसहोक्तिसमुच्चयसाम्यस्मरणानि तद्भेदाः ॥८।३॥

(ग) अतिशयः

यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति ।
कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य ॥९।१॥

पूर्वविशेषोत्प्रेक्षाविभावनातद्गुणाधिकविरोधाः ।
विषमासंगतिपिहितव्याघाताहेतवो भेदाः ॥९।२॥

(घ) श्लेषः

यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन् ।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः ॥१०।१॥

अविशेषविरोधाधिकवक्रव्याजोक्त्यसंभवावयवाः ।
तत्त्वविरोधाभासाविति भेदास्तस्य शुद्धस्य ॥१०।२॥

आनन्दवर्द्धन

समय—नवम शताब्दी का आरम्भ

[ग्रन्थ—ध्वन्यालोक]*

१. ध्वनि की स्थिति और स्वरूप

वाच्य के आत्मभूत जिस तत्त्व को विद्वान् लोग ध्वनि नाम से कहते आए हैं, कुछ लोग उसका अभाव मानते है। दूसरे लोग उसे भाक्त (गौण, लक्षणागम्य) कहते हैं और कुछ लोग उसके रहस्य को वाणी का अविषय (अवर्णनीय, अनिर्वचनीय) बतलाते हैं। अतएव (ध्वनि के विषय मे इन नाना विप्रतिपत्तियों के होने के कारण उनका निराकरण कर ध्वनि-स्थापना द्वारा) सहृदयो (काव्य-मर्मज्ञजनों) के मन की प्रसन्नता (हृदयाह्लाद) के लिए हम उस (ध्वनि) के स्वरूप का निरूपण करते हैं।१।१।

बुध अर्थात् काव्य-मर्मज्ञों ने काव्य के आत्मभूत जिस तत्त्व को ध्वनि नाम दिया और (इसके पूर्व किसी विशेष पुस्तक आदि मे निवेश किए बिना भी) परम्परा से जिसको बार-बार प्रकाशित किया है। भली प्रकार विशद रूप से अनेक बार प्रकट किया है, सहृदय (काव्य-मर्मज्ञ) जनो के मन मे प्रकाशमान (सकल-सहृदय-संवेद्य) उस (चमत्कार-जनक काव्यात्मभूत ध्वनि) तत्त्व का भी (भामह, भट्टोद्भट आदि) कुछ लोग अभाव कहते हैं।

उन अभाववादियों के ये (निम्नलिखित तीन) विकल्प हो सकते हैं :

१—कोई (अभाववादी) कह सकते हैं कि काव्य शब्दार्थ शरीर वाला है। (अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं।) यह तो निर्विवाद है। ('तावत्' शब्द ध्वनिवादी सहित इस विषय मे सबकी सहमति सूचित करता है। काव्य के शरीरभूत उन शब्द-अर्थ के चारुत्व-हेतु दो प्रकार के हो सकते हैं। एक स्वरूपगत और दूसरे संघटनागत।) उनमे शब्दगत (शब्द के स्वरूपगत) चारुत्व-हेतु अनुप्रासादि (शब्दालंकार) और अर्थगत (अर्थ के स्वरूपगत) चारुत्व-हेतु उपमादि (अर्थालंकार) प्रसिद्ध ही हैं। और (इन शब्द-अर्थ के सघटनागत चारुत्व-हेतु) वर्ण-सघटना धर्म जो

---

* गौतम बुक डिपो, दिल्ली द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण।

माधुर्यादि (गुण) हैं वे भी प्रतीत होते हैं। उन (अलंकार तथा गुणों) से अभिन्न जो उपनागरिकादि वृत्तियाँ किन्ही (भट्टोद्भट) ने प्रकाशित की हैं वह भी श्रवणगोचर हुई हैं, और माधुर्यादि गुणों से अभिन्न) वैदर्भी प्रभृति रीतियाँ भी। (परन्तु) उन से भिन्न यह ध्वनि कौन-सा (नया) पदार्थ है ?

२—दूसरे (अभाववादी) कह सकते हैं कि, ध्वनि (कुछ) है ही नही। प्रसिद्ध (प्रस्थान, प्रतिष्ठन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत् प्रस्थानम्। शब्द और अर्थ जिनमे परम्परा से काव्य व्यवहार होता है उस प्रसिद्ध) मार्ग को अतिक्रमण करने वाले (किसी नवीन) काव्य-प्रकार (को मानने से उस) में काव्यत्व-हानि होगी (उसमे काव्य का लक्षण ही नही बनेगा। क्योकि) सहृदय हृदयाह्लादक शब्दार्थ-युक्त तत्त्व ही काव्य का लक्षण है। और उक्त (शब्दार्थ शरीर काव्यं वाले) मार्ग का अतिक्रमण करने वाले मार्ग मे वह (काव्य-लक्षण) सम्भव नही है। और न उस (ध्वनि) सम्प्रदाय के माननेवालों के) अन्तर्गत (ही) किन्ही (व्यक्तियो को स्वेच्छा से) सहृदय मान कर, उनके कथनानुसार ही (किसी परिकल्पित नवीन) ध्वनि में काव्य नाम का व्यवहार प्रचलित करने पर भी वह सब विद्वानो को स्वीकार्य (मनोग्राही) नही हो सकता।

३—तीसरे (अभाववादी) उस (ध्वनि) का अभाव अन्य प्रकार से कह सकते हैं। ध्वनि नाम का कोई नया पदार्थ सम्भव ही नही है। (क्योकि यदि वह) कमनीयता का अतिक्रमण नही करता है तो उसका उक्त (गुण, अलंकारादि) चारुत्व-हेतुओं मे ही अन्तर्भाव हो जायेगा। अथवा यदि उन्ही (गुण, अलंकारादि) में से किसी का (ध्वनि) यह नया नाम रख दिया जाय तो वह बड़ी तुच्छ-सी बात होगी।

और (वक्तीत वाक् शब्दः, उच्यते इति वागर्थ., उच्यतेऽनया इति वागभिधा-व्यापार. । अर्थात् शब्द, अर्थ शब्दशक्ति-रूप वाणी द्वारा) कथन शैलियों के अनन्त प्रकार होने से, प्रसिद्ध काव्य-लक्षणकारों द्वारा अप्रदर्शित कोई छोटा-मोटा प्रकार सम्भव भी हो तो भी ध्वनि-ध्वनि कह कर और मिथ्या सहृदयत्व की भावना से आँखें बन्द करके जो यह अकांड तांडव (नर्तन) किया जाता है इसका (तो कोई उचित) कारण प्रतीत नही होता। अन्य विद्वान् महात्माओं ने (काव्य के शोभा-सम्पादक) सहस्रों प्रकार के अलंकार प्रकाशित किये हैं और प्रकाशित कर रहे हैं। उनकी तो यह (मिथ्या सहृदयत्वाभिमान-मूलक अकाड तांडव की) अवस्था सुनने मे नही आती। (इसलिए ध्वनिवादी का यह अकांड तांडव सर्वथा व्यर्थ है।) इसलिए ध्वनि एक प्रवादमात्र है। उसका विचार-योग्य तत्त्व कुछ भी नही बताया जा सकता है। इसी आशय का अन्य (ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धनाचार्य के समकालीन मनोरथ कवि) का श्लोक भी है।

जिसमें अलंकारयुक्त अतएव मन को आह्लादित करने वाला कोई वर्णनीय अर्थ-तत्व (वस्तु) नही है (इससे अर्थालंकारो का अभाव सूचित होता है), जो चातुर्य से युक्त सुन्दर शब्दों से विरचित नही हुआ है (इससे शब्दालंकारशून्यता सूचित होती है), और जो सुन्दर उक्तियों से शून्य है (इससे गुणराहित्य सूचित होता है। इस प्रकार जो शब्द के चारुत्व-हेतु अनुप्रासादि शब्दालंकारो, अर्थ के चारुत्व-हेतु उपमादि अर्थालंकारों और शब्दार्थ-संघटना के चारुत्व-हेतु माधुर्यादि गुणों से सर्वथा शून्य है) उस की यह ध्वनि-युक्त (उत्तम) काव्य है यह कह कर (गतानुगतिक, गड्डलिका प्रवाह से) प्रीतिपूर्वक प्रशंसा करने वाला मूर्ख किसी बुद्धिमान् के पूछने पर मालूम नही ध्वनि का क्या स्वरूप बतावेगा।

४—दूसरे लोग उसको लक्ष्य या गौण कहते हैं। अन्य लोग उस ध्वनि नामक काव्य को गुणवृत्ति गौण कहते हैं।

यद्यपि काव्य-लक्षणकारों ने ध्वनि शब्द का उल्लेख करके (ध्वनि नाम लेकर) गुणवृत्ति या अन्य (गुण अलंकारादि) कोई प्रकार प्रदर्शित नहीं किया है, फिर भी (भामह के 'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्था' के व्याख्या प्रसंग मे 'शब्दानामभिधानमभिधा-व्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च' लिखकर) काव्यों मे गुणवृत्ति से व्यवहार दिखाने वाले (भट्टोद्भट या उनके उपजीव्य भामह) ने ध्वनिमार्ग का थोड़ा-सा स्पर्श करके भी (उसका स्पष्ट) लक्षण नही किया (इसलिए अर्थतः उनके मत मे गुण-वृति ही ध्वनि है) ऐसी कल्पना करके 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' यह कहा गया है।

५—लक्षण-निर्माण में अप्रगल्भबुद्धि किन्हीं (तीसरे वादी) ने ध्वनि के तत्त्व को ('न शक्यते वर्णयितु गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते' के समान) केवल सहृदयहृदय-संवेद्य और वाणी के परे (अलक्षणीय, अनिर्वचनीय) कहा है। इस प्रकार के मतभेदों के होने से सहृदयों के हृदयाह्लाद के लिए हम उसका स्वरूप प्रतिपादन करते हैं।

उस ध्वनि का स्वरूप समस्त सत्कवियों के काव्यों का परम रहस्यभूत, अत्यन्त सुन्दर, प्राचीन काव्यलक्षणकारों की सूक्ष्मतर बुद्धियों से भी प्रस्फुटित नही हुआ है। इसलिए, और रामायण महाभारत आदि लक्ष्य ग्रन्थों मे सर्वत्र उसके प्रसिद्ध व्यवहार को परिलक्षित करने वाले सहृदयों के मन में आनन्द (प्रतिष्ठा) को प्राप्त करे इसलिए उसको प्रकाशित किया जाता है ॥१॥

विषय और प्रयोजन के स्थित हो जाने पर, जिस ध्वनि का लक्षण करने जा रहे हैं उसकी आधार-भूमि (भूमिरिव भूमिका) निर्माण के लिए यह कहते हैं।

सहृदयो द्वारा प्रशंसित जो अर्थ काव्य की आत्मा के रूप मे प्रतिष्ठित है उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद कहे गए हैं ॥१।२॥

शरीर में आत्मा के समान, सुन्दर (गुणालंकार युक्त), उचित (रसादि के अनुरूप) रचना के कारण रमणीय काव्य के साररूप मे स्थित, सहृदय-प्रशंसित जो अर्थ है उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद हैं ॥२॥

उनमे से, वाच्य अर्थ वह है जो उपमादि (गुणालंकार) प्रकारों से प्रसिद्ध है और अन्यो ने (पूर्व काव्य-लक्षणकारो ने) अनेक प्रकार से उसका प्रदर्शन किया है। इसलिए हम यहाँ उसका विस्तार से प्रतिपादन नही कर रहे। केवल आवश्यकतानुसार उसका अनुवाद मात्र करेंगे ॥१।३॥

प्रतीयमान कुछ और ही चीज़ जो रमणियो के प्रसिद्ध (मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि) अवयवो से भिन्न (उनके) लावण्य के समान, महाकवियों की सूक्तियों में (वाच्य अर्थ से अलग ही) भासित होता है ॥१।४॥

महाकवियो की वाणियों मे वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है जो प्रसिद्ध अलंकारों अथवा प्रतीत होने वाले अवयवो से भिन्न, सहृदय-सुप्रसिद्ध, अगनाओ के लावण्य के समान (अलग ही) प्रकाशित होता है। जिस प्रकार सुन्दरियो का सौन्दर्य पृथक् दिखाई देने वाला समस्त अवयवो से भिन्न सहृदय नेत्रो के लिए अमृत तुल्य कुछ और ही तत्व है, इसी प्रकार वह (प्रतीयमान) अर्थ है।

वह (प्रतीयमान) अर्थ वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त वस्तुमात्र, अलंकार, और रसादि भेद से अनेक प्रकार का दिखाया जायेगा। उन सब ही भेदो मे वह वाच्य से अलग ही है जैसा पहला (वस्तु ध्वनि) भेद वाच्य से अत्यन्त भिन्न है (क्योंकि) वाच्य विधि-रूप होने पर (भी) वह (प्रतीयमान) निषेध-रूप होता है। जैसे :—

पंडित जी महाराज ! गोदावरी के किनारे कुज में रहने वाले मदमत्त सिंह ने आज (आपको तंग करने वाले, आप पर दौडने वाले) उस कुत्ते को मार डाला है, अब आप निश्चिन्त होकर भ्रमण कीजिए ॥४॥ (पृष्ठ ५-२०)

× × ×

काव्य का आत्मा वही (प्रतीयमान रस) अर्थ है। इसी से प्राचीन-काल में क्रौंच (पक्षी) के जोड़े के वियोग से उत्पन्न आदि कवि वाल्मीकि का शोक (करुण रस का स्थायी भाव) श्लोक (काव्य)-रूप मे परिणत हुआ ॥१।५॥

नाना प्रकार के शब्द, अर्थ और संघटना के प्रपंच से मनोहर काव्य का सार-भूत (आत्मा) वही (प्रतीयमान रस-रूप) अर्थ है। तभी (निषाद के बाण से विद्ध किए गए, मरणासन्न अतः) सहचरी के वियोग से कातर, (जो) क्रौंच (तत्कर्तृक, अथवा क्रौंचोद्देश्यक क्रौंचीकर्तृक) के क्रंदन से उत्पन्न आदि कवि वाल्मीकि का (वाल्मीकि-निष्ठ करुण रस का स्थायी भाव) शोक श्लोक (मा निषाद इत्यादि काव्य) रूप मे परिणत हुआ।

हे व्याध ! तूने काममोहित, क्रौंच के जोडे मे से एक (क्रौंच) को मार डाला अतएव तू अनन्त काल तक (कभी) प्रतिष्ठा (सुकीर्ति) को प्राप्त न हो।

शोक करुण रस का स्थायी भाव है। (यद्यपि) प्रतीयमान के और (वस्तु, अलकार, ध्वनि) भी भेद दिखाए गए हैं परन्तु (रसादि के) प्राधान्य से रस-भाव द्वारा ही उनका उपलक्षण (ज्ञापन) होता है ॥५॥

उस आस्वादमय (रस-भाव-रूप) अर्थ-तत्त्व को प्रवाहित करने वाली महा-कवियो की वाणी (उनकी) अलौकिक, प्रतिभासमान प्रतिभा, (अपूर्ववस्तु-निर्माणक्षमा प्रज्ञा) के वैशिष्ट्य को प्रकट करती हैं ॥१।६॥

उस (प्रतीयमान रस भावादि) अर्थ-तत्त्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की वाणी (उनकी) अलौकिक, प्रतिभासमान, प्रतिभा-विशेष को व्यक्त करती है। जिसके कारण नानाविध कवि-परम्पराशाली इस संसार मे कालिदास आदि दो-तीन अथवा पाँच-छह ही महाकवि गिने जाते हैं ॥६॥

प्रतीयमान अर्थ की सत्ता सिद्ध करने वाला यह और भी प्रमाण है। वह (प्रतीयमान अर्थ) शब्द-शास्त्र (व्याकरणादि) और अर्थ-शास्त्र (कोशादि) के ज्ञान मात्र से ही प्रतीत नही होता, वह तो केवल काव्य-मर्मज्ञों को ही विदित होता है ॥१।७॥

क्योकि केवल काव्यर्थ-तत्वज्ञ ही उस अर्थ को जान सकते हैं। यदि वह अर्थ केवल वाच्य-रूप ही होता तो शब्द और अर्थ के ज्ञानमात्र से ही उसकी प्रतीति होती। (परन्तु केवल पुस्तक से) गन्धर्व-विद्या को सीख लेने वाले उत्कृष्ट गान के अनभ्यासी (नौसिखिया) गायको के लिए स्वर श्रुति आदि के रहस्य के समान, काव्यार्थ-भावना से रहित केवल वाच्य-वाचक (कोशादि अर्थ-निरूपक शास्त्र और व्याकरणादि शब्द-शास्त्र) मे कृतश्रम पुरुषो के लिए वह (प्रतीयमान) अर्थ अज्ञात ही रहता है। ७।

इस प्रकार वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्य की सत्ता को सिद्ध करके प्राधान्य (भी) उसी का है यह दिखाते हैं।

वह (प्रतीयमान) अर्थ और उसकी अभिव्यक्ति मे समर्थ विशेष शब्द इन दोनो को भली प्रकार पहिचानने का प्रयत्न महाकवि को (जो महाकवि बनना चाहे उसको) करना चाहिए ॥१।८॥

वह व्यंग्य अर्थ और उसको अभिव्यक्त करने की शक्ति से युक्त कोई विशेष शब्द (ही) है। शब्दमात्र (सारे शब्द) नही। महाकवि (बनने के अभिलाषी) को वही शब्द और अर्थ भली प्रकार पहिचानने चाहिएँ। व्यंग्य और व्यंजक के सुन्दर प्रयोग से ही महाकवियो को महाकवि पद की प्राप्ति होती है, वाच्य-वाचक-रचना मात्र से नही ॥८॥

२. ध्वनि के भेद

ध्वनि सामान्यतः अविवक्षित वाच्य (लक्षणा-मूल) और विवक्षितान्यपर-वाच्य (अभिधा-मूल) भेद मे दो प्रकार की होती है। उनमे से प्रथम (अविवक्षित वाच्य, लक्षणा-मूल ध्वनि) का उदाहरण यह है :—

सुवर्ण जिसका पुष्प है ऐसी पृथ्वी का चयन (अर्थात् पृथ्वी-रूप लता के सुवर्ण-रूप पुष्पो का चयन) तीन ही पुरुष करते हैं : शूर, विद्वान् और जो सेवा करना जानता है।

दूसरे (विवक्षितान्यपर-वाच्य, अभिधा-मूल ध्वनि) का भी (उदाहरण निम्न है) :—

हे सुमुखि ! इस शुक शावक ने किस पर्वत पर, कितने दिनो तक, कौन-सा तप किया है जिसके कारण तुम्हारे अधर के समान रक्तवर्ण बिम्ब फल को काट (ने का सौभाग्य—पुण्यातिशयलभ्य सौभाग्य—प्राप्त कर) रहा है। (पृष्ठ ७८-७९)

× × ×

अविवक्षितवाच्य ध्वनि का वाच्य (जिस वाच्य के अविवक्षित होने के कारण इसका नाम अविवक्षितवाच्य रखा गया है वह वाच्य) कही अर्थान्तर-संक्रमित और कही अत्यन्त तिरस्कृत होने से दो प्रकार का माना गया है ॥२।१॥

उस प्रकार के (अर्थात् अर्थान्तर संक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत स्वरूप) उन दोनों (वाच्यो) से व्यंग्यार्थ का ही विशेष (उत्कर्ष) होता है। (इसलिए व्यंग्यात्मक

ध्वनि के प्रभेद के प्रसंग मे जो यह वाच्य के दो भेद प्रदर्शित किए हैं वह अप्रासंगिक नही हैं क्योंकि उनके द्वारा व्यंग्य का ही उत्कर्ष संपादन होता है ॥१॥

× × ×

विवक्षितवाच्य (अभिधा-मूल) ध्वनि का आत्मा (स्वरूप) असंलक्षित क्रम से और दूसरा संलक्षित क्रम से प्रकाशित (होने से) दो प्रकार का माना गया है ॥२।२॥

प्रधान रूप से प्रकाशित होने वाला व्यंग्य अर्थ, ध्वनि का आत्मा (स्वरूप) है। और वह कोई वाच्यार्थ की अपेक्षा से अलक्षित क्रम से प्रकाशित होता है और कोई (संलक्ष्य) क्रम से, उस प्रकार दो तरह का माना गया है ॥२॥

उनमें से :—

रस, भाव, तदाभास, (अर्थात् रसाभास और भावाभास) और भावशान्ति आदि (आदि शब्द से भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता का भी ग्रहण करना चाहिए) अक्रम (असलक्ष्य क्रम व्यंग्य) अंगीभाव से (अर्थात् प्राधान्येन) प्रतीत होता हुआ ध्वनि के आत्मा (स्वरूप) रूप से स्थित होता है ॥२।३॥

रसादि रूप अर्थ वाच्य के साथ ही-सा प्रतीत होता है। और वह प्रधान रूप से प्रतीत होने पर ध्वनि का आत्मा (स्वरूप) होता है ॥३॥ (पृष्ठ १०३-१०४)

३. प्रबन्ध-काव्य में रसाभिव्यंजना

सर्गबन्ध (महाकाव्य) में रस-प्रधान होने पर रस के अनुसार औचित्य होना चाहिए अन्यथा (केवल इतिवृत्त-प्रधान महाकाव्य, जैसे भट्ट जयन्त का कादम्बरी कथासार, होने पर) तो कामचार (स्वतन्त्रता) है। (रस-प्रधान और इतिवृत्तमात्र-प्रधान) दोनों प्रकार के महाकाव्य-निर्माता देखे जाते हैं (उनमें से) रस-प्रधान (महाकाव्य) श्रेष्ठ है। अभिनेयार्थ (नाटकादि) मे तो सर्वथा रस-योजना पर पूर्ण बल देना चाहिए। आख्यायिका और कथा मे तो गद्य-रचना की (ही) प्रधानता रहने और गद्य में छन्दोबद्ध रचना से भिन्न मार्ग होने से उसके विषय में कोई नियामक हेतु इसके पूर्व निर्मित न होने पर भी कुछ थोड़ा सा (निर्देश) करते हैं ॥३।७॥

यह पूर्ववर्णित औचित्य ही, छन्द के नियम से रहित गद्य-रचना में भी सर्वत्र (उस) संघटना का नियामक होता है ॥३।८॥

संघटना का नियामक वक्तृगत और वाच्यगत जो यह औचित्य बताया है, छन्दोनियम-रहित गद्य में भी विषयगत (औचित्य) सहित वही नियामक हेतु होता है। इसलिए जब यहाँ (गद्य मे) भी कवि या कविनिबद्ध वक्ता रसभाव-रहित होता है तब स्वतन्त्रता (कामचार) है। और वक्ता के रसभाव-युक्त होने पर तो पूर्वोक्त (नियमों) का ही पालन करना चाहिए। उसमे भी विषयगत औचित्य होता ही है। आख्यायिका में तो अधिकतर मध्यसमासा और दीर्घसमासा संघटना ही होती है क्योंकि कठिन रचना से गद्य में सौन्दर्य आ जाता है। और उस (विकटबन्ध) मे रचना-सौन्दर्य का प्रकर्ष [विशेषता] होने से। कथा में गद्य की कठिन [विकट] रचना का बाहुल्य होने पर भी रसबन्ध-सम्बन्धी औचित्य का पालन करना ही चाहिए ॥८॥

रसबन्ध मे उक्त (नियमनार्थ प्रतिपादित) औचित्य का आश्रय करने वाली रचना सर्वत्र (गद्य-पद्य दोनो मे) शोभित होती है। विषयगत (औचित्य) की दृष्टि से उसमे कुछ (थोड़ा) भेद हो जाता है ॥३।६॥

अथवा पद्य (रचना) के समान गद्य मे भी रसबन्धोक्त औचित्य का सर्वत्र आश्रय लेने वाली रचना शोभित होती है। वह (औचित्य) विषय (गत औचित्य) की दृष्टि से कुछ विशेष हो जाता है। (परन्तु) सर्वथा नही। उदाहरणार्थ गद्य-रचना मे भी, करुण और विप्रलंभ शृंगार में आख्यायिका तक मे भी, अत्यन्त दीर्घ समास वाली रचना अच्छी नही लगती। नाटकादि में भी असमासा संघटना ही होनी चाहिए। (नाटकादि मे) रौद्र, वीर आदि के वर्णन मे विषय की अपेक्षा करने वाला औचित्य प्रमाण (रसबन्धोक्त औचित्य-रूप प्रमाण) के बल से घट-बढ़ जाता है। जैसे आख्यायिका मे स्वविषय (करुण विप्रलंभ शृंगार) में भी अत्यन्त समासहीन, और नाटक आदि मे (स्वविषय रौद्र वीरादि मे) भी अत्यन्त दीर्घसमासा रचना नही होनी चाहिए। संघटना के इसी मार्ग का (सर्वत्र) अनुसरण करना चाहिए ॥९॥

अब, असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य (रसादि) ध्वनि जो रामायण, महाभारत आदि मे प्रबन्धगत रूप से प्रकाशित होता हुआ प्रसिद्ध ही है उसका जिस प्रकार प्रकाशन (होना चाहिए) वह (प्रकार) कहते है :—

१. विभाव, (स्थायी) भाव, अनुभाव और संचारी भाव के औचित्य से सुन्दर, (वृत्त पूर्व-घटित अर्थात्) ऐतिहासिक अथवा (उत्प्रेक्षित अर्थात्) कल्पित कथा-शरीर का निर्माण ॥३।१०॥

२. ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त होने पर भी रस के प्रतिकूल स्थिति

(कथाशादि) को छोड़ कर, बीच मे अभीष्ट रस के अनुकूल नवीन कल्पना करके भी कथा का संस्करण ॥३।११॥

३ केवल शास्त्रीय विधान के परिपालन की इच्छा से नही, अपितु (शुद्ध) रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से सन्धि और सन्ध्यगो की रचना ॥३।१२॥

४. यथावसर (रसों के) उद्दीपन तथा प्रशमन (की योजना) और विश्रान्त होते हुए प्रधान रस का अनुसन्धान (स्मरण रखना) ॥३।१३॥

५ (अलंकारो के यथेच्छ प्रयोग की पूर्ण) शक्ति होने पर भी (रस के) अनुरूप ही (परिमित मात्रा मे) अलंकारों की योजना ॥३।१४॥

यह पाँच प्रबन्धगत रस के अभिव्यंजक हेतु हैं।

१. प्रबन्ध (काव्य) भी रसादि का व्यंजक होता है यह (इसी उद्योत की दूसरी कारिका मे) कहा है। उसके व्यंजकत्व के हेतु (निम्नलिखित पाँच है) :

सबसे पहिले विभाव, (स्थायी) भाव, अनुभाव और संचारी भाव के औचित्य से सुन्दर कथा-शरीर का निर्माण (है)। उचित प्रकार से प्रतिपादनाभिमत रस भाव आदि की दृष्टि से जो उचित विभाव, (स्थायी) भाव, अनुभाव, या संचारी भाव उनके औचित्य से सुन्दर कथा-शरीर का निर्माण (रस का) अभिव्यजक पहिला कारण है।

उनमे से विभाव का औचित्य तो (लोक तथा भरत नाट्य-शास्त्र आदि मे) प्रसिद्ध ही है। (स्थायी) भाव का औचित्य प्रकृति के औचित्य से होता है। प्रकृति उत्तम, मध्यम, अधम और दिव्य तथा मानुष भेद से भिन्न प्रकार की होती है। उसको यथोचित रूप से अनुसरण करते हुए असंकीर्ण (बिना मिलावट के, शुद्ध) रूप से उपनिबद्ध स्थायी भाव औचित्य-युक्त माना जाता है। नही तो केवल मानुष (प्रकृति) के आश्रय, दिव्य (प्रकृति) के उत्साहादि, अथवा केवल दिव्य (प्रकृति) के आश्रय से उपनिबध्यमान केवल मानुष के उत्साहादि (स्थायी-भाव) अनुचित होते हैं। इसलिए केवल मानुष (प्रकृति) राजा आदि के वर्णन मे, सात समुद्र पार करने आदि के उत्साह के वर्णन सुन्दर होने पर भी निश्चित रूप से नीरस ही (प्रतीत) होते हैं। इसका कारण अनौचित्य ही है।

(प्रश्न) सातवाहन आदि राजाओं के नागलोक-गमन आदि का वर्णन मिलता है तो समस्त पृथ्वी के धारण मे समर्थ राजाओं के अलौकिक प्रभावातिशय के वर्णन में क्या अनौचित्य है ?

(उत्तर) यह बात नही है। हम यह नही कहते कि राजाओ के प्रभावातिशय का वर्णन करना अनुचित है। किन्तु केवल मानुष (प्रकृति) के आधार पर जो कथा कल्पित की जाये उसमे दिव्य (प्रकृति) के औचित्य को नही जोड़ना चाहिए। दिव्य और मानुष (उभय-प्रकृतिक) कथा मे तो दोनों प्रकार के औचित्यों का वर्णन अविरुद्ध है जैसे पाण्डु आदि की कथा मे। सातवाहन (की कथा) आदि में तो जिन (के विषय) मे जितना पूर्व वृत्तान्त (दिव्य प्रकृति-सम्बन्धी) सुना जाता है उन (कथाओं) में केवल उतने (अंश) का अनुसरण तो उचित प्रतीत होता है (परन्तु) उनका भी उससे अधिक का वर्णन अनुचित है। ('यावदपदानं श्रूयते' इस मूल में 'अपदान' शब्द आया है। अमरकोष मे उसका अर्थ 'अपदान कर्मवृत्तम्' अर्थात् प्राचीन प्रशस्त चरित किया है।)

इसलिए इस सब का सारांश यह हुआ कि—

अनौचित्य के अतिरिक्त रस-भंग का और कोई कारण नही है और प्रसिद्ध औचित्य का अनुसरण ही रस का परम रहस्य है।

इसीलिए भरत (के नाट्य-शास्त्र) में नाटक में प्रख्यात वस्तु (कथा) को विषय और प्रख्यात उदात्त नायक का रखना अनिवार्य (अवश्य कर्तव्य) प्रतिपादित किया है। इससे नायक के औचित्य-अनौचित्य के विषय मे कवि भ्रम मे नही पड़ता। और जो कल्पित कथा के आधार पर नाटकादि का निर्माण करता है उससे अप्रसिद्ध और अनुचित नायक-स्वभावादि वर्णन में बड़ी भूल हो सकती है।

(प्रश्न) उत्साह आदि (स्थायी) भावो के वर्णन में यदि दिव्य, मानुष्य आदि (प्रकृति) के औचित्य की परीक्षा करते हैं तो करें परन्तु रत्यादि (स्थायी-भाव के वर्णन) मे उस (परीक्षा) से क्या लाभ ? रति तो भारतवर्षोचित व्यवहार से ही (दिव्यो) देवताओ की भी वर्णन करनी चाहिए यह (भरत के नाट्य-शास्त्र २०, १०१ का) सिद्धान्त है।

(उत्तर) यह बात नही है। वहाँ (रतिविषय में) भी औचित्य का उल्लंघन करने में दोष ही है। क्योकि उत्तम प्रकृति (के नायक-नायिका) के अधम प्रकृति के उचित शृंगारादि के वर्णन में कौन-सी उपहास्यता नही होगी ?

(प्रश्नकर्ता) भारतवर्ष मे भी तीन प्रकार का शृंगार-विषयक प्रकृति का औचित्य पाया जाता है। (उनसे भिन्न) जो (कोई और) दिव्य औचित्य है वह उस (रसाभिव्यक्ति) में अनुपकारक ही है। (क्योकि उस दिव्य रति आदि-विषयक संस्कार के न होने से प्रेक्षक को उससे रसानुभूति नही होगी)।

(उत्तर) हम शृंगार-विषयक दिव्य औचित्य (भारतवर्षोचित औचित्य से) अलग कुछ और नहीं बताते हैं।

(प्रश्न) तो फिर ? (आप क्या कहते हैं)

(उत्तर) भारतवर्ष (के) विषय में उत्तम नायक राजा आदि मे जिस प्रकार के शृंगार का वर्णन होता है वह दिव्य (नायक आदि) आश्रित भी शोभित होता है। (और जैसे) राजा आदि (उत्तम नायकादि) मे प्रसिद्ध ग्राम्य शृंगार का वर्णन नाटकादि मे प्रचलित नही है उसी प्रकार देवो मे भी उसको बचाना चाहिए। (यह हमारे कहने का अभिप्राय है।)

(प्रश्नकर्ता) नाटकादि अभिनेयार्थ होते हैं। सम्भोग-शृंगार-विषयक अभिनय के असभ्य (-ता पूर्ण) होने से नाटकादि मे उसका परिहार किया जाता है (परन्तु काव्य मे तो अभिनय न होने से उसके परिहार की आवश्यकता नही है।) यदि ऐसा कहे तो ?

(उत्तर) उचित नही है। यदि इस प्रकार का (संभोग-शृंगार-विषयक) अभिनय असभ्यतापूर्ण है तो इस प्रकार के (सम्भोग-शृंगार-विषयक) काव्य मे उस (असभ्यता दोष) को कौन निवारण कर सकता है ? (वहाँ भी वह दोष होगा ही) इसलिए अभिनेयार्थ या अनभिनेयार्थ (सभी प्रकार के) काव्य मे उत्तम प्रकृति राजा आदि का उत्तम प्रकृति की नायिका के साथ जो ग्राम्य सम्भोग का वर्णन (करना) है वह माता-पिता के सम्भोग वर्णन के समान अत्यन्त (अनुचित और) असभ्यतापूर्ण है। उसी प्रकार उत्तम देवता-विषयक (सम्भोग-शृंगार-वर्णन अनुचित और असभ्य) है।

सम्भोग शृंगार का केवल सुरत-वर्णन रूप एक ही प्रकार तो नही है। अपितु उसके परस्पर प्रेम-दर्शन आदि और भी भेद हो सकते हैं। उत्तम प्रकृति के (नायकादि) के विषय मे उनका वर्णन क्यों नहीं करते। (अर्थात् उन्ही का वर्णन करना चाहिये) इसलिये उत्साह के समान रति मे भी प्रकृत्यौचित्य का अनुसरण करना ही चाहिये। इसी प्रकार विस्मयादि में भी। इसी प्रकार के विषय में जो (कालिदासादि) महाकवियों की असमीक्ष्यकारिता (कुमारसम्भवादि) लक्ष्य ग्रन्थों मे देखी जाती है वह दोष-रूप ही है। केवल उनकी प्रतिभा से अभिभूत हो (दब) जाने से प्रतीत नही होती यह कह ही चुके हैं।

अनुभावों का औचित्य तो भरतादि (के नाट्य-शास्त्रादि) में प्रसिद्ध ही है। केवल इतना तो (विशेष रूप से) कहना है कि भरतादि मुनियों द्वारा निर्धारित मर्यादा

का पालन करते हुए, महाकवियो के प्रबन्धो (काव्यो) का पर्यालोचन करते हुए और अपनी प्रतिभा का अनुसरण करते हुए कवि को सावधान होकर विभावादि के औचित्य से पतित होने से बचने के लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

ऐतिहासिक अथवा कल्पित औचित्य-युक्त कथा-शरीर का ग्रहण करना (रस का) अभिव्यंजक होता है, इससे (कारिकाकार) यह प्रतिपादन करते हैं कि इतिहासादि मे (साधारणजनो के अभिप्राय से) नाना प्रकार की रसवती कथाओं के होने पर भी उनमे जो विभावादि के औचित्य से युक्त कथा-वस्तु है उसी को ग्रहण करना चाहिये, अन्यो को नही। और ऐतिहासिक कथा-वस्तु से भी अधिक कल्पित कथा-वस्तु मे (सावधान रहने का) प्रयत्न करना चाहिए। वहाँ (कल्पित कथा-वस्तु मे) असावधानी से भूल कर जाने पर कवि की अव्युत्पत्ति (प्रदर्शन) की बहुत सम्भावना रहती है।

इस विषय मे साराश श्लोक (यह) है :

कल्पित कथा-वस्तु को इस प्रकार निर्माण करना चाहिये जिससे वह सबकी सब रसमय ही प्रतीत हो।

उसका उपाय विभावादि के औचित्य का भली प्रकार अनुसरण करना (ही) है। और उसे दिखा ही चुके हैं।

और भी (कहा है) :—

सिद्ध रसो के समान (सद्यः आस्वादमात्र योग्य न कि भावनीय या परिकल्पनीय) कथाओं के आश्रय जो रामायणादि (इतिहास) हैं उनके साथ रस-विरोधिनी स्वेच्छा का प्रयोग नही करना चाहिये।

पहिली बात तो यह कि उन कथाश्रयो मे स्वेच्छा लगानी ही नही चाहिये। जैसा कि कहा है कथा में थोड़ा भी हेर-फेर न करे। और यदि (प्रयोजनवश) स्वेच्छा का प्रयोग करे भी तो रस-विरोधिनी स्वेच्छा का प्रयोग न करे।

२. प्रबन्ध (काव्य) के रसाभिव्यजकत्व का यह भी (दूसरा) और कारण है कि ऐतिहासिक परम्परा से प्राप्त (होने पर भी) किसी प्रकार (से भी) रस-विरोधिनी स्थिति (कथांश) को छोड़ कर और बीच मे कल्पना करके भी अभीष्ट रसोचित कथा का निर्माण करना चाहिए। जैसे कालिदास की रचनाओ में (रघुवश मे अजादि राजाओ का विवाह-वर्णन और 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक मे शकुन्तला का प्रत्याख्यान आदि इतिहास मे उस रूप मे वर्णित नही है किन्तु कथा को रसानुगुण और

राजा दुष्यन्त को उदात्त-चरित बनाने के लिए उनकी कल्पना की गई है) और जैसे सर्वसेनविरचित हरिविजय (महाकाव्य) मे (कान्ता के अनुनय के लिये पारिजातहरण का वर्णन) और जैसे मेरे ही बनाए अर्जुन-चरित महाकाव्य में (अर्जुन की पाताल-विजयादि उस रूप से इतिहास मे वर्णित न होने पर भी कथा को रसानुगुण बनाने के लिये कल्पित की गयी है)। काव्य का निर्माण करते समय कवि को पूर्ण रूप से रस-परतन्त्र बन जाना चाहिये। इसलिए यदि इतिहास में रस के विपरीत स्थिति देखे तो उसको तोड़ कर स्वतन्त्र रूप से रस के अनुरूप दूसरी (प्रकार से) कथा बना ले। इतिवृत्त का निर्वाह कर देने मात्र से कवि का कोई लाभ नहीं है क्योंकि वह प्रयोजन तो इतिहास से भी सिद्ध हो सकता है।

३. प्रबन्ध (काव्य) के रसादिव्यंजकत्व का यह और (तीसरा) मुख्य कारण है कि (नाटच-शास्त्रोक्त) मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, और निर्वहण नामक (पंच) सन्धियों और उनके उपक्षेपादि (६४) अगो का रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से जोडना—जैसे 'रत्नावली' (नाटिका) मे; न कि केवल शास्त्र-मर्यादा का पालन करने मात्र की इच्छा से, जैसे 'वेणीसंहार (नाटक) मे, 'प्रतिमुख' सन्धि के 'विलास' नामक अंग को प्रकृत रस (वीर रस) के विरुद्ध होने पर भी भरत-मत के अनुसरण मात्र की इच्छा से द्वितीय अंक मे (दुर्योधन और भानुमती के शृंगार-वर्णन के रूप मे) जोड़ना है।

४. प्रबन्ध (काव्य) के रसाभिव्यंजकत्व का यह और (चौथा) कारण है कि बीच-बीच मे यथावसर रस का उद्दीपन और प्रशमन करना जैसे रत्नावली' मे ही। और प्रधान रस के विश्रान्त (विच्छिन्न-सा) होने लगने पर उसको फिर सँभाल लेना। जैसे 'तापसवत्सराज' मे। (तापसवत्सराज नाम का कोई नाटक इस समय उपलब्ध नही है)।

५. प्रबन्ध-विशेष नाटकादि की रसाभिव्यक्ति का यह और (पाँचवाँ) निमित्त समझना चाहिए कि (अलंकारों के यथेष्ट प्रयोग की पूर्ण) शक्ति रहने पर भी (रस के) अनुरूप ही अलंकारों की योजना करना। (अलंकार-रचना में) समर्थ कवि कभी-कभी अलंकार-रचना में ही मग्न होकर रसबन्ध की परवाह न करके ही प्रबन्ध-रचना करने लगता है। उसके उपदेश के लिए यह (पंचम हेतु) कहा है। काव्यों मे रस की चिन्ता न कर अलंकार-निरूपण में ही आनन्द लेने वाले कवि भी पाये जाते हैं ॥१४॥

(पृष्ठ २५३-२६६)

४. रस-विरोधी तत्व

(रसादि के) वे विरोधी तत्त्व जिनको यत्न-पूर्वक कवि को बचाना चाहि

कौन-से हैं, यह बतलाते हैं।

१. विरोधी-रस के सम्बन्धी विभावादि का ग्रहण कर लेना।

२. (रस से) सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन करना।

३. असमय में रस को समाप्त कर देना अथवा अनवसर मे उसका प्रकाशन करना।

४. (रस का) पूर्ण परिपोषण हो जाने पर भी बार-बार उसका उद्दीपन करना।

५. और व्यवहार का अनौचित्य।

(ये पाँचों) रस के विरोधकारी होते हैं ॥३।१८,१९॥

प्रस्तुत रस की दृष्टि से जो विरोधी रस हो उससे सम्बन्ध रखने वाले विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावो का वर्णन (सब से पहिला) रस-विरोधी हेतु समझना चाहिए।

(अ) उनमें विरोधी रस के विभाव परिग्रह (का उदाहरण) जैसे शान्त रस के विभावों का उसके विभाव रूप मे ही वर्णन करने के बाद तुरन्त ही शृंगार के विभाव का वर्णन करने लगना। (शान्त और शृगार का नैरन्तर्येण विरोध होने से ऐसा वर्णन दोषाधायक है।)

(ब) विरोधी मे रस के भाव (व्यभिचारी भाव) के परिग्रह (का उदाहरण) जैसे, प्रिय के प्रति प्रणय-कलह मे कुपित कामिनियों के वैराग्य-चर्चा द्वारा अनुनय-वर्णन मे।

(स) विरोधी रस के अनुभाव के परिग्रह (का उदाहरण) जैसे प्रणय-कलह में कुपित मानिनी के प्रसन्न न होने पर कोपाविष्ट नायक के रौद्रानुभावों का वर्णन करना।

यह (दूसरा) रस-भंग का हेतु और है कि प्रस्तुत रस से किसी प्रकार सम्बद्ध होने पर भी (रस से भिन्न) किसी अन्य वस्तु का विस्तार-पूर्वक वर्णन। जैसे किसी

नायक के विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन प्रारम्भ कर कवि का यमकादि रचना के अनुराग से अत्यन्त विस्तार के साथ पर्वतादि का वर्णन करने लगना। (जैसे 'किरातार्जुनीय' (काव्य) मे सुरागनाविलासादि। अथवा 'ह्यग्रीव-वध' मे ह्यग्रीव का अति विस्तृत वर्णन)।

२. अकाण्ड (अनवसर) में रस को विच्छिन्न कर देना अथवा अनवसर में मे ही उसका विस्तार (करने लगना) यह भी और (तीसरा) रस-भंग का हेतु है।

(अ) उसमे अकाण्ड मे विराम (का उदाहरण) जैसे किसी नायक का जिसके साथ समागम उसको अभीष्ट है ऐसी नायिका के साथ (किसी प्रकार) शृंगार (रति) के परिपुष्ट हो जाने और (उनके) परस्पर अनुराग का पता लग जाने पर उनके समागम के उपाय के चिन्तन योग्य व्यापार को छोड़ कर स्वतन्त्र रूप से किसी अन्य व्यापार का वर्णन करने लगना। (जैसे 'रत्नावली' (नाटिका) मे 'वाभ्रव्य' के आने पर सागरिका की विस्मृति।)

(ब) अनवसर मे रस के प्रकाशन (का उदाहरण) जैसे नाना वीरो के विनाशक कल्प प्रलय के समान भीषण संग्राम के प्रारम्भ हो जाने पर विप्रलम्भ शृंगार के प्रसग के बिना और बिना किसी उचित कारण के रामचन्द्र सरीखे देवपुरुष का भी शृगार-कथा मे पड़ जाने का वर्णन करने मे (भी रस-भग होता है जैसे 'वेणीसहार' के द्वितीय अंक में महाभारत का युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर भी भानुमती और दुर्योधन के शृगार-वर्णन मे)।

इस प्रकार के विषय मे (यहाँ दुर्योधन ने देववश व्यामोह मे पड़ कर वह सब-कुछ किया इस प्रकार) कथा-नायक के दैवी व्यामोह से उस दोष का परिहार नही हो सकता है क्योकि रस-बन्धन ही कवि की प्रवृत्ति का मुख्य कारण है और इतिहास वर्णन तो उसका उपाय मात्र ही है। यह बात 'आलोकार्थी यथा दीपशिखाया यत्नवान् जनः' इत्यादि से (प्रथम उद्योत की नवम कारिका मे) पहिले ही कह चुके हैं।

इसलिए केवल इतिहास के वर्णन का प्राधान्य होने पर अंग और अंगी भाव का विचार किए बिना ही रस और भाव का निबन्धन करने से कवियों से इस प्रकार के (सब) दोप हो जाते हैं अतः रसादिरूप व्यंग्य तत्परत्व ही उनके लिए उचित है इसी दृष्टि से हमने यह (ध्वनि-निरूपण का) यत्न प्रारम्भ किया है; केवल ध्वनि के प्रतिपादन के आग्रह के कारण ही नही।

४. फिर यह (चौथा) और रस-भंग का हेतु समझना चाहिए कि रस के परिपुष्टि को प्राप्त हो जाने पर भी बार-बार उसको उद्दीप्त करना। अपनी (विभावादि) सामग्री से परिपुष्ट और उपभुक्त रस बार-बार स्पर्श करने से मुरझाए हुए फूल के समान मलिन हो जाता है।

५. और (पाँचवाँ) व्यवहार का जो अनौचित्य है वह भी रस-भंग का ही हेतु होता है। जैसे नायक के प्रति किसी नायिका का उचित हाव-भाव के बिना स्वयं (शब्दतः) सम्भोगाभिलाष कहने मे (व्यवहार का अनौचित्य हो जाने से रस-भंग होता है)।

अथवा भरत प्रसिद्ध कैशिकी आदि वृत्तियों का अथवा दूसरे (भामह-कृत) काव्यालंकार (और उस पर भट्टोद्भटकृत 'भामह विवरण') में प्रसिद्ध उपनागरिका आदि वृत्तियों का जो अनौचित्य अर्थात् अविषय में निबन्धन है वह भी रस-भंग का (पाँचवाँ) हेतु है।

इस प्रकार इन रस-विरोधियों (पाँचों हेतुओं) का और इसी मार्ग से स्वयं उत्प्रेक्षित अन्य रसभंग हेतुओं का परिहार करने मे सत्कवियों को सावधान रहना चाहिए। इस विषय के संग्रह श्लोक (इस प्रकार) हैं—

१. सुकवियों के व्यापार के मुख्य विषय रसादि हैं उनके निबन्धन में उन सत्कवियों को सदैव प्रमाद-रहित (जागरूक) रहना चाहिए।

२. कवि का जो नीरस काव्य है वह (उसके लिए) महान् अपशब्द है। उस नीरस काव्य से वह कवि ही नही रहता। (कविरूप मे) कोई उसका नाम भी याद नहीं करता।

३. (इन नियमों का उल्लंघन करने वाले) स्वच्छन्द रचना करने वाले जो पूर्वकवि प्रसिद्ध हो गए हैं उनको (उनके उदाहरण को) लेकर बुद्धिमान् (नवकवि) को यह नीति नही छोड़नी चाहिए।)

४ (क्योंकि) वाल्मीकि, व्यास इत्यादि जो प्रसिद्ध कवीश्वर हुए हैं उनके अभिप्राय के विरुद्ध हमने यह नीति निर्धारित नही की है ॥१६॥ (पृष्ठ २८९-२९६)

५. प्रबन्ध-काव्य में अंगी रस

अन्य अनेक रसों के (एक-सा) परिपोष प्राप्त होने पर (उनमें से किसी) एक का अंगी होना विरोधी क्यों नही होगा इस बात की आशंका करके यह कहते हैं:—

(प्रधान रस का) अन्य रसों के साथ प्रस्तुत (प्रधान) रस का जो समावेश है वह स्थायी (प्रबन्ध-व्यापी) रूप से प्रतीत होने वाले इस (प्रस्तुत प्रधान रस) की अंगिता (प्राधान्य) का विघातक नहीं होता है ॥३।२३॥

प्रबन्धों (काव्य या नाटकादि) मे (अन्यों की अपेक्षा) प्रथम प्रस्तुत और बार-बार उपलब्ध होने से जो स्थायी रस है, सम्पूर्ण प्रबन्ध में (आद्यन्त) वर्तमान, उस रस का बीच-बीच मे आए हुए अन्य रसों के साथ जो समावेश है, वह (उसके) प्राधान्य (अंगिता) का विघातक नही होता है ॥२२॥

इसी का उपपादन करने के लिए कहते हैं :—

जैसे प्रबन्ध में (आद्योपान्त) व्यापक (प्रासंगिक अवान्तर कार्य अथवा आख्यान वस्तु से परिपुष्ट) एक प्रधान कार्य (विषय आख्यान वस्तु) रखा जाता है (और अवान्तर अनेक कार्य उसको परिपुष्ट करते हैं) इसी प्रकार रस की विधि (एक प्रबन्ध-व्यापी अंगी रस के साथ अंगभूत अवान्तर रसो के समावेश) मे भी विरोध नही है ॥३।२३॥

सन्धि आदि से युक्त प्रबन्ध (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण सन्धि रूप पंच-सन्धि युक्त प्रबन्ध अर्थात् नाटकादि) शरीर में जैसे समस्त प्रबन्ध मे व्यापक निरन्तर विद्यमान एक (आधिकारिक वस्तु) कार्य की रचना की जाती है। वह आधिकारिक वस्तु (कार्य) अन्य (प्रासंगिक) कार्यों से संकीर्ण नहीं होता हो सो बात नहीं है। (अन्य प्रासंगिक वस्तुओं से आधिकारिक वस्तु का सम्बन्ध अवश्य होता है) परन्तु उनसे सम्बन्ध होने पर भी उस (आधिकारिक मुख्य कथा-वस्तु) का प्राधान्य कम नही होता है। इसी प्रकार (अन्य अनेक अंगभूत रसों के साथ प्रधान भूत) एक रस का (अंगित्वेन) सन्निवेश करने में कोई विरोध नहीं होता। अपितु विवेकी और पारखी सहृदयों को इस प्रकार के विषयों में और अधिक आनन्द आता है ॥२३॥

जिन रसों का परस्पर-अविरोध है (वध्य-घातक भाव विरोध नही है) जैसे वीर और शृंगार का (युद्ध नीति, पराक्रम आदि से कन्यारत्न के लाभ मे), शृंगार और हास्य का (हास्य के स्वयं पुरुषार्थ न होने और अनुरंजनात्मक होने से), रौद्र और शृंगार का (भरत के नाटच-शास्त्र मे 'शृंगारश्च तैः प्रसभं सेव्यते' में, 'तैः रौद्र-प्रभृतिभिः रक्षोदानवोद्धतमनुष्यैः सेव्यते' इस व्याख्या से रौद्र और शृंगार का कथंचित् अविरोध है। केवल नायिका-विषयक उग्रता बचानी चाहिए।) वीर और अद्‌भुत का (वीरस्य चैव यत्कर्म सोऽद्‌भुतः, भ० ना०), रौद्र और करुण का (रौद्रस्यैव च यत्कर्म स शेषः करुणो रस :), अथवा शृंगार और अद्‌भुत का, (जैसे रत्नावली में ऐन्द्रजालिक

के वर्णन प्रसंग में) वहाँ अंगांगिभाव भले ही हो जाय परन्तु उनका वह (अंगांगिभाव) कैसे होगा जिनका बाध्य-बाधक-भाव (विरोध) है। जैसे शृंगार और बीभत्स का (आलम्बन-रूप नायिका मे अनुरक्ति से रति की, और आलम्बन से पलायमान रूप से जुगुप्सा की उत्पत्ति होती है इसलिए आलम्बनैक्य मे रति और जुगुप्सा दोनों का वध्य-घातक-भाव विरोध है। वीर और भयानक का (भय और उत्साह का आश्रयैक्य में 'वध्य-घातक भाव' विरोध है) शान्त और रौद्र का (नैरन्तर्य और विभावैक्य में दोनो रूप मे 'वध्य-घातक-भाव'विरोध है। अथवा शान्त तथा शृंगार का (विभावैक्य तथा नैरन्तर्य में विरोध है, इनमें अङ्गाङ्गिभाव कैसे बनेगा) इस आशंका से यह कहते हैं।

दूसरे रस के प्रधान होने पर उसके अविरोधी अथवा विरोधी (किसी भी) रस का (अत्यन्त परिपोष नही करना चाहिए। इससे उनका अविरोध हो सकता है ॥३।२४॥

प्रधानभूत शृंगारादि रस के प्रबन्ध व्यग्य होने पर उसके अविरोधी अथवा विरोधी रस का परिपोषण नही करना चाहिए। (उस परिपोषण के तीन प्रकार के परिहार क्रम से कहते हैं)।

१. उनमें से अविरोधी रस का अगी प्रधानभूत रस की अपेक्षा अत्यन्त आधिक्य नहीं करना चाहिए यह प्रथम परिहार है। उन दोनो का समान उत्कर्ष हो जाने (तक) पर भी विरोध सम्भव नही है।

जैसे—

एक ओर प्रियतमा रो रही है और दूसरी ओर युद्ध के बाजे का घोष हो रहा है। अतः स्नेह और युद्धोत्साह से वीर का हृदय दोलायमान हो रहा है।

यहाँ वीर और शृंगार का साम्य होने पर भी अविरोध है।

अथवा (दो रसो मे साम्य होने पर भी अविरोध का दूसरा उदाहरण)

जैसे :—

गले में से हार को तोड़ (निकाल) कर हाथ में जयमाला के समान उसको फेरती हुई, नागरज के स्थान पर मेखला सूत्र से पर्यंक बन्ध आसन बाँध कर झूठमूठ मन्त्र जप के कारण हिलते हुए अधरपुट से अभिव्यक्त हास को प्रकट करती हुई, सन्ध्या नामक (सपत्नी) के प्रति ईर्ष्यावश, महादेव का उपहास करती हुई देखी गई, देवी पार्वती तुम्हारी रक्षा करे।

इसमें (प्रकृत ईर्ष्या विप्रलम्भ और तद्विरोधी मंत्र-जपादि से व्यंग्य शान्त इन दोनों रसों का साम्य होने पर भी विरोध नही है)।

२. अंगी रस के विरुद्ध, व्यभिचारी भावों का अधिक निवेश न करना, अथवा निवेश करने पर शीघ्र ही अंगीरस के व्यभिचारी रूप मे परिणत कर देना यह (परिपोष के परिहार का) दूसरा (प्रकार) है।

३. अंगभूत रस का परिपोष करने पर भी बार-बार उसकी अंगरूपता का ध्यान रखना यह (परिपोष के परिहार का) तीसरा (प्रकार) है। (इस विषय मे वत्सराज मे वत्सराज के पद्मावती-विषयक सम्भोग शृंगार को उदाहरण रूप मे रखा जा सकता है।) इस शैली मे अन्य प्रकार भी (स्वय) समझ लेने चाहिएँ। (जैसे) किसी विरोधी रस की अंगी रस की अपेक्षा न्यूनता कर लेनी चाहिए। जैसे शान्त रस के प्रधान होने पर शृंगार की अथवा शृंगार के प्रधान होने पर शान्त की।

परिपोष प्राप्त हुए बिना रस का रसत्व ही कैसे बनेगा? यदि यह पूछा जाय तो (इसके उत्तर मे) 'अंगिरसापेक्षया' कहा गया है। (अर्थात्) अंगी रस का जितना परिपोष किया जाय उतना परिपोष उस (विरोधी रस) का नही करना चाहिये। स्वयं होने वाले (साधारण) परिपोषण को कौन मना करता है?

अनेक रसों वाले प्रबन्धों मे रसों के परस्पर अंगांगिभाव को न मानने वाले भी इस आपेक्षिक (प्रधान रस को अधिक और शेष रसो को कम) प्रकर्ष का खण्डन नही कर सकते। इस प्रकार से भी प्रबन्धों मे अविरोधी और विरोधी रसो के अंगांगि-भाव से समावेश करने में अविरोध हो सकता है।

यह सब बात उनके मत से कही गई है जो एक रस को दूसरे रस मे व्यभिचारी (अंग) होने का सिद्धान्त मानते हैं। दूसरे (रस का रसान्त मे व्यभिचारित्व अर्थात् अंगत्व न मानने वाले) मत मे रस के स्थायी भाव उपचार से रस शब्द से कहे गये हैं (ऐसा समाधान समझना चाहिये)। उन (स्थायी भावो) का अंगत्व तो निर्वि-रोध है (अर्थात् स्थायी भावों को अंग मानने में उनको भी कोई आपत्ति नही है जो रसों का अंगत्व स्वीकार नहीं करते हैं।) ॥२४॥ (पृष्ठ ३१३-३१९)

६. शृंगार का प्रमुख रसत्व

सत्कवि को उसी (शृंगार) रस में अत्यन्त सावधान रहना चाहिये (क्योंकि) उसमे (तनिक-सा भी) प्रमाद तुरन्त प्रतीत हो जाता है ॥३।२९॥

सब रसों से अधिक सुकुमार उसी रस में कवि को सावधान, (और) प्रयत्न-शील होना चाहिए। उसमें प्रमाद करने वाले उस (कवि) की सहृदयो के बीच शीघ्र

ही तिरस्कार-विषयता हो जाती है ॥२९॥

शृंगाररस समस्त सांसारिक पुरुषों के अनुभव का विषय अवश्य होता है अतः सौन्दर्य की दृष्टि से प्रधानतम है। ऐसा होने से :—

शिष्यो को (शिक्षणीय विषय मे) प्रवृत्त करने की दृष्टि से अथवा काव्य की शोभा के लिए उस (शृंगार) के विरोधी (शान्त आदि) रसो मे उस (शृंगार) के अंगों (व्यभिचारी भावादि) का स्पर्श (पुट) दूषित नही होता ॥३।३०॥

शृंगार के अगों का जो शृंगार विरुद्ध रसो के साथ स्पर्श है वह केवल पूर्वोक्त अविरोध लक्षणो के होने पर ही निर्दोष हो यह बात नही है अपितु शिष्यों को उन्मुख करने अथवा काव्य शोभा की दृष्टि से किया जाने पर (भी) दूषित नही होता है। शृंगार रस के अगों मे प्रवृत्त हुए शिष्यगण सदाचार के उपदेशो को आनन्दपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। (भरतादि) मुनियों ने शिक्षणीय जनो के हित के लिए ही सदाचारोपदेश-रूप नाटकादि गोष्ठी (मण्डली) की अवतारणा की है।

और शृंगार के सब लोगों के मन को हरण करने वाला और सुन्दर होने से उसके अंगों का समावेश काव्य मे सौन्दर्य के अतिशय की वृद्धि करने वाला होता है इस प्रकार से भी विरोधी रस मे शृगार का समावेश विरोधी नही है। इसलिये:—

यह ठीक है कि स्त्रियाँ बड़ी मनोरम होती हैं, यह ठीक है कि (ऐश्वर्य) विभूति बड़ी सुन्दर होती है, किन्तु (उनका भोग करने वाला यह) जीवन (तो) मत्त स्त्री के कटाक्ष के समान अत्यन्त अस्थिर है।

इत्यादि मे रस-विरोध का दोष नही हैं ॥३०॥

(पृष्ठ ३२८-३३०)

७. गुणीभूत व्यंग्य

जहाँ व्यंग्य के सम्बन्ध होने पर वाच्य का चारुत्व अधिक प्रकर्ष-युक्त हो जाता है वह गुणीभूत व्यंग्य नाम का काव्य का दूसरा भेद होता है ॥३।३५॥

(प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥ १, ४ इत्यादि कारिका मे) ललनाओं के लावण्य के समान जिस व्यंग्य अर्थ का प्रतिपादन किया है उसका प्राधान्य होने पर ध्वनि (काव्य) होता है यह कह चुके हैं। उस (व्यंग्य) के गुणीभाव हो जाने से वाच्य

(अर्थ) के चारुत्व की वृद्धि हो जाने पर गुणीभूत व्यंग्य नाम का काव्य-भेद माना जाता है। उनमें (अविवक्षित वाच्य, लक्षणा-मूल ध्वनि के अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य प्रभेद मे) तिरस्कृत वाच्य (वाले) शब्दों से प्रतीयमान वस्तु मात्र व्यंग्य के कभी वाच्य रूप वाक्यार्थ की अपेक्षा गुणीभाव (अप्राधान्य) होने पर गुणीभूत व्यंग्य (काव्य) होता है। जैसे:—

(नदी के किनारे स्नानार्थ आई हुई किसी तरुणी को देख कर किसी रसिक जन की यह उक्ति है। इसमें युवती को स्वयं नदी-रूप में वर्णन किया है।) यहाँ (नदी तट पर) यह नई कौन-सी लावण्य की नदी आ गई है जिसमे चन्द्रमा के साथ कमल तैरते हैं, जिसमें हाथी की गण्डस्थली उभर रही है, और जहाँ कुछ और ही प्रकार के कदली काण्ड तथा मृणाल दण्ड दिखाई देते हैं।

कभी अतिरस्कृत वाच्य शब्दों से प्रतीयमान व्यंग्य का काव्य के चारुत्व की अपेक्षा से वाच्य का प्राधान्य होने से गुणीभाव हो जाने पर गुणीभूत व्यंग्यता हो जाती है जैसे, अनुरागवती सन्ध्या इत्यादि उदाहरण दे चुके हैं।

उसी (व्यंग्य वस्तु) के स्वयं (अपने वचन द्वारा) प्रकाशित कर देने से (वाच्य-सिद्धयंग व्यंग्य) गुणीभाव होता है। जैसे 'संकेत कालमनसं' इत्यादि उदाहरण दिया जा चुका है।

रसादि-रूप व्यंग्य का गुणीभाव रसवत् अलंकार (के प्रसंग) में दिखा चुके हैं। वहाँ (रसवदलंकार मे) उन (रसादि) का आधिकारिक (मुख्य) वाक्य की अपेक्षा से विवाह मे प्रवृत्त (वर-रूप) भृत्य के अनुयायी राजा के समान गुणीभाव होता है।

व्यंग्य अलकार के गुणीभाव का विषय दीपक आदि (अलंकार) हैं ॥३५॥

प्रसन्न (प्रसादगुण-युक्त) और गम्भीर (व्यंग्य सम्बन्ध से अर्थ-गाम्भीर्ययुक्त) आनन्ददायक काव्य रचनाएँ (हों), उनमे बुद्धिमान् कवि को इसी प्रकार का उपयोग करना चाहिये। (ध्वनि के सम्भव न होने पर गुणीभूत व्यंग्य की योजना से भी कवि को कवि-पद की प्राप्ति हो सकती है। अन्यथा तो फिर कविता उपहास-योग्य ही होती है।) ॥३।३६॥

और जो यह नाना प्रकार (अपरिमितस्वरूपाः) की उस (अलौकिक व्यंग्य के संस्पर्श) प्रकार के अर्थ से रमणीय प्रकाशमान रचनाएँ विद्वानों के लिए आनन्ददायक

होती हैं उन सभी काव्य-रचनाओं में गुणीभूत व्यंग्य नाम का यह प्रकार उपयोग में लाना चाहिए। ॥३६॥

× × ×

इस प्रकार व्यंग्य के संस्पर्श होने पर शोभातिशय को प्राप्त होने वाले रूपक आदि सब ही अलंकार गुणीभूत व्यंग्य के मार्ग है और गुणीभूत व्यग्यत्व उस प्रकार के (व्यग्य-संस्पर्श से चारुत्वयोगी) कहे गए (दीपक, तुल्ययोगिता आदि) या न कहे हुए (सन्देह आदि) उन सभी अलंकारो मे सामान्य रूप से रहता है। उस (गुणीभूत व्यंग्य) के लक्षण हो जाने पर (या समझ लेने से) यह सब ही अलंकार) सुलक्षित हो जाते हैं।

सामान्य लक्षण-रहित प्रत्येक अलंकार के अलग-अलग स्वरूप कथन से तो प्रतिपद पाठ से (अनन्त) शब्दों के (ज्ञान) के समान उन (अलंकारों) का, अनन्त होने से, पूर्ण ज्ञान नही हो सकता। कथन की अनन्त शैलियाँ हैं और वही अनन्त अलंकार के प्रकार हैं।

और गुणीभूत व्यंग्य का विषय (केवल एक अलंकार में दूसरे व्यंग्य अलंकार के सम्बन्ध से ही नही अपितु वस्तु अथवा रसादि रूप अन्य) व्यंग्य अर्थ के सम्बन्ध से अन्य प्रकार से भी होता ही है। इसलिए अति रमणीय महाकवि-विषयक यह दूसरा ध्वनि-प्रवाह भी सहृदयों को समझ लेना चाहिए। सहृदयों के हृदय को मुग्ध करने वाले काव्य का ऐसा कोई भेद नही है, जिसमें व्यंग्य अर्थ के सम्बन्ध से सौन्दर्य न आ जाता हो। इसलिए विद्वानों को यह समझ लेना चाहिए कि यह (व्यंग्य, और केवल व्यंग्य सस्पर्श ही) काव्य का परम रहस्य है ॥३७॥

अलंकार आदि से युक्त होने पर भी जैसे लज्जा ही कुलवधुओं का मुख्य अलंकार होती है, उसी प्रकार (उपमादि अलंकारो से भूषित होने पर भी) यह व्यंग्यार्थ की छाया ही महाकवियो की वाणी का मुख्य अलंकार है ॥३।३८॥

इस प्रतीयमान की छाया या व्यंग्य के सस्पर्श से सुप्रसिद्ध (बहुवर्णित होने से बासी हुए) अर्थ मे भी कुछ अनिर्वचनीय (नूतन) सौन्दर्य आ जाता है। जैसे:—

(अनुल्लंघ्यशासन) कामदेव की आज्ञापालन मे मुग्धाक्षी (वामलोचना सुन्दरी) के विश्वास (परिचय, तथा मदनोद्रेकजन्य त्रपा साध्वस आदि के ध्वंस) से उत्पन्न और केवल चित्त से (भी) अक्षुण्ण प्रतिक्षण नवीन जो कोई अनिर्वचनीय हाव-भाव (होते) हैं, वह एकान्त में बैठ कर (तन्मय होकर) चिन्तन करने योग्य होते हैं।

इस उदाहरण में वाच्य अर्थ को स्पष्ट रूप से न कहने वाले 'के पि' इस पद ने अनन्त और अक्लिष्ट व्यंग्य का बोधन कराते हुए कौन-सा सौन्दर्य नही उत्पन्न कर दिया है ॥३८॥

और काकु द्वारा जो यह (प्रसिद्ध) अर्थान्तर (बिल्कुल भिन्न अर्थ, अथवा उसी अर्थ का वैशिष्ट्य, अथवा उसका अभाव-रूप अन्य अर्थ) की प्रतीति दिखाई देती है वह व्यंग्य के गौण होने से इसी (गुणीभूत व्यंग्य) भेद के अन्तर्गत होती है ॥३।३९॥

और कहीं काकु से जो यह (प्रसिद्ध) अन्य (वाच्य अर्थ से भिन्न १. अर्थान्तर, अथवा उसी वाच्य अर्थ का २. अर्थान्तर-संक्रमित विशेष, अथवा ३. तदभाव-रूप (त्रिविध) अर्थ की प्रतीति देखी जाती है वह व्यंग्य अर्थ के गुणी भाव होने पर गुणीभूत व्यंग्य नामक काव्य-भेद के अन्तर्गत होती है ॥३९॥

यह गुणीभूत व्यंग्य का प्रकार भी रस आदि तात्पर्य का विचार करने से फिर ध्वनि (काव्य) हो जाता है। (संलक्ष्यक्रम व्यंग्य की दृष्टि से गुणीभूत होने पर भी रसादि के विचार से वह ध्वनि-रूप में परिगणित हो सकता है) ॥३।४१॥

गुणीभूत व्यंग्य नामक काव्य का भेद रस आदि के तात्पर्य के विचार करने से फिर ध्वनि-रूप ही हो जाता है। जैसे ऊपर उदाहृत (पत्युः 'शिरश्चन्द्रकलां' तथा 'प्रयच्छतोच्चैः') दोनो श्लोकों मे। (गुणीभूत व्यंग्यत्व का उपपादन कर चुके हैं। फिर भी उन दोनो मे शृंगार रस के प्राधान्य होने से ध्वनि काव्यत्व उचित ही है)।

(पृष्ठ ३८९–४०९)

८ चित्र-काव्य का स्वरूप

चित्रकाव्य-निरूपण—

इसी प्रकार व्यंग्य के प्रधान और गुणभाव से स्थिर होने पर वह दोनों (ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य) काव्य होते हैं। और उन से भिन्न जो (काव्य रह जाता) है उसे (चित्र के समान काव्य के तात्त्विक व्यंग्यरूप से विहीन छन्दोबद्ध काव्य की प्रतिकृति के समान होने से) चित्र (काव्य) कहते हैं ॥३।४२॥

शब्द और अर्थ के भेद से चित्र (काव्य) दो प्रकार का होता है। इनसे कुछ शब्द-चित्र होते हैं और उन (शब्द-चित्र) से भिन्न अर्थ-चित्र कहलाते) हैं ॥३।४३॥

व्यंग्य अर्थ का प्राधान्य होने पर ध्वनि नाम का काव्य-भेद (होता है) और गौण होने पर गुणीभूत व्यंग्यत्व होता है। उन (ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य दोनो) से भिन्न रस, भाव आदि मे तात्पर्य से रहित, और व्यंग्यार्थ विशेष के प्रकाशन की शक्ति से रहित, केवल वाच्य वाचक (अर्थ और शब्द) के वैचित्र्य के आधार पर निर्मित जो काव्य आलेख्य (चित्र) के समान (तात्त्विक-रूप-रहित प्रतिकृति मात्र) प्रतीत होता है उसको चित्र (काव्य) कहते है। वह मुख्य रूप से (यथार्थ) काव्य नही है अपितु काव्य की अनुकृति (नक्ल) मात्र है। उनमे से कुछ शब्द-चित्र होते है जैसे दुष्कर यमक आदि। और अर्थ-चित्र शब्द-चित्र से भिन्न, व्यंग्य संस्पर्श रहित, रसादि तात्पर्य से शून्य, प्रधान वाक्यार्थ रूप से स्थिर उत्प्रेक्षा आदि (अर्थ-चित्र या वाच्य-चित्र) होते हैं।

(पूर्वपक्ष) अच्छा यह 'चित्र-काव्य' क्या है ? जिस मे प्रतीयमान (व्यग्य) अर्थ का सम्बन्ध न हो ? (उसी को चित्र-काव्य कहते हैं न ?) प्रतीयमान अर्थ (वस्तु, अलकार और रसादि रूप) तीन प्रकार का होता है यह बात पहिले प्रतिपादन कर चुके हैं। उनमे से जहाँ वस्तु अथवा अलकारादि व्यंग्य न हो उसे चित्र-काव्य का विषय भले ही मान लो। (परन्तु जो रसादि का विषय न हो ऐसा कोई काव्य-भेद सम्भव नही है। क्योकि काव्य मे किसी वस्तु का संस्पर्श (पदार्थ-बोधकत्व) न हो यह युक्तिसगत नही है। और ससार की सभी वस्तुएँ किसी रस या भाव का अंग अवश्य ही बन जाती हैं (अन्य रूप से रस सम्बन्ध न सम्भव हो सके तो भी) अन्ततः विभाव-रूप से (प्रत्येक वस्तु का किसी न किसी रस से सम्बन्ध हो ही जाता है)। रसादि (के अनुभवात्मक होने से और अनुभव के चित्तवृत्ति-रूप होने से) चित्तवृत्ति विशेष रूप ही है। और (संसार मे) ऐसी कोई वस्तु नही है जो किसी प्रकार की चित्तवृत्ति को उत्पन्न न करे। अथवा यदि वह (वस्तु) उस (चित्तवृत्ति) को उत्पन्न नही करती है तो वह कवि का विषय ही नहीं हो सकती है। (क्योंकि सांख्य, योग आदि दर्शनों के सिद्धान्त मे इन्द्रिय प्रणालिका अर्थात् श्रोत्र आदि द्वारा चित्त का विषय के साथ सम्बन्ध होने पर चित्त का अर्थाकार जो परिणाम होता है उसी को चित्तवृत्ति कहते हैं और उसी से पुरुष को बोध होता है। चित्तवृत्ति प्रमाण अर्थात् प्रमा का साधन रूप होती है और उससे पुरुष को जो बोध होता है वही प्रमा या उसका फल कहलाता है—इसी को ज्ञान कहते हैं। इसलिए यदि चित्तवृत्ति उत्पन्न न हो तो उस पदार्थ का ज्ञान ही नही हो सकता है। अतः वह कवि के ज्ञान का विषय नही हो सकती है।) कवि का विषय (भूत) कोई पदार्थ ही चित्र (काव्य, कवि कर्म) कहलाता है।

(सिद्धान्त पक्ष) ठीक है, ऐसा कोई काव्य-प्रकार नही है जिसमें रसादि की प्रतीति न हो। किन्तु रस, भाव आदि की विवक्षा से रहित कवि, जब अर्थालकार

अथवा शब्दालंकार की रचना करता है तब उसकी विवक्षा की दृष्टि से (काव्य मे) रसादिशून्यता की कल्पना करते हैं। काव्य में विवक्षित अर्थ ही शब्द का अर्थ होता है। उस प्रकार के (चित्र-काव्य) के विषय में कवि की (रसादि विषयक) विवक्षा न होने पर भी यदि रसादि की प्रतीति होती है तो वह दुर्बल होती है। इसलिए भी उसको नीरस मान कर चित्र-काव्य का विषय माना है। सो ऐसा कहा भी है—

रस भाव आदि की विवक्षा के अभाव मे जो अलंकारों की रचना है वह चित्र (काव्य) का विषय माना गया है।

और जब रस भाव आदि की तात्पर्य-रूप (प्रधान-रूप) से विवक्षा हो तब ऐसा कोई काव्य नही हो सकता है जो ध्वनि का विषय न हो।

विशृंखल वाणी वाले कवियों की, रसादि में तात्पर्य की अपेक्षा किए बिना ही काव्य (रचना की) प्रवृत्ति देखने से ही हमने इस चित्र (काव्य) की कल्पना की है। उचित काव्य-मार्ग के निर्धारण कर दिए जाने पर (ध्वनि-प्रस्थापन के बाद के) आधुनिक कवियों के लिए तो ध्वनि से भिन्न और कोई काव्य-प्रकार है ही नही। रसादि तात्पर्य के बिना परिपाकवान् कवियो का व्यापार ही शोभित नही होता। (यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्, तं शब्दन्यासनिष्णाता.शब्दपाकं प्रचक्षते। रसादि की दृष्टि से उचित शब्द और अर्थ की, जिसमे एक भी शब्द को इधर-उधर अथवा परिवर्तन करने का अवकाश न हो—इस प्रकार की रचना का जिनको अभ्यास हो गया है वह कवि परिपाक-युक्त कवि होते हैं)। रसादि (मे) तात्पर्य होने पर तो कोई वस्तु ऐसी नही है जो अभिमत रस का अंग बनाने पर चमक न उठे। (प्रशस्तगुण-युक्त न हो जाय)। अचेतन पदार्थ भी कोई ऐसे नही हैं जो कि ढंग से, उचित रस के विभाव-रूप से अथवा (उनके साथ) चेतन व्यवहार के सम्बन्ध द्वारा रस का अग न बन सके। जैसा कि कहा भी है—

अनन्त काव्य-जगत मे (उसका निर्माता) केवल कवि ही एक प्रजापति (ब्रह्मा) है। उसे जैसा अच्छा लगता है यह विश्व उसी प्रकार बदल जाता है।

यदि कवि रसिक (शृंगार प्रधान) है तो यह सारा जगत रसमय (शृंगारमय) हो जाता है और यदि वह वैरागी है तो यह वह सब ही नीरस हो जाता है।

. सुकवि (अपने) काव्य में अचेतन पदार्थों को भी चेतन के समान और चेतन पदार्थों को भी अचेतन के समान जैसा चाहता है वैसा व्यवहार कराता है।

पूर्ण रूप से रस में तत्पर कवि की ऐसी कोई वस्तु नही हो सकती है जो उसकी इच्छा से उसके अभिमत रस का अंग न बन जाये अथवा इस प्रकार (रसागंतया) उपनिबद्ध हो कर चारुत्वातिशय को पोषित न करे। यह सब कुछ, महाकवियों के काव्यों में दृष्टिगोचर होता है। हमने भी अपने काव्य-प्रबन्धो (विषमबाणलीला, अर्जुनचरित और देवीशतक आदि) में उचित रूप से दिखाया है। इस प्रकार (सब पदार्थों का रस के साथ सम्बन्ध) स्थिर हो जाने पर (सर्व एवं) कोई भी काव्य-प्रकार ध्वनि-रूपता का अतिक्रमण नही करता। कवि को रसादि की अपेक्षा होने पर गुणीभूतव्यंग्य रूप भेद भी इस (ध्वनि) का अंग बन जाता है, यह पहिले कह चुके हैं।

जब राजा आदि की स्तुतियो (चाटु, खुशामद, राजादि की स्तुति) अथवा देवताओं की स्तुतियों मे रसादि की अंग-रूप से) स्थिति हो, और (प्राकृत कवियों की गोष्ठी मे हिअअलिया नाम से प्रसिद्ध विशेष प्रकार की) हृदयवती (नामक) सहृदयों ('सप्रज्ञकाः सहृदया उच्यन्ते' इति लोचनम्) की किन्ही गाथाओं में व्यंग्य-विशिष्ट वाच्य मे प्राधान्य हो तब भी गुणीभूत व्यंग्य, ध्वनि की विशेष धारा-रूप ही होता है यह बात पहिले कह आए हैं। (दीधितिकार ने सप्रज्ञक की जगह षट्प्रज्ञक पाठ माना है—धर्मार्थकाममोक्षेषु लोकतत्वार्थयोरपि। षट्सु प्रज्ञास्ति यस्योच्चैः षट्प्रज्ञ इति सस्मृतः॥ इति त्रिकाण्ड शेषः।) इस प्रकार (ध्वनि के ही प्रधान होने पर आधुनिक कवियो के लिए काव्यनीति का उपदेश (शिक्षण) करने मे (स्थिति इस प्रकार है कि) यदि (आवश्यकता हो तो), केवल अभ्यासार्थी भले ही 'चित्र काव्य' का व्यवहार कर लें, परन्तु परिपक्व (सिद्धहस्त) कवियों के लिए तो ध्वनि ही (एकमात्र) काव्य है यह सिद्ध हो गया। × × × ॥४३॥ (पृष्ठ ४१८—४२४)

६. कवि-प्रतिभा

यदि (कवि में) प्रतिभा गुण हो तो इस प्रकार ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के आश्रय से काव्य के (वर्णनीय रमणीय) अर्थों की कभी समाप्ति ही नही हो सकती है। ॥४।६॥

प्राचीन कवियो के प्रबन्धों (काव्यों) के रहते हुए भी, यदि (कवि मे) प्रतिभा गुण है (तो नवीन वर्णनीय तत्त्वो की समाप्ति नही हो सकती है)। और उस (प्रतिभा) के न होने पर तो कवि के (पास) कोई वस्तु नही है (जिससे वह अपूर्व चमत्कारयुक्त काव्य का निर्माण कर सके)। दोनों अर्थों (ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य) के अनुरूप शब्दों के सन्निवेश रूप, रचना का सौन्दर्य भी (आवश्यक) अर्थ की प्रतिभा (प्रतिभान, प्रतिभा) के अभाव में कैसे आ सकता है। (ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यंग्य) अर्थ की अपेक्षा के बिना ही अक्षरों की रचना मात्र ही रचना का सौन्दर्य (रचना

सौन्दर्यजनक) है। यह बात सहृदयो के (हृदय के) समीप नही पहुँच सकती। ऐसा होने पर (ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यंग्य के बिना भी अक्षर-रचना मात्र से रचना मे सौन्दर्य मानने से) तो अर्थहीन (ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य अर्थ से रहित) चतुर (समास आदि रूप से सगठित) और मधुर (मृदु-कोमल अक्षरो से परिपूर्ण) रचना मे भी काव्य व्यवहार होने लगेगा। शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव (साहित्य) मे ही काव्यत्व होता है इसलिए उस प्रकार के (अर्थहीन, चतुर, मधुर रचना) विषय मे काव्यत्व की व्यवस्था कैसे होगी (अर्थात् काव्य व्यवहार प्राप्त नहीं होगा) यह कहे तो (उत्तर यह है कि) दूसरे के (मत मे) उपनिबद्ध (शब्द निरपेक्ष उत्कृष्ट ध्वनि-रूप) अर्थ (से युक्त) रचना मे जैसे (केवल अर्थ के वैशिष्ट्य से) काव्य व्यवहार (वह करता है इसी प्रकार इस प्रकार के (अर्थ-निरपेक्ष शब्द रचना मात्र) काव्य सन्दर्भों मे भी (काव्य व्यवहार) होने लगेगा। (अतएव) अर्थ-निरपेक्ष अक्षर-रचना मात्र सौन्दर्य का हेतु नही है) ॥६॥ (पृष्ठ ४७३-४७४)

अनुवादक : आचार्य विश्वेश्वर

आनन्दवर्द्धन

[ध्वन्यालोक]*

१. ध्वनेः स्थितिः स्वरूपञ्च

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ॥१।१॥

बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आसमन्ताद्, म्नातः, प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनःप्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः । तदभाववादिनां चामी विकल्पाः सम्भवन्ति ।

तत्र केचिदाचक्षीरन्, शब्दार्थशरीरत्वाद् काव्यम् । तत्र शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव । अर्थगताश्चोपमादयः । वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते । तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः श्रवणगोचरम् । रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः । तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति ।

अन्ये ब्रूयुः नास्त्येव ध्वनिः । प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः । सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् । न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत्संभवति । न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित् परिकल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते ।

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः । न संभवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित् । कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात् । तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किञ्चन कथनं स्यात् ।

किं च, वाग्विकल्पानामानन्त्यात् संभवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे, ध्वनिर्भवनिरिति यदेतदलीकसहृदयत्वभावना-

*गौतम बुक डिपो, दिल्ली द्वारा प्रकाशित प्रथम संकरण

मुकुलितलोचनेनृत्यते, तत्र हेतुं न विद्मः। सहृदयश्लो हि महात्मभिरन्यैरलंकारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च। न च तेषामेषा दशा श्रूयते। तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः। न त्वस्य क्षोदक्षमं तत्त्वं किंचिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्। तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः,—

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मनः प्रह्लादि सालंकृति,
व्युत्पन्ने रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो,
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥

भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः।

यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्, भाक्तमाहुस्तमन्ये इति।

केचित् पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः। तेनैवंविधासु विमतिषु स्थितासु सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः।

तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतं, अतिरमणीयं, प्रणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्। अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतीनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानां, आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते॥१॥

तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भमिकां रचयितुमिदमुच्यते—

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥१।२॥

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थः, तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ॥२॥

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।

बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः,

काव्यलक्ष्मविधायिभिः ।

ततो नेह प्रतन्यते ॥१।३॥

केवलमूनद्यते पुनर्यथोपयोगम् ॥३॥

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥१।४॥

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद् वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यत् तत् सहृदयसुप्रसिद्धं, प्रसिद्धेभ्योऽलंकृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वावयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु । यथा ह्यङ्गनासु लावण्यं पृथङ् निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं, तत्त्वान्तरं, तद्वदेव सोऽर्थः ।

स ह्यर्थो, वाच्यसामर्थ्यक्षिप्तं वस्तुमात्रं, अलंकाररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते । सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम् । तथा हि, आद्यस्तावत् प्रभेदो वाच्याद् दूरं विभेदवान् । स हि कदाचिद् वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपः । यथा—

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुनओ अज्ज मारिओ देण ।
गोलाणइ कच्छकुडंगवासिणा दरिअ सीहेण ॥
[भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुंजवासिना दृप्तसिंहेन ॥ इतिच्छाया]

× × × ×

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥१।५॥

विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः । तथा चादिकवेर्वाल्मीकेर्निहतसहचरीविरहकातरक्रौंचाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः ।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

शोको हि करुणरसस्थायिभावः । प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात् ॥५॥

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥१।६॥

तत् वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तं अभिव्यनक्ति । येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा एव वा महाकवय इति गण्यन्ते ॥६॥

इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावसाधनं प्रमाणम्—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥१।७॥

सोऽर्थो यस्मात् केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते । यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात्, तद् वाच्यवाचकस्वरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात् । अथ च वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिवाप्रगीतानां गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवासावर्थः ॥७॥

एवं वाच्यप्रतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्राधान्यं तस्यैवेति दर्शयति—

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥१।८॥

स व्यङ्ग्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन, न शब्दमात्रम् । तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ । व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण ॥८॥

२. ध्वनेर्भेदाः

अस्ति ध्वनिः । स चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन । तत्राद्यस्योदाहरणम् :—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

द्वितीयस्यापि :—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः ।
सुमुखि येन तवाधरपाटलं, दशति बिम्बफलं शुकशावकः ॥
(पृष्ठ ७८-७९)

अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम् ॥२।१॥

तथाविधाभ्यां च ताभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव विशेषः । × × ×

असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः ।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ॥२।२॥

मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्ग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा । स च वाच्यार्थापेक्षया कश्चिदलक्ष्यक्रमतया प्रकाशते, कश्चित् क्रमेणेति द्विधा मतः ॥२॥

तत्र,

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ॥२।३॥

रसादिरर्थो हि सहेव वाच्येनावभासते । स चाङ्गित्वेनावभासमानो ध्वनेरात्मा ॥३॥

३. प्रबन्धकाव्ये रसाभिव्यञ्जना

सर्गबन्धे तु रसतात्पर्ये यथारसमौचित्यं, अन्यथा तु कामचारः । द्वयोरपि मार्गयोः सर्गबन्धविधायिनां दर्शनाद् रसतात्पर्यं साधीयः । अभिनेयार्थे तु सर्वथा रसबन्धेऽभिनिवेशः कार्यः । आख्यायिकाकथयोस्तु गद्यनिबन्धनबाहुल्याद्, गद्ये च छन्दोबन्धभिन्नप्रस्थानत्वादिह नियमहेतुरकृतपूर्वोऽपि मनाक् क्रियते ॥३।७॥

एतद् यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम् ।
सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते ॥३।८॥

यदेतदौचित्यं वक्तृवाच्यगतं संघटनाया नियामकमुक्तमेतदेव गद्ये छन्दोनियमवर्जितेऽपि विषयापेक्षं नियमहेतुः। तथाह्यत्रापि यदा कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावरहितस्तदा कामचारः। रसभावसमन्विते तु वक्तरि पूर्वोक्तमेवानुसर्तव्यम्। तत्रापि च विषयौचित्यमेव। आख्यायिकायान्तु भूम्ना मध्यसमासावीर्घसमासे एव सङ्घटने। गद्यस्य विकटबन्धाश्रयेण छायावत्त्वात्। तत्र च तस्य प्रकृष्यमाणत्वात्। कथायान्तु विकटबन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्यमनुसर्तव्यम् ॥८॥

रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किंचिद् विभेदवत् ॥३।९॥

अथवा पद्यवद् गद्यबन्धेऽपि रसबन्धोक्तमौचित्यं सर्वत्र संश्रिता रचना भाति तत्तु विषयापेक्षं किञ्चिद् विशेषवद् भवति। न तु सर्वाकारम्। तथाहि गद्यबन्धेऽपि अतिदीर्घसमासा रचना न विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोराख्यायिकायामपि शोभते। नाटकादावप्यसमासैव सङ्घटना। रौद्रवीरादिवर्णने विषयापेक्षं त्वौचित्यं प्रमाणतोऽपकृष्यते प्रकृष्यते च। तथा ह्याख्यायिकायां नात्यन्तमसमासा स्वविषयेऽपि, नाटकादौ नातिदीर्घसमासा चेति सङ्घटनाया विगनुसर्तव्या ॥९॥

इदानीमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः प्रबन्धात्मा रामायणमहाभारतादौ प्रकाशमानः प्रसिद्ध एव। तस्य तु यथा प्रकाशनं तत् प्रतिपाद्यते :—

विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्य-चारुणः।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥३।१०॥

इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्ट-रसोचित-कथोन्नयः ॥३।११॥

सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्र-स्थितिसंपादनेच्छया ॥३।१२॥

उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा।
रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिनः ॥३।१३॥

अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥३।१४॥

प्रबन्धोऽपि रसादीनां व्यञ्जक इत्युक्तं तस्य व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्।

प्रथमं तावत्, विभावभावानुभावचसञ्चार्यौचित्यचारुणः कथाशरीरस्य विधिः। यथायथं प्रतिपिपादयिषितरसभावाद्यपेक्षया य उचितो विभावो भावोऽनुभावः सञ्चारी वा तदौचित्यचारुणः कथाशरीरस्य विधिर्व्यञ्जकत्वे निबन्धनमेकम्।

तत्र विभावौचित्यं तावत् प्रसिद्धम्। भावौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यात्। प्रकृतिर्हि, उत्तममध्यमाधमभावेन दिव्यमानुषादिभावेन च विभेदिनी। तां यथाययमनुसृत्यासङ्कीर्णः स्थायीभाव उपनिबध्यमान औचित्यभाग् भवति। अन्यथा तु केवलमानुषाश्रयेण दिव्यस्य, केवलदिव्याश्रयेण वा केवलमानुषस्य, उत्साहादय उपनिबध्यमाना अनुचिता भवन्ति। तथा च केवलमानुषस्य राजादेर्वर्णने सप्तार्णवलङ्घनादिलक्षणा व्यापारा उपनिबध्यमानाः सौष्ठवभृतोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति। तत्र त्वनौचित्यमेव हेतुः।

ननु नागलोकगमनादयः सातवाहनप्रभृतीनां श्रूयन्ते तदलोकसामान्यप्रभावातिशयवर्णने किमनौचित्यं सर्वोर्वीभरणक्षमाणां क्षमाभुजामिति।

नैतदस्ति। न वयं ब्रूमो यत् प्रभावातिशयवर्णनमनुचितं राज्ञाम्। किन्तु केवलमानुषाश्रयेण योत्पाद्यवस्तुकथा क्रियते तस्यां दिव्यमौचित्यं न योजनीयम्। दिव्यमानुष्यायान्तु कथायामुभयौचित्ययोजनमविरुद्धमेव। यथा पाण्डवादिकथायाम्। सातवाहनादिषु तु येषु यावदपदानं श्रूयते तेषु तावन्मात्रमनुगम्यमानमनुगुणत्वेन प्रतिभासते। व्यतिरिक्तं तु तेषामेवोपनिबध्यमानमनुचितम्।

तदयमत्र परमार्थः—

'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥'

अतएव च भरते प्रख्यातवस्तुविषयत्वं प्रख्यातोदात्तनायकत्वं च नाटकस्यावश्यकर्त्तव्यतयोपन्यस्तम्। तेन हि नायकौचित्यानौचित्यविषये कविर्न व्यामुह्यति। यस्तूत्पाद्यवस्तु नाटकादि कुर्यात्, तस्याप्रसिद्धानुचितनायकस्वभाववर्णने महान् प्रमादः।

ननु यद्युत्साहादिभाववर्णने कथञ्चिद् दिव्यमानुष्यौचित्यपरीक्षा क्रियते तत् क्रियताम्। रत्यादौ तु किन्तया प्रयोजनम्। रतिर्हि भारतवर्षोचितेनैव व्यवहारेण दिव्यानामपि वर्णनीयेति स्थितिः।

नैवम्। तत्रौचित्यातिक्रमेण सुतरां दोषः। तथा ह्यधमप्रकृत्यौचित्येनोत्तमप्रकृतेः शृङ्गारोपनिबन्धने का भवेन्नोपहास्यता।

त्रिविधं प्रकृत्यौचित्यं भारते वर्षेऽप्यस्ति शृङ्गारविषयम् ।

यत्तु दिव्यमौचित्यं तत् तत्रानुपकारकमेवेति चेत् ?

न वयं दिव्यमौचित्यं शृङ्गारविषयमन्यत्किञ्चिद्ब्रूमः ।

किं तर्हि ?

भारतवर्षविषये यथोत्तमनायकेषु राजादिषु शृङ्गारोपनिबन्धस्तथा दिव्याश्रयोऽपि शोभते । न च राजादिषु प्रसिद्धग्राम्यशृङ्गारोपनिबन्धनं प्रसिद्धं नाटकादौ, तथैव देवेषु तत् परिहर्तव्यम् ।

नाटकादेरभिनेयार्थत्वादभिनयस्य च सम्भोगशृङ्गारविषयस्यासभ्यत्वात् तत्र परिहार इति चेत् ?

न । यद्यभिनयस्यैवंविषयस्यासभ्यता तत् काव्यस्यैव विषयस्य सा केन निवार्यते । तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्ये यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतिभिर्नायिकाभिः सह ग्राम्यसम्भोगवर्णनं तत् पित्रोः सम्भोगवर्णनमिव सुतरामसभ्यम् । तथैवोत्तमदेवताविषयम् ।

न च सम्भोगशृङ्गारस्य सुरतलक्षण एवैकः प्रकारः, यावदन्येऽपि प्रभेदाः परस्परप्रेमदर्शनादयः सम्भवन्ति, ते कस्मादुत्तमप्रकृतिविषये न वर्ण्यन्ते । तस्मादुत्साहवद् रतावपि प्रकृत्यौचित्यमनुसर्तव्यम् । तथैव विस्मयादिषु । यत्त्वेवंविधे विषये महाकवीनामप्यसमीक्ष्यकारिता लक्ष्ये दृश्यते स दोष एव । स तु शक्तितिरस्कृतत्वात् तेषां न लक्ष्यते, इत्युक्तमेव ।

अनुभावौचित्यं तु भरतादौ प्रसिद्धमेव । इयत्तूच्यते । भरतादिविरचितां स्थितिं चानुवर्तमानेन महाकविप्रबन्धांश्च पर्यालोचयता स्वप्रतिभां चानुसरता कविनाऽवहितचेतसा भूत्वा विभावाद्यौचित्यभ्रंशपरित्यागे परः प्रयत्नो विधेयः ।

औचित्यवतः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ग्रहो व्यञ्जक इत्येतेनैतत् प्रतिपादयति यदितिहासादिषु कथासु रसवतीषु विविधासु सतीष्वपि यत्तत्र विभावाद्यौचित्यवत् कथाशरीरं तदेव ग्राह्यं नेतरत् । वृत्तादपि च कथाशरीरादुत्प्रेक्षिते विशेषतः प्रयत्नवता भवितव्यम् । तत्र ह्यनवधानात् स्खलतः कवेरव्युत्पत्तिसम्भावना महती भवति ।

परिकरश्लोकश्चात्र :—

कथाशरीरमुत्पाद्य वस्तु कार्यं तथा तथा ।
यथा रसमयं सर्वमेव तत्प्रतिभासते ॥

तत्र चाभ्युपायः सम्यग् विभावाद्यौचित्यानुसरणम् तच्च दर्शितमेव ।

किञ्च :—

सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः ।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी ॥

तेषु हि कथाश्रयेषु तावत् स्वेच्छैव न योज्या । यदुक्तम् 'कथामार्गे न चाल्पोऽप्यतिक्रमः ।' स्वेच्छापि यदि योज्या तद्रसविरोधिनी न योज्या ।

इदमपरं प्रबन्धस्य रसाभिव्यञ्जकत्वे निबन्धनम् । इतिवृत्तवशायातां कथञ्चिद्रसाननुगुणां स्थितिं त्वक्त्वा पुनरुत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेयः । यथा कालिदासप्रबन्धेषु । यथा च सर्वसेनविरचिते हरिविजये । यथा च मदीय एवाऽर्जुनचरिते महाकाव्ये । कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम् । तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत् तदेमां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणां कथान्तरमुत्पादयेत् । न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किञ्चित् प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः ।

रसाभिव्यञ्जकत्वे प्रबन्धस्य चेदमन्यन्मुख्यं निबन्धनं, यत् सन्धीनां मुखप्रतिमुखगर्भावमर्शनिर्वहणाख्यानां, तदङ्गानां चोपक्षेपादीनां घटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया । यथा रत्नावल्याम् । न तु केवलं शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया यथा वेणीसंहारे विलासाख्यस्य प्रतिमुखसन्ध्यङ्गस्य प्रकृतरसनिबन्धनाननुगुणमपि द्वितीयेऽङ्के भरतमतानुसरणमात्रेच्छया घटनम् ।

इदं चापरं प्रबन्धस्य रसव्यञ्जकत्वे निमित्तं यदुद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा रसस्य, यथा रत्नावल्यामेव । पुनरारब्धविश्रान्ते रसस्याङ्गिनोऽनुसन्धिश्च, यथा तापसवत्सराजे ।

प्रबन्धविशेषस्य नाटकादेः रसव्यक्तिनिमित्तमिदं चापरमवगन्तव्यं यदलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम् । शक्तो हि कविः कदाचित् अलङ्कारनिबन्धने तदाक्षिप्ततयैवानपेक्षितरसबन्धः प्रबन्धमारभते तदुपदेशार्थमिदमुक्तम् । दृश्यन्ते च कवयोऽलङ्कारनिबन्धनैकरसा अनपेक्षितरसाः प्रबन्धेषु ॥१४॥

(पृष्ठ २५३-२६६)

४. रसविरोधीनि तत्त्वानि

कानि पुनस्तानि विरोधीनि यानि यत्नतः कवेः परिहर्तव्यानीत्युच्यते :—

विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः ।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥३।१८॥

अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम् ।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्यनौचित्यमेव च ॥३।१९॥

प्रस्तुतरसापेक्षया विरोधी यो रसस्तस्य सम्बन्धिनां विभावभावानुभावानां परिग्रहो रसविरोधहेतुकः सम्भावनीयः ।

तत्र विरोधिरसविभावपरिग्रहो यथा, शान्तरसविभावेषु तद्विभावतयैव निरूपितेष्वनन्तरमेव शृङ्गारादिविभाववर्णने ।

विरोधिरसभावपरिग्रहो यथा प्रियं प्रति प्रणयकलहकुपितासु कामिनीषु वैराग्यकथाभिरनुनये ।

विरोधिरसानुभावपरिग्रहो यथा प्रणयकुपितायां प्रियायामप्रसीदन्त्यां नायकस्य कोपावेशविवशस्य रौद्रानुभाववर्णने ।

अयं चान्यो रसभङ्गहेतुर्यत् प्रस्तुतरसापेक्षया वस्तुनोऽन्यस्य कथञ्चिदन्वितस्यापि विस्तरेण कथनम् । यथा विप्रलम्भशृङ्गारे नायकस्य कस्यचिद् वर्णयितुमुपक्रान्ते, कवेर्यमकाद्यलङ्कारनिबन्धनरसिकतया महता प्रबन्धेन पर्वतादिवर्णने ।

अयं चापरो रसभङ्गहेतुरवगन्तव्यो यदकाण्ड एव विच्छित्ती रसस्याकाण्ड एव च प्रकाशनम् ।

तत्रानवसरे विरामो यथा नायकस्य कस्यचित् स्पृहणीयसमागमया नायिकया कयाचिन् परां परितोषपदवीं प्राप्ते शृङ्गारे, विदिते च परस्परानुरागे, समागमोपायचिन्तोचितं व्यवहारमुत्सृज्य स्वतन्त्रतया व्यापारान्तरवर्णने ।

अनवसरे च प्रकाशनं रसस्य यथा प्रवृत्ते प्रवृद्धविविधवीरसंक्षये कल्पसंक्षयकल्पे संग्रामे रामदेवप्रायस्यापि तावन्नायकस्यानुपक्रान्तविप्रलम्भशृङ्गारस्य निमित्तमुचितमन्तरेणैव शृङ्गारकथायामवतारवर्णने ।

न चैवंविधे विषये दैवव्यामोहितत्वं कथापुरुषस्य परिहारो, यतो रसबन्ध एव कवेः प्राधान्येन प्रवृत्तिनिबन्धनं युक्तम् । इतिवृत्तवर्णनं तदुपाय एवेत्युक्तं प्राक् —"आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः" इत्यादिना ।

अतएव चेतिवृत्तमात्रवर्णनप्राधान्येऽङ्गाङ्गिभावरहितरसभावनिबन्धेन च कवीनामेवंविधानि स्खलितानि भवन्तीति रसादिरूपव्यङ्ग्यतात्पर्यमेवैषां युक्तमिति यत्नोऽस्माभिरारब्धो न ध्वनिप्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन ।

पुनश्चायमन्यो रसभङ्गहेतुरवधारणीयो यत् परिपोषं गतस्यापि रसस्य पौनःपुन्येन दीपनम् । उपभुक्तो हि रसः स्वसामग्रीलब्धपरिपोषः पुनः पुनः परामृश्यमाणः परिम्लानकुसुमकल्पः कल्पते ।

तथावृत्तेर्व्यवहारस्य यदनौचित्यं तदपि रसभङ्गहेतुरेव । यथा नायकं प्रति नायिकायाः कस्याश्चिदुचितां भङ्गिमन्तरेण स्वयं सम्भोगाभिलाषकथने ।

यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालङ्कारान्तरप्रसिद्धानामुपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यमविषये निबन्धनं तदपि रसभङ्गहेतुः ।

एवमेषां रसविरोधिनामन्येषाञ्चानया दिशा स्वयमुत्प्रेक्षितानां परिहारे सत्कविभिरवहितैर्भवितव्यम् । परिकरश्लोकाश्चात्र :—

मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां रसादयः ।
तेषां निबन्धने भाव्यं तैः सदैवाप्रमादिभिः ॥
नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः ।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः ॥
पूर्वे विशृंखलगिरः कवयः प्राप्तकीर्तयः ।
तान् समाश्रित्य न त्याज्या नीतिरेषा मनीषिणा ॥
वाल्मीकिव्यासमुख्याश्च ये प्रख्याताः कवीश्वराः ।
तदभिप्रायबाह्योऽयं नास्माभिर्दर्शितो नयः ॥ इति ॥१९॥

(पृष्ठ २५९-२९५)

५. प्रबन्धकाव्येऽङ्गभूतो रसः

ननु रसोन्तरेषु बहुषु प्राप्तपरिपोषेषु सत्सु कथमेकस्याङ्गिता न विरुध्यत इत्याशङ्क्येदमुच्यते :—

रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः।
नोपहन्त्यङ्गितां सोऽस्य स्थायित्वेनावभासिनः ॥३।२२॥

प्रबन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुतः सन् पुनः पुनरनुसन्धीयमानत्वेन स्थायी यो रसस्तस्य सकलबन्धव्यापिनो रसान्तरैरन्तरालवर्तिभिः समावेशो यः स नाङ्गितामुपहन्ति ॥२२॥

एतदेवोपपादयितुमुच्यते :—

कार्यमेकं यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते।
तथा रसस्यापि विधौ विरोधो नैव विद्यते ॥३।२३॥

सन्ध्यादिमयस्य प्रबन्धशरीरस्य यथा कार्यमेकमनुयायि व्यापकं कल्प्यते न च तत् कार्यान्तरैर्न संकीर्यते, न च तैः सङ्कीर्यमाणस्यापि तस्य प्राधान्यमपचीयते, तथैव रसस्याप्येकस्य सन्निवेशे क्रियमाणे विरोधो न कश्चित्। प्रत्युत प्रत्युदितविवेकानामनुसन्धानवतां सचेतसां तथाविधे विषये प्रह्लादातिशयः प्रवर्तते ॥२३॥

ननु येषां रसानां परस्पराविरोधः यथा वीरशृंगारयोः, शृंगारहास्ययोः, रौद्रशृंगारयोः, वीराद्भुतयोः, वीररौद्रयोः, रौद्रकरुणयोः, शृंगाराद्भुतयोर्वा तत्र भवत्वङ्गाङ्गिभावः। तेषां तु स कथं भवेद् येषां परस्परं बाध्यबाधकभावो यथा शृंगारबीभत्सयोः, वीरभयानकयोः, शान्तरौद्रयोः, शान्तशृंगारयोर्वा इत्याशङ्क्याह—

अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे।
परिपोषं न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता ॥३।२४॥

अङ्गिनि रसान्तरे शृंगारादौ प्रबन्धव्यङ्ग्ये सति, अविरोधी विरोधी वा रसः परिपोषं न नेतव्यः। तत्राविरोधिनो रसस्याङ्गिरसापेक्षयात्यन्तमाधिक्यं न कर्तव्यमित्ययं प्रथमः परिपोषपरिहारः। उत्कर्षसाम्येऽपि तयोः विरोधासम्भवात्।

यथा—

एक्कन्तो रुइअ पिआ अण्णन्तो समरतूरणिग्घो ।
णेहेण रणरसेण अ भडस्स दोलाइअं हिअअम् ॥

[एकतो रोदिति प्रिया अन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः।
स्नेहेन रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ॥ इतिच्छाया ॥]

यथा वा—

कण्ठाच्छित्वाक्षमालावलयमिव करे हारमावर्तयन्ती,
कृत्वा पर्यङ्कबन्धं विषधरपतिना मेखलाया गुणेन।
मिथ्यामन्त्राभिजापस्फुरदधरपुटव्यञ्जिताव्यक्तहासा
देवी सन्ध्याभ्यसूयाहसितपशुपतिस्तत्र वृष्टा तु वोऽव्यात् ॥

इत्यत्र।

अङ्गिरसविरुद्धानां व्यभिचारिणां प्राचुर्येणानिवेशनम्, निवेशने वा क्षिप्रमेवाङ्गिरसव्याभिचार्यनुवृत्तिरिति द्वितीयः।

अङ्गत्वेन पुनः पुनः प्रत्यवेक्षा परिपोषं नीयमानस्याप्यङ्गभूतस्य रसस्येति तृतीयः। अनया दिशान्येऽपि प्रकारा उत्प्रेक्षणीयाः। विरोधिनस्तु रसस्याङ्गिरसापेक्षया कस्यचिन्न्यूनता सम्पादनीया, यथा शान्तेऽङ्गिनि शृंगारस्य, शृंगारे वा शान्तस्य।

परिपोषरहितस्य रसस्य कथं रसत्वमिति चेत्, उक्तमत्राङ्गिरसापेक्षयेति। अङ्गिनो हि रसस्य यावान् परिपोषस्तावांस्तस्य न कर्तव्यः। स्वतस्तु संभवी परिपोषः केन वार्यते।

एतच्चापेक्षिकं प्रकर्षयोगित्वमेकस्य रसस्य बहुरसेषु प्रबन्धेषु रसानामङ्गाङ्गिभावमनभ्युपगच्छताप्यशक्यप्रतिक्षेपमित्येनेन प्रकारेणाविरोधिनां विरोधिनां च रसानामङ्गाङ्गिभावेन समावेशे प्रबन्धेषु स्यादविरोधः।

एतच्च सर्वं येषां रसो रसान्तरस्य व्यभिचारी भवति इति दर्शनं तन्मतेनोच्यते। मतान्तरे तु रसानां स्थायिनो भावा उपचाराद् रसशब्देनोक्तास्तेषामङ्गत्वं निर्विरोधमेव ॥२४॥ (पृष्ठ ३१३-३१६)

६. शृङ्गारस्य प्रमुखरसत्वम्

अवधानातिशयवान् रसे तत्रैव सत्कविः।
भवेत् तस्मिन् प्रमादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते ॥३।२६॥

तत्रैव च रसे सर्वेभ्योऽपि रसेभ्यः सौकुमार्यातिशययोगिनि कविरवधानवान् प्रयत्नवान् स्यात्। तत्र हि प्रमाद्यतस्तस्य सहृदयमध्ये क्षिप्रमेवावज्ञानविषयता भवति ॥२६॥

शृंगाररसो हि संसारिणां नियमेनानुभवविषयत्वात् सर्वरसेभ्यः कमनायतया प्रधानभूतः। एवं च सति :—

विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति ॥३।३०॥

शृंगारविरुद्धरसस्पर्शः शृंगाराङ्गानां यः स न केवलमविरोधलक्षणयोगे सति न दुष्यति, यावद् विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा क्रियमाणो न दुष्यति। शृंगाररसाङ्गैरुन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः सुखं विनयोपदेशान् गृह्णन्ति। सदाचारोपदेशरूपा हि नाटकादिगोष्ठी, विनेयजनहितार्थमेव मुनिभिरवतारिता।

किञ्च शृंगारस्य सकलजनमनोहराभिरामत्वात् तदङ्गसमावेशः काव्ये शोभातिशयं पुष्यतीत्यनेनापि प्रकारेण विरोधिनि रसे शृंगाराङ्गसमावेशो न विरोधी। ततश्च :—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥

इत्यादिषु नास्ति रसविरोधदोषः ॥३०

(पृष्ठ ३२८-३३०)

७. गुणीभूतव्यङ्ग्यः

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ॥३।३५॥

व्यंग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम्। तस्य तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यंग्यो नाम काव्यप्रभेदः प्रकल्प्यते। तत्र वस्तुमात्रस्य व्यंग्यस्य तिरस्कृतवाच्येभ्यः प्रतीयमानस्य कदाचिद्वाच्यरूपवाक्यार्थापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यंग्यता।

यथा :—

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कवलिकाण्डमृणालवण्डाः ॥

अतिरस्कृतवाच्येभ्योऽपि शब्देभ्यः प्रतीयमानस्य व्यंग्यस्य कदाचिद्वाच्यप्राधान्येन काव्यचारुत्वापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यंग्यता। यथोदाहृतं, 'अनुरा-

गवती सन्ध्या' इत्येवमादि ।

तस्यैव स्वयमुक्त्या प्रकाशीकृतत्वेन गुणीभावो यथोदाहृतम्, 'संकेतकालमनसम्' इत्यादि । रसादिरूपव्यंग्यस्य गुणीभावो रसवदलङ्कारे दर्शितः । तत्र च तेषामाधिकारिकवाक्यापेक्षया गुणीभावो विवहनप्रवृत्तभृत्यानुयायिराजवत् ।

व्यंग्यालंकारस्य गुणीभावे दीपकादिविषयः ॥३५॥

तथा :—

प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः ।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसा ॥३।३६॥

ये चैतेऽपरिमितस्वरूपा अपि प्रकाशमानास्तथाविधार्थरमणीयाः सन्तो विवेकिनां सुखावहाः काव्यबन्धास्तेषु सर्वेष्वेवायं प्रकारो गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम योजनीयः । × × (पृष्ठ ३८९-३९२)

तदेवं व्यंग्यांशसंस्पर्शे सति चारुत्वातिशययोगिनो रूपकादयोऽलंकाराः सर्व एव गुणीभूतव्यंग्यस्य मार्गः । गुणीभूतव्यंग्यत्वं च तेषां तथाजातीयानां सर्वेषामेवोक्तानामनुक्तानां सामान्यम् । तल्लक्षणे सर्व एवैते सुलक्षिता भवन्ति ।

एकैकस्य स्वरूपविशेषकथनेन तु सामान्यलक्षणरहितेन प्रतिपदपाठेनेव शब्दा न शक्यन्ते तत्त्वतो निर्ज्ञातुम् । आनन्त्यात् । अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालंकाराः ।

गुणीभूतव्यंग्यस्य च प्रकारान्तरेणापि व्यंग्यार्थानुगमलक्षणेन विषयत्वमस्त्येव । तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्ष्यणीयः सहृदयैः । सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम् । तदिदं काव्यरहस्यं परमिति सूरिभिर्विभावनीयम् ॥३।३७॥

मुख्य महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥३।३८॥

अनया सुप्रसिद्धोऽप्यर्थः किमपि कामनीयकमानीयते । तद्यथा—विस्रम्भोत्था मन्मथाज्ञाविधाने ये मुग्धाक्ष्याः केऽपि लीलाविशेषाः । अक्षण्वन्तस्ते चेतसा केवलेन, स्थित्वैकान्ते सन्ततं भावनीयाः ॥

इत्यत्र, केऽपीत्यनेन पदेन वाच्यमस्पष्टमभिदधता प्रतीयमानं वस्त्वखिलष्टममन्तर्भवयता का छाया नोपपादिता ॥३८॥

अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते ।
सा व्यंग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता ॥३।३९॥

या चैषा काक्वा क्वचिदर्थान्तरप्रतीतिर्दृश्यते सा व्यंग्यस्यार्थस्य गुणीभावे सति गुणीभूतव्यंग्यलक्षणं काव्यप्रभेदमाश्रयते । × × ×

(पृष्ठ ४००-४०४)

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यंग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥३।४१॥

गुणीभूतव्यंग्योऽपि काव्यप्रकारो रसभावादितात्पर्यालोचने पुनर्ध्वनिरेव सम्भद्यते । यथात्रैवानन्तरोदाहृते श्लोकद्वये । (पृष्ठ ४०९)

८. चित्रकाव्यस्य स्वरूपम्

गुणप्रधानभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥३।४२॥

चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् ॥३।४३॥

व्यंग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञितकाव्यप्रकारः, गुणाभावे तु गुणीभूतव्यंग्यता । ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यंग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम् । न तन्मुख्यं काव्यम् । काव्यानुकारो ह्यसौ । तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं, यथा दुष्करयमकादि । वाच्यचित्रं ततः शब्दचित्रादन्यद् व्यंग्यार्थसंस्पर्शरहितं, प्राधान्येन वाक्यार्थतया स्थितं रसादितात्पर्यरहितमुत्प्रेक्षादि ।

अथ किमिदं चित्रं नाम ? यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शः । प्रतीयमानो ह्यर्थस्त्रिभेदः प्राक् प्रदर्शितः । तत्र, यत्र वस्त्वलंकारान्तरं वा व्यंग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः । यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव । यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते । वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते, अन्ततो विभावत्वेन । चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः । न च

तदस्ति वस्तु किंचिद् यत्र चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति । तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात् । कविविषयश्च चित्रतया कश्चिन्निरूप्यते ।

अत्रोच्यते । सत्यं न तादृक् काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः । किन्तु यदा रसाभावाविविवक्षाशून्यः कविः शब्दालंकारमर्थालंकारं वोपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यतार्थस्य परिकल्प्यते । विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः । वाच्यसामर्थ्यवशेन च कविविवक्षाविरहेऽपि तथाविधे विषये रसाविप्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्बला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते । तदिदमुक्तम्—

रसभावाविविषयविवक्षाविरहे सति ।
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥
रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा ।
तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्र न गोचरः ॥

एतच्च चित्रं कवीनां विशृङ्खलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्तिदर्शनादस्माभिः परिकल्पितम् । इदानीन्तनानां तु न्याय्ये काव्यनयव्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः । यत परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते । रसादितात्पर्ये च नास्त्येव तद्वस्तु यदभिमतरसाङ्गतां नीयमानं न प्रगुणी भवति । अचेतना अपि हि भावा यथायथमुचितरसविभावतया चेतनवृत्तान्तयोजनया वा न सन्त्येव ते ये यान्ति न रसाङ्गताम् । तथा चेदमुच्यते—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥
शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ॥
भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत् ।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥

तस्मान्नास्त्येव तद्वस्तु यत्सर्वात्मना रसतात्पर्यवतः कवेस्तदिच्छया तदभिमतरसाङ्गतां न धत्ते । तथोपनिबध्यमानं वा न चारुत्वातिशयं पुष्णाति सर्वमेतच्च महाकवीनां काव्येषु दृश्यते । अस्माभिरपि स्वेषु काव्यप्रबन्धेषु यथायथं दर्शितमेव । स्थिते चैवं सर्व एव काव्यप्रकारो न ध्वनिधर्मतामतिपतति । रसाद्यपेक्षायां कवेर्गुणीभूतव्यंग्यलक्षणोऽपि प्रकारस्तदङ्गतामवलम्बते, इत्युक्तं प्राक् ।

यदा तु चाटुषु वेवतास्तुतिषु वा रसादीनामङ्गतया व्यवस्थानं, हृदयवतीषु च सप्रज्ञकगाथासु कासुचिद् व्यंग्यविशिष्टवाच्ये प्राधान्यं तदपि गुणीभूतव्यंग्यस्य ध्वनिनिष्यन्दभूतत्वमेवेत्युक्तं प्राक्। तदेवमिदानीन्तनकविकाव्यनयोपदेशे क्रियमाणे प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः। प्राप्तपरिणतीनान्तु ध्वनिरेव काव्यमिति स्थितमेतत्। (पृष्ठ ४१८-४२३)

९. कवि-प्रतिभा

ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यंग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः ॥४।६॥

सत्स्वपि पुरातनकविप्रबन्धेषु यदि स्यात्प्रतिभागुणः। तस्मिंस्त्वसति न किंचिदेव कवेर्वंस्त्वस्ति। बन्धच्छायाप्यर्थद्वयानुरूपशब्दसन्निवेशेऽर्थप्रतिभानाभावे कथमुपपद्यते। अनपेक्षितार्थविशेषाक्षररचनैव बन्धच्छायेति नेदं नेदीयः सहृदयानाम्। एवं हि सत्यर्थानपेक्षचतुरमधुरवचनरचनायामपि काव्यव्यपदेशः प्रवर्तेत। शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वे कथं तथाविधे विषये काव्यव्यवस्थेति चेत्, परोपनिबद्धार्थविरचने यथा तत्काव्यत्वव्यवहारस्तथा तथाविधानां काव्यसन्दर्भाणाम् ॥६॥

(पृष्ठ ४७३-४७४)

अभिनवगुप्त

समय—दशम शतक का अन्त—एकादश शतक का आरम्भ

[अभिनव-भारती]*

१. भरत सूत्र की व्याख्या

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः—

इस सूत्र की भट्ट लोल्लट आदिकों ने इस प्रकार व्याख्या की—

भट्ट लोल्लट

विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग, अर्थात् स्थायी भाव के साथ संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। उनमे से 'विभाव' स्थायी स्वरूप वाली चित्त-वृत्ति के कारण हैं। 'अनुभाव' शब्द से यहाँ पर रस से उत्पन्न (सहृदय के) अनुभाव अपेक्षित नही हैं, क्योकि रस के कारण-रूप मे उनकी गणना नही हो सकती है अपितु भावों से उत्पन्न अनुभाव ही यहाँ अभिप्रेत हैं। यद्यपि व्यभिचारी भाव चित्त-वृत्ति रूप होने से स्थायी भाव के सहभावी नहीं हैं तो भी उनका वासनात्मक रूप ही यहाँ विवक्षित है। × × × अतएव विभाव, अनुभाव आदि से परिपुष्ट स्थायी भाव ही रस होता है और अपरिपुष्ट दशा में वह स्थायी भाव कहलाता है। वह रस मुख्य रूप से तो रामादि अनुकार्य में रहता है; और रामादि के रूप में अपने आप को ढाल देने के कारण वह अभिनेता में भी [गौण रूप से] रहता है। (पृष्ठ २७४)

शंकुक

उपर्युक्त लोल्लट-सम्मत व्याख्या ठीक नही है—ऐसा श्री शंकुक का मत है। (यथार्थ) विभावादि के संयोग के बिना स्थायी भाव के लिंगों के अभाव में उस (रस) की प्रतीति असम्भव हो जायेगी, क्योंकि भावों की पूर्व स्थिति आवश्यक है, अतः वर्तमान दशा में [हमारी व्याख्या के अतिरिक्त] दूसरी व्याख्या व्यर्थ होगी।

उपचितावस्थापन्न स्थायी भाव को रस कहने से निम्नांकित आपत्तियाँ खड़ी हो जायेंगी—

---

* भरत-प्रणीत नाटय-शास्त्र पर अभिनव-भारती नामक टीका।

(क) स्थायी भाव और रस भी मन्द, मन्दतर, मन्दतम और मध्यम रूप से कई प्रकार का होता है; अतः किस अवस्था को लोल्लट के मतानुसार उपचित माना जाएगा।

(ख) इसी प्रकार हास्य रस के भी [स्मित, अवहसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित] जो कि उत्तरोत्तर प्रकृष्टावस्थापन्न हैं, रस नहीं माने जा सकेंगे, क्योंकि आपके मत में जो उचित है, वही (अतिहसित ही) रस नाम से अभिहित होगा।

(ग) इसी प्रकार शृगार-रसान्तर्भूत काम की अभिलाष आदि दस अवस्थाओं मे जो शृंगार अथवा रति आदि असंख्य रूप धारण कर लेते हैं, वे सभी के सभी रस नही कहला सकेंगे।

(घ) इस के अतिरिक्त शोक जसे भाव का काल-क्रम से तीव्रता से मन्दता को प्राप्त हो जाना अवश्यम्भावी है। जिस प्रकार सेवा के द्वारा अनर्थ भाव का ह्रास हो जाता है, उसी प्रकार विभिन्न कारणों से क्रोध, उत्साह और रति का भी। अत. राम आदि अनुकार्य के रत्यादि भावो का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हुए बिना स्थायी भाव उपचितावस्था को प्राप्त नही हो सकेंगे।

अतः हमारा मत यह है कि रस मुख्य वृत्ति से रामादि अनुकार्य मे रहता है। अभिनेता प्रयत्न द्वारा कारण-रूप विभाव, कार्य-रूप अनुभाव और सहकारी कारण-रूप व्यभिचारी भावो का अनुकरण करता है, उसके अभिनय कौशल के कारण वे विभावादि कृत्रिम होने पर भी सामाजिक को कृत्रिम प्रतीत नहीं होते। सामाजिक अनुमान के बल से अभिनेता मे प्रतीयमान स्थायी भाव को वास्तविक मान लेता है, और तभी उसे रस की अनुभूति होती है। (पृष्ठ २७४)

भट्टनायक

भट्टनायक इस प्रकार मानते हैं—रस की न तो अनुमिति होती है, न उत्पत्ति होती है और न अभिव्यक्ति। आत्मगत रूप से अनुमिति मानने पर, करुण में दुःख की ही प्रतीति होनी चाहिए। पर यह प्रतीति ठीक नही है, क्योंकि सीतादि की वहाँ विभाव-रूप से स्थिति नही है। अपनी प्रिया की स्मृति मे भी ज्ञानाभाव है। देवतादि में साधारणीकरण की योग्यता नहीं है क्योकि समुद्र लाँघना आदि असाधारण व्यापार हैं। इन सबसे युक्त राम की स्मृति अभाव से नहीं हो सकती है। शब्द, अनुमान आदि के द्वारा राम की प्रतीति होने पर लोक की सरसता प्रत्यक्ष के समान हो जाती है—ऐसा नही कह सकते, क्योकि नायकद्वय की प्रतीति में तो लज्जा,

जुगुप्सा, स्पृहा आदि उनमें रहने वाली दूसरी चित्तवृत्तियों का उदय हो जायेगा। × × × (भट्ट लोल्लट के) उत्पत्तिवाद मे भी यह दोष समान है। × × × इसलिए काव्य में दोष के अभाव एवं गुणालंकार के योग की विशेषता वाले, नाट्य मे चतुर्विध अभिनय रूप वाले, × × विभावादि के साधारणीकरण रूप से अभिधा के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के भावकत्व व्यापार से भावित होता हुआ रस अनुभव, स्मृति आदि से विलक्षण, रज और तम के निरोध के वैशिष्ट्य के कारण हृदय में विस्तार के विकास की विशेषता से युक्त, सत्त्व के उद्रेक से प्रकाश-आनन्द स्वरूप, आत्मज्ञान की विश्रान्ति से विलक्षण, परब्रह्म के आस्वाद के समान भोगरूप शक्ति के द्वारा विशेष रूप से भुक्त होता है। × × × (पृष्ठ २७८-२७९)

अभिनवगुप्त

जैसा शंकुकादिकों का कथन है कि 'स्थायी ही विभावादि से अनुमेय होकर प्रतीत होने से रस कहलाता है'—यह ठीक नही। इस प्रकार मान लेने पर लौकिक सम्बन्धों मे भी रस की प्रतीति क्यो नही होगी ? जहाँ वस्तु के न होने पर भी रस माना जा रहा है वहाँ वस्तु के होने पर रस की प्रतीति क्यों नही होगी ? अतएव स्थायी की प्रतीति अनुमिति के रूप मे कही जा सकती है न कि रस की। इसीलिए सूत्र मे स्थायी को नही रखा है। क्योकि उसका रखना केवल बाधा-स्वरूप होता। केवल औचित्य के कारण ही ऐसा कह देते हैं कि स्थायी भाव रस को प्राप्त होता है।

× × × (पृष्ठ २८५)

पाक के स्वरूप वाली सम्यक् योजना के द्वारा अलौकिक रस की उत्पत्ति होती है। उसमे प्रधान रूप से जल रस का अभिव्यजक है, और व्यजन विभाव का, तथा इमली, हल्दी आदि अनुभाव तुल्य हैं। गुड़, इमली आदि द्रव्य अपने खट्टेपन आदि रसो से विलक्षण, मधुर आदि के योग से व्यभिचारी भाव के सदृश हैं जो अपने में उनका रस ग्रहण और उनमे अपने रस का संक्रमण कर विचित्र आस्वाद धारण कर लेते हैं। मिश्रण के उपरान्त होने वाला विभाव-तुल्य व्यंजन से उत्पन्न रस विशेष स्थायी सदृश होता है। वह पानक रस लौकिक है। यह कुशलजनों की निर्वृति के योग्य और सहृदयों द्वारा आस्वाद्य होता है। इसलिए अन्न के अध्याहार की आवश्यकता नहीं है। जैसे कि वर्णित सूत्र में स्थायी-ग्रहण कण्टक सदृश होने से तीन का ही ग्रहण किया गया है, उसी प्रकार दृष्टान्त मे भी तीन का उपादान ही ठीक है।

जिस प्रकार व्यंजन के आस्वाद मे तत्पर चित्त वाले भोक्ता मे आस्वादकता होती है क्योंकि दूसरी जगह मन रहने से भोजन करके भी आस्वाद का ज्ञान नहीं होता है। प्रसन्नता, वृद्धि, जीवन, पुष्टि, बल और आरोग्य आस्वाद के फल होते हैं।

उसी प्रकार अभिनय के द्वारा व्यक्त, स्थायी शब्द से प्रतिपादित रस में आस्वाद्यता निर्विवाद है। एकाग्रचित्त तन्मय सामाजिक में आस्वादकता होती है। हर्ष-प्रधान धर्मादि की व्युत्पत्ति, वैदग्ध्य आदि आस्वाद के फल होते हैं, इसलिए कर्म, कर्त्ता और फल की समानता से विभावादि से उत्पन्न ज्ञान विशेष रसना का व्यापार माना गया है, यह तात्पर्य है। × × × × (पृष्ठ २८६-२६०)

अभिनय का महत्त्व

दूसरे तो काव्य में भी गुण, अलंकार, सौन्दर्यातिशय से रसास्वाद मानते हैं। हमारा कथन है—मुख्य रूप से काव्य दश-रूपकात्मक होता है। उसमें उचित भाषा, व्यापार, काकु, नेपथ्य आदि के द्वारा रसवत्ता की पूर्त्ति होती है।

× × ×

जो स्वभाव से स्वच्छ दर्पण के समान हृदय वाले हैं, उनका मन संसारोचित क्रोध, मोह, इच्छा आदि के वशीभूत नही होता है। दश-रूपक के श्रवण के समय साधारण रसनात्मक आस्वाद से ग्राह्य उन की रसानुभूति नाट्यलक्षण में स्पष्ट ही है। जो (व्यक्ति) उस प्रकार की वृत्ति वाले नही हैं, भरत मुनि ने उन के आस्वाद के लिए तो नटादि का व्यापार तथा आत्मगत, क्रोध, शोक आदि संकटमय ग्रन्थियों के नष्ट करने के लिए गीत आदि का विधान किया है।

× × ×

अन्य तो अभिनय आदि सामग्री से युक्त बाहर दिखाई पड़ने वाला नाट्य नटोचित कर्म रूप है, इस तात्पर्य से नाट्य से रसोत्पत्ति होती है ऐसा कहते हैं .....

जो ऐसा कहते हैं कि रत्यादि का अनुकरण रूप रस है, उनके मत में शोक किस प्रकार सुख का कारण होता है ? वे उसका परिहार करते हैं कि नाट्यगत यह कोई विशेष धर्म है, उनका यह कथन ठीक नही है। क्या प्रतीयमान शोक प्रतीति करने वाले के मन मे नियमत दुःख की अनुभूति कराता है क्योंकि शत्रु के दुःख में हर्ष होता है एव अन्यत्र उदासीनता रहती है। उत्तर—ऐसा कुछ नही। वस्तु-स्वभाव के अनुसार ही भावानुभूति होती है।

हमारे मत में तो आनन्दातिशय संवेदन का ही आस्वाद होता है। वहाँ दुःख की आशङ्का ही क्या है ? केवल उसी की चित्रता के लिए रति, शोक आदि वासना के व्यापार हैं एवं उसी के उद्बोधन के लिए अभिनय आदि।

× × ×

रसों से भाव उत्पन्न नही होते हैं, यह भाव शब्द के अर्थ पर विचार कर से सिद्ध होता है। इसी को श्लोक मे कहा है—भली भाँति सम्बद्ध हृदयगत रसों क अनेक प्रकार के अभिनयों द्वारा भावन अर्थात् सम्पादन करने के कारण भाव कहलाते हैं। × × × (पृष्ठ २९१-२९४)

२. शान्त रस

रस नौ प्रकार के है, जो ऐसा स्वीकार करते हैं उनके मत में शान्त रस के स्वरूप का कथन किया जाता है। इस विषय में कुछ कहते हैं कि शम स्थायी भावात्मक शान्त रस तपस्या, योगियो के सम्पर्क आदि विभावो के द्वारा उत्पन्न होता है। काम, क्रोध आदि के अभाव-रूप अनुभावों से उसका अभिनय होता है। धृति, मति आदि उसके व्यभिचारी भाव हैं।

इस बात (शान्त रस की स्वीकृति) को दूसरे नही मानते हैं। उनका कथन है कि शम और शान्त के पर्यायवाची होने के कारण एक संख्या घट जाने से पचास भाव नही हो सकते × × × तप और अध्ययन आदि शान्त के अनन्तर हेतु नही हैं। यदि यह कहा जाय कि ये तत्त्व-ज्ञान के अनन्तर हेतु हैं तो वे प्राक्प्रतिपादित तत्त्व-ज्ञान मे प्रयोजक होते हैं अतएव तप, अध्ययन आदि को विभाव कहना अनुचित है। कामादि का अभाव भी अनुभाव नही हो सकता; क्योकि शान्त से इतर रसों में भी उसकी सत्ता पाई जाती है और इसी से वह अनुमापक नही है। ज्ञापक और अभिनय में समवाय रूप से स्थिति नही है। व्यापार का अभाव अभिनेय नहीं। सुप्तावस्था, मूर्च्छा आदिक भी निश्वास, उच्छ्वास, पतन एवं पृथ्वी-शयन आदि चेष्टा-रूप अनुभावो से व्यक्त किए जाते हैं। विषयो से उपरक्त धृति आदि भी किस प्रकार शान्त मे हो सकते है? × × × इसलिए शान्त रस पृथक् नही है।

इसका उत्तर यह है—जिस प्रकार इस ससार में धर्म, अर्थ, काम हैं उसी प्रकार मोक्ष भी पुरुषार्थ है। शास्त्रों मे, स्मृति इतिहास, आदि मे प्रधान रूप से उपाय रूप मे मोक्ष का कथन है यह सुप्रसिद्ध है। जिस प्रकार कामादिकों मे समुचित चित्त-वृत्तियाँ रत्यादि शब्द से अभिहित होकर कवि व्यापार के और नट के द्वारा आस्वाद की योग्यता प्राप्त कर उस प्रकार के हृदय-ज्ञान से सामाजिकों के प्रति शृंगार आदि रसावस्था को प्राप्त कराती हैं, उसी प्रकार मोक्ष नामक परम पुरुषार्थ के योग्य चित्त-वृत्ति रस की अवस्था को क्यों नही प्राप्त कराती? जो इस प्रकार की चित्त-वृत्ति है वही यहाँ पर शान्त रस का स्थायी भाव है। विचारणीय यह है कि वह क्या

वस्तु है ? कुछ कहते हैं कि वह तत्त्व-ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद है। उस का प्रतिपादन करते हैं—दारिद्रय आदि के द्वारा उत्पन्न निर्वेद से तत्त्व-ज्ञान द्वारा उत्पन्न निर्वेद भिन्न होता है क्योंकि इन दोनों के हेतु भिन्न हैं। स्थायी और संचारी के बीच में इसीलिए इसका पाठ है। अन्यथा मङ्गल में विश्वास रखने वाले मुनि उस प्रकार से न पढ़ते। × × ×

तत्त्व-ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद अन्य स्थायियों को दबा देने वाला है। भाव-वैचित्र्य को सहन करने वाले रत्यादिकों की अपेक्षा जो अधिक स्थायित्वयुक्त होता है वही अन्य स्थायी भावों को दबा सकता है। यह भी प्रश्न उठता है—तत्त्व-ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद को स्थायी भाव मानने पर तत्त्व-ज्ञान को विभाव मानना होगा। वैराग्य-कारण तत्त्व-ज्ञान मे किस प्रकार विभावत्व होगा ? वैराग्य का उपाय होने के कारण, कारण के कारण के लिए भी विभाव का व्यवहार हो सकता है। यह सब अति प्रसग अनावश्यक है। तथा यह निर्वेद सर्वत्र अनुपादेयता-ज्ञापक होने पर भी वैराग्य लक्षणारत तत्त्व-ज्ञान के प्रति उपयोगी होता है। विरक्त पुरुष उस प्रकार का यत्न करता है जिससे उसे तत्त्व-ज्ञान उत्पन्न होता है। तत्त्व-ज्ञान से मोक्ष होता है। तत्त्व-ज्ञान से निर्वेद और निर्वेद से मोक्ष यह ठीक नही, क्यो कि वैराग्य से सब प्रकृतियाँ शान्त हो जाती हैं ऐसा आचार्यो का मत है।

तत्त्व-ज्ञानी को सर्वत्र अत्यधिक वैराग्य देखा गया है। जैसा कि योगदर्शनकार ने कहा है—'पुरुष को स्वरूप-ज्ञान के अनन्तर सर्वत्र वैराग्य हो जाता है'। ऐसा होने पर "इस प्रकार का ज्ञान वैराग्य की अन्तिम सीमा है" यह भगवान पतञ्जलि ने स्वयं कहा है। तो यह तत्त्व-ज्ञान ही तत्त्व-ज्ञान की परम्परा से पुष्ट किया जाता है इसलिए निर्वेद स्थायी भाव नही हो सकता अपितु तत्त्व-ज्ञान ही स्थायी रूप से होगा। जो कि व्यभिचारी की व्याख्या के अवसर मे कहा जाएगा वह चिरकालीन भ्रान्ति और प्रपञ्च की उपादेयता की निवृत्ति के लिए साधन मात्र है। जैसे कि कहा है—

> "मुझ जैसे मूर्ख ने तुझ जैसे कृपण एवं अगुणज्ञ को प्रणाम किया—
> स्तन के भार से नत गौ समझकर बैल को व्यर्थ दुहा। लावण्यहीन
> नपुंसक को युवती समझ कर आलिङ्गन किया। सूर्य-किरणों से
> प्रकाशित काच के टुकड़ों में वैदूर्यमणि की आशा की।"

यह खेद-रूप निवद विभाव है, यह हम वहीं कहेंगे। × × ×

शोक के प्रवाह को फैलाने वाली विशेष चित्त-वृत्ति का नाम ही निर्वेद है। रागादि का विनाश वैराग्य होता है।

यदि वैराग्य को ही निर्वेद मान लें तो भी उसके अपने कारण तत्त्व-ज्ञान के आधीन होने से बीच मे होने पर भी साध्य मोक्ष मे सूत्रस्थानीयता नही है। यह आचार्य द्वारा प्रतिपादित है। तत्त्व-ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद होता है इसलिए शम का ही निर्वेद नाम हो सकता है। शम और शान्त का पर्यायवाचित्व हास और हास्य की भाँति व्याख्यात है। पहला सिद्ध है दूसरा साध्य है। अलौकिक रूप से साधारणत्व और असाधारणत्व के द्वारा शम और शान्त की विलक्षणता भी सहज ही है। इसलिए निर्वेद को स्थायी नहीं कह सकते हैं।

दूसरे यह मानते हैं कि रति आदि ही आठ विशेष चित्त-वृत्तियाँ कहीं हैं, वे ही कथित विभाव से पृथक् श्रुतादि अलौकिक विभाव विशेष के आधीन होती हुई विचित्र ही हैं। उन्ही मे से एक यहाँ स्थायी अपने स्वरूप से अवच्छिन्न स्वात्म-विषयक रति ही मोक्ष का साधन है। वही शास्त्र में स्थायिनी है। जैसा कि कहा है—

"जो मनुष्य अपने में लीन होकर अपने से ही तृप्त रहता हुआ अपने आप में सन्तुष्ट रहता है उसके लिए कोई कार्य शेष नही रहता है।" (गीता ३—१७)

इस प्रकार समस्त विषयों में विकार को देखने वाले, संसार को शोचनीय जानने वाले और सासारिक वृत्तान्त को अपकारी समझने वाले, अत्यधिक मोह-रहित शक्ति का आश्रय लेने वाले, सब विषयो से पृथक्, सब लोको से अभिलषित, स्त्रियो के प्रति जुगुप्सा धारण करने वाले, अपने पूर्व आत्मस्वरूप की प्राप्ति से विस्मित को मोक्ष की सिद्धि होती है, इसलिए रति, हास आदि से लेकर विस्मय पर्यन्त मे एक को स्थायी समझना चाहिए। यह मुनि को अभिमत नही है ऐसी बात नही है। जिन विशिष्ट विभावो का परिगणन किया है उनमे [भरत मुनि ने] 'रत्यादि औरच' शब्द से उस प्रकार के अन्यो का भी ग्रहण किया है। तभी उनसे पृथक् अलौकिक हेतु से उपनत रत्यादि को मोक्ष का विषय माना है, इस प्रकार कहने वालो के परस्पर विचार मे एक का स्थायित्व नष्ट हो जाता है। उपाय भेद से उन का स्थायित्व कथन खण्डित ही है। प्रत्येक पुरुष का स्थायी भाव भिन्न होने से रस की अनन्तता माननी पड़ेगी। यदि यह कहा जाय कि एकमात्र मोक्ष ही फल होने के कारण रस एक है, तो क्षय ही एक मात्र फल होने पर वीर, रौद्र में भी एकता माननी पड़ेगी।

कुछ ऐसा कहते हैं कि पानक रस के समान एकत्व को प्राप्त हुए सब रत्यादि यहाँ स्थायी होते हैं। चित्त-वृत्तियों के एक साथ न होने के कारण तथा परस्पर विरोध होने के कारण भी शोभन नही। तो यहाँ स्थायी भाव क्या है? इसका उत्तर देते हैं—यहाँ तत्त्व-ज्ञान ही मोक्ष का साधन है अतएव उसी की मोक्ष में स्थायिता मानना

उचित है। तत्व-ज्ञान आत्म-ज्ञान को कहते हैं। × × ×
परिकल्पित विषय और उपभोग से रहित, ज्ञान, आनन्द आदि विशुद्ध धर्म से युक्त आत्मा ही यहाँ स्थायी है। स्थायी भाव के रूप से इसकी स्थायिता खण्डनीय नही। भिन्न-भिन्न कारणों के उदय और नाश से उत्पन्न और निरुद्ध होने वाले अपेक्षाकृत कुछ काल तक स्थायी रूप से अपने स्वरूप में स्थित रहने वाले स्थायी कहलाते हैं। तत्त्व-ज्ञान तो अन्य सभी भावों का आधार है, सब स्थायी भावों में स्थायितम, सब रत्यादिक चित्त-वृत्तियों को व्यभिचारी रूप से प्रकट करता हुआ स्वभावतः स्थायी है यह निन्दनीय नही है। इसलिए इसका पृथक् परिगणन ठीक नही है।.....
तो फिर इस की पृथक् गणना क्यो नही है ? इसका उत्तर यह है कि इसका आस्वाद भिन्न नही है। × × ×
यह सम्पूर्ण लौकिक और अलौकिक चित्त-वृत्ति समूह तत्त्व-ज्ञान रूप स्थायी भाव का व्यभिचारी होता है। उसके अभाव ही यम नियम आदि से अनुकृत अनुभाव होते हैं।

× × ×

अपनी आत्मा मे ही कृतकृत्य, परोपकार-विषयक इच्छा के प्रयत्न-रूप दूसरे के लिए किया गया उद्योग उत्साह है जो दया का पर्यायवाची और अत्यधिक अन्तरंग है। अतएव इसकी व्यभिचारिता के कारण इसका कोई दयावीर-रूप से और दूसरे धर्मवीर-रूप से कथन करते हैं।

उत्साह दो प्रकार का है—अहंकार-विशिष्ट और अहंकार-रहित शान्त। विरोधी भाव को व्यभिचारी मानना भी अनुचित नही, जैसे रति आदि में निर्वेद आदि—

> "हरी घास की शय्या, पवित्र शिला का आसन, वृक्षों के नीचे निवास, पीने के लिए सुन्दर झरने का पानी, खाने के लिए कन्दमूल, साथी के रूप मे मृग; इस प्राकर बिना किसी याचना के सब ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी एक ही दोष वन मे है कि याचकों के दुर्लभ होने के कारण परोपकार-रहित जनो का जीवन व्यर्थ है।"

—इत्यादि मे परोपकार करने मे उत्साह का उत्कर्ष ही दृष्टिगोचर होता है। अन्यथा उत्साहहीन कोई भी दशा इच्छा एवं प्रयत्न के अभाव से पत्थर के समान प्रतीत होगी। जिससे ही परावर को जान लेने से अपनी आत्मा के उद्देश्य से कोई कर्त्तव्य अवशिष्ट नही रहता है इसलिए शान्त हृदय वालों का परोपकार के लिए शरीर सर्वस्व आदि का दान शान्त रस का विरोधी नही होता है। × × ×

वहाँ भी हमारा अभिमत तत्त्व-ज्ञान अवश्य मानना पड़ेगा। अन्यथा शरीर को ही आत्मा मानने वालों का सर्वस्व-भूत शरीर होने पर, धर्मादि को लक्ष्य में न रख कर देहत्याग असम्भव हो जायगा। युद्ध मे भी शरीर-त्याग के लिए उद्यम नही, अपितु दूसरे की पराजय को लक्ष्य मे रख कर ही प्रवृत्ति होती है। भृगुपतन आदि मे भी अन्य सुन्दरतर शरीर प्राप्त करने की इच्छा ही प्रतीत होती है। तो स्वार्थ को लक्ष्य में न रख कर परोपकार के लिए जो जो देह-त्याग-पर्यन्त उपदेश, दान आदि कार्य किए जाते हैं वे आत्मा के तत्त्व-ज्ञान को न जानने वाले के लिए असम्भव हैं। 'वे ही तत्त्व-ज्ञानी हैं और सब आश्रमों में तत्त्व-ज्ञानियों की मुक्ति है।' यह स्मृतियों में कहा है और श्रुति मे भी। जैसा कि कहा है—

"देव-पूजन में लगा हुआ, तत्त्व-ज्ञान को जानने वाला, अतिथियों की सेवा करने वाला, श्राद्ध कर द्रव्य दान करने वाला गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है।"

केवल परोपकार-रूप फल से युक्त परार्थ से सम्बन्धित धर्मभाव के कारण, उसके उपयुक्त शरीर का प्रादुर्भाव बोधिसत्त्व आदि तत्त्व-ज्ञानियों के विषय में भी देखा गया है। × × × ×

इसीलिए प्राचीन पुस्तकों मे 'स्थायी भावों का रसत्व कहेगे' इसके बाद 'शम-स्थायी भावात्मक शान्तरस होता है' इत्यादि शान्त का लक्षण कहा गया है।××× इतिहास, पुराण, कोश आदि मे भी नव रस ही कहे गए हैं। और सिद्धान्त शास्त्रों मे भी। जैसा कि कहा है—

"आठों देवताओ के शृंगार आदि रस दिखलाने चाहिए और उनके मध्य में देवाधिदेव के शान्त रूप की कल्पना करनी चाहिए।"

उसके विभाव हैं—वैराग्य, संसार से भीरुता आदि। वह उन्ही से उपनिबद्ध होकर ज्ञात होता है। मोक्ष, शास्त्र की चिन्ता आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, मति, स्मृति, धृति आदि व्यभिचारी भाव हैं। अतएव ईश्वरोपासना-विषयक भक्ति और श्रद्धा; स्मृति, मति, धृति, उत्साह आदि मे ही समाविष्ट होने के कारण अंग रूप ही हैं अत. उनका पृथक् रस रूप से परिगणन नही है। इस विषय मे संग्रह कारिका है—

"जिसका निमित्त मोक्ष और अध्यात्म है और जो तत्त्व-ज्ञान-विषयक हेतु से युक्त है तथा निश्रेयस धर्म के सहित है, उसको शान्त रस जानना चाहिए।"

विभाव, स्थायी और अनुभावों का सम्बन्ध क्रमशः तीन विशेषणों से दिखलाया गया है।

"प्रत्येक भाव की अपने-अपने निमित्त को प्राप्त कर शान्त से ही प्रवृत्ति होती है। पुनः निमित्त के विनष्ट होने पर शान्त मे लीन हो जाता है।"

इत्यादि से अन्य रसों की प्रकृति का उपसंहार कर दिया। × × ×

इस प्रकार ये नवरस पुरुषार्थ के उपयोगी होने से अथवा रागाधिक्य से इतने ही वर्णित हैं। × × ×

३. अन्य रस

आर्द्रता स्थायी भाव वाला स्नेह रस होता है, यह ठीक नहीं है। स्नेह आसक्ति का नाम है। वह रति, उत्साह में ही अन्तर्भूत हो जाता है।

उसी प्रकार बालक का माता-पिता आदि के प्रति स्नेह (आदर) भय में शान्त होता है, युवकों का मित्रजन के प्रति स्नेह रति मे, लक्ष्मण आदि का भाई के प्रति स्नेह धर्मवीर में ही। इसी प्रकार वृद्ध का पुत्र आदि के प्रति स्नेह भी दृष्टव्य है। लालच स्थायी भाव वाले लौल्प रस के खण्डन में भी यही पद्धति मान्य है क्योकि उसका पर्यवसान भी हास में, रति में अथवा अन्यत्र हो जाता है। भक्ति के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। (पृष्ठ ३३३-३४२)

अनुवादक : डा० उदयभानु सिंह,
श्री आर्येन्द्र शर्मा एम. ए.
श्री सत्यदेव चौधरी एम. ए.

अभिनवगुप्तः

[अभिनव-भारती]*

१. भरतसूत्रस्य व्याख्या

भट्टलोल्लटः

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। अत्र भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेवं व्याचख्युः—विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः, तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्, अपि तु भावानामेव। येऽप्यनुभावाः व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना, तथापि वासनात्मतेह तस्य विवक्षिता। × × × तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी [भव] त्वनुपचितः। स चोभयोरपि मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्येऽनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलात्—इति। (पृष्ठ २७४)

शङ्कुकः

एतन्नेति श्रीशंकुकः। विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्यनुपपत्तभावानां पूर्वमभिधेयताप्रसङ्गात्, स्थितवशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्, मन्वतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्तेः, हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्तेः, कामावस्थासु दशस्वसङ्ख्यरसभावादिप्रसङ्गात्, शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात्तु मान्द्यदर्शनं क्रोधोत्साहरतीनाममर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च, तस्माद्धेतुभिर्विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः, अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः। (पृष्ठ २७४)

---

* 'नाट्य-शास्त्रम्, अभिनवगुप्त-विरचित-वृत्तिसमेतम्'। गायकवाड़ ओरण्टियल सीरीज़ बड़ोदा। जिल्द १, अध्याय ६

भट्टनायक।

भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्, न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात्, स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्, देवतादौ साधारणीकरणयोग्यत्वात्, समुद्रलङ्घनादेरसाधारण्यात्। न च तद्गतो रामस्य स्मृतिरनुपलब्धत्वात्। न च शब्दानुमानादिभ्यः तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता प्रयुक्ता प्रत्यक्षादिव, नायकयुगलकावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सास्पृहादिस्वोचितचित्तवृत्यन्तरोदयः। × × × उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम्। × × × तस्मात् काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण, × × × विभावादिसाधारणीकरणात्मनाभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो, रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्वृद्धि विस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशा नन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिविलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते इति। × × × (पृष्ठ २७८-२७९)

अभिनवगुप्तः

ननु (न ? तु) यथा शङ्कुकादिभिरभ्यधीयत, "स्थाय्येव विभावादिप्रत्याय्यो रस्यमानत्वाद्रस उच्यत" इति॥ एवं हि लौकिकेऽपि किं न रसः, असतोऽपि हि यत्र रसनीयता स्यात्तत्र वस्तुसतः कथं न भविष्यति। तेन स्थायिप्रतीतिरनुमितिरूपा वाच्या, न रसः। अत एव सूत्रे स्थायिग्रहणं न कृतम्। तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। केवलमौचित्यादेवमुच्यते स्थायी रसीभूत इति। × × × (पृष्ठ २८५)

पाकरूपया सम्यग्योजनया तावल्लौकिको रसा जायते। तत्र च प्रधानत्वेन जलस्य रसाभिव्यञ्जकत्वमिति व्यञ्जनं विभावस्यानीयं। चिञ्चाहरिद्राद्यनुभावप्रायम्। द्रव्याणि तु गुडादि, तदीयचुक्रादिरसविलक्षणमधुरादियोगाद्व्यभिचारिकल्पं स्वात्मनि तदुपजीवनेन च परत्र च स्वरससङ्क्रमणया वैचित्र्याधायकत्वात्। अत्र तु स्थायिकल्पस्तन्मिश्रणासमयभावी रसविशेषो विभावकल्पव्यञ्जनजनितो मन्तव्यः। स हि लौकिकः। अयन्तु कुशलैकनिव (र्व ?) र्त्यस्तद्विदां रसनीयो भवति। तेनाग्रस्येत्यध्याहारो न युक्तः। यथा हि दार्ष्टान्तिकसूत्रे स्थायिग्रहणं शल्यकल्पमिति त्रयमेत्रोपात्तं तथा दृष्टान्तेऽपि त्रयस्यैवोपादानं युक्तम्।

यथा हि व्यञ्जनसंस्कृतेनास्वाद्यतैकाग्रमनसि च भोक्तर्यास्वादयितृता, अन्यचित्तस्य भुञ्जानस्याप्यास्वादाभिमानाभावात्, प्रहर्षाप्यायजीवनपुष्टिबलारोग्याणां चास्वादफलता, तथाभिनयव्यञ्जितेऽचिन्त्या स्थायिशब्दव्यपदेश्ये रसे आस्वाद्यता, एकाग्रे च सामाजिके तन्मयीभूत आस्वादयितृता, हर्षप्रधानानां धर्माविद्युत्पत्तिवैदग्ध्यादीनामास्वादफलत्वमिति

कर्मकर्तुफलसादृश्याद्विभावादिजः प्रतीतिविशेषो रसनाक्रियेति व्यपदिष्ट इति तात्पर्यम् ।
× × × (पृष्ठ २८९-२९०)

अभिनयस्य महत्त्वम्

अन्ये तु काव्येऽपि गुणालङ्कारसौन्दर्यातिशयकृतं रसचर्वणमाहुः । वयं तु ब्रूमः—काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव । तत्र ह्यौचितैर्भाषावृत्तिकाकुनैपथ्यप्रभृतिभिः पूर्यते च रसवत्ता । × × × तत्र ये स्वभावतो निर्मलमुकुहृदयास्त एव संसारोचितक्रोध-मोहाभिलाषपरवशमनसो न भवन्ति । तेषां तथाविधदशरूपकाकर्णनसमये साधारणरस नात्मकचर्वणग्राह्यो रससंचयो नाट्यलक्षणस्फुट एव । ये त्वतथाभूतस्तेषां प्रत्यक्षोचि-ततथाविधचर्वणा लाभाय नटादिप्रक्रिया, स्वगतक्रोधशोकादिसङ्कटहृदयग्रन्थिभञ्जनाय गीतादिप्रक्रिया च मुनिना विरचिता । × × × अन्ये त्वभिनयादिसामग्रीमयं बहिर्दृश्यमानं नाट्यं नटधर्मकर्मरूपमित्याशयेन नाट्याद्रसा इत्याहुः । × × × ये तु रत्याद्यनुकरणरूपं रसमाहुः (ते) अथ चोदयन्ति शोकः कथं सुखहेतुरिति । परिहरन्ति च, अस्ति कोऽपि नाट्यगतानां विशेष इति । तत्र चोद्यं तावदसत् । शोको हि प्रतीयमानः किं स्वात्मनि प्रत्येतुर्दुःखं वितनोतीति नियमः, शत्रुदुःखे प्रहर्षात्, अन्यत्र च मध्यस्थत्वात् । उत्तरं तु भावानां वस्तुस्वभावमात्रेणेति न किञ्चिदेतत् ।

अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते । तत्र का दुःखाशङ्का । केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारस्तद्बोधने चाभिनयादिव्यापारः ।

× × × ×

न रसेभ्यो भावाः, भावशब्दार्थपर्यालोचनया चैतदेवोपपन्नमिति श्लोकेनाह । नानाभिनयैः सम्यग्बद्धान् हृद्यङ्गतान् भावयन्ति सम्पादयन्ति रसांस्तस्माद्भावाः ।
× × × (पृष्ठ २९१-२९४)

२. शान्तोरसः*

ये पुनर्नव रसा इति पठन्ति तन्मते शान्तस्वरूपमभिधीयते । तत्र केचिदाहुः—शान्तः शमस्थायिभावात्मकस्तत्पर्यायोगिसम्पर्कादिभिः विभावैरुत्पद्यते । तस्य काम-क्रोधाद्यभावरूपैरनुभावैरभिनयः । व्यभिचारी धृतिमतिप्रभृतिः (इति) ॥

---

* शान्तरस-विषयक निम्नलिखित पाठ गा० ओ० सी० से प्रकाशित नाट्यशास्त्र पर अभिनवगुप्त रचित वृत्ति से लिया गया है, पर अर्थ-सुकरता और पाठ-शुद्धता के लिए राघवन-प्रणीत "नम्बर आफ़ रस'स्"-संस्करण १९४० (पृष्ठ ९२-१०६) से भी सहायता ली गई है; और उसी के अनुसार पाठ में भी थोड़ा परिवर्त्तन कर दिया गया है । जिज्ञासु पाठक उक्त दोनों ग्रन्थ देख लें ।

एतदपरे न सहन्ते, शमशान्तयोः पर्यायत्वादेकान्न पञ्चाशद्भावा इति सङ्ख्यात्यागात्। × × × तपोऽध्ययनादयस्तु न शान्तस्य, समनन्तरहेतवः। तत्त्वज्ञानस्यानन्तरहेतव इति चेत्पूर्वोदिततत्त्वज्ञानेऽपि तर्हि प्रयोज्यतेति तपोऽध्ययनादीनां विभावतात्यक्ता स्यात्। कामाद्यभावोऽपि नानुभावः, शान्ताद्विपक्षादव्यावृत्तेः अगमकत्वात्प्रयोगासमवायित्वाच्च। न हि चेष्टाव्युपरमः प्रयोगयोग्यः। सुप्तमोहादयोऽपि हि निःश्वासोच्छ्वासपतनभूशयनादिभिश्चेष्टाभिरेवानुभाव्यन्ते। धृतिप्रभृतिरपि प्राप्तविषयोपरागः कथं शान्ते स्यात्। × × × तन्न शान्तो रस इति॥

अत्रोच्यते—यथा इह तावद्धर्मादित्रितयमेवं मोक्षोऽपि पुरुषार्थः, शास्त्रेषु स्मृतीतिहासादिषु च प्राधान्येनोपायतो व्युत्पाद्यत इति सुप्रसिद्धम्। यथा च कामादिषु समुचिताश्चित्तवृत्तयो रत्यादिशब्दवाच्याः कविनटव्यापारेणास्वाद्ययोग्यताप्रापणद्वारेण तथाविधहृदयसंवादवतः सामाजिकान्प्रति रसत्वं शृङ्गारादितया नीयन्ते, तथा मोक्षाभिधानपरमपुरुषार्थोचिता चित्तवृत्तिः किमिति रसत्वं नानीयत इति वक्तव्यम्। या चासौ तथाभूता चित्तवृत्तिः सैवात्र स्थायिभावः। एतत्तु चिन्त्यम्, किं नामासौ तत्त्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति केचित्। तथा हि—दारिद्र्यादिप्रभवो यो निर्वेदस्ततोऽन्य एव हेतोस्तत्त्वज्ञानस्य वैलक्षण्यात्। स्थायिसञ्चारिमध्ये चैतदर्थमेवायं पठितोऽन्यथा माङ्गलिको मुनिस्तथा न पठेत्। × × × तत्त्वज्ञानजश्च निर्वेदः स्थाव्यन्तरोपमर्दकः। भाववैचित्र्यसहिष्णुभ्यो रत्यादिभ्यो यः परमस्थायिशीलः स एव हि स्थाव्यन्तराणामुपमर्दकः। इदमपि पर्यनुयुञ्जते—तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य [व्यय, स्थायीति वदता तत्त्वज्ञानमेवात्र विभावत्वेनोक्तं स्यात्। वैराग्यबीजादिषु कथं विभावत्वं, तदुपायत्वादिति चेत्कारणकारणेऽयं विभावताव्यवहारः, स चातिप्रसङ्गावहः। किञ्च निर्वेदो नाम सर्वत्रानुपादेयतापत्ययो वैराग्यलक्षणस्य च तत्त्वज्ञानस्य प्रत्युक्तोपयोगी। विरक्तो हि तथा प्रयतते यथाऽस्य तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते। तत्त्वज्ञानाद्धि मोक्षो, न तु तत्त्वं ज्ञात्वा निर्विद्यते निर्वेदाच्च मोक्ष इति, वैराग्यात्प्रकृतिलय इति हि तत्र भवन्तः॥

ननु तत्त्वज्ञानिनः सर्वत्र दृढतरं वैराग्यं दृष्टम्। तत्र भवद्भिरप्युक्तं "तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्य" मिति। भवत्येवम्, "तादृशं तु वैराग्यं ज्ञानस्यैव पराकाष्ठे"ति भृजङ्गविभुनैव भगवताऽभ्यधायि। ततश्च तत्त्वज्ञानमेवेदं तत्त्वज्ञानमालया परिपोष्यमाणमिति न निर्वेदः स्थायी, किन्तु तत्त्वज्ञानमेव स्थायीति भवेत्। यत्तु व्यभिचारिव्याख्यानावसरे वक्ष्यते तच्चिरकालविभ्रमविप्रलब्धस्योपादेयत्वनिवृत्तये यत्सम्यग्ज्ञानम्। यथा—

"वृथा दुग्धोऽनड्वांस्तनभरनता गौरिति परं
परिष्वक्तः षण्डो युवतिरिति लावण्यरहितः

कृता वदूर्याशा विकचकिरणे काचशकले
मया मूढेन त्वां कृपणमगुणज्ञं प्रणमता" ॥ इति

तन्निर्वेदस्य खेदरूपस्य विभावत्वेनैतच्च तत्रैव वक्ष्यामः ॥

× × ×

निर्वेदो हि शोकप्रवाहप्रसररूपश्चित्तवृत्तिविशेषः । वैराग्यं तु रागादीनां प्रध्वंसः । भवतु वा वैराग्यमेव निर्वेदः तथापि तस्य स्वकारणवशान्मध्यभाविनोऽपि न मोक्षे साध्ये सूत्रस्थानीयता प्रत्यपादि आचार्येण । किञ्च तत्त्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति शमस्यैवेदं निर्वेदनामकृतं स्यात् । शमशान्तयोः पर्यायत्वं तु हासहास्याभ्यां व्याख्यातं, सिद्धसाध्यतया, यदलौकिकत्वेन साधारणधारणतया च वैलक्षण्यं शमशान्तयोरपि सुलभमेव । तस्मान्न निर्वेदः स्थायीति ॥

अन्ये मन्यन्ते रत्यादय एवाष्टौ चित्तवृत्तिविशेषा उक्तास्त एव कथितविभावविवित्तश्रुताद्यलौकिकविभावविशेषसंश्रया विचित्रा एव तावत् । ततश्च तन्मध्यादेवान्यतमोऽत्र स्थायी तत्रानाहताननमयस्वात्मविषया रतिरेव मोक्षसाधनमिति सैव शास्त्रे स्थायिनीति, यथोक्तं—

"यश्चात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥" इति (गीता ३–१७) ।

एवं समस्तविषयं वैकृतं पश्यतो विश्वं च शोच्यं विलोकयतः सांसारिकं च वृत्तान्तमपकारित्वेन पश्यतः सातिशयमसम्मोहप्रधानं वीर्यमाश्रितवतः सर्वस्माद्विषयसार्थाद्बाह्यतः सर्वलोकस्पृहणीयादपि प्रमदादेर्जुगुप्समानस्य पूर्वस्वात्मातिशयलाभाद्विस्मयमानस्य मोक्षसिद्धिरिति रतिहासादीनां विस्मयान्तानामन्यतमस्य स्थायित्वं निरूपणीयम् । न चैतन्मुनेर्न सम्मतम् । यावदेव हि विशिष्टान्विभावान्परिगणयति रत्यादिशब्देन च शब्देन च तत्प्रकारानेवान्यान्गृह्णीते, तावदेव तद्व्यतिरिक्तालौकिकहेतूपनतानां रत्यादीनामनुजानात्येवापावर्गविषयत्वम् । एवंवादिनां तु परस्परमेव विचारयतामेकस्य स्थायित्वं विशीर्यत एव । तदुपायभेदात्तस्य तस्य स्थायित्वमित्यप्युच्यमानं प्रत्युक्तमेव । स्थायिभेदेन प्रतिपुरुषं रसस्याप्यानन्त्यापत्तेः । मौक्षैकफलत्वादेको रस इति चेत्, क्षयैकफलत्वे वीररौद्रयोरप्येकत्वं स्यात् ।

अन्ये तु पानकरसवदविभागं प्राप्ताः सर्व एव रत्यादयोऽत्र स्थायिन इत्याहुः । चित्तवृत्तीनामयुगपद्भावात्, अन्योन्यं च विरोधादेतदपि न मनोज्ञम् । कस्तह्यत्र स्थायी । उच्यते—इह तत्त्वज्ञानमेव तावन्मोक्षसाधनमिति तस्यैव मोक्षे स्थायिता युक्ता । तत्त्वज्ञानं च नामात्मज्ञानमेव । × × × आत्मैव

ज्ञानानन्दाविविशुद्धधर्मयोगी परिकल्पितविषयोपभोगरहितोऽत्र स्थायी । न चास्य स्थायितया स्थायित्वं वचनीयम् । रत्यादयो हि तत्तत्कारणान्तरोदयप्रलयोत्पद्यमाननिरुध्यमानवृत्तयः कञ्चित्कालमापेक्षिकतया स्थायिरूपात्मभित्तिसंश्रयाः स्थायिन इत्युच्यन्ते । तत्त्वज्ञानं तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानीयं सर्वस्थायिभ्यः स्थायितमं सर्वा रत्यादिकाश्चित्तवृत्तीर्व्यभिचारीभावयन्निसर्गत एव सिद्धस्थायिभावमिति तन्न वचनीयम् । अत एव पृथगस्य गणना न युक्ता । × × × अस्यापि कथं न पृथग्गणनेति चेत् पृथगास्वादायोगादिति ब्रूमहे । × × × तत्त्वज्ञानलक्षणस्य च स्थायिनः समस्तोऽयं लौकिकालौकिकचित्तवृत्तिकलापो व्यभिचारितामभ्येति । तदनुभावा एव च यमनियमाद्यनुकृता अनुभावा । × × × स्वात्मनि च कृतकृत्यस्य परार्थघटनायामेवोद्यम इत्युत्साहोऽस्य परोपकारविषयेच्छाप्रयत्नरूपो दयापरपर्यायोऽभ्यधिकोऽन्तरङ्गः । अत एव एतद् व्यभिचारिबलात् केचिद्दयावीरत्वेन व्यपदिशन्ति, अन्ये धर्मवीरत्वेन ।

ननूत्साहोऽहङ्कारप्राणः शान्तस्त्वहङ्कारशैथिल्याद् द्वैविध्यात्मकः । व्यभिचारित्वं हि विरुद्धस्यापि नानुचितम्, रताविव निर्वेदादेः—

> शय्या शाद्वलमासनं शुचिशिला सद्म द्रुमाणामधः
> शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः ।
> इत्यप्रार्थितसर्वलभ्यविभवे दोषोऽयमेको वने
> दुष्प्रापार्थिनि यत्परार्थघटनावन्ध्यं वृथा स्थीयते" (नागा-४-२)

इत्यादौ हि परोपकारकरणे ह्युत्साहस्यैव प्रकर्षो लक्ष्यते । न तूत्साहशून्या काचिदप्यवस्था, इच्छाप्रयत्नव्यतिरेकेण पाषाणतापत्तेः, यत एव च परिदृष्टपरवरत्वेन स्वात्मोद्देशेन कर्तव्यान्तरं नावशिष्यते । अत एव शान्तहृदयानां परोपकराय शरीरसर्वस्वादिदानं न शान्तविरोधि । × × × नस्तत्त्वज्ञानित्वं तावदवश्यमस्ति । अन्यथा देहात्ममानिनां देह एव सर्वस्वभूते धर्माद्यनुद्देशेन परार्थे त्यागस्यासम्भवात् । युद्धेऽपि हि न शरीरस्य त्यागायोद्यमः परपराजयोद्देशेनैव प्रवृत्तेः । भृगुपतनादावपि शुभतरदेहान्तरसम्पिपादयिषैवाधिकं विजृम्भते । तत्स्वार्थानुद्देशेन परार्थसम्पत्यै यद्यच्चेष्टितं देहत्यागपर्यन्तमुपदेशदानादि तत्तदलब्धात्मतत्त्वज्ञानानामसम्भाव्यमेवेति । "तेऽपि तत्त्वज्ञानिनः, (तत्त्व) ज्ञानिनां सर्वेष्वाश्रमेषु मुक्ति" रिति स्मार्तेषु । श्रुतौ च, यथोक्तम—

> "देवार्चनरतस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
> श्राद्धं कृत्वा ददद्द्रव्यं गृहस्थोऽपि हि मुच्यते" इति

केवलं परार्थाभिसन्धिजाद्धर्मात्परोपकारात्मकफलत्वेनैवाभिसंहिताद् पुनरपि देहस्य तदुचितस्यैव प्रादुर्भावो बोधिसत्त्वादीनां, तत्त्वज्ञानिनामपि (दृष्टः) । × × × चिरन्तनपुस्तकेषु

स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम इत्यनन्तरं शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मक इत्यादि-शान्तलक्षणं पठ्यते । × × × इतिहासपुराणाभिधानकोशादौ च नव रसाः श्रूयन्ते, श्रीमत्सिद्धान्तशास्त्रेष्वपि । तथाचोक्तं—

"अष्टानामिह देवानां शृङ्गारादीन् प्रदर्शयेत् ।
मध्ये च देवदेवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत् ॥"

तस्य च वैराग्यसंसारभीरुतादयो विभावाः । स हि तैरुपनिबद्धैर्विज्ञायते । मोक्षशास्त्र-चिन्तादयोऽनुभावाः । निर्वेदमतिस्मृतिधृत्यादयो व्यभिचारिणः । अत एवेश्वरप्रणिधान-विषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेभ्योऽन्यथैवाङ्गमिति न तयोः पृथग् रसत्वेन गणनम् । अत्र सङ्ग्रहकारिका—

मोक्षाध्यात्मनिमित्तस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः ।
नि.श्रेयसधर्मयुतः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ॥

विभावस्थाय्यनुभावयोगः क्रमाद्विशेषणत्रयेण दर्शितः ।

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ॥

इत्यादिना रसान्तरप्रकृतित्वमुपसंहृतम् । × × × एवं ते नव रसाः पुमर्थोपयोगित्वेन रंजनाधिक्येन वेद्यतामेवोपदेश्यत्वात् । × × ×

३. अन्ये रसाः

आर्द्रतास्थायिकः स्नेहो रस इति त्वसत् । स्नेहो ह्यभिषङ्गः । स च सर्वो रत्युत्साहादावेव पर्यवस्यति । तथा हि बालस्य मातापित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्तः, यूनोर्मित्रजने रतौ, लक्ष्मणादेः भ्रातरि स्नेहः धर्मवीर एव । एवं वृद्धस्य पुत्रादावपि द्रष्टव्यम् । एषैव गर्धस्थायिकस्य लौल्यरसस्य प्रत्याख्याने सरणिर्मन्तव्या, हासे वा रतौ वान्यत्र पर्यवसानात् । एवं भक्तावपि वाच्यमिति । (पृष्ठ ३३३-३४२)

राजशेखर

समय—सन् ८८०-९२० ई०

[ग्रन्थ—काव्य-मीमांसा]

१. काव्य की रचना और स्वरूप

अब काव्य की विवेचना प्रारम्भ करते हैं। भगवान श्रीकठ—शिव ने इस काव्य-विद्या का सर्वप्रथम उपदेश परमेष्ठी, वैकुण्ठ आदि चौसठ शिष्यो को किया था। उनमे से प्रथम शिष्य स्वयम्भू-ब्रह्मदेव ने इस विद्या का द्वितीय बार उपदेश अपनी इच्छा से उत्पन्न (अयोनिज) शिष्यो—ऋषियों को किया। इन शिष्यों मे सरस्वती का पुत्र काव्य-पुरुष भी एक था, जगद्वन्द्य देवता भी जिसकी वन्दना करते थे। ब्रह्मदेव ने त्रिकालज्ञ और दिव्य-दृष्टि द्वारा भविष्य बातों को जानने वाले उस काव्य-पुरुष को भू, भुव और स्वर्ग-तीनो लोक-निवासिनी प्रजा मे काव्य-विद्या के प्रचार के लिए आज्ञा दी। काव्य-पुरुष ने अठारह भागों मे विभक्त काव्य-विद्या का उपदेश सब से प्रथम सहस्राक्ष आदि दिव्य (स्वर्गीय) स्नातको को किया। उनमे से एक-एक शिष्य ने, अठारह भागो में विभक्त उस काव्य-विद्या के एक-एक भाग मे विशेषता प्राप्त करके, अपने-अपने विषय पर पृथक्-पृथक् ग्रन्थ-रचना की।

सहस्राक्ष इन्द्र ने कवि-रहस्य नामक प्रथम अधिकरण (भाग) का निर्माण किया। इसी प्रकार उक्तिगर्भ ने उक्ति-विषयक ग्रन्थ का निर्माण किया। सुवर्णनाभ ने रीति-विषयक, प्रचेता ने अनुप्रास-सम्बन्धी, यम ने यमक-सम्बन्धी, चित्रागद ने चित्रकाव्य-विषयक, शेष ने शब्द-श्लेष पर, पुलस्त्य ने वास्तव अर्थात् स्वभावोक्ति पर, औपकायन ने उपमालकार के सम्बन्ध मे, पाराशर ने अतिशयोक्ति के सम्बन्ध में, उतथ्य ने अर्थ-श्लेष पर, कुबेर ने शब्द और अर्थ-उभय अलंकारो के सम्बन्ध मे, कामदेव ने विनोद-सम्बन्धी, भरत ने नाटच-विषय पर, नन्दिकेश्वर ने रस-विषय पर, धिषण-बृहस्पति ने दोष पर, उपमन्यु ने गुणों के सम्बन्ध मे और कुचमार ने औपनिषदिक विषयों पर स्वतन्त्र रूप से अपनी-अपनी ग्रन्थ रचना की।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयों की ग्रन्थ-रचनाओ से काव्य-विद्या अनेक भागों में विभक्त होकर छिन्न-भिन्न-सी हो गयी। इसलिए अत्यावश्यक काव्य-विद्या के सभी

विषयों को संक्षिप्त करके हमने अठारह अधिकरणों में काव्य-मीमांसा नामक ग्रन्थ की रचना की। उसका यह प्रथम अधिकरण या भाग प्रारम्भ किया जाता है, जिसका नाम कवि-रहस्य है। (पृ० ३-४)

× × ×

प्राचीन काल में पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से सरस्वती ने हिमालय पर्वत पर जाकर तपस्या प्रारम्भ की। उसकी तपश्चर्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने वरदान देते हुए कहा कि मैं तेरे लिए पुत्र उत्पन्न करता हूँ।

इस घटना के कुछ दिनो के पश्चात् सरस्वती ने पुत्र उत्पन्न किया। उस पुत्र ने उत्पन्न होते ही उठकर माता के चरणों का स्पर्श करते हुए छन्दोबद्ध भाषा में कहा—

हे माता! यह सारा वाङ्मय विश्व, जिसके द्वारा अर्थ-रूप मे परिणत हो जाता है, वह (काव्य-पुरुष) मैं तुम्हारे चरणों की वन्दना करता हूँ।

इस प्रकार की छन्दोबद्ध वाणी अभी तक केवल वेदो मे ही देखी गयी थी। उसी के समान भाषा-संस्कृत मे भी छन्दोबद्ध वाणी को सुनकर सरस्वती अत्यन्त हर्षित हुई और उस नवजात शिशु को अंक मे लेकर प्यार करते हुए बोली—"पुत्र! यद्यपि मैं समूचे वाङ्मय की माता हूँ, परन्तु तूने इस प्रकार की छन्दोबद्ध भाषा से आज मुझ पर भी विजय प्राप्त कर ली, यह अत्यन्त हर्ष की बात है। कहा जाता है कि पुत्र से पराजित होना द्वितीय पुत्र-जन्म के समान है। तुमसे पूर्वज विद्वानों ने गद्य की सृष्टि की है, पद्य की नही। इस छन्दोबद्ध वाणी के प्रथम आविष्कारक तुम ही हो। अतः तुम सचमुच प्रशंसनीय हो।

शब्द और अर्थ तेरे शरीर हैं। संस्कृत-भाषा मुख है। प्राकृत भाषाएँ तेरी भुजाएं हैं। अपभ्रंश भाषा जंघा है। पिशाच-भाषा चरण है और मिश्र-भाषाएँ वक्षःस्थल हैं। तू सम, प्रसन्न, मधुर, उदार और ओजस्वी है। (ये काव्य के गुण हैं)। तेरी वाणी उत्कृष्ट है। रस तेरी आत्मा है। छन्द तेरे रोम हैं। प्रश्नोत्तर, पहेली, समस्या आदि तेरे वाग्विनोद हैं और अनुप्रास, उपमा आदि तुझे अलंकृत करते हैं। भावी अर्थो को बताने वाली श्रुति (वेद) भी तेरी स्तुति करती है—

जिसके चार शृंग (सींग) हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं—ऐसे तीन प्रकार से बँधा हुआ और शब्द करता हुआ यह महादेव मर्त्यलोक में अवतीर्ण हुआ है। (पृ० १३-१४)

× × ×

काव्य-रचना के लिए विषय या अर्थ-प्राप्ति के प्रधानतः बारह स्रोत बताए गये हैं। वे ये हैं :—१. वेद, २. स्मृति (मनु आदि धर्म-शास्त्र) ३. इतिहास, ४. पुराण ५. प्रमाण-विद्या (मीमांसा और छः प्रकार का तर्क-शास्त्र), ६. राजसिद्धान्तत्रयी अर्थात् अर्थ-शास्त्र, नाट्य-शास्त्र और काम-शास्त्र, ७. लोक (सांसारिक या व्यावहारिक वृत्त), ८. विरचना (अन्यान्य कवियों की रचनाएँ काव्य, नाटक, महाकाव्य आदि) और ९. प्रकीर्णक, (चौसठ कलाएँ, आवश्यक आयुर्वेद, ज्योतिष, वृक्ष-शास्त्र, अश्व-गज-लक्षण आदि)। यह प्राचीन आचार्यों का मत है। यायावरीय राजशेखर का मत है कि इनमें चार और मिला कर सोलह काव्यार्थ-स्रोत हैं। वे चार हैं— १. उचित-संयोग, २. योक्तृ-संयोग, ३. उत्पाद्य-संयोग और ४. संयोग-विकार। इनका स्पष्टीकरण यथावसर आगे किया जायगा।

(पृ० ८५)

× × ×

काव्य-विद्या के विद्यार्थी को चाहिए, पहिले काव्योपयोगिनी विद्याओं और काव्य की उपविद्याओं का भली भाँति अध्ययन करके काव्य-रचना की ओर प्रवृत्ति करे। व्याकरण, कोष, छन्द और अलंकार—ये चार काव्योपयोगी मुख्य विद्याएँ हैं। चौंसठ कलाएँ काव्य की उपविद्याएँ हैं। इनके अतिरिक्त ये विषय काव्य के प्रधान जीवन-स्रोत हैं। जैसे उच्चस्तर के विषयो का सत्संग, देशों एवं विदेशों के समाचार, चतुर विद्वानों की सूक्तियाँ, सांसारिक व्यवहार, विद्वद्गोष्ठी और प्राचीन कवियों के प्रबन्धों का मनन। कहा भी है—

स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृति-दृढ़ता और उत्साह—कवित्व की ये आठ माताएँ हैं। (पृ० १२१)

× × ×

जो व्याकरण-शास्त्र से प्रकृति-प्रत्यय द्वारा सिद्ध किया जाता है, उसे शब्द कहते हैं और निरुक्त, निघण्टु, कोष, व्यवहार आदि से शब्द जिस वस्तु का संकेत करता है, वह उसका अभिधेय-अर्थ है। शब्द और अर्थ—दोनों मिलकर 'पद' कहे जाते हैं। (पृ० ५३)

× × ×

गुणों और अलंकारों से युक्त वाक्य का नाम काव्य है। कुछ लोगों का मत

है कि काव्यों में असत्य-आलंकारिक बातों का उल्लेख रहता है। अतः यह उपदेश करने योग्य नही है। जैसे—

कवि, राजा के यश का वर्णन करते हुए कहता है कि राजन् ! तुम्हारा यश पहले पृथ्वी पर चारों दिशाओं मे फैला, परन्तु दिशाओ की दीवारो से टकरा कर जब अधिक मात्रा मे एकत्रित हुआ तब क्षीर-समुद्र के मध्य मे प्रविष्ट हुआ, समुद्र मे प्रवेश करने पर भी न तो उसका शरीर गीला हुआ, न श्वास की रुकावट हुई और न आँखें ही बन्द हुईं। इस प्रकार समुद्र को श्वेत बनाकर भी जब उसके लिए स्थानाभाव से रहना असम्भव हो गया तब वह (यश) आकाश को भी धवल करने लगा। इस प्रकार तुम्हारे यश से तीनो लोको के धवल हो जाने पर मृगनयनियो को आश्चर्य होता है।

इन श्लोकों में वर्णित यश का इस प्रकार दिग्भित्तियों से टकराना, समुद्र में गोता लगाना, आकाश को धवल करना और इससे मृगनयनियो का आश्चर्य करना सब असंगत और असत्य है।

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण है—

राजा की सेना के सम्मर्द से तीनों लोकों मे उथल-पुथल मच गई। विशाल सैन्य-भार से पृथ्वी दबने लगी और उसके दबाव से शेषनाग की भौहें फटने लगी, इस कारण शेषनाग ने दु.ख से जो विषमय और उष्ण फुंकार किया, उससे पाताल का तालु गरम हो उठा। इधर पृथ्वी के ऊपर सेना के संघर्ष से बडे-बड़े पर्वतो के शिखर टूट-टूट कर समुद्र मे गिरने लगे और जलराशि उद्वेलित हो उठी। जब सेना की घनी धूल उड़कर स्वर्ग तक पहुँची तब उससे घबराकर देवागनाएँ स्वर्ग की सीमा छोडकर भवनो के भीतर जा घुसी। इस प्रकार राजा के सैन्य-सम्मर्द से तीनो लोकों का दमन होने लगा।

इस श्लोक में वर्णित ये चाटुकारों की बातें सर्वथा असत्य और आलंकारिक हैं। कहा है—

काव्यों में कुछ बातें प्रत्यक्ष होती हैं, कुछ अप्रत्यक्ष। कुछ बातें वाचाल कवियों की कल्पना से प्रसूत होती हैं, कुछ बुढिया-पुराण की-सी गप्पे होती हैं। कुछ शास्त्रीय होती हैं और कुछ कवियों के काव्य-कौशल की होती हैं। अतः यह काव्य निरर्गल है। अन्य रत्नो के समान इस काव्य-रत्न का जन्म न तो समुद्र से है और न रोहण-पर्वत से।

राजशेखर का कथन है कि 'काव्य अतिशयोक्ति-पूर्ण होने तथा असत्य वर्णनामय होने से त्याज्य है, यह बात नही।' काव्यो मे वर्णनीय व्यक्ति या विषय के प्रति जो अर्थवाद या अतिशयोक्ति की जाती है, वह असंगत या असत्य नही है। इस प्रकार के अर्थवाद-पूर्ण वर्णन तो वेदों मे, शास्त्रों मे और लोक में भी पाये जाते हैं। देखिए, ऐतरेय ब्राह्मण का एक उदाहरण—

हे तपस्विन्, चलने वाले व्यक्ति की जाँघे पुष्पवती-सुदृढ होती हैं, उसमे आत्मा की वृद्धि होती है और उसे आरोग्य रूप फल मिलता है, चलने वाले पुरुष के सभी पाप नष्ट होकर सो जाते हैं, अर्थात् चलने वाले को मार्ग मे अनेक तीर्थो, देवताओ और महात्माओं के अनायास दर्शन होते हैं, जिससे उसके पाप नष्ट हो जाते हैं।

यहाँ भ्रमण की इतनी प्रशसा या अर्थवाद असत्य है, परन्तु स्वार्थ-साधन के लिए वेद ने भी उसे अपनाया।

शास्त्रों मे अर्थवाद का उदाहरण—

पृथ्वी पर सबसे अधिक पवित्र वस्तु जल है, जल से अधिक पवित्र मन्त्र हैं, उन मन्त्रों में भी ऋक्, यजुष् और साम के मन्त्र पवित्रतम हैं, महर्षिगण व्याकरण-शास्त्र को इन वेदत्रयी के मन्त्रों से भी अधिक पवित्र मानते हैं।

यहाँ व्याकरण-शास्त्र को वेदों से भी अधिक मानने का कारण उसकी आवश्यकता प्रदर्शन-मात्र है। वास्तव मे वह वेदों से पवित्र नही है। इस प्रकार वर्णनीय विषय के प्रति अतिशयोक्ति का आश्रय काव्य के समान शास्त्रों ने भी लिया है।

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण भगवान् पतंजलि का देखिए—

"व्याकरण-शास्त्र के जानने वाला जो विद्वान उचित समय पर शब्दों का यथार्थ रूप मे प्रयोग करता है, वह वाणी के वास्तविक प्रयोग को जानने वाला विद्वान, परलोक में अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त करता है और जो वाणी के समुचित प्रयोग को जानने वाला अपशब्द—अशुद्ध शब्द—का प्रयोग करता है, वह दूषित होकर नरक में जाता है।

आगे भाष्यकार उसी को स्पष्ट करते हैं—

यहाँ प्रश्न होता है कि कौन दूषित होता है वाणी के प्रयोग को जानने वाला या मूर्ख ? उत्तर—मूर्ख नही, वाणी के प्रयोग को जानने वाला ही दूषित होता है।

पुनः प्रश्न—ऐसा क्यों ? वाणी के प्रयोग को जानने वाला ही क्यों दूषित होता है ? उत्तर—इसलिए कि जो शुद्ध शब्दो को जानता है, वह अशुद्ध शब्दों को भी जानता है। जैसे शुद्ध शब्द के ज्ञान से धर्म होता है उसी प्रकार अपशब्द के प्रयोग से अधर्म भी प्राप्त होगा। अथवा अधर्म अधिक मात्रा में प्राप्त होगा क्योंकि अपशब्द अधिक हैं और शुद्ध शब्द कम हैं। जैसे–गौ, यह शुद्ध शब्द है और इसके अनेक अपभ्रंश हैं—गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि। इसलिए अपशब्दों की अधिकता के कारण अधर्म अधिक प्राप्त होगा।

अथवा जो-जो वाग्योगविद् हैं, उन्हे ही अधर्म होता है और जो व्याकरण-शास्त्र को नही जानता, वह तो अज्ञान के कारण अपशब्दों का प्रयोग करेगा ही। अतः (अज्ञान के कारण) उसे अधर्म नहीं कहा जा सकता। केवल अज्ञान को लेकर पीछा नही छुडाया जा सकता। क्योंकि अज्ञानवश ब्रह्म-हत्या, गो-हत्या, मद्य-पान आदि करने वाला मनुष्य भी पतित ही समझा जायगा, पाप से वह छूट नही सकता। अच्छा, जाने दो। इसका यह अर्थ करो कि जो वाग्योग को जानता है अर्थात् शुद्ध शब्दों का प्रयोग करता है वह परलोक में विजय प्राप्त करता है और जो नही जानता वह नरक मे जाता है। अतः व्याकरणाध्ययन के द्वारा शुद्ध शब्दों को जानना चाहिए।

प्रश्न होता है कि यह श्लोक कहाँ लिखा गया है जिस पर इतना विचार किया गया। उत्तर—यह भ्राज नामक श्लोक कात्यायन मुनि का है।

प्रश्न—क्यों भाई, धर्म और अधर्म के निर्णय में श्लोक भी प्रमाण हो सकते हैं ? यदि हाँ, तो इस श्लोक को भी प्रमाण मानो। जैसे—

"यदि पके हुए गूलर के समान लाल रंग वाली सुरा से भरी हुई ये बोतलें स्वर्ग में पहुँचाने में असमर्थ हैं, तो क्या सौत्रामणि-यज्ञ में एक पात्र-प्रमाण पिया हुआ स्वल्पतम मद्य स्वर्ग में पहुँचा सकेगा ? अर्थात् यदि सौत्रामणि यज्ञ में एक प्याला दूध पीने से ही स्वर्ग मिल जाता है, तो क्यों न मद्य-शाला मे जाकर भर पेट मद्य-पान कर लें।

इस पर आचार्य गोनर्दीय-पतंजलि उत्तर देते हैं कि यह श्लोक किसी पागल का प्रलाप है। यदि किसी प्रामाणिक व्यक्ति का बनाया हुआ श्लोक हो तो उसे धर्म-विषय में प्रमाण माना जा सकता है।"

ऊपर कहे गये भगवान् पतंजलि के लम्बे वक्तव्य का तात्पर्य लोक-रुचि को व्याकरण-शास्त्र की ओर प्रवृत्त करना है। इसलिए उन्होंने उसके विषय में इतने अर्थ-वाद या अतिशयोक्ति का आश्रय लिया है।

लौकिक अर्थवाद का उदाहरण—

हे राजन् ! तुम्हारे गुण और अनुराग से मिले हुए यश ने चारों ओर फैलते हुए दिशारूपी वधुओं के ललाटो पर आधा कुकुम-तिलक लगा दिया। गुणों का रंग श्वेत है और अनुराग का लाल, इसलिए आधा तिलक हुआ।

इस उदारहण मे राजा का शौर्य प्रसिद्ध करने के लिए यह अर्थवाद किया गया है।

कुछ लोगो का मत है कि काव्य असत्-मार्ग का उपदेश करते हैं। लोक में सन्मार्ग का उपदेश उचित है। अतः काव्य अग्राह्य या त्याज्य हैं। उनका उपदेश न करना चाहिए। उदाहरण जैसे—

पातिव्रत्य से जीवन निर्वाह करने की प्रतिज्ञा करने वाली पुत्री के प्रति वेश्या माता उपदेश करती है—पुत्रि, हम वेश्याओ की विवाह-विधि यह है कि लड़कपन मे लडको को, यौवनावस्था मे युवकों को और इस वृद्धावस्था में भी वृद्धों को चाहती हैं—यह वेश्या-धर्म है। तुमने यह क्या अमार्ग से जीवन व्यतीत करने की सोच ली ? हमारे कुल मे पातिव्रत्य का कलक कभी नही लगा, जिसे आज तुम लगाने जा रही हो।

यहाँ पर पवित्र परिणय-विधि या पातिव्रत्य की जो दुर्दशा की गई है, वह सस्कृति-विरुद्ध होने के कारण त्याज्य है। काव्य ऐसी ही अमर्यादित शिक्षाएँ देता है। अतः सर्वथा हेय है।

यायावरीय राजशेखर कहते हैं— 'यह उपदेश है, किन्तु निषेध-रूप से, विधि रूप से नही। वेश्या-गामियो को वेश्याओं के ऐसे कुत्सित-चरित्र का ज्ञान हो, वे उन्हें पतिव्रता समझने की भूल न करे। दूसरे ऐसे चरित्रो से स्त्रियों की रक्षा की जाय— यह कवि का भाव है। इसी प्रकार सासारिक व्यवहार कवियो के वचनो पर आधारित है। कवियो के आदेशानुसार किये गए लोक-व्यवहार मानव के लिए कल्याणकारी होते हे। जैसा कि कहा गया है—

जब तक पृथ्वी पर विशुद्ध काव्यमयी वाणी का प्रचार रहता है, तब तक कवि सारस्वत लोक (सरस्वती के लोक) में स्थान पाता और आनन्द प्राप्त करता है।

प्राचीन राजाओ के प्रभावशाली चरित्र देवताओं की प्रभुत्व-लीला और ऋषियों

एवं तपस्वियों के अलौकिक-प्रभाव—ये सभी कुछ कवियों की वेद-वाणी से प्रसूत और प्रसिद्ध हुए हैं। पुनः

कवियों के कारण ही राजाओं की प्रसिद्धि हुई और राजाओ का आश्रय मिलने के कारण कवि-गण प्रसिद्ध हुए। अतः राजाओ के सिवा कवियो का उपकार करने वाला दूसरा नहीं और कवियो के सिवा राजा का भी दूसरा सहायक नही।

जिस सारस्वत-मार्ग (काव्य-रचना-प्रणाली) के प्रथम प्रवर्तक प्राचीन मुनि वाल्मीकि और महर्षि व्यास हैं वह अनिन्दनीय सारस्वत-मार्ग किसके लिए वन्दनीय नही है ? अर्थात् सभी के लिए आदरणीय है।

कुछ लोगों का कथन है कि काव्य मे अश्लील अर्थ रहता है, वह असभ्य बातों को बतलाता है। अतः उसका ग्रहण न करना चाहिए। जैसे,

अश्लीलता का उदाहरण—

यह विपरीत-सुरत वर्णन है—विपरीत रति-क्रिया के कारण होने वाला कनक कांची का कमनीय कलकल शब्द, पतियों पर तरुण रमणियों की प्रगल्भता-धृष्टता का परिचय देता है। अर्थात् रति-समय मे कामावेश से उन्मत्त होकर प्रमदाएँ पतियो के ऊपर आ गई हैं, अतः उनके कटि-संचालन से कमर में बँधी हुई सोने की करधनियों के घुँघरू बजने लगे, जघाओ के सचालन से होने वाली काची की यह घनी झनझनाहट शयनागार की खिड़कियों से बाहर निकल कर शून्य और नीरव आकाश में चारों ओर सुन पडती थी।

दूसरा उदाहरण—

हे मित्र ! वे युवतियाँ तुमसे सदा प्रेम रखे, जिनके कपोलस्थल कर्णफूलों के निरन्तर हिलने से लाल हो रहे है और जो नितम्ब-भाग पर पडी हुई रत्न-मडित सुन्दर काचियो को कामावेश मे आकर निरन्तर नचाया करती हैं। अर्थात् विपरीत रति मे स्त्रियो के ऊपर होकर शरीर-सचालन करने के कारण कानों के झुमके कोमल कपोलों से रगड़ खाकर उन्हे लाल कर देते हैं और नितम्ब मे पड़ी हुई रत्नकाची नृत्य करती हुई मधुर शब्द करती है।

उक्त दोनों उदाहरणो मे विपरीत-रति का वर्णन अत्यन्त अश्लील होने के कारण असभ्य अर्थ का प्रदर्शक है। अतः ऐसे असभ्य वर्णनो के कारण काव्य हेय है।

यायावरीय राजशेखर का मत है कि प्रसंग आने पर ऐसे वर्णन करने पड़ते हैं और यह उचित भी है। ऐसे अश्लील अर्थों का उल्लेख वेदों और शास्त्रों में भी पाया जाता है। इसका उदाहरण यजुर्वेद में देखिए—

योनि-रूपी ऊखल और शिश्न-रूपी मूसल—इन्हीं दोनों का नाम मिथुन है, इस मिथुन से प्रजनन (सन्तानोत्पत्ति) होता है।

ऋग्वेद मे भी ऐसा उदाहरण देखिए—

बृहस्पति की पुत्री रोमशा ने अपने पति का जब मैथुन के लिए आह्वान किया तब उसके छोटे और रोम-रहित अंगों को देखकर उसका पति हँस दिया, इस पर वह कहती है—हे स्वामिन्! मेरे पास आकर मेरा आलिंगन करो अर्थात् मुझे भोग के योग्य समझो। मेरे शरीर के रोमो को छोटा न समझो, मैं सम्पूर्ण शरीर से रोम वाली हूँ, या रोमवाली मैं पूर्णांगी हूँ। मैं उसी प्रकार रोमशा हूँ, जिस प्रकार गान्धार देश की भेडें होती हैं। यहाँ भावार्थ यह है कि 'अजात-लोमा स्त्री से सम्पर्क न करे'—इस शास्त्रीय आज्ञा से भय न करो, मै सर्वांग से रोमवाली हूँ, अतएव भोग-योग्य हूँ।

शास्त्र में अश्लील अर्थ के वर्णन का उदाहरण—

जिस स्त्री के नेत्र प्रसन्न (स्वच्छ), धवल (श्वेत) और लम्बी पलकों वाले होते हैं, उसका स्मर-मन्दिर (प्रजननेन्द्रिय) तुरन्त निकाले हुए मक्खन के समान कोमल होता है।

तात्पर्य यह है कि प्रसंगवश (आवश्यकता आ जाने पर) ऐसे अश्लील अर्थों का वर्णन काव्यों में ही नही, वेदों और शास्त्रों में भी किया गया है। अतः इस कारण ये हेय नही हो सकते।

इस प्रकार इस अध्याय मे पद और वाक्य का कुछ विवेचन किया गया है, अब अगले अध्याय मे वाक्य के अन्यान्य भेदों का ज्ञान कराना चाहिए। (६१–६९)

२. कवि–प्रतिभा और आलोचक

बुद्धि तीन प्रकार की होती है—स्मृति, मति और प्रज्ञा। पिछले अनुभूत विषयों का स्मरण रखने वाली बुद्धि स्मृति कहलाती है। वर्तमान विषयों का मनन

करने वाली बुद्धि का नाम मति और भविष्य-दर्शिनी या दीर्घ-दर्शिनी बुद्धि का नाम प्रज्ञा है। तीनों प्रकार की बुद्धि कवि के लिए उपकारक और आवश्यक है।

(पृष्ठ २४)

× × ×

श्यामदेव का मत है कि कवि को कविता करने में समाधि की परम आवश्यकता है। समाधि का अर्थ मन की एकाग्रता है। एकाग्र-चित्त व्यक्ति विविध सूक्ष्म विषयों का चिन्तन कर सकता है। कहा है—

सरस्वती का रहस्य (काव्य-निर्माण) महान् गम्भीर और अवर्णनीय है। वह अत्यन्त निपुण विद्वानों के ज्ञान का विषय है, उसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय है—ज्ञान-पूर्ण मन की समाधि अर्थात् एकाग्रता।

मंगल नामक विद्वान का मत है कि 'काव्य-निर्माण के लिए अभ्यास ही प्रधान कारण है।' निरन्तर अनुशीलन का नाम अभ्यास है। अभ्यास सभी विषयो के लिए आवश्यक है और उसके द्वारा उत्कृष्टतम कुशलता प्राप्त होती है। वास्तव में समाधि या एकाग्रता आन्तरिक प्रयत्न है और अभ्यास बाह्य। समाधि और अभ्यास ये दोनों कवित्व-शक्ति को उत्पन्न करते हैं। 'वह शक्ति ही काव्य-निर्माण मे प्रधान कारण होती है'—यह मत राजशेखर का है।

शक्ति, प्रतिभा और व्युत्पत्ति से भिन्न (पृथक्) वस्तु है। वास्तव शक्ति कर्तृ-रूप है और प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति कर्म-रूप। शक्तिवाले मे प्रतिभा उत्पन्न होती है और शक्ति-सम्पन्न ही व्युत्पन्न होता है। प्रतिभा, शब्दों के समूह को, अर्थो के समुदाय को, अलंकारों एवं सुन्दर उक्तियो को तथा अन्यान्य काव्य-सामग्री को हृदय के भीतर प्रतिभासित करती है। जिसमें प्रतिभा नही है, उसके लिए प्रत्यक्ष दीखते हुए भी अनेक पदार्थ परोक्ष से मालूम होते हैं और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति के लिए अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष से प्रतीत होते हैं। (पृष्ठ २६–२७)

× × ×

प्रतिभा दो प्रकार की होती है—१. कारयित्री और २. भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि की उपकारक होती है। वह तीन प्रकार की है:—१. सहजा, २. आहार्या और ३. औपदेशिकी। पूर्व जन्म के संस्कारों से प्राप्त जन्म-जात प्रतिभा सहजा, जन्म और शास्त्रों एवं काव्यों के अभ्यास से उत्पन्न प्रतिभा आहार्या तथा

मन्त्र, तन्त्र, देवता, गुरु आदि के वरदान या उपदेश से प्राप्त प्रतिभा औपदेशिकी कही जाती है। सहजा-कारयित्री प्रतिभा जन्मजात होने के कारण इस जन्म के अल्प संस्कार से ही उद्‌बुद्ध हो जाती है। आहार्या-कारयित्री प्रतिभा के लिए अधिक संस्कार या अभ्यास की आवश्यकता होती है। औपदेशिकी प्रतिभा इस जन्म के उपदेश, वरदान आदि से प्राप्त होती है। इसका उपदेश और सस्कार इस जन्म मे ही होता है, जन्मान्तर से कोई सम्बन्ध नही।

इस प्रकार ऊपर कही हुई तीन प्रकार की कारयित्री प्रतिभा से सम्पन्न कवि भी क्रमशः तीन प्रकार के होते हैं, जैसे—१. सारस्वत, २. आभ्यासिक और ३ औपदेशिक।

जिसकी सरस्वती जन्मान्तरीय संस्कारो से प्रवृत्त होती है, उस स्वाभाविक बुद्धिमान कवि का नाम सारस्वत है। इस जन्म के अभ्यास से जिसकी सरस्वती उन्मिषित होती है, उस शास्त्राभ्यास-जन्य बुद्धि वाले कवि को आभ्यासिक कहा जाता है। मन्द-बुद्धि होने पर भी मन्त्रोपदेश अनुष्ठान आदि से वाणी का वैभव प्रदर्शित करने वाला कवि औपदेशिक कहा जाता है।

'सारस्वत और आभ्यासिक इन दोनो कवियों को तन्त्र, मन्त्र आदि के अनुष्ठान की आवश्यकता उसी प्रकार नही होती जिस प्रकार स्वभाव से ही मधुर द्राक्षा को मीठी चासनी में पकाने की आवश्यकता नही रहती'—ऐसा आचार्यों का मत है। यायावरीय राजशेखर का मत इससे कुछ भिन्न है। उनका कहना है कि 'द्राक्षा को चासनी से संस्कृत करना हानिकारक नही, एक कार्य के लिए दो उपाय किए जायें तो उसका फल भी दूना होता है।' श्यामदेव के मत में 'तीसरे से दूसरा और उससे भी पहला कवि श्रेष्ठ है।' क्योकि:—

सारस्वत कवि, स्वतन्त्रता के साथ निरर्गल रचना करता है, आभ्यासिक कवि एक सीमित रूप से काव्य-निर्माण करता है और औपदेशिक कवि, सुन्दर किन्तु सारहीन रचना करता है।

यायावरीय राजशेखर का कथन है कि 'जितना भी अधिक उत्कर्ष प्राप्त किया जाय, अच्छा है, उत्कर्ष की प्राप्ति अनेक गुणो के एकत्र होने से ही होती है'। कहा भी है—

बुद्धिमत्ता, काव्य एवं उसकी अंगभूत विद्याओं में अभ्यास और साथ ही दैवी शक्ति—ये तीनो एक साथ दुर्लभ होते हैं।

काव्य और काव्याग-विद्याओ मे निष्णात, बुद्धिमान और मन्त्र, अनुष्ठान आदि मे श्रद्धा रखने वाले कवि के लिए कविराजता दूर नही है अर्थात् वह कविराज कहा जा सकता है या इस उपाधि से अलंकृत हो सकता है ।

कवियो मे कुछ तारतम्य अवश्य होता है । जैसा कि कहा गया है—

कुछ कवि ऐसे होते हैं, जिनकी रचना अपने घर की चहारदीवारी के भीतर ही विचरण करती रह जाती है, कुछ कवियो की रचनाएँ उनके मित्रों के भवनों तक पहुँच जाती हैं और कुछ कवि ऐसे होते हैं, जिनकी रचना सभी के मुख पर पदन्यास करती हुई विश्व-भ्रमण की इच्छा पूर्ण करती है । अर्थात् उनकी रचना के पद पठित तथा अपठित सभी के मुख पर स्थान प्राप्त कर लेते हैं ।

इस प्रकार कवि से सम्बन्ध रखने वाली कारयित्री प्रतिभा का विवेचन किया गया । अब समालोचक से सम्बद्ध भावयित्री प्रतिभा का विवेचन किया जाता है ।

भावयित्री प्रतिभा भावक या आलोचक का उपकार करती है, अतः उसका नाम भावयित्री है । यह प्रतिभा कवि की कविता-लता को सफल बनाती है । इसके बिना कविता निष्फल रह जाती है । प्राचीन आचार्य कहते हैं कि 'कवि और भावक (आलोचक) मे भेद नही है क्योकि दोनों ही कवि हैं ।' कहा भी है--

प्रतिभा के तारतम्य से संसार मे विविध प्रकार की प्रतिष्ठा होती है । भावक कवि प्रायः अधम दशा को प्राप्त नही होते ।

कालिदास का मत इससे भिन्न है । उनके मत मे कवित्व से भावकत्व पृथक् है अर्थात कवि और सहृदय या आलोचक एक दूसरे से भिन्न हैं । इनमे एक का विषय शब्द-रचना है और दूसरे का विषय-रसास्वादन । जैसा कि कहा गया है--

कोई तो वाणी की रचना (कविता) करने मे निपुण है और कोई उसके सुनने मे ही प्रवीण है । तुम्हारी दोनो प्रकार की बुद्धि आश्चर्य-जनक है । एक मे अनेक गुणों का समन्वय कठिन है । एक पत्थर (शालग्राम की शिला आदि) सुवर्ण उत्पन्न करता है, और दूसरा पत्थर (कसौटी) उसकी परीक्षा करता है ।

जैन महाकवि मंगल के मत में भावक या आलोचक दो प्रकार के होते है :— १. अरोचकी २. सतृणाभ्यवहारी । वामन के मत में कवि भी अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी दो प्रकार के होते हैं । यायावरीय का मत मे ये भावक चार प्रकार के होते

हैं :—१. अरोचकी और २. सतृणाभ्यवहारी, ३. मत्सरी और ४. तत्त्वाभिनिवेशी। वामन के मतानुयायियों का कहना है कि इनमें अरोचकी और विवेकी, ये दो विवेकी हैं और सतृणाभ्यवहारी तथा अविवेकी, ये दो अविवेकी हैं।

अरोचकी समालोचक वे होते हैं, जिन्हें किसी की अच्छी-से-अच्छी रचना भी नही जँचती। सतृणाभ्यवहारी आलोचक वे होते हैं, जो भली-बुरी सभी प्रकार की रचनाओ पर 'वाह वाह' कर उठते हैं। मत्सरी वे होते हैं, जो ईर्ष्यावश किसी रचना को पसन्द नही करते और कुछ-न-कुछ दोष-दर्शन कराने की चेष्टा करते रहते हैं तथा तत्त्वाभिनिवेशी वे हैं, जो निष्पक्ष और सच्चे समालोचक होते हैं।

"अरोचकी आलोचकों की अरोचकता दो प्रकार की होती है—एक स्वाभाविकी और दूसरी ज्ञानयोनि। स्वाभाविकी अरोचकता सैकड़ों संस्कारों से भी दूर नही हो सकती। जिस प्रकार कि राँगे के कितनी ही बार औषधियों द्वारा संस्कार किये जाने पर भी उसकी कालिमा नही मिटती। यदि अरोचकता ज्ञान-जन्य अर्थात् समझ-बूझ कर है तो किसी अलौकिक एवं विशिष्ट काव्य-रचना पर रोचकता उत्पन्न हो जाती है।"—यह मत यायावरीय राजशेखर का है।

सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारण है। ऐसे आलोचक या भावक नये होते हैं और कुतूहलवश सर्वत्र सभी रचनाओं पर कुछ कह बैठते हैं। विवेक-रहित प्रतिभा गुणों और दोषों का विभाजन नही कर सकती। ऐसे आलोचक रचना मे से बहुत कुछ ले लेते हैं और बहुत-कुछ छोड़ देते हैं। बुद्धि अपने विवेक के अनुसार ही मधु-संग्रह करती है। परिणाम मे वास्तविकता को देखना चाहिए। अविवेक का भ्रंश (नष्ट) होना ही कल्याणकारी होता है।

मत्सरी आलोचक, देखते हुए भी आँखें मूँद लेते हैं, क्योकि वे दूसरों के गुणों का वर्णन करने मे मौन रहना चाहते हैं। मात्सर्य-रहित और गुणज्ञ आलोचक विरले ही होते हैं। (पृष्ठ २९-३३)

× × ×

कुछ आलोचक वाणी द्वारा अपने भाव प्रकट करते हैं, कुछ हृदय द्वारा एवं कुछ मानसिक और शारीरिक चेष्टाओं द्वारा उन्हे व्यक्त करते हैं।

(पृष्ठ ३५)

३. प्रतिभा और व्युत्पत्ति

"व्युत्पत्ति का अर्थ बहुज्ञता है"—ऐसा प्राचीन आचार्यों का मत है। अर्थात् शास्त्र, लोक-व्यवहार एवं प्रकृति-परिचय आदि का अधिक से अधिक ज्ञान ही व्युत्पत्ति है। कारण यह कि कवि की वाणी चारों ओर प्रवाहित होती है। उसके लिए सब कुछ वर्णनीय है। अतः उसे विविध ज्ञान की आवश्यकता है। किसी ने कहा भी है कि :—

अनभ्यस्त विषय का वर्णन करने में भी किसी की वाणी किसी प्रकार भी प्रगति नही कर सकती। कवित्व वही है कि ज्ञात एवं अज्ञात सभी विषयों में वाणी का निर्बाध रूप से प्रसार हो।

तात्पर्य यह है कि बहुज्ञता होने पर ही बहुविषय-वर्णन-समर्थता प्राप्त हो सकती है। क्योंकि काव्य में विविध विषयों का वर्णन करना पड़ता है, जो बहुज्ञता के बिना सम्भव नहीं। अतः अधिक-से-अधिक बहुज्ञता का नाम ही व्युत्पत्ति है।

यायावरीय राजशेखर का मत है कि 'उचित और अनुचित की विवेचना करना ही व्युत्पत्ति है।' आचार्य आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि 'प्रतिभा और व्युत्पत्ति इन दोनों मे प्रतिभा उत्तम है।' कारण यह है कि वह प्रतिभा कवि की अव्युत्पत्ति को आच्छादित कर देती है। अर्थात् कवि प्रखर-प्रतिभा-प्रकर्ष से अपनी अज्ञता को छिपा लेता है, प्रकट नहीं होने देता। जैसा कि कहा है—

कवि अपनी शक्ति से अ-व्युत्पत्तिजन्य अज्ञानता को छिपा सकता है, परन्तु कवि की असमर्थता के कारण होने वाले दोष नही छिपते। उसे भावक (समालोचक) तुरन्त समझ लेते हैं। (पृष्ठ ३७-३८)

× × ×

मंगल नामक आचार्य कहते हैं कि 'प्रतिभा से व्युत्पत्ति उत्कृष्ट है', क्योंकि व्युत्पत्ति के बल से कवि अपनी असमर्थता के कारण होने वाले दोषों को छिपा लेता है। जैसे कि कहा गया है—

काव्य-रचना में व्युत्पत्ति-बल से कवि की असमर्थता छिप जाती है। श्रोता या आलोचक कवि की अलौकिक कल्पना या भाव की ओर आकृष्ट हो जाते हैं और उस कवि की शब्द एवं अर्थ-योजना पर ध्यान नहीं देते।

(पृष्ठ ३८)

× × ×

यायावरीय राजशेखर का मत है कि 'प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों संयुक्त रूप से काव्य-रचना में उपकारिणी होती हैं। जैसे, लावण्य के बिना सुन्दर रूप फीका प्रतीत होता है और रूप-सम्पति के बिना लावण्य भी अधिक आकर्षक नहीं होता।

(पृष्ठ ३६)

× × ×

अतः यह सिद्ध हुआ कि कवि को प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों की समान रूप से आवश्यकता है। इन दोनों से युक्त कवि ही कवि है।

कवि तीन प्रकार के होते हैं—शास्त्र-कवि, काव्य-कवि और उभय-कवि अर्थात् शास्त्र और काव्य दोनों में प्रवीण कवि।

श्यामदेव कहते हैं—'इन तीनों में उत्तर-उत्तर कवि श्रेष्ठ है।' अर्थात् शास्त्र-कवि से काव्य-कवि और उससे भी उभय-कवि श्रेष्ठ है।

राजशेखर कहते हैं—'नही, अपने-अपने विषय में सभी श्रेष्ठ हैं। राजहंस चन्द्रिका-पान नही कर सकता और चकोर नीर-क्षीर-विवेक में असमर्थ है। अर्थात् अपने-अपने विषय में दोनों ही श्रेष्ठ कलाविद् हैं। इसी प्रकार शास्त्र-कवि शास्त्रीय गम्भीरता के कारण उत्तम रस, ध्वनि आदि के द्वारा काव्य में रस-सम्पत्ति की शोभा बढ़ाता है और काव्य-कवि, तर्क-कर्कश शास्त्रीय जटिल विषयों को अपनी सुकुमार कला-कृति से सरस एवं सुन्दर बना देता है। उभय-कवि दोनों विषयों में सिद्ध-हस्त होने के कारण वास्तव में दोनों से श्रेष्ठ है। अतः शास्त्र-कवि और काव्य-कवि दोनों परस्पर समान स्थान प्राप्त करते हैं।

इसे हम मानते हैं कि काव्य और शास्त्र का परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव है। अर्थात् शास्त्र के द्वारा काव्य का उपकार-साधन होता है और काव्य के द्वारा शास्त्र का। कवि यदि शास्त्रों का भी विद्वान् हो तो उसकी रचना अधिक गम्भीर, सरस और उच्च कोटि की होती है। केवल शास्त्र का विद्वान् कविता का विरोधी है। उसकी कविता अरोचक और नीरस होती है। इसी प्रकार काव्य का ज्ञान सरलता-पूर्वक शास्त्रीय वाक्यों का पोषण करने मे सहायक होता है। केवल काव्य-ज्ञान में शास्त्रीय गाम्भीर्य का अभाव रहता है।

शास्त्र-कवि तीन प्रकार के होते हैं—१. शास्त्र का निर्माण करने वाला, २. शास्त्र में काव्य का निवेश करने वाला और ३. काव्य में शास्त्रीय अर्थों का निवेश करने वाला।

काव्य-कवि आठ प्रकार के होते हैं १. रचना-कवि, २. शब्द-कवि, ३. अर्थ-कवि, ४. अलंकार-कवि, ५. उक्ति-कवि, ६ रस-कवि, ७ मार्ग-कवि और ८. शास्त्रार्थ-कवि। इनके उदाहरण क्रमशः नीचे दिए जाते हैं। रचना-कवि के अग्रिम उदाहरण में केवल शब्दों की रचना-छटा सुनने और पढ़ने में सुन्दर प्रतीत होती है, परन्तु अर्थ मे कुछ भी गाम्भीर्य नही है। जैसे—

राजा ने समुद्र के वेला-तट को पार कर जिन पर्वतों की तलहटी के ऊचे उठे हुए पिंड खजूर के वृक्षो की वायु से चंचल एवं विशाल सरोवरों मे विकसित होने वाली कमल-वेल के पुष्पों (कमलो) की सुगन्धि से सुरभित वायु का सेवन किया, उन पर्वतों की गुहाएँ (स्वाभाविक गुफाएँ), चंचल और लटकती हुई लम्बी पूछो से मौलसिरी की मोटी-मोटी शाखाओ को लपेटकर किलकिलाते हुए लंगूरो के चीत्कार की प्रतिध्वनि से मुखरित हो रही थी।

शब्द-कवि तीन प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो नाम या संज्ञा-वाचक सुबन्त शब्दों का अधिक प्रयोग करते हैं, वे नाम-कवि हैं। दूसरे, आख्यात-कवि, वे होते हैं जो तिङन्त शब्दों—क्रियाओ का प्रयोग अधिक मात्रा मे करते हैं और तीसरे नामाख्यात-कवि जो दोनों का प्रयोग समान रूप से करते हैं।

नाम-कवि का उदाहरण—

जैसे, पुरुष के लिए विद्या, राजा के लिए महिमा, वैद्य के लिए प्रज्ञा, भविष्य-दर्शिनी बुद्धि, सज्जन के लिए दया, वीर के लिए लज्जा और युवक के लिए नम्रता उसी प्रकार उस राजा के लिए वही भूषण है।

इस पद्य में अनेक नामो—सुबन्त शब्दो—का एक ही क्रिया या आख्यात के साथ सम्बन्ध है। इसलिए ऐसी रचना करने वाला कवि नाम-कवि कहा जाता है।

आख्यात-कवि का उदाहरण—

समुद्र से अमृत-मन्थन के समय गुरु (बृहस्पति) द्वारा अमृत-लाभ होने की महत्त्वपूर्ण घोषणा सुनकर देवतागण अट्टहास करते थे, प्रसन्न होते थे, गरजते थे,

फड़कती हुई भुजाओ से परस्पर आघात करते थे, स्तुति करते थे और प्रमुदित होते थे।

यह वर्णन समुद्र-मंथन के प्रसग का है। इसमें नाम या सुबन्त-पद एक दो हैं, और सभी आख्यात अर्थात् क्रियापद हैं।

नामाख्यात कवि का उदाहरण—

कान्तिहीन, अन्धे, थके हुए कन्धों और हाथों वाले लक्ष्मी की अप्राप्ति से उत्पन्न शोक के कारण चेतना-शून्य से वे दैत्यगण न चिल्लाते थे, न रोते थे, न किसी प्रकार का शब्द करते थे और न हिलते-डुलते थे। वे क्षण भर के लिए चित्रित से हो गए।

यहाँ 'श्रिय.' के स्थान पर 'स्त्रियः' पाठ करने पर इसका अर्थ इस प्रकार होगा—समर मे मारे गए दैत्यों की पत्नियाँ पति-मरण के विषाद से कान्तिहीन हो गईं, उनके कन्धे और हाथ शिथिल होकर झूल गये और वे अत्यन्त शोक से चेतना-शून्य हो गईं। अतः न रोती थी, न चिल्लाती थी, न किसी प्रकार का शब्द करतीं थीं, मानों वे क्षण-भर के लिए चित्रित-सी हो गईं।

अर्थ-कवि का उदाहरण—

कुमार कार्तिकेय के जन्म-महोत्सव पर हर्ष से हाथ उठाए हुए भृंगिरिट गण एक ओर से चिल्लाते हुए आ रहे थे और कह रहे थे कि 'हे गणो, क्या बैठे हो? देवी (पार्वती) ने पुत्र-प्रसव किया है, गाओ और नाचो। इसी प्रकार दूसरी ओर से चामुण्डा आ रही थी, दोनों मिलकर परस्पर आलिंगन करते हुए नृत्य करने लगे। उनके गलो में लटकती हुई पुरानी सूखी हड्डियों की मालाएँ परस्पर की रगड़ से ऐसा भयंकर शब्द करने लगी कि उसकी ध्वनि से देवताओं की दुन्दुभि-ध्वनि भी दब गई।

यहाँ कवि ने शब्द-रचना भी की है, किन्तु उसकी अपेक्षा अर्थ प्रधानतः चमत्कारकारी है।

अलंकार-कवि दो प्रकार के होते हैं—एक शब्दालंकार-प्रिय, जो अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों द्वारा रचना को विशेष सजाने की चेष्टा करते हैं। दूसरे, उपमा, रूपक आदि अलकारों द्वारा रचना को सजाने मे विशेष रुचि रखते हैं।

शब्दालंकार कवि का उदाहरण—

खेद है कि मैंने अपने पाप-कर्मों के कारण विषम (भीषण) रण को न प्राप्त किया और विष-मरण प्राप्त किया। मैं मन्द-भागी भागीरथी (गगा) मे न मरकर साधारण-सी रथ्या (गली) में दुर्गति के साथ मरा।

यहाँ 'विषम रण' और 'विष-मरण' 'भागीरथ्याम्' और 'मन्दभागी' 'रथ्याम्' में पाद-मध्य-यमक नामक शब्दालकार है।

अर्थालंकार कवि का उदाहरण—

फहराती हुई जिह्वा-रूपी पताका वाले और फणरूपी छत्र को धारण करने वाले सर्पराज वासुकि के दाँत-रूपी शलाकाओं का भग करने के लिए मेरी भुजा समर्थ है।

यहाँ 'जिह्वा-पताका', 'फणच्छत्र', 'दष्ट्रा-शलाका' आदि मे रूपकालंकार की प्रधानतया प्रतीति होती है।

उक्ति-कवि का उदाहरण—

यौवन, इस सुनयना रमणी में रमणीय केलियाँ कर रहा है। इसकी सुन्दर पतली कमर मानिनी के श्वासो से भग होने के योग्य है, स्तनो की विशालता सुन्दर भुज-लताओं का आलिगन कर रही है और इसका मुख-चन्द्र आँखो की नलिका से पान करने योग्य आकर्षक हो गया है। यहाँ यौवनारम्भ का वर्णन करने में कवि ने मानिनी के श्वास से भग होने योग्य कटि, स्तनो का दोर्लता से आलिगन और मुख-चन्द्र का नेत्र-नलिका से पान—इन सुन्दर उक्तियो में विशेषता प्रदर्शित की है।

दूसरा उदाहरण—

यह भी यौवनारम्भ का वर्णन है। इस रमणी का अधर अशोक के अभिनव अरुण-पल्लवों से परावर्तन की इच्छा करता है, कपोल पाण्डु-वर्ण होने के कारण तालफल की परिपक्व अवस्था की ओर उतर रहे हैं और इसके नेत्र कुछ मुरझाती हुई कमलिनी का अनुकरण कर रहे हैं। इस प्रकार इस रमणी मे माधुर्य और कृशता की वृद्धि हो रही है अर्थात् अधरों में लालिमा, कपोलों में चिकनेपन के साथ पाण्डुता, आँखो मे लज्जा, आकृति मे मधुरता और शरीर मे कृशता बढ़ रही है।

इस पद्य में भी कवि की अभिनव प्रकार से कही गई उक्तियाँ विलक्षण काव्य-रमणीयता का प्रदर्शन करती हैं।

रस-कवि का उदाहरण—

प्रायः यह लोकवाद प्रसिद्ध है कि दक्षिण-देश की प्रसिद्ध ताम्रपर्णी नदी, जिस स्थान पर समुद्र से सगम करती है, वहाँ उच्च-कोटि के मोती अधिक उत्पन्न होते हैं। कालिदास ने भी इसकी चर्चा की है। यहाँ कवि उसी का वर्णन करता है—

हे कृशोदरि ! समुद्र मे मिलती हुई इस ताम्रपर्णी नदी को देखो, सीपियों के सम्पुट से निकले हुए जिसके जल-कण, सुन्दरियों के विशाल स्तन-तटो पर मोतियों के हार के रूप मे शोभित होते हैं।

यहाँ कवि ने इस वर्णन को सम्भोग शृंगार-रस-पूर्ण बनाने में सफलता प्राप्त की है।

मार्ग (रीति)-कवि का उदाहरण—

पूर्वकाल मे जब शिवजी की नेत्र-ज्वाला से कामदेव दग्ध हो गया, तब उसके मित्र ग्रीष्म (ऋतु) ने उसे दाह-शमन करने वाली औषधियाँ प्रदान की, जिससे उसका ताप शान्त हो सके। जैसे, सुगन्धबाला की जड़, मालती की छाल, चन्दन वृक्षों का सार (जल), अशोक के हरे सरस-पल्लव, शिरीष के पुष्प और पके हुए केले के फल। तात्पर्य यह है कि ये सभी साधन ग्रीष्म-काल में शीतल अतएव काम के जीवन होते हैं।

यहाँ कवि ने जड़ से फल तक की औषधियों का वर्णन-क्रम अत्यन्त आकर्षक ढंग और वैदर्भी रीति या मार्ग से किया है।

शास्त्रार्थ-कवि का उदाहरण—

दुर्योधन द्वारा सन्धिदूत श्रीकृष्ण का अपमान होने पर क्रुद्ध भीमसेन की सहदेव के प्रति उक्ति—

आत्मा में रमण करने वाले एव पूर्णज्ञान के उदय से जिनकी ज्ञानमय ग्रन्थियाँ खुल गईं हैं, ऐसे सत्त्वमय आत्म-ज्ञानी पुरुष जिस परम ज्योति का दर्शन निर्विकल्प समाधि द्वारा करते हैं, उस पुराण-पुरुष भगवान् (श्रीकृष्ण) को वह दुष्ट मोहान्ध दुर्योधन कैसे पहचान सकता है ?

यहाँ 'आत्माराम', 'तमोग्रन्थि', 'निर्विकल्प समाधि' आदि शब्द योग-शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। कवि ने योग-शास्त्र के अर्थ का रचना में उपयोग किया है।

ऊपर कहे हुए इन गुणों में दो-तीन गुणों वाला कवि कनिष्ठ श्रेणी का कवि कहा जाता है, पाँच गुणों वाला मध्यम और सभी गुणों से युक्त कवि महाकवि होता है।

कवि की दस अवस्थाएँ होती हैं। उनमें बुद्धिमान् और आहार्य-बुद्धि कवि की सात तथा औपदेशिक कवि की तीन अवस्थाएँ होती हैं। दस अवस्थाओं के नाम इस प्रकार हैं—१. काव्य-विद्या-स्नातक, २. हृदय-कवि, ३. अन्यापदेशी, ४. सेविता, ५. घटमान, ६. महाकवि, ७. कविराज, ८. आवेशिक, ९. अविच्छेदी और १०. संक्रामयिता।

जो कवित्व-प्राप्ति की इच्छा से काव्य और तदंगभूत अलंकार, छन्द, कला आदि विद्याओं के ज्ञान के लिए गुरुकुल मे जाता है—वह काव्य-विद्या-स्नातक है।

जो मन-ही-मन कविता की रचना करता है और संकोच अथवा दोष के भय से किसी को सुनाता नही, मन ही मे रखता है, वह हृदय-कवि है।

जो अपनी ही रचना को दोष या विपरीत आलोचना के भय से दूसरे की रचना बताकर पढ़ता या सुनाता है, वह अन्यापदेशी कवि है।

जो कवि कुछ-कुछ रचना करने लगता है और पुरातन कवियों मे से किसी एक को अपना आदर्श मानकर उसकी छाया पर काव्य-रचना करता है, वह सेविता है।

जो प्रकीर्ण रूप से अर्थात् भिन्न-भिन्न विषयों पर फुटकर रचना करता है, किसी एक निबन्ध का निर्माण नहीं करता, वह घटमान-कवि है।

जो किसी एक महान् या पूर्ण निबन्ध-काव्य का निर्माण करता है, वह महाकवि कहा जाता है।

जो भिन्न-भिन्न भाषाओं में, भिन्न-भिन्न प्रबन्ध-रचनाओं में और भिन्न-भिन्न रसों मे स्वतन्त्रता-पूर्वक निर्बाध रचना करने में समर्थ है, वह कविराज कहलाता है। ऐसे कविराज संसार मे कुछ इने-गिने ही होते हैं।

जो मन्त्र आदि के उपदेश और अनुष्ठान से कवित्व-सिद्धि प्राप्त करते हैं, वे आवेशिक कवि कहे जाते हैं।

जो जभी चाहे तभी धारा-प्रवाह से जिस-किसी भी विषय पर आशु कविता करता है, वह अविच्छेदी कवि कहलाता है।

जो अविवाहित कन्याओं या कुमारों पर मन्त्र-शक्ति द्वारा सरस्वती का संचार करा कर उनसे काव्य-रचना कराता है, वह सक्रामयिता कहा जाता है।

निरन्तर अभ्यास से कवि के वाक्यों में परिपक्वता आती है। यह पाक या परिपक्वता क्या है ? यह आचार्यों का प्रश्न है। मंगल का मत है कि यह निरन्तर अभ्यास का 'परिणाम' या 'परिपाक' है। पुनः आचार्यों का प्रश्न है कि यह 'परिणाम' क्या है ? मंगल का उत्तर है :—सुबन्त या तिङन्त शब्दों की श्रोत्रमधुर व्युत्पत्ति ही परिणाम है। अर्थात् सुन्दर शब्दों का प्रयोग। आचार्यों का मत है कि परिणाम या परिपाक शब्द का अर्थ है—पदों के प्रयोग मे निर्भीकता या निःसन्दिग्धता। जैसा कि कहा है—

कविता में सन्दर्भ के अनुकूल पदों के रखने और हटाने में जब तक चित्त चंचल रहता है, तभी तक कवि की अपरिपक्व अवस्था समझनी चाहिए। जब पद-विन्यास में स्थिरता प्राप्त हो जाय, तब समझना चाहिए कि अब सरस्वती सिद्ध हो गई अर्थात् सिद्ध-सारस्वत कवि हो गया।

वामन का मत है कि 'आग्रह के कारण भी पदों की स्थिरता में सन्देह रहता है। अतः एक बार लिखे गए पद के पुन. परिवर्तन की आवश्यकता न होना ही 'पाक' है। जैसा कि कहा है—

शब्द-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान शब्द-पाक उसे कहते हैं, जहाँ एक बार प्रयुक्त शब्द पुनः परिवर्तन की अपेक्षा न रखे।

अवन्तिसुन्दरी का मत है कि "यह अशक्ति है, पाक नहीं। महाकवियों के काव्यों में एक के स्थान पर अनेक पाठ मिलते हैं। वे सभी परिपक्व तथा उपयुक्त भी होते हैं। इसलिए रस के अनुकूल और अनुगुण शब्द, अर्थ एवं सूक्तियों का निबन्ध करना पाक है।" जैसा कि कहा गया है—

जो गुण, अलंकार, रीति और उक्ति के अनुसार शब्दों और अर्थों का गुम्फन-क्रम है, वह सहृदयों, श्रोताओं और भावकों को आकर्षक और स्वादु प्रतीत होता है—यही वाक्य-पाक है। इस सम्बन्ध मे कहा भी है—

कवि, अर्थ और शब्द इन सभी के रहने पर भी जिसके बिना वाङ्मधु का परिस्रवण नही होता, वही अनिर्वचनीय वस्तु 'पाक' है। जो सहृदय जनों द्वारा आस्वाद्य और काव्य का प्रधान जीवन है। अर्थात् सब कुछ होते हुए भी काव्य-रचना में कवि की प्रौढ़ता जीवन डाल देती है, यह प्रौढ़ता ही पाक है।

काव्य-पाक के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों के मतों का प्रदर्शन कर यायावरीय राजशेखर अपना मत प्रदर्शित करते हैं कि—'जहाँ पदों के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है, वह शब्द पाक वाला काव्य है। जहाँ रस, गुण और अलंकारों का सुन्दर क्रम है, वह वाक्य पाक है। इसका समुचित निर्णय सहृदय समालोचकों की आलोचना द्वारा ही हो सकता है।'

काव्य-रचना का अभ्यास करने वाले कवियों के लिए नौ प्रकार का पाक होता है—

१. आदि और अन्त दोनों में अस्वादु-नीरस-पाक का नाम 'पिचुमन्द' पाक है। पिचुमन्द नाम नीम का है, वह सदा तिक्त ही रहता है। ऐसी काव्य-रचना जो आदि और अन्त दोनों मे नीरस हो, वह निम्ब-पाक वाली कही जाती है।

२. आदि में नीरस और अन्त में कुछ सरस रचना 'बदर-पाक' कही जाती है। बेर का फल खाने मे पहले कुछ फीका और अन्त में कुछ मीठा लगता है।

३. आदि मे नीरस और अन्त में सरस रचना 'मृद्वीका-पाक' कही जाती है। मृद्वीका पहले कुछ कसैली और अन्त मे अति मधुर स्वाद वाली होती है।

४. आदि मे कुछ मधुर और अन्त मे सर्वथा नीरस रचना 'वार्ताक-पाक' है। वार्ताक (बैंगन) आदि में कुछ अच्छा और अन्त मे फीका लगता है।

५. आदि और अन्त—दोनों मे मध्यम स्वाद वाली रचना 'तिन्तिडीक-पाक' है। तिन्तिडी (इमली) आदि और अन्त में एक-सा स्वाद देती है।

६. आदि में कुछ मध्यम और अन्त मे स्वादु रचना 'सहकार-पाक' है। सहकार (आम) पहले कुछ कसैला और अन्त मे अति मधुर होता है।

७. आदि मे स्वादु और अन्त में नीरस रचना 'क्रमुक-पाक' है। क्रमुक (सुपारी) पहले मधुर और अन्त मे कसैली लगती है।

८. आदि में स्वादु और अन्त में मध्यम रचना 'त्रपुस-पाक' है। त्रपुस (ककड़ी) आदि में मधुर और अन्त मे कुछ फीकी-सी लगती है।

९. आदि से अन्त तक मधुर 'नारिकेल-पाक' है। नारिकेल (नारियल) आदि से अन्त तक मधुर होता है।

इनमे पिचुमन्द-पाक, वार्ताक-पाक और क्रमुक-पाक सर्वथा त्याज्य हैं। कवि न होना अच्छा है, परन्तु कुकवि न होना चाहिए क्योकि कुकविता करना दुःख के साथ मृत्यु के समान है। मध्यम पाक-बदर, तिन्तिडीक और त्रपुस वालों की रचनाओं का संस्कार करके उन्हे सरस और मधुर बनाना चाहिए। कारण यह कि संस्कार द्वारा गुणो की वृद्धि की जा सकती है। अनेक प्रकार के धातुओं से मिला हुआ सोना अग्नि-सस्कार से विशुद्ध बन जाता है। शेष तीन पाक-मृद्वीका, सहकार और नारिकेल ग्राह्य हैं।

जो प्रकृति या स्वभाव से शुद्ध हैं, उनके लिए संस्कार की अपेक्षा नहीं रहती। मोती का संस्कार करने पर भी वह अधिक सुन्दर या बृहत् नहीं बनाया जा सकता।

जिस काव्य-रचना में अव्यवस्थित रूप से परिपाक होता है, अर्थात् कही सरस, कही नीरस और कही मध्यम, उसे कपित्थ-पाक कहते हैं। जैसे, पलाल (पुआल या पोरा) को धुनने से कही दैववश एक-आध अन्न का दाना मिल जाता है, उसी प्रकार कपित्थ-पाक वाली रचना मे कही ढूँढने पर एक-आधी सूक्ति भी दिखाई पड सकती है।

इस प्रकार अभ्यास करने वाले कवि के काव्य के पाक नौ प्रकार के होते हैं। बुद्धिमान कवि को चाहिये कि उनमे पहले हेय (त्याज्य) और उपादेय (ग्राह्य) का विभाजन कर ले।

इस प्रकार काव्य की शिक्षा ग्रहण करने वाले शिष्यों के लिए तीन प्रकारों के प्रदर्शन किए गए हैं। यों तो विशाल संसार में इसके अनेक भेद किए जा सकते हैं।

(पृष्ठ ४०-५२)

४. काव्यार्थ

आचार्यो का मत है कि 'इस उपर्युक्त प्रकार से उल्लेख किये गये कवियो की प्रतिभा से सेव्यमान अर्थो की तो सीमा नही है। यह अर्थ-कर्म निःसीम है।'

दूसरे आचार्य अर्थों की निःसीमता को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि ठीक है। अर्थ-समूह अवश्य निःसीम है, परन्तु उसे केवल दो भागों मे ही विभक्त किया जा सकता है। एक विचारित-सुस्थ और दूसरा अविचारित-रमणीय।'

एक अर्थ ऐसा है जो विचार करने पर स्थिर होता है। अर्थात् उस पर जितना विचार किया जाय, उतनी ही नवीनता मिलती है और इस अर्थ पर पर्याप्त-

रूप से तर्क-वितर्क भी किया जा सकता है। ऐसा अर्थ विचारित-सुस्थ है, जो दर्शन आदि शास्त्रों मे वर्णित है। दूसरा, अविचारित-रमणीय अर्थ काव्यों में पाया जाता है, जिसे आपात-रमणीय भी कहते हैं। काव्यों मे वर्णित अर्थ सुनने और जानने पर एक बार चमत्कार उत्पन्न कर देता है, किन्तु यदि उस पर क्षोद-क्षेम या तर्क-वितर्क किया जाय तो उसके भीतर कुछ तत्त्व नही मिलता।

अतः शास्त्रों मे वर्णित अर्थ विचारित-सुस्थ अर्थ है और काव्यों मे अविचारित-रमणीय या आपात-रमणीय है। यह उद्भट मतानुयायी आचार्यो का मत है।

इसका उदाहरण—

हनुमान समुद्र का उल्लंघन करने के लिए अपनी कान्ति से आकाश को पीला करते हुए और स्वय आकाश के नीले रंग से नील कमल की शोभा को धारण करते हुए आकाश मे उड़े।

यहाँ आकाश का अपना नील गुण त्याग कर हनुमान के पीत गुण का स्वीकार करना, यह तद्गुण नामक अलकार है। इस श्लोक का अर्थ सुनने और परस्पर रंग बदलने की कल्पना से आनन्द और आकर्षण अवश्य होता है, परन्तु आकाश वास्तव में नीरूप (रूपरहित) पदार्थ है। न तो उसमे अपना रग है और न वह दूसरे के रंग को ग्रहण ही कर सकता है। अतः यह अर्थ विचार करने पर स्थिर नही रहता। अतः अविचारित-रमणीय है। विचारित-सुस्थ नही।

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण—

वे मन के समान वेग वाले परम-ऋषिगण, तलवार के समान श्याम वर्ण आकाश से उड़कर ओषधिप्रस्थ (हिमालय की राजधानी) मे पहुँचे।

यहाँ आकाश का श्याम वर्ण शास्त्रीय दृष्टि से असगत होने पर भी काव्य-दृष्टि से सुन्दर प्रतीत होता है, जो विचारित-सुस्थ नही है। खग का श्याम वर्ण केवल कवि-सम्प्रदाय मे वर्णित होता है। वास्तव मे वह श्वेत है।

इसी प्रकार 'नदियो का जल ही तेज का महान स्थान है,' इत्यादि उदाहरण दिए जा सकते हैं। यहाँ जल से तेज की उत्पत्ति सृष्टि-क्रम के विरुद्ध है।

यायावरीय राजशेखर कहते हैं— 'ठीक है। उक्त काव्य-रचना में वर्णित आकाश का रूप और नदियों की तेजोजनकता वास्तविक स्वरूप का वर्णन नही है,

किन्तु प्रतिभास मात्र है। आभास या प्रतिभास किसी वस्तु में स्वाभाविक रूप से नही रहता। यदि आभास को ही वस्तु का स्वाभाविक धर्म मान ले तो सूर्य और चद्रमा के मंडल, जो देखने से बारह अगुल के प्रतीत होते हैं, वे पृथ्वी की गोलाई के बराबर या उससे भी बडे नही माने जा सकते, जैसा कि पुराणों में वर्णन किया गया है। इसी प्रकार नक्षत्र, पर्वत, नदीजल आदि के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिए।

प्रतिभास या आभास वस्तु का वास्तविक धर्म नही है—यह समझते हुए भी प्रतिभास के समान ही वस्तु के स्वरूप का वर्णन करना शास्त्र और काव्य मे उल्लेख करने के लिए उपयुक्त होता है। शास्त्र में प्रतिभास का उदाहरण—

मेघ-रूपी पंक से रहित और नक्षत्र-रूप कुमुदों से शोभित विमल आकाश-रूपी जल में चन्द्रमा हस के समान प्रतीत होता है।

इसी प्रकार शास्त्र और काव्य में वस्तु का उल्लेख प्रतिभास द्वारा ही किया जा सकता है। सभी काव्य इसी प्रकार प्रतिभासमय अतएव अविचारित-रमणीय होते हैं।

अपराजित के पुत्र भट्ट लोल्लट का मत है कि 'अर्थ का निबन्धन होना अत्यावश्यक है। नीरस विषय का नही।' जैसा कि कहा है—

जल-क्रीडा, पुष्पावचय, सन्ध्या और चन्द्रोदय आदि का वर्णन सरस होने पर भी अधिक मात्रा मे न होना चाहिए तथा प्रस्तुत प्रसंग एव रस के विरुद्ध भी न होना चाहिए।

कविगण नदी, पर्वत, समुद्र, नगर, घोड़े, हाथी एवं रथ आदि के वर्णनो में जो प्रयत्न करते है, वह उनकी काव्य-रचना-शक्ति का प्रचार मात्र है। मर्मज्ञ विद्वान उसे बहुत अच्छा नही समझते।

यायावरीय कहते है कि यह उचित है, किन्तु यह भी अनुभव से सिद्ध है कि कोई अर्थ रस के अनुकूल होता है और कोई उसके प्रतिकूल। यह तो निश्चित रूप से देखा जाता है कि काव्यो मे कवियो के वाक्य ही सरसता और नीरसता उत्पन्न करते हैं। अर्थ सरस या विरस नही होते। क्योंकि प्रतिभा-संपन्न कवि साधारण (तुच्छ) अर्थ को भी सरस और चमत्कारी बना देते हैं और प्रतिभा-शून्य कवि सरस अर्थ को भी नीरस बना देते हैं।

नदी-वर्णन की सरसता—

हे कृशोदरि ! समुद्र मे मिलती हुई इस ताम्रपर्णी नदी को देखो, सीपियों के सम्पुट से निकाले गये जिसके जल-कण, सुन्दरियों के विशाल स्तन-तटों पर मोतियों के हार के रूप मे शोभा पाते हैं।

इस रचना मे नदी के जल-विन्दु, वाम-नयनाओ के स्तनों पर हार-रूप से परिणत होते हैं—इस प्रकार सम्भोग-शृंगार-रस के उद्दीपन विभाव का वर्णन किया गया है।

पर्वत-वर्णन की सरसता—

हे मृगनयने ! ये मलय पर्वत की अधित्यका मे बहने वाली नदियों की वे तीर-भूमियाँ हैं, जो भगवान कामदेव की प्यारी और उसके धनुष चलाने का अभ्यास करने का स्थान हैं। इन तीर प्रदेशो मे चकोरांगनाएँ काली रातो मे अन्धकार का पान करके खुली चोचो को ऊपर की ओर किए हुए मोती-सी शुभ्र चाँदनी को गट-गट करके पीती हैं।

यहाँ पर्वत को शृंगार-रस के विभाव-रूप में वर्णित करके कवि ने सरसता उत्पन्न कर दी है।

समुद्र-वर्णन की सरसता—

मदिरा, जो अभिलषित प्रियतम के सम्मिलन से होने वाले हर्ष के कारण मृग-लोचनाओं को विविध हाव, भाव, क्रीड़ा आदि सिखाती है, चन्द्रिका से आर्द्र आकाश, जो दम्पतियों के प्रणय-कलह को दूर करने में समर्थ होता है, जो देवताओं की यौवनावस्था सदा एक-सी बनी रहती है और जो लक्ष्मी समस्त भूमि आदि सम्पत्तियों में प्रधान मानी जाती है—यह सब समुद्र की सुन्दर चेष्टा का फल है।

तात्पर्य यह है कि मदिरा, चन्द्रमा, अमृत और लक्ष्मी-ये चारों पदार्थ समुद्र की देन हैं। यहाँ कवि ने समुद्र की महिमा का वर्णन करते हुए काव्यार्थ को सम्भोग-शृंगार रस से सरस कर दिया है।

इसी प्रकार नगर, तुरंग (घोड़ा) आदि के वर्णन में भी सरसता के अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमे कवि की प्रकृष्ट-प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है।

विप्रलम्भ (वियोग) शृंगार में भी अत्यन्त सरसता का उदाहरण—

नायिका के प्रति सम्पूर्ण चित्त-वृत्ति को लगाए हुए विरही युवक के लिए प्रेमिका के विरोधी पदार्थों मे हृदय को लगाना अधीरता उत्पन्न करता है और उसके अनुरोधी (सहयोगी) पदार्थों की ओर हृदय को लगाने पर उत्कण्ठा की वृद्धि होती है। अतः वे विरस प्रतीत होते हैं। इस स्थिति मे उसके विरोधी भावो से स्वतः विरोध रखने वाला और उसके प्रिय पदार्थों से अधिक कष्ट होने के कारण दूर रहने वाला प्रिया-विरहित विरही का हृदय, कहाँ विश्राम या सुख प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् कही नही।

यहाँ कवि ने अपने प्रतिभा-कौशल से विप्रलम्भ शृंगार का अत्यन्त हृदय-ग्राही और सरस वर्णन किया है।

विप्रलम्भ शृंगार के वर्णन मे सरसता अत्यावश्यक है, किन्तु कुकवि उसे भी नीरस बना देता है। तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु मे रस हो या न हो, कवि की वाणी मे रस होना चाहिए—यह निर्विवाद सिद्धान्त है।

पाल्यकीर्ति नामक जैन आचार्य कहते हैं कि 'वस्तु का रूप चाहे कैसा भी हो, सरसता तो कवि की प्रकृति के आधार पर है। अर्थात् कवि की प्रकृति सरस है, तो उसे सरस बना देती है और यदि कवि की प्रकृति रूक्ष या नीरस हो तो सरस वस्तु भी नीरस है। अनुरक्त व्यक्ति जिस वस्तु की स्तुति करता है, विरक्त व्यक्ति उसी की निन्दा करता है और मध्यस्थ व्यक्ति उस सम्बन्ध में उदासीन रहता है।' जैसे—

किसी उदासीन की उक्ति—जिन पुरुषो की लम्बी राते प्रियतमा के साथ क्षण के समान क्षीण हो जाती हैं, उनके लिए चन्द्रमा अत्यन्त शीतल वस्तु है और जो विरही हैं, उनके लिए वही चन्द्रमा जलते हुए अगारो के समान सन्तापकारी है। मुझे न तो प्रियतमा ही है और न उसका वियोग ही है, अतः दोनो से रहित मेरे लिए यह चन्द्रमा शीशे (कांच) के समान शोभित हो रहा है। न उष्ण है और न शीतल। न सुखद है और न दुःखद।

यायावरीय राजशेखर की गृहिणी अवन्तिसुन्दरीका मत है कि किसी वस्तु का स्वरूप नियत नही है, प्रत्येक वस्तु अनियत स्वभाव वाली है। अर्थात् न गुण वाली

है और न दोष-युक्त। कुशल कवि की उक्ति-विशेष से वह सगुण या निर्गुण हो जाती है। जैसे—

काव्य-जगत मे किसी भी वस्तु का स्वभाव नियत नही है। कवि की उक्ति के कारण उसमे गुण या दोष आ जाते है। जो चन्द्रमा की स्तुति करना चाहता है, वह उसे 'अमृताशु' कहता है और जो धूर्त कवि उसकी निन्दा करना चाहता है, वह उसे 'दोषाकर' कहता है।

यायावरीय राजशेखर कहते हैं कि पाल्यकीर्ति और अवन्तिसुन्दरी दोनो के ही मत ठीक हैं। अर्थात् युक्ति-संगत होने से ग्राह्य हैं।

अब ग्रन्थकार राजशेखर इस विवाद को समाप्त कर पूर्व-वर्णित दिव्य आदि सात प्रकार के अर्थों को दो भागो मे विभक्त करते हैं। एक तो मुक्तक-काव्य-गत और दूसरा प्रबन्ध-काव्य-गत। मुक्तक का तात्पर्य स्वतन्त्र या स्फुट कविता से है और प्रबन्ध का अर्थ है—काव्य या महाकाव्य। मुक्तक पाँच प्रकार के और प्रबन्ध भी पाँच प्रकार के होते हैं। जैसे—१ शुद्ध, २ चित्र, ३ कथोत्थ, ४ सविधानक-भू और ५ आख्यानकवान्।

इतिवृत्त या इतिहास से रहित अर्थ शुद्ध है। उसे विस्तार के साथ विस्तृत करना चित्र है। प्राचीन कथा या इतिहास-युक्त अर्थ कथोत्थ है। जिसमे घटना सम्भावित हो, उसे संविधानक-भू कहते हैं और जिसमे इतिहास की कल्पना की जाय, उसे आख्यानकवान् कहते हैं (पृष्ठ १०८-११५)

× × × ×

कवि को चाहिए कि संस्कृत के समान प्राकृत आदि सभी भाषाओ मे अपनी शक्ति और रुचि के अनुसार या अपने मनोभाव के अनुकूल रचना करे। किन्तु शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचक-सम्बन्ध की प्रौढता का सर्वत्र सावधानी से ध्यान रखे। जैसा कि कहा है—

एक ही अर्थ कही संस्कृत मे सुकवि की सुन्दर-रचना का विषय बनता है, कहीं कोई अर्थ प्राकृत-भाषा मे सुकवि-रचना का विषय होता है, कोई अर्थ अपभ्रंश भाषाओं मे और कोई अर्थ-भूत-भाषा मे कवि की सुन्दर रचना का विषय बनता है। कुछ कवि, दो-तीन भाषाओं मे तो कुछ चार-पाँच भाषाओ मे अर्थ-विवेचना-कुशल

होते हैं। इस प्रकार जिस कवि की प्रतिभा का अधिक प्रसार होता है, उसकी कीर्ति समस्त संसार को स्नान कराती है अर्थात् उसकी कीर्ति संसार में फैल जाती है।

जिस कवि का मन, इस प्रकार इन घने अर्थों के विवेक से व्युत्पन्न होता है, उसकी वाणी दुर्गम मार्ग में भी कुण्ठित नही होती।

(पृष्ठ ११९-१२०)

अनुवादक—पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत

राजशेखर

[काव्य-मीमांसा]*

१. काव्यस्य रचना स्वरूपञ्च

अथातः काव्यं मीमांसिष्यामहे यथोपविवेश श्रीकण्ठः परमेष्ठिवैकुण्ठाविभ्यश्चतुःषष्टये शिष्येभ्यः। सोऽपि भगवान्स्वयम्भूरिच्छाजन्मभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः। तेषु सारस्वतेयो वृन्दीयसामपि वन्द्यः काव्यपुरुष आसीत्। तं च सर्वसमयविदं दिव्येन चक्षुषा भविष्यदर्थदर्शिनं भूभुर्वस्वस्त्रितयवर्त्तिनीषु प्रजासु हितकाम्यया प्रजापतिः काव्यविद्याप्रवर्त्तनायं प्रायुङ्क्त। सोऽष्टावशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्यास्नातकेभ्यः सप्रपञ्चं प्रोवाच।

तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेताः, यमो यमकानि, चित्रं चित्रांगदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालंकारिकं कुबेरः वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणोपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमारः—इति। ततस्ते पृथक् पृथक् स्वशास्त्राणि विरचयाञ्चक्रुः।

इत्थङ्कारश्च प्रकीर्णत्वात् सा किंचिदुच्चिच्छिदे। इतीयं प्रयोजकांगवती संक्षिप्य सर्वमर्थमल्पग्रन्थेन अष्टावशाधिकरणी प्रणीता। (पृष्ठ ३–४)

× × × ×

पुरा पुत्रीयन्ती सरस्वती तुषारगिरौ तपस्यामास। प्रीतेन मनसा तां विरिञ्चः प्रोवाच—पुत्रं ते सृजामि।

अथैषा काव्यपुरुषं सुषुवे। सोऽभ्युत्थाय सपादोपग्रहं छन्दस्वतीं वाचमुदचीचरत्।

"यदेतद्वाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्त्तते।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ।"

---

* बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् पटना द्वारा सन् १९५४ मे प्रकाशित संस्करण।

तामाम्नायवृष्टचरीमुपलभ्य भाषाविषये छन्दोमुद्रां देवी ससम्मदमंकपर्यङ्कनादाय तमुदलापयत् । "वत्स, सच्छन्दस्काया गिरः प्रणेतर्वाङ्मयमातरमपि मातरं मां विजयसे । प्रशस्यतमं चेदमुदाहरन्ति यदुत 'पुत्रात्पराजयो द्वितीयं पुत्रजन्म' इति । त्वत्तः पूर्वे हि विद्वांसो गद्यं ववृशुर्न पद्यम् । त्वदुपज्ञमयातः छन्दस्वद्वचः प्रवर्त्स्यति । अहो श्लाघनीयोऽसि ।

"शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पशाचं पादौ, उरो मिश्रम् । समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि । उत्क्षिप्तं च ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तरप्रवल्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति । भविष्यतोऽर्थस्याभिधात्री श्रुतिरपि भवन्तमभिस्तौति ।

"चत्वारि शृंगास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यं (र्त्या) माविवेश ।।"

× × × (पृष्ठ १३-१४)

"श्रुतिः, स्मृतिः, इतिहासः, पुराणं, प्रमाणविद्या, समयविद्या, राजसिद्धान्तत्रयी, लोको, विरचना, प्रकीर्णकं च काव्यार्थानां द्वादश योनयः" इति आचार्याः । "उचितसंयोगेन, योक्त्रसंयोगेन, उत्पाद्यसंयोगेन, संयोगविकारेण च सह षोडश" इति यायावरीयः ।

× × × (पृ० ८५)

गृहीतविद्योपविद्यः काव्यक्रियायां प्रयतेत । नामधातुपरायणे, अभिधानकोशः, छन्दोविचितिः अलंकारतन्त्रं च काव्यविद्याः । कलास्तु चतुःषष्टिरुपविद्याः । सुजनोपजीव्यकविसन्निधिः, देशवार्ता, विदग्धवादो, लोकयात्रा, विद्वद्गोष्ठ्यश्च काव्यमातरः पुरातनकविनिबन्धाश्च । किंच—

स्वास्थ्यं प्रतिभाभ्यासौ भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता ।
स्मृतिदाढर्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य ।। (पृष्ठ १२१)

× × × ×

व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दो निरुक्तनिघन्ट्वादिभिर्निर्दिष्टस्तदभिधेयोऽर्थस्तौ पदम् । (पृष्ठ ५३)

× × × ×

पदानामभिधित्सितार्थग्रन्थनाकरः सन्दर्भो वाक्यम् (पृष्ठ ५५)

गुणवदलङ्कृतञ्च वाक्यमेव काव्यम् ॥ "असत्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्" इत्येके ॥ यथा—

"स्तेमः स्तोकोऽपि नाङ्के श्वसितमविकलं चक्षुषां सैव वृत्तिः
मध्येक्षीराब्धि मग्नाः स्फुटमथ च वयं कोऽयमीदृक्प्रकारः।
इत्थं दिग्भित्तिरोधःक्षतविसरतया मांसलैस्त्वद्यशोभिः
स्तोकावस्थानदुस्थैस्त्रिजगति धवले विस्मयन्ते मृगाक्ष्यः ॥"

यथा च—

"भ्रश्यद्भ्रूभुग्नभोगीश्वरफणपवनाध्मातपातालतालुः
त्रुट्यन्नानागिरीन्द्रावलिशिखरखरास्फाललोलाम्बुराशिः।
उद्यन्नीरन्ध्रधूलीविधुरसुरवधूमुच्यमानोपशल्यः
कल्योद्योगस्य यस्य त्रिभुवनवमनः सैन्यसम्मर्द्द आसीत् ॥"

आहुश्च—"वृष्टं किंचिवदृष्टमन्यदपरं वाचालवार्त्तार्पितं
भूयस्तुण्डपुराणतः परिणतं किंचिच्च शास्त्रश्रुतं।
सूक्त्या वस्तु यदत्र चित्ररचनं तत्काव्यमव्याहतं।
रत्नस्येव न तस्य जन्म जलधेर्नो रोहणाद्वा गिरेः ॥"

"न" इति यायावरीयः—

"नासत्यं नाम किञ्चन काव्ये यस्तु स्तुत्येष्वर्थवादः।
स न परं कविकर्मणि श्रुतौ च शास्त्रे च लोके च ॥"

तत्र श्रौतः—

"पुरिषिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलेग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ॥"

शास्त्रीयः— "आपः पवित्रं प्रथमं पृथिव्या-
मपां पवित्रं परमं च मन्त्राः।
तेषां च सामर्ग्यजुषां पवित्रं
महर्षयो व्याकरणं निराहुः ॥"

किञ्च— "यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान्यथावद्व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥"

"कः ?। वाग्योगविदेव। कुत एतत् ? यो हि शब्दाञ्जानात्यपशब्दानपासो जानाति। यथैव हि शब्दज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः अथवा भयानधर्मः प्राप्नोति।

भूयांसो ह्यपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा। तद्यथा। गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। अथ योऽवाग्यो-गवित् अज्ञानं तस्य शरणम्। नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति। यो ह्यजानन्वै ब्राह्मणं हन्यात्सुरां वा पिबेत्सोऽपि मन्ये पतितः स्यात्। एवं तर्हि सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद्वुष्यति चापशब्दैः। क ? अवाग्योगविदेव। अथ यो वाग्योगवित् विज्ञानं तस्य शरणम्। क्व पुनरिदं पठितम् ?। आजा नाम श्लोकाः।

किञ्च भोः श्लोका अपि प्रमाणम् ? किञ्चातः ? यदि प्रमाणमयमपि श्लोकः प्रमाणं भवितुमर्हति।

यद्युदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत्।
पीतं न गमयेत्स्वर्गं किं तत्क्रतुगतं नयेत् ॥' इति

"प्रमत्तगीत एष तत्रभवतो यस्त्वप्रमत्तगीतस्तत्प्रमाणमेव" इति गोनर्दीयः।

लौकिकः— "गुणानुरागमिश्रेण यशसा तव सर्पता।
दिग्वधूनां मुखे जातमकस्मादर्द्धकुङ्कुमम् ॥"

"असदुपदेशकत्वात्तर्हि नोपदेष्टव्यं काव्यम्" इत्यपरे। यथा एवं—

"वयं बाल्ये डिम्भांस्तरुणिमनि यूनि परिणता—
वपीच्छामो वृद्धान्परिणयविधेस्तु स्थितिरियं।
त्वयारब्धं जन्म क्षपयितुममार्गेण किमिदं
न नो गोत्रे पुत्रि क्वचिदपि सतीलांछनमभूत ॥"

"अस्त्ययमुपदेशः किन्तु निषेध्यत्वेन न विधेयत्वेन" इति यायावरीयः। य एवं-विधा विधयः परस्त्रीषु पुंसां सम्भवन्ति तानवबुध्येतेति कवीनां भावः। किं च कविवच-नायत्ता लोकयात्रा। "सा च निःश्रेयसमूलम्" इति महर्षयः। यदाहुः—

"काव्यमय्यो गिरो यावच्चरन्ति विशदा भुवि।
तावत्सारस्वतं स्थानं कविरासाद्य मोदते ॥

किञ्च—"श्रीमन्ति राज्ञां चरितानि यानि
प्रभुत्वलीलाश्च सुधाशिनां याः।
ये च प्रभावास्तपसामृषीणां
ताः सत्कविभ्यः श्रुतयः प्रसूताः ॥

उक्तञ्च—"ख्याता नराधिपतयः कविसंश्रयेण
राजाश्रयेण च गताः कवयः प्रसिद्धिं ।
राज्ञा समोऽस्ति न कवेः परमोपकारी
राज्ञो न चास्ति कविना सदृशः सहायः ॥

वल्मीकजन्मा स कविः पुराणः
कवीश्वरः सत्यवतीसुतश्च ।
यस्य प्रणेता तदिहानवद्यं
सारस्वतं वर्त्म न कस्य वन्द्यम् ? ॥"

"असम्यार्थाभिधायित्वान्नोपवेष्टव्यं काव्यम्" इति च केचित् ।

यथा— "प्रसर्पन्प्रग्रीवैर्भृतभुवनकुक्षिर्भ्रमणभ्रमणा—
करालः प्रागल्भ्यं वदति तरुणीनां प्रणयिषु ।
विलासव्यत्यासाऽजघनफलकास्फालनघन—
स्फुटच्छेदोत्सिक्तः कलकनककाञ्चीकलकलः ॥"

अपि च— "नित्यं त्वयि प्रचुरचित्रकपत्रभङ्गी—
ताडङ्कताडनविषाण्डुरगण्डलेखाः ।
स्निह्यन्तु रत्नरशनारणनाभिराम—
कामार्तिनर्तितनितम्बतटास्तरुण्यः ॥"

"प्रक्रमापन्नो निबन्धनीय एवायमर्थः" इति यायावरीयः । तदिदं श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते । तत्र याजुष—

"योनिरुदूखलं शिश्नं मुशलं मिथुनमे तत् प्रजननं क्रियते ॥

आर्च्चः—"उपोप मे परामृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः ।
सर्वाऽहमस्मि रोमशा गान्धारीणामिवाविका ॥"

शास्त्रीय :—यस्याः प्रसन्नधवलं चक्षुः पर्यन्तपक्ष्मलं ।
नवनीतोपमं तस्या भवति स्मरमन्दिरम् ॥"
पदवाक्यविवेकोऽयमिति किञ्चित्प्रपञ्चितः ।
अथ वाक्यकारांश्च कांश्चिदन्यान्निबोधत ॥

(पृष्ट ६१-६९)

२. कवि–प्रतिभा आलोचकश्च

त्रिधा च सा, स्मृतिर्मतिः प्रज्ञेति। अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्री स्मृतिः। वर्त्तमानस्य मन्त्री मतिः। अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञेति। सा त्रिप्रकाराऽपि कवीनामुपकर्त्त्री।

× × × (पृष्ठ २४)

"काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते" इति श्यामदेवः। मनस एकाग्रता समाधिः। समाहितं चित्तमर्थान्पश्यति। उक्तञ्च—

"सारस्वतं किमपि तत्सुमहारहस्यं
यद्गोचरे च विदुषां निपुणैकसेव्यं।
तस्सिद्धये परमयं परमोऽभ्युपायो
यच्चेतसो विदितवेद्यविधेः समाधिः॥"

"अभ्यासः" इति मंगलः। अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः। स हि सर्वगामी सर्वत्र निरतिशयं कौशलमाधते। समाधिरान्तरः प्रयत्नो बाह्यस्त्वभ्यासः। तावुभावपि शक्तिमुद्भासयतः। "सा केवलं काव्ये हेतुः" इति यायावरीयः।

विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्। शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते। या शब्दग्राममर्थसार्थमलंकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। × × × (पृष्ठ २६-२७)

सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री। साऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च जन्मान्तरसंस्कारापेक्षिणी सहजा। जन्मसंस्कारयोनिराहार्या। मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रभवा औपदेशिकी। ऐहिकेन कियतापि संस्कारेण प्रथमां तां सहजेति व्यपदिशन्ति। महता पुनराहार्या। औपदेशिक्याः पुनरैहिक एव उपदेशकालः, ऐहिक एव संस्कारकालः।

त इमे त्रयोऽपि कवयः सारस्वतः, आभ्यासिकः, औपदेशिकश्च।

जन्मान्तरसंस्कारप्रवृत्तसरस्वतीको बुद्धिमान्सारस्वतः। इह जन्माभ्यासोद्भासितभारतीक आहार्यबुद्धिराभ्यासिकः। उपदेशितदर्शितवाग्विभवो दुर्बुद्धिरौपदेशिकः। तस्मान्नेतरौ तन्त्रशेषमनुतिष्ठताम् "नहि प्रकृतिमधुरा द्राक्षा फाणितसंस्कारमपेक्षते" इत्याचार्याः। "न" इति यायावरीयः। एकार्थं हि क्रियाद्वयं द्वैगुण्याय सम्पद्यते। "तेषां पूर्वः पूर्वः श्रेयान्" इति श्यामदेवः। यत :—

"सारस्वतः स्वतन्त्रः स्याद् भवेदाभ्यासिको मितः ।
औपदेशकविस्त्वत्र वल्गु फल्गु च जल्पति ॥

"उत्कर्षः श्रेयान्" इति यायावरीयः । स चानेकगुणसन्निपाते भवति । किञ्च—

"बुद्धिमत्त्वं च काव्याङ्गविद्यास्वभ्यासकर्म च ।
कवेश्चोपनिषच्छक्तिस्त्रयमेकत्र दुर्लभम् ॥
काव्यकाव्याङ्गविद्यासु कृताभ्यासस्य धीमतः ।
मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता ॥"

कवीनां तारतम्यतश्चैष प्रायो वादः ।

"एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्य—
मन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावत् ।
न्यस्याविदग्धवदनेषु पदानि शश्व—
त्कस्याऽपि संचरति विश्वकुतूहलीव ॥"

सेयं कारयित्री ।

भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री । सा हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति । तया खलु फलितः कवेर्व्यापारतरुरन्यथा सोऽवकेशी स्यात् । "कः पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भावकश्च कविः" इत्याचार्याः । तदाहुः—

"प्रतिभातारतम्येन प्रतिष्ठा भुवि भूरिधा ।
भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधमां दशाम् ॥"

"न" इति कालिदासः । पृथगेव हि कवित्वाद् भावकत्वं, भावकत्वाच्च कवित्वम् । स्वरूपभेदाद्विषयभेदाच्च । यदाहुः—

"कश्चित्तावत्कवित्वं रचयितुमलं श्रोतुमेवाऽपरस्तां
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति ।
नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणाना—
मेकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः ॥"

"ते च द्विधाऽरोचकिनः, सतृणाभ्यवहारिणश्च" इति मङ्गलः । "कवयोऽपि भवन्ति" इति वामनीयाः । "चतुर्धा" इति यायावरीयः मत्सरिणस्तत्त्वाभिनिवेशिनश्च । "तत्र विवेकिनः पूर्वे तद्विपरीतास्तु ततोऽनन्तराः" इति वामनीयाः ।

"आरोचकिता हि तेषां नैसर्गिकी ज्ञानयोनिर्वा । नसर्गिकीं हि संस्कारशतेनाऽपि रङ्गमिव कालिकां ते न जहति । ज्ञानयोनौ तु तस्यां विशिष्टज्ञेयवति वचसि रोचकिता-वृत्तिरेव" इति यायावरीय : ।

किञ्च सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारणी । तथाहि व्युत्पित्सोः कौतुकिनः सर्वस्य सर्वत्र प्रथमं सा । प्रतिभाविवेककविकलता हि न गुणागुणयोर्विभागसूत्रं पातयति । ततो बहु त्यजति बहु च गृह्णाति । विवेकानुसारेण हि बुद्धयो मधु निष्यन्दन्ते । परिणामे तु यथार्थदर्शी स्यात् । विभ्रमभ्रंशश्च निःश्रेयसं सन्निधत्ते ।

मत्सरिणस्तु प्रतिभातमपि न प्रतिभातं, परगुणेषु वाचंयमत्वात् । स पुनरमत्सरी ज्ञाता च विरलः । × × × (पृष्ठ २९-३३)

वाग्भावको भवेत्कश्चित्कश्चिद्धृदयभावकः ।
सात्त्विकैराङ्गिकैः कश्चिदनुभावैश्च भावकः ॥ (पृष्ठ ३५)

३. प्रतिभा व्युत्पत्तिश्च

"बहुज्ञता व्युत्पत्तिः" इत्याचार्याः । सर्वतोदिक्का हि कविवाचः । तदुक्तम्—

प्रसरति किमपि कथञ्चन नाभ्यस्ते गोचरे वचः कस्य ।
इदमेव तत्कवित्वं यद्वाचः सर्वतोदिक्काः ॥

"उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिः" इति यायावरीयः । "प्रतिभाव्युत्पत्त्योः प्रतिभा श्रेयसी" इत्यानन्दः । सा हि कवेरव्युत्पत्तिकृतं दोषमशेषमाच्छादयति । तदाह—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते ॥
× × × (पृष्ठ ३७)

"व्युत्पत्तिः श्रेयसी" इति मंगलः । सा हि कवेरशक्तिकृतं दोषमशेषमाच्छादयति । तथाहि—

कवेः संव्रियते शक्तिर्व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि ।
वैदग्धीचित्तचित्तानां हेया शब्दार्थगुम्फना ॥
× × × (पृष्ठ ३८)

"प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ" इति यायावरीयः । न खलु लावण्य-लाभादृते रूपसम्पदृते रूपसम्पदो वा लावण्यलब्धिर्महते सौन्दर्याय ।
× × × (पृष्ठ ३९)

प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते ।
स च त्रिधा । शास्त्रकविः काव्यकविरुभयकविश्च ।
"तेषामुत्तरोत्तरीयो गरीयान्" इति श्यामदेवः ।

"न" इति यायावरीयः । यथा स्वविषये सर्वो गरीयान् । नहि राजहंसश्चन्द्रिकापानाय प्रभवति, नापि चकोरोऽभ्यः क्षीरोद्धरणाय । यच्छास्त्रकविः काव्ये रससम्पदं विच्छिनत्ति । यत्काव्यकविः शास्त्रे तर्ककर्कशमप्यर्थमुक्तिवैचित्र्येण श्लथयति । उभयकविस्तूभयोरपि वरीयान्यद्युभयत्र परं प्रवीणः स्यात् । तस्मात्तुल्यप्रभावावेव शास्त्रकाव्यकवी ।

उपकार्योपकारकभावं तु मिथः शास्त्रकाव्यकव्योरनुमन्यामहे । यच्छास्त्रसंस्कारः काव्यमनुगृह्णाति शास्त्रैकप्रवणता तु निगृह्णति । काव्यसंस्कारोऽपि शास्त्रवाक्यपाकमनुरुणद्धि काव्यैकप्रवणता तु विरुणद्धि ।

तत्र त्रिधा शास्त्रकविः । यः शास्त्रं विधत्ते, यश्च शास्त्रे काव्यं संविधत्ते, योऽपि काव्ये शास्त्रार्थं निधते ।

काव्यकविः पुनरष्टधा । तद्यथा रचनाकविः, शब्दकविः, अर्थकविः, अलङ्कारकविः, उक्तिकविः, रसकविः, मार्गकविः, शास्त्रार्थकविरिति । तत्र रचनाकविः—

"लोलल्लाङ्गूलवल्लीवलयितबकुलानोकहस्कन्धगोलै-
र्गोलाङ्गूलैर्नवद्भिः प्रतिरसितजरत्कन्दरामन्दिरेषु ।
खण्डेषूद्दण्डपिण्डीतगरतरलकाः प्रापिरे येन वेला-
मालङ्ब्योत्तालतल्लस्फुटितपुटकिनीबन्धवो गन्धवाहाः ॥"

त्रिधा च शब्दकविर्नामाख्यातार्थभेदेन । तत्र नामकविः—

"विद्येव पुंसो महिमेव राज्ञः
प्रज्ञेव वैद्यस्य दयेव साधोः ।
लज्जेव शूरस्य मृजेव यूनो
विभूषणं तस्य नृपस्य सैव ॥"

आख्यातकविर्यथा— "उच्चैस्तरां जहसुराजद्वृषजंगर्जुः—
राजघ्निरे भुजतटीनिकरैः स्फुरद्भिः ।
सन्तुष्टवुर्मुमुदिरे बहु मेनिरे च
वाचं गुरोरमृतसम्भवलाभगर्भाम् ।"

नामाख्यातकविः— "हृतत्विषोऽन्धाः शिथिलांशबाहवः
श्रियो विषादेन विचेतना इव ।
न चुक्रुशुर्नो रुरुवुर्न सस्वनु—
र्न चेलुरामुलिखिता इव क्षणम् ॥"

अर्थकविः— "देवी पुत्रमसूत नृत्यत गणाः किं तिष्ठतेत्युद्भुजे
हर्षाद् भृङ्गिरिटावुदाहृतगिरा चामुण्डयाऽऽलिङ्गिते ।
पायाद्वो जितदेवदुन्दुभिघनध्वानप्रवृत्तिस्तयो—
रन्योन्याङ्गनिपातजर्जरजरत्स्थूलास्थिजन्मा रवः ॥"

द्विधाऽलङ्कारकविः शब्दार्थभेदेन । तयोः शब्दालङ्कारः—

"न प्राप्तं विषम-रणं प्राप्तं पापेन कर्मणा विष-मरणं च ।
न मृतो भागीरथ्यां मृतोऽहमुपगुह्य मन्दभागी रथ्याम् ॥"

अर्थालङ्कारः— "भ्रान्तजिह्वापताकस्य फणच्छत्रस्य वासुकेः ।
वंष्ट्राशलाकादारिद्र्यं कर्तुं योग्योऽस्ति मे भुजः ॥"

उक्तिकविः— "उदरमिदमनिन्द्यं मानिनीश्वासलाभ्यं
स्तनतटपरिणाहो दोर्लता लेह्यसीमा ।
स्फुरति च मुखवदनेन्दुर्दृक्प्रणालीनिपेय—
स्तविह सुदृशि कल्याः केलयो यौवनस्य ॥"

यथा वा— "प्रतीच्छत्याशोकीं किसलयपरावृत्तिमधरः
कपोलः पाण्डुत्वादवतरति ताडीपरिणतिम् ।
परिम्लानप्रायामनुवदति दृष्टिः कमलिनी—
मितीयं माधुर्यं स्पृशति च तनुत्वं च भजते ॥"

रसकविः— "एतां विलोकय तनूदरि ताम्रपर्णी—
मम्भोनिधौ विवृतशुक्तिपुटोद्धृतानि ।
यस्याः पयांसि परिणाहिषु हारमूर्त्या
वामभुवां परिणमन्ति पयोधरेषु ॥"

मार्गकविः— "मूलं बालकवीरुधां सुरभयो जातीतरूणां त्वचः
सारश्चन्दनशाखिनां किसलयान्याद्रार्ण्यशोकस्य च ।
शैरीषी कुसुमोद्गतिः परिणमन्मोचं च सोऽयं गणः
ग्रीष्मेणोष्महरः पुरा किल ददे दग्धाय पञ्चेषवे ॥"

शास्त्रार्थकविः— "आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः ।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्ता-
त्तं मोहान्धः कथमयमम्रं वेत्ति वेवं पुराणम् ॥"

एषां त्रित्रैगुंणैः कनीयान्, पञ्चकर्मध्यमः, सर्वगुणयोगी महाकविः ।

दश च कवेरवस्था भवन्ति । तत्र च बुद्धिमदाहार्यबुद्ध्योः सप्त, तिस्रश्च औपदेशिकस्य । तद्यथा काव्यविद्यास्नातको, हृदयकविः, अन्यापदेशी, सेविता, घटमानो, महाकविः, कविराजः, आवेशिकः, अविच्छेदी, संक्रामयिता च ।

यः कवित्वकामः काव्यविद्योपविद्याग्रहणाय गुरुकुलान्युपास्ते स विद्यास्नातकः ।

यो हृदय एव कवते निह्नुते च स हृदयकविः ।

यः स्वमपि काव्यं दोषभयादन्यस्येत्यपदिश्य पठति सोऽन्यापदेशी ।

यः प्रवृत्तवचनः पौरस्त्यानामन्यतमच्छायामभ्यस्यति स सेविता ।

योऽनवद्यं कवते न तु प्रबध्नाति स घटमानः ।

योऽन्यतरप्रबन्धे प्रवीणः स महाकविः ।

यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः । ते यदि जगत्यपि कतिपये ।

यो मन्त्राद्युपदेशवशाल्लब्धसिद्धिरावेशसमकालं कवते स आवेशिकः ।

यो यदेवेच्छति तदेवाविच्छिन्नवचनः सोऽविच्छेदी ।

यः कन्याकुमारादिषु सिद्धमन्त्रः सरस्वतीं संक्रामयति स संक्रामयिता ।

काव्य-पाकः

सततमभ्यासवशतः सुकवेः वाक्यं पाकमायाति । "कः पुनरयं पाकः ?" इत्याचार्याः । "परिणामः" इति मङ्गलः । "कः पुनरयं परिणामः ?" इत्याचार्याः । "सुपां तिङां च भवः (प्रि ?) या व्युत्पत्तिः" इति मङ्गलः । सौशब्द्यमेतत् । "पदनिवेशनिष्कम्पता पाकः" इत्याचार्याः । तदाहुः—

"आवापोद्वरणे तावद्यावद्दोलायते मनः ।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ॥"

"आग्रहपरिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायस्तस्मात्पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं पाकः" इति वामनीयाः ॥ तदाहुः—

"यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुतां ।
तं शब्दन्यायनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥"

"इयमशक्तिर्न पुनः पाकः" इत्यवन्तिसुन्दरी । यदेकस्मिन्वस्तुनि महाकवीनामनेकोऽपि पाठः परिपाकवान्भवति, तस्माद्रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धनः पाकः । यदाह—

"गुणालङ्काररीत्युक्तिशब्दार्थग्रथनक्रमः ।
स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति ॥"

तदुक्तम्— 'सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति ।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥"

"कार्यानुमेयतया यत्तच्छब्दनिवेद्यः परं पाकोऽभिधाविषयस्तत्सहृदयप्रसिद्धिसिद्ध एव व्यवहाराङ्गमसौ" इति यायावरीयः ।

स च कविग्रामस्य काव्यमभ्यस्यतो नवधा भवति ।
तत्राद्यन्तयोरस्वादु पिचुमन्दपाकम्,
आदावस्वादु परिणामे मध्यमं बदरपाकम्,
आदावस्वादु परिणामे स्वादु मृद्वीकापाकम्,
आदौ मध्यममन्ते चास्वादु वार्त्ताकपाकम्,
आद्यन्तयोर्मध्यमं तिन्तिडीकपाकम्,
आदौ मध्यममन्ते स्वादु सहकारपाकम्,
आदावुत्तममन्ते चास्वादु क्रमुकपाकम्,
आदावुत्तममन्ते मध्यमं त्रपुसपाकम्,
आद्यन्तयोः स्वादु नालिकेरपाकमिति ।

तेषां त्रिष्वपि त्रिकेषु पाकाः प्रथमे त्याज्याः । वरमकविर्न पुनः कुकविः स्यात् । कुकविता हि सोच्छ्वासं मरणम् । मध्यमा संस्कार्याः । संस्कारो हि सर्वस्य गुणमुत्कर्षति । द्वादशवर्णमपि सुवर्णं पावकपाकेन हेमीभवति । शेषा ग्राह्याः ।

स्वभावशुद्धं हि न संस्कारमपेक्षते । न मुक्तामणेः शाणस्तारतायै प्रभवति ।

अनवस्थितपाकं पुनः कपित्थपाकमामनन्ति । तत्र पलालधूननेन अग्रकणला-भवत्सुभाषितलाभः ।

सभ्यगभ्यस्यतः काव्यं नवधा परिपच्यते ।
हानोपादानसूत्रेण विभजेत्तद्धि बुद्धिमान् ॥

अयमत्रैव शिष्याणां वर्शितस्त्रिविधो विधिः ।
किन्तु विविधमप्येतत्त्रिजगत्यस्य वर्त्तते ॥ (पृष्ठ ४०-५२)

४. काव्यार्थः

सोऽयमित्थंकारमुल्लिख्योपजीव्यमानो निःसीमार्थसार्थः सम्पद्यते । अस्तु नाम निःसीमार्थसार्थः । किन्तु द्विरूप एवासौ विचारितसुस्थोऽविचारितरमणीयश्च । तयोः पूर्वमाश्रितानि शास्त्राणि तदुत्तरं काव्यानि' इत्यौद्भटाः ।

यथा— 'अपां लङ्घयितुं राशिं रुचा पिञ्जरयन्नभः ।
खमुत्पपात हनुमान्नीलोत्पलदलद्युतिः ॥'

यथा वा— 'त आकाशमसिश्यामममुत्पत्य परमर्षयः ।
आसेदुरोषधिप्रस्थं मनसा समरंहसः ॥'

यथा च—

'तदेव वारि सिन्धूनां महत्स्थेमार्चिषामिति' इत्यादि ॥

'न स्वरूपनिबन्धनमिदं रूपमाकाशस्य सरित्सलिलादेर्वा किन्तु प्रतिभासनिब-न्धनम् । न च प्रतिभासस्तादात्म्येन वस्तुन्यवतिष्ठते यदि तथा स्यात्सूर्याचन्द्रमसोर्मण्डले वृष्ट्वा परिच्छिद्यमानद्वादशांगुलप्रमाणे पुराणाद्यागमनिवेदितधरावलयमात्रे न स्तः' इति यायावरीयः । एवं नक्षत्रादीनां सरित्सलिलादीनामन्येषां च । यथाप्रतिभासं च वस्तुनः स्वरूपं शास्त्रकाव्ययोर्निबन्धोपयोगि । शास्त्रे यथा—

"प्रशान्तजलभृत्पङ्के विमले वियदम्भसि ।
ताराकुमुदसम्बन्धे हंसायत इवोडुराट् ॥"

काव्यानि पुनरेतन्मयान्येव ।

"अस्तु नाम निःसीमार्थसार्थः । किन्तु रसवत एव निबन्धो युक्तो न नीरसस्य" इति आपराजितिः ।

यदाह— "मञ्जनपुष्पावचयनसन्ध्याचन्द्रोदयाविवाक्यमिह ।
सरसमपि नातिबहुलं प्रकृतरसानन्वितं रचयेत् ॥"
"यस्तु सरिदद्रिसागरपुरतुरगरथाविवर्णने यत्नः ।
कविशक्तिख्यातिफलो विततधियां नो मतः स इह ॥"

'आम्' इति यायावरीयः । अस्ति चानुभूयमानो रसस्यानुगुणो विगुणश्चार्थः, काव्ये तु कविवचनानि रसयन्ति विरसयन्ति च नार्थाः, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चेदमुपलभ्यते ।

तत्र सरिद्वर्णनरसवत्ता—"एतां विलोकय तलोदरि ! ताम्रपर्णी—
मम्भोनिधौ विवृतशुक्तिपुटोद्भृतानि ।
यस्याः पयांसि परिणाहिषु हारमूर्त्या
वामभ्रुवां परिणमन्ति पयोधरेषु ॥"

अद्रिवर्णनरसवत्ता—

"एतास्ता मलयोपकण्ठसरितामेणाक्षि ! रोधोभुव—
श्चापाभ्यासनिकेतनं भगवतः प्रेयो मनोजन्मनः ।
यासु श्यामनिशासु पीततमसो मुक्तामयीश्चन्द्रिकाः ।
पीयन्ते विवृतोर्ध्वचञ्चुविचलत्कण्ठं चकोराङ्गनाः ॥"

सागरवर्णनरसवत्ता—

'धत्ते यत्किलकिञ्चितैकगुरुतामेणीदृशां वारुणी
वैधुर्यं विदधाति दम्पतिरुषां यच्चन्द्रिकाद्रं नभः ।
यच्च स्वर्गसदां वयः स्मरसुहृन्नित्यं सदा सम्पदां
यल्लक्ष्मीरधिदैवतं च जलधेस्तत्कान्तमाचेष्टितम् ॥'

एवं पुरतुरगादिवर्णनरसवत्तापि ।

विप्रलम्भेप्यतिरसवत्ता—

"विधर्माणो भावास्तदुपहितवृत्तेर्न धृतये
सरूपत्वादन्ये विहितविफलोत्सुक्यविरसाः ।
ततः स्वेच्छं पूर्वेष्वसजदितरेभ्यः प्रतिहतं
क्व हीनं प्रेयस्या हृदयमिवमन्यत्र रमताम् ॥"
कुकविर्विप्रलम्भेऽपि रसवत्तां निरस्यति ।
अस्तु वस्तुष मा वा भूत्कविवाचि रसः स्थितः ॥

"यथा तथा वास्तु वस्तुनो रूपं, वक्तृप्रकृतिविशेषायत्ता तु रसवत्ता। तथा च यमर्थं रक्तः स्तौति तं विरक्तो विनिन्दति मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते" इति पाल्यकीर्त्तिः।

"येषां वल्लभया समं क्षणमिव स्फारा क्षपा क्षीयते
तेषां शीततरः शशी विरहिणामुल्केव सन्तापकृत्।
अस्माकं न तु वल्लभा न विरहस्तेनोभयभ्रंशिना—
मिन्दू राजति दर्पणाकृतिरयं नोष्णो न वा शीतलः॥"

"विदग्धभणितिभङ्गिनिवेद्यं वस्तुनो रूपं नियतस्वभावम्" इति अवन्तिसुन्दरी। तदाह—

"वस्तुस्वभावोऽत्र कवेरतन्त्रो
गुणागुणावुक्तिवशेन काव्ये।
स्तुवन्निबध्नात्यमृतांशुमिन्दुं
निन्दंस्तु दोषाकरमाह धूर्त्तः॥"

"उभयमुपपन्नम्" इति यायावरीयः।

स पुनर्द्विधा। मुक्तकप्रबन्धविषयत्वेन। तावपि प्रत्येकं पञ्चधा। शुद्धः, चित्रः, कथोत्थः, संविधानकभूः, आख्यानकवांश्च। तत्र मुक्तेतिवृत्तः शुद्धः। स एव सप्रपञ्चश्चित्रः। वृत्तेतिवृत्तः कथोत्थः। सम्भावितेतिवृत्तः संविधानकभूः। परिकल्पितेतिवृत्तः आख्यानकवान्। तत्र। × × × (पृष्ठ १०८-११४)

किञ्च। संस्कृतवत्सर्वास्वपि भाषासु यथासामर्थ्यं यथारुचि यथाकौतुकं चावहितः स्यात्। शब्दार्थयोश्चाभिधानाभिधेयव्यापारप्रगुणतामवबुध्येत।
तदुक्तम्—

एकोऽर्थः संस्कृतोक्त्या स सुकविरचनः प्राकृतेनापरोऽस्मिन्
अन्योऽपभ्रंशगीर्भिः किमपरमपरो भूतभाषाक्रमेण।
द्वित्राभिः कोऽपि वाग्भिर्भवति चतसृभिः किञ्च कश्चिद्विवेक्तुं
यस्येत्थं धीः प्रगल्भा स्नपयति सुकवेस्तस्य कीर्त्तिर्जगन्ति॥

"इत्थङ्कारं घनैरर्थैर्व्युत्पन्नमनसः कवेः।
दुर्गमेऽपि भवेन्मार्गे कुण्ठिता न सरस्वती॥ (पृष्ठ ११९-१२०)

धनंजय और धनिक

समय—१०वी शती ई० का उत्तरार्द्ध

[ग्रन्थ—दशरूपक]

१. रूपक के भेद

(धनंजय के अनुसार) रूपक के दस भेद हैं :—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक और ईहामृग ॥१।८॥

२. नृत्य और नृत्त

ताल और लय पर आश्रित नाच नृत्त कहलाता है और भाव अर्थात् अभिनय पर आश्रित नृत्य।

इनमें आद्य, अर्थात् नृत्य, मे पदों से व्यक्त अर्थ का अभिनय होता है जिसके दो प्रकार हैं—मार्ग और देशी ॥१।९॥

अन्य, अर्थात् नृत्य के दो भेद हैं—लास्य और तांडव, जो क्रमशः मधुरता और उद्धतता पर आधृत हैं। ये दोनो भेद नाटकादि रूपकों में सहयोगी होते हैं ॥१।१०॥

३. रूपक के तीन आधार

रूपको का वर्गीकरण तीन तत्त्वों पर आधारित है—वस्तु, नेता और रस।

[क] वस्तु

वस्तु के दो प्रकार हैं :—आधिकारिक और प्रासंगिक। आधिकारिक वस्तु मुख्य होती है और प्रासंगिक उसकी अंगभूत ॥१।११॥

रूपक के फल का 'स्वाम्य' अर्थात् भोक्ता होना 'अधिकार' कहलाता है और उसका प्रभु (स्वामी) अधिकारी। निर्वर्त्य अर्थात् अभिनेय अधिकार को अभिव्याप्त करने वाला वृत्त 'आधिकारिक' कहलाता है ॥१।१२॥

जिस परार्थ अर्थात् मूल कथा से भिन्न वृत्त का अर्थ प्रसंगवश मूल कथा से सम्बद्ध होता है वह प्रासंगिक कहलाता है।

जो प्रासंगिक वृत्त आधिकारिक के साथ सर्वत्र रहता है वह 'पताका' कहलाता है और जो केवल किसी भाग से सम्बद्ध होता है वह 'प्रकरी' ॥१।१३॥

आधिकारिक वृत्त के तीन और भेद हैं :—प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र।

किसी इतिहास ग्रन्थ पर आश्रित वृत्त 'प्रख्यात' कहलाता है और कवि-कल्पित 'उत्पाद्य'। उन दोनों से मिश्रित वृत्त 'मिश्र' कहलाता है ॥१।१५-१६॥

नाटकादि में पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ होती हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य ॥१।१८॥

वस्तु की पाँच अवस्थाएँ होती हैं :—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम ॥१।१९॥

इसी प्रकार पाँच सन्धियाँ होती हैं :—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और उपसंहृति ।१॥२४॥

[ख] नेता

वस्तु के अनन्तर रूप के तत्त्वों मे नेता (नायक) का स्थान है। वह निम्नलिखित गुणों से सम्पन्न होना चाहिए .—

विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, रक्तलोक, शुचि, वाग्मी, रूढवंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान्, उत्साहवान्, स्मृतिवान्, प्रज्ञावान्, कलासमन्वित, मान-समन्वित, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रचक्षु और धार्मिक ॥२।१-२॥

[ग] रस

(क) रस का लक्षण

जब स्थायी भाव विभावों अनुभावों, सात्त्विक भावो और व्यभिचारी भावों द्वारा स्वाद्य बना दिया जाता है तो रस कहलाता है ॥४।१॥

(ख) विभाव और उसके भेद

ज्ञायमान होने के कारण भाव की पुष्टि करने वाला तत्त्व विभाव कहलाता है। उसके दो भेद हैं—आलम्बन और उद्दीपन ।।४।२।।

विभाव का तात्पर्य है स्पष्ट रूप से ज्ञात अर्थ। इन विभावो की सत्ता वस्तु-शून्य नही होती क्योकि उन्हें अपनी व्यंजना के लिए किसी बाह्य सत्त्व की आवश्यकता नही तथा वे अपने शब्दों द्वारा ही अपना भाव पूर्ण कर देते हैं तथा सामान्यात्म होने के कारण अपने-अपने सम्बन्ध से (नायिकादि के प्रति) भावक के चित्त में विपरिवर्तमान होते हैं। इसीलिए ये आलम्बनादि कहे जाते हैं। भर्तृहरि ने भी इनको वस्तु-शून्य न मान कर कहा है :—शब्दों से उपहित रूप वाले और बुद्धि के विषय बने हुए कंसादिक विभाव साधन-रूप हैं। षट्साहस्रीकार ने भी कहा है, "इन (विभावो) के सामान्य गुण योग से रस निष्पन्न होते हैं।" (पृष्ठ ७७)

अन्य चित्त-वृत्तियाँ इन्ही अनुभावों और विभावों के अनुसार प्रविष्ट होती हैं अतः उनके पृथक् विवेचन की आवश्यकता नही है।

(ग) स्थायी भाव

जो विरुद्ध अथवा अविरुद्ध किसी भी प्रकार के भावो से विच्छिन्न नही होता और लवणाकर के समान उन अन्य भावों को आत्मभाव मे परिणत कर लेता है वह 'स्थायी भाव' कहलाता है ।।४।३४।।

सजातीय अथवा विजातीय किसी भी प्रकार के भावान्तरो से तिरस्कृत न होकर उपनिबध्यमान रत्यादि भाव स्थायी कहलाते हैं। यथा—बृहत्कथा मे मदनमञ्जूषा पर नरवाहन दत्त का अनुराग। वह बीच-बीच मे अन्य अनेक नायिकाओ मे अनुराग उत्पन्न होने पर भी तिरस्कृत नही होता अर्थात् अन्य नायिकाओं के प्रति अनुराग होने पर भी मदनमंजूषा के प्रति अनुराग यथावत् बना रहता है। अत वह 'स्थायी' है।

इस प्रकार एक भाव के बीच मे न तो अन्य अविरोधी भाव का समावेश विरोधी होता है और न विरोधी का। क्योकि विरोधी का अर्थ है सहानवस्थान (अर्थात् दोनों का एक साथ न अवस्थित रह सकना) और बाध्य-बाधक भाव। इन दोनों स्थितियो मे तादात्म्य सम्भव नही क्योंकि उसका आविर्भाव एक-रूपत्व से ही सम्भव है। स्थायी भाव का और विभावादि का विरोध होने पर भी चित्त के रसादिभावों मे उपरक्त होने के कारण सहानवस्थान दोष नही आता और अविरोधी व्यभिचारी भावों का लकसूत्रन्याय से उपनिबन्धन तो समस्त भावकों के लिए

स्वानुभूति-सिद्ध है। जिस प्रकार वह स्वसवेदन-सिद्ध है उसी प्रकार काव्य-व्यापार से उत्तेजित होकर अनुकार्य मे आवेश्यमान होता हुआ चित्त के सम्पर्क मे आकर वैसे ही आनन्दानुभव का उन्मीलन करने लगता है। इससे यह स्पष्ट है कि भावो का सहानवस्थान नही होता।

बाध्य-बाधक भाव का तात्पर्य है एक प्रकार के भावों का अन्य प्रकार के भावों से तिरस्कार। व्यभिचारी और स्थायी भाव का आनन्तर्य-विरोध भी सम्भव नहीं, क्योकि अंग प्रधान से विरुद्ध नही हो सकता और व्यभिचारी भाव स्थायी का अग होता है अत. व्यभिचारी (अंग) और स्थायी (अगी) के विरोध की सम्भावना भी अपास्त हो गई।

मालती माधव में शृंगार के अनन्तर बीभत्स का उपनिबन्ध है फिर भी किसी प्रकार की विरसता नही आती। इससे स्पष्ट है कि विरुद्ध रस तभी विरोध का कारण बनता है जब सतत उसी का अवलम्बन किया जाये। किन्तु सत्त्व-विरुद्ध रसान्तर का व्यवधान होने पर विरुद्ध रस भी विरोधी नही होता। (पृष्ठ ९०-९१)

श्लेषादि वाक्यो मे जहाँ अनेक तात्पर्य होते हैं वहाँ भी वाक्यार्थ की भिन्नता और स्वतन्त्र रूप से दो अर्थ होने के कारण दोष नही माना जा सकता।

इस प्रकार रसादिभावो के उपनिबन्ध मे कही भी दोष नही होता। इसी प्रकार रसादि पदो के प्रयोग से भी कोई दोष उत्पन्न नही होता क्योकि वाक्य का तात्पर्य यही रहता है।

स्थायी भाव ये हैं :—रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, स्मय, भय और शोक। कुछ आचार्य शम को भी स्थायी भाव मानते हैं पर नाट्य में उसकी पुष्टि नही होती ॥४।३५॥

शान्तरस के विरुद्ध अनेक विप्रतिपत्तियाँ है। कुछ आचार्य कहते हैं, 'शान्त' नामक रस ही नही होता क्योकि आचार्य (भरत) ने न तो उसका लक्षण दिया और न उसके विभावादि का प्रतिपादन किया। अन्यो के अनुसार शान्त का वस्तुतः ही अभाव है, क्योकि अनादिकाल से चले आ रहे रागद्वेषादि का उच्छेद असभव है। कुछ आचार्य वीर, बीभत्स आदि मे ही उसका अन्तर्भाव कर देते हैं। ऐसा कहने वाले तो 'शम' की भी सत्ता नही मानते। अस्तु जो भी हो, हम नाटकादि अभिनेय काव्यों मे शम के स्थायित्व का निषेध करते हैं क्योकि शम में समस्त व्यापारो का विलय हो जाता है। अतः वह अनभिनेय है। (पृष्ठ ९२)

अत· स्थायी भाव आठ ही हैं। "आचार्यो ने इनका रसत्व इसीलिए माना है कि ये मधुरादि के समान रसनशील अर्थात् स्वाद्य हैं। और स्वाद्यत्व निर्वेदादि (व्यभिचारियो) मे भी पर्याप्त है अत वे भी रस हैं। इस प्रकार उपर्युक्त (आठ भावों के अतिरिक्त) अन्य भावों से भी रस का अभ्युपगम हो सकता है। अतः अन्य स्थायी भी सम्भव है,"—यह शंका भी उपस्थित हो सकती है, परन्तु यह धारणा तर्क-संगत नही है। क्योंकि—

निर्वेदादि में तद्रूपता नही है अत. वे अस्थायी हैं और स्वाद्य नही हैं। इसलिए इनकी पुष्टि विरसता का ही कारण बन सकती है अतः आठ ही स्थायी भाव मान्य हैं॥४।३६॥

निर्वेद आदि (सचारी भाव) विरुद्ध अथवा अविरुद्ध किसी भी प्रकार के भावो के सम्पर्क मे अविच्छिन्न नही रहते, अत. वे अस्थायी हैं। इसीलिए वे परस्पर चिन्ता आदि के अन्तर्गत आकर यदि परितुष्ट भी हो तो विरसता का ही कारण बनते हैं। क्योकि फिर तो हास्यादि मे भी (कभी-कभी निष्फलता होने के कारण) अस्थायित्व मानना पड़ेगा। और परम्परा से निर्वेदादि भी फलवान् होते हैं (अतः उन्हे भी स्थायी मानना होगा)। अतः अस्थायित्व का प्रयोजक निष्फलत्व नही हैं किन्तु विरुद्ध अथवा अविरुद्ध भावो से तिरस्कृत न होना स्थायित्व का प्रयोजक है। निर्वेदादि मे ये गुण नही हैं अतः वे स्थायी नही हैं। इसीलिए उनका रसत्व भी नही बताया गया। इस प्रकार अस्थायित्व के कारण इनकी अरसता है और इनका काव्य से सम्बन्ध भी क्या है ?

(४) रस और शब्द-शक्ति का सम्बन्ध

रसो का वाच्य-वाचक भाव मानना ठीक नही क्योकि इनका आवेदन इनके वाचक शब्दो से नही होता। काव्य मे शृगार आदि रसों के प्रकरण मे न तो शृगारादि शब्द होते हैं और न रत्यादि, जिससे अभिधा शक्ति को उनके परिपोष का कारण माना जा सके। यदि कही शृंगार, रति आदि शब्दो का प्रयोग होता है तो भी रस के निष्पादक उन के अभिधान मात्र नही होते किन्तु विभावादि ही होते हैं। इसी प्रकार लक्ष्य-लक्षक भाव भी रस का मूल नही है क्योकि उसके सामान्य अभिधायक लक्षक पद का भी काव्यादि मे प्रयोग नही होता। और लक्षित लक्षणा से रस की प्रतिपत्ति भी नही होती। जैसी कि 'गगायां घोषः' आदि मे (प्रतिपत्ति) होती है। इस उदाहरण मे 'गंगा' शब्द अपने निजी अर्थ से स्खलित हो गया है, क्योंकि उसका निजी अर्थ वहनशीलता का द्योतक है और उस स्थिति मे उस पर 'घोष' की अवस्थिति

संभव नहीं है। अतः 'गंगा' शब्द अपना अर्थ छोड कर उससे भिन्न 'तट' शब्द का उपलक्षक बन गया है। किन्तु नाटकादि मे यह संभव नहीं है क्योकि नायकादि अपने अर्थ से स्खलित होकर किसी अर्थान्तर के उपलक्षक नही बन सकते। और कोई व्यक्ति मुख्य के होते हुए बिना किसी निमित्त और प्रयोजन के उपलक्षक का प्रयोग भी क्यों करेगा, जैसा कि वह 'सिंहो माणवकः' आदि में करता है। क्योकि इस वाक्य में तो 'सिंह' शब्द वीरता का सूचक है अतः सप्रयोजन है। अतः गौणी लक्षणा से भी प्रतीति नही होती। यदि वाच्यत्वमात्र से रस-निष्पत्ति सम्भव हो तो अव्युत्पन्न-चित्त वाले अरसिको को भी रसास्वाद प्राप्त हो जायेगा। परन्तु वस्तुतः केवल सहृदयो को ही रसानुभूति होती है। इसलिए कुछ आचार्य वाच्य भिन्न; और अभिधा, शुद्धा लक्षणा और गौणी लक्षणा आदि से व्यतिरिक्त, व्यंजकत्व लक्षणा वाले शब्द-व्यापार की कामना करते हैं और उसी को रस तथा अलंकार का मूल मानते हैं। अत. विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावो से उत्पन्न होने वाली रसो की प्रतिपत्ति वाच्य कैसे हो सकती है। अन्य रसो मे भी यही न्याय है। रसो मे ही नही वस्तुमात्र और अलंकारों मे भी यही न्याय है। (पृष्ठ ९३-९४)

ध्वनि के दो भेद हैं .—विवक्षित वाच्य और अविवक्षित वाच्य। अविवक्षित वाच्य के पुनः दो भेद हैं :—अत्यन्त तिरस्कृत स्वार्थ और अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य। विवक्षित वाच्य के भी दो भेद हैं ;—असंलक्षित क्रम और क्रमद्योत्य। जहाँ असलक्ष्य-क्रम हो और व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो वहाँ रसादि होते हैं और जहाँ ध्वनित्व अगभूत हो वहाँ रसवत् अलंकार होता है।

जिस प्रकार वाच्य अथवा (शब्दो मे व्यक्त) प्रकरणादि सेबुद्धिस्थ क्रिया कारको से युक्त होकर वाक्यार्थ बन जाती है वैसे ही स्थायी भाव अन्य विभाव, अनुभाव, संचारी भावों से युक्त होकर वाक्यार्थ बन जाता है ॥४।३७॥

अर्थात् जिस प्रकार 'गामभ्याज' आदि श्रूयमाण क्रिया वाले लौकिक वाक्यो की क्रिया अथवा 'द्वारम् द्वारम्' आदि वाक्यों मे अपने शब्दों के उपादान से प्रकरणानुसार बुद्धिस्थ क्रिया कारकों से युक्त होकर वाक्यार्थ बनती है उसी प्रकार 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' आदि काव्यों में अपने शब्दो के उपादान से अथवा कही-कही प्रकरणानुसार नियत किन्तु शब्दों द्वारा अव्यक्त विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावो से भी रति आदि स्थायी भाव भावक के चित्त मे उत्पन्न हो कर सस्कार-परम्परा से प्रौढि को प्राप्त होता है और रत्यादि वाक्यार्थ व्यक्त करता है। यह कथन ठीन नही कि वाक्यों का अर्थ पदो का अर्थ नही होता (उससे भिन्न होता है), क्योकि तात्पर्य-शक्ति भी कार्य-पर्यवसायिनी होती है। पौरुषेय तथा अपौरुषेय सभी प्रकार के वाक्य कार्य परक होते

हैं। यदि कार्य-परक न हों तो उन्मत्त के वाक्य के समान निरर्थक होंगे और काव्य के शब्द तो अन्वय अथवा व्यतिरेक द्वारा निरतिशय सुख से ही हो जायेंगे, जिससे प्रतिपाद्य तथा प्रतिपादक किसी भी प्रवृत्ति विषय की प्रयोजन-सिद्धि न कर सकेंगे। अतः काव्य शब्दों का कार्यत्व उत्तम आनन्दानुभूति ही है, यह स्पष्ट हो जाता है।

विभावादि से संसृष्ट स्थायीभाव ही उसका निमित्त विदित होता है। अतः वाक्य की अभिधान-शक्ति तभी आत्म-पर्यवसायिनी होती है, जब विभिन्न रसों से आकृष्ट होकर उन विशिष्ट रसो के लिए अपेक्षित अवान्तर विभावादि द्वारा प्रतिपादित होती है। विभावादिक पदो के अर्थ मे विद्यमान रहते हैं और उनसे संसृष्ट रति आदि [स्थायी भाव] वाक्यार्थ होते हैं। इस प्रकार का वाक्य 'काव्य-वाक्य' कहलाता है जिसके पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों होते हैं। यदि ऐसा न हो तो काव्य के गीतादि के समान सुखजनक होने पर भी उसमें वाच्य-वाचक भाव व्यर्थ होगा। विशिष्ट विभावादि सामग्री भी उन्ही विद्वानो को रस की उद्भूति करा सकती है जिनमे वह भावना पहले से हो अत उसका अतिप्रसंग भी सिद्ध नही होता। इस प्रकार वाक्यार्थ-निरूपण मे परिकल्पित अभिधा शक्ति से समस्त वाक्यार्थ समझ में आने पर अन्य शक्ति की कल्पना प्रयास मात्र है।

× × ×

अतः रसादि का काव्य के साथ व्यंग्य-व्यंजक-संबंध नही है। तो क्या भाव्य-भावक-सम्बन्ध है? काव्य भावक है और रसादि भाव्य। रसादि विशिष्ट विभावादि वाले काव्य द्वारा भावक शब्दो मे स्वय उत्पन्न हो जाते हैं, न कि अन्य प्रकार के शब्दों मे। वैसे ही भाव्यभावक-लक्षण-सम्बन्ध का अभाव होने पर काव्य शब्दो में भी रसादि का भावन नही होता। क्योकि भावना-क्रिया-वादियो ने इसी मत को अंगीकार किया है। [भरत ने] कहा भी है :—

"क्योकि ये [भाव] भावो के अभिनय से सम्बन्ध रसों को भावित करते हैं अतः इन्हे 'भाव' इस नाम से नाटच-योजक जानते हैं।" अत. अगृहीत सम्बन्ध वाले पदों मे स्थायी आदि की प्रतीति कैसे हो सकती है। यदि हो जाये तो जिस प्रकार लोक मे रत्यादि की चेष्टाओं से युक्त स्त्री पुरुषो से रत्यादि अविनाभूत हैं (अर्थात् नहीं किये जा सकते), उसी प्रकार यहाँ (काव्यादि में) रत्यादि से अविनाभूत चेष्टादि के प्रतिपादक शब्दो मे अभिधेय अविनाभूत हैं और इसी से लाक्षणिक रति आदि की प्रतीति होती है।

५. रसास्वाद और उस के भोक्ता

स्थायी भाव स्वाद्यत्व के कारण रस बनता है और वह रसिक में ही विद्यमान होता है अनुकार्य मे नही क्योकि रसिक ही विद्यमान है। अनुकार्य तो केवल वृत्त है अर्थात् पहले वर्त्तमान था, अब नही है ॥४।३८॥

काव्य भी अनुकार्य-परक नही है, रसिक-परक है; क्योंकि रसिक ही वर्त्तमान है। रस की प्रतीति लौकिक दर्शक को ही हो सकती है जो स्वरमती संयुक्त है और जो प्रमगागत क्रीडा, ईर्ष्या, राग, द्वेष आदि (सचारियों) का दर्शन करता है। अतः रस दर्शकवर्त्ती है, अनुकार्यवर्त्ती नही ॥४।३९॥

काव्यर्थोपप्लावित रति आदि स्थायी भाव रसिक-वर्त्ती हैं—इसका पुनः स्पष्टीकरण किया जाता है। वह स्वाद्यता-अर्थात् निर्भर आनंद की संवित्ति के रूप-को प्राप्त होने वाला रस रसिक-वर्त्ती है क्योकि रसिक ही वर्त्तमान है; अनुकार्यवर्त्ती नहीं है, क्योकि रामादि अनुकार्य भूतकाल मे विद्यमान थे अब नही हैं (अतः उनमे कैसे हो सकता है ?) शब्दोपहित रूप से अवर्त्तमान का भी वर्त्तमान के समान अवभास अपेक्षित होता है। फिर भी उस अवभास का अनुभव हमे भी करना है अतः हमारे आस्वाद के विभाव के रूप मे रामादि का वर्त्तमानवत् अवभास भी इष्ट ही है। क्योकि कवि लोग काव्य का प्रवर्त्तन रामादि के रसोपजनन के लिए नही करते किन्तु सहृदयों के आनन्द के लिए करते हैं। अत. रस समस्त-भावक-स्वयंवेद्य होता है। यदि शृंगार अनुकार्य रामादि मे ही हो तो नाटकादि मे उसे देखकर स्वकान्ता-संयुक्त नायक के दृश्यमान होने पर प्रेक्षको को केवल यह प्रतीति होगी कि नायकादि शृंगारवान् हैं न कि रस का आस्वाद होगा, अपितु उससे लज्जा उत्पन्न होगी और असूया तथा अनुराग के अपहार की इच्छा उत्पन्न होगी। ऐसा होने से रसादि की व्यग्यता अपास्त हो जायेगी। एक से सत्तावान् होने वाली वस्तु तद्भिन्न अन्य से व्यस्त हो जाती है। जैसे प्रदीप से घटादि व्यस्त होते हैं। यह पहले ही निवेदन कर चुके हैं कि विभावादि के द्वारा प्रेक्षक मे रसादि भावित होते हैं।

यदि रस सामाजिकों मे आश्रित हैं तो विभाव कौन हैं ? सीतादि देवियाँ कैसे विभाव हो सकती है ? यहाँ विरोध क्यो नही, अर्थात् सीतादि का विभाव बनना कैसे संभव है सो आगे बता रहे हैं।

धीरोदात्तादि अवस्थाओं के प्रतिपादक रामादि रत्यादि भावो को विभावित (विज्ञातार्थ) करते हैं और तब रसिक उनका आस्वादन करते हैं ॥४।४०॥

कवि लोग योगियों के समान ध्यान चक्षु से देख कर रामादि की विशिष्ट अवस्थाओं का इतिहास के समान उपनिबन्धन नही करते, तो क्या सर्वलोक साधारण तथा आश्रयमात्र में रहने वाली धीरोदात्तादि अवस्थाओ को अपनी उत्प्रेक्षा से प्राप्त कर उन्हें धारण करते है और वे अपने विशेषाश्रयत्व को छोडकर रस का कारण बन जाती है। फिर सीतादि शब्द अपने जनकतनयादि विशिष्ट अर्थों को छोडकर स्त्री-भाववाचक बन कर क्या अनिष्ट करेंगे ? तो फिर उनकी उपादेयता क्यों है ? इस विषय में कहते हैं :—

'जिस प्रकार मिट्टी के बने हाथी आदि खिलौनों से खेलने वाले बालकों का उत्साह बढता है वैसे ही अर्जुनादि (के अभिनेता नटों) से उत्साह का श्रोतागण आस्वादन करते है ॥४।४१-४२॥

यह कहा जाता है। यहाँ स्त्री आदि विभावों का उपयोग वैसा नहीं होता जैसा लौकिक शृंगारादि में होता है तो क्या ऊपर प्रतिपादित रीति से नाटच-रसों की लौकिक रसों से विलक्षणता है। क्योंकि कहा है—'नाटच-रस आठ है।'

नर्त्तक में भी आस्वाद :—

काव्य के अर्थ से भावित आस्वाद नर्त्तक में भी होता है उसे वारित नही किया जा सकता ॥४।४२॥

नर्त्तक भी लौकिक रस से रसवान् नही होता। क्योंकि वह भोग्य-रूप से अपनी महिलादि का ग्रहण तो करता नही, अतः वह केवल काव्यार्थ के भावन से हमारे समान काव्य रस का आस्वाद कर सकता है। वह उससे वंचित नही रह सकता।

६. काव्य से स्वादोद्भूति और रस संख्या

काव्य से स्वादोद्भूति कैसे होती है और उस स्वाद के क्या प्रकार होते हैं—इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

स्वाद काव्यार्थ के संभेद से आत्मानन्द रूप में उत्पन्न होता है और उसके मन की चार अवस्थाओं—विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप के अनुसार चार भेद है—शृंगार, वीर, वीभत्स और रौद्र। उन्ही चार से क्रमशः हास्य, अद्भुत, भय और करुण की उत्पत्ति है। इस प्रकार उनका पृथक्त्व है ।४।४३-४४।

विभावादि से संसृष्ट स्थाय्यात्मक काव्यार्थ के भावक के चित्त का संभेद-अन्योन्यसंचालित स्वपरविभाव की समाप्ति होने पर जिस प्रबलतर स्वानन्द की उद्-

भूति होती है वह 'स्वाद' कहलाता है। वह सामान्य स्वरूप वाला होने पर विभिन्न विभावादि से उत्पन्न होने के कारण चित्त की चार भूमियो मे विभक्त होता है—जैसे शृगार मे विकास, वीर मे विस्तार, बीभत्स मे क्षोभ और रौद्र मे विक्षेप। अपनी सामग्री से पुष्ट होने वाले अन्य चार—हास्य, अद्‌भुत, भयानक और करुण-रसो की भी वे ही विकासादि चार-भूमियाँ होती है। इसलिए—

शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्‌भुत और बीभत्स से भयानक उत्पन्न होते है। इनका संभेद की दृष्टि से ही हेतुहेतुमद् भाव दिखाया गया है, कार्य-कारण के अभिप्राय से नही, क्योकि ये उत्पन्न तो अन्य कारणो से होने है।

'शृंगार की अनुकृति ही हास्य कहलाती है,' इत्यादि कथनो के अनुसार विकासादि के सभेद से ही स्पष्टीकरण और भेद-निश्चय होता है, अतः संभेद दृष्टि से रस आठ हैं। [अब प्रश्न यह है कि] शृगार, वीर और हास्य मे तो वाक्यार्थ के सभेद से आनंदोद्‌भूति ठीक है, क्योकि वे प्रमोदात्मक हैं, परन्तु करुणादि मे यह कैसे संभव है, क्योंकि दुःखात्मक और करुणात्मक काव्य के श्रवण से रसिकों मे तो दुःख का आविर्भाव और अश्रुपातादि उत्पन्न होते हैं, और यदि रस आनन्दात्मक हो तो इनका होना ठीक नही। यह ठीक है। परन्तु शृगारादि का आनंद तो वैसा ही सुख-दुःखात्मक होता है जैसा लौकिक रूप से सभोगादि के समय (पुरुषों को) प्रहरणादि और [स्त्रियो को] कुट्टमितादि मे होता है, जबकि काव्य-करुण लौकिक करुण से भिन्न होता है, क्योकि करुण मे रसिको की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढती दिखाई देती है और यदि वह लौकिक करुण के समान दुःखात्मक हो तो कोई प्रवृत्त न हो। एक मात्र करुण रस वाले रामायणादि महाप्रबन्धो का उच्छेद ही हो जाये। अश्रुपातादि तो वृत्त-वर्णन के सुनने से होते हैं, इसलिए लौकिक वैक्लव्य-दर्शन के समान प्रेक्षको में उत्पन्न होते हैं, अतः उनका आनद-विरोध नही। इस प्रकार अन्य रसो के समान करुण भी आनन्दात्मक ही हैं।

शान्त रस

शान्त रस अभिनेय नही है अतः उसका नाटक मे तो अनुप्रवेश नही, पर उसके काव्य-विषयत्व का निवारण नही किया जा सकता, क्योकि सभी सूक्ष्मानीत-वस्तुएँ शब्दो से प्रतिपादित हो सकती हैं। अतः उनकी सत्ता भी है ही। अतः शान्त का लक्षण देते हैं जो इस प्रकार है—

> शान्त रस अनिर्वाच्य और शम का प्रकर्ष है तथा मोद उसका स्वरूप है।४।४५
>
> अतः उसकी विशेषताये ये है.—

'मुनिराजों ने उस रस को शान्त कहा, जिसमे सुख, दु ख, चिन्ता, द्वेष, राग, इच्छा आदि कुछ नही रहते और जिसमे सब भावो मे शम प्रधान रहता है।'

इन लक्षणो वाले शान्त की निष्पत्ति आत्म-स्वरूप प्राप्त होने की मोक्षावस्था मे ही होने के कारण उसकी अनिर्वचनीयता कही गई है। श्रुति ने भी उसका वर्णन 'नेति-नेति' कह कर अपोह रूप से किया है। उस शान्त रस का स्वाद लेने वाले सहृदय भी नही मिलते।

इसलिए शान्त रस का आस्वाद-निरूपण किया है। अब काव्य के अवान्तर व्यापार विभावादि का वर्णन कर के उपसंहार का प्रतिपादन करते हैं:—

७. रस-स्वरूप का उपसंहार

चंद्रादि विभावो, निर्वेदादि सचारियो और रोमाचादि अनुभावो से भावित हुआ स्थायी भाव ही रस कहा जाता है।४।४६, ४७।

अतिशयोक्ति रूप काव्य-व्यापार मे आहित चंद्रादि उद्दीपन विभावो, प्रमदादि आलम्बन-विभावो, निर्वेदादि संचारियो और रोमाच, अश्रुक्षेप, कटाक्षादि अनुभावो से—जो अवान्तर व्यापार के रूप मे पदो के अर्थ हैं—विभावित अर्थात् भाव-रूपता को प्राप्त 'स्थायी-भाव' जब स्वाद्य होता है। तब वह रस कहा जाता है।

आचार्य [भरत] ने रत्यादि स्थायी भावो और शृंगारादि रसों के विभावादि प्रतिपादन द्वारा पृथक् लक्षण बताये है। किन्तु इनके विभाव एक होने से इन दोनों—रस और भाव—के लक्षण एक ही है।४।४७।

८. शृङ्गार के विभाग—

शृंगार रस के ये तीन विभाग हैं:—

अयोग, विप्रयोग और संभोग।

हमने विप्रलंभ शब्द का प्रयोग इसलिए नही किया कि वह सामान्य अभिधान है और अयोग तथा विप्रयोग विशिष्ट शब्द हैं। इनके प्रयोग से विप्रलंभ का अर्थ उपचरित होने की शंका नही रहेगी। विप्रलभ मे दोष यह भी है कि उसका प्रयोग मुख्यत 'वचना' के अर्थ मे होता है जैसे यदि कोई नायक सकेत स्थल पर न आकर अन्य नायिका के पास चला जाये और सकेतित नायिका की सकेतित अवधि व्यतीत हो जाये तो 'विप्रलंभ' कहलायेगा [और वह नायिका विप्रलब्धा]।

अयोग--जब परतंत्रता से अथवा दैवयोग से नये एक-चित्त हुए नायक-नायिका का अनुराग होने पर सगम न हो सके वहाँ 'अयोग' शृगार होता है ।५।५०-५१

योग का अर्थ है अन्योन्य स्वीकार और उसका अभाव है अयोग । परतंत्रता से अथवा दैव, पिता आदि के अधीन होने से विप्रकर्ष होना 'अयोग' होता है—जैसे सागरिका का वत्सराज से, मालती का माधव से और गौरी का शिव से । उसकी (अयोग की) दस अवस्थाये हैं—

अभिलाषा, चिंतन, स्मृति, गुणकथा, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, सज्वर, जडता और मरण । ये उत्तरोत्तर दुरवस्थाये हैं । ४।५।५२ ।

अनुवादक—
पं० काशीराम शर्मा एम० ए०

धनञ्जयो धनिकश्च

[दशरूपकम्]*

१. रूपक-भेदाः

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्के हामृगा इति ॥१।८॥

२. नृत्तं नृत्यञ्च

अन्यद्भावाश्रयं नृत्यं नृत्तं ताललयाश्रयम्।
आद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथा परम् ॥१।९॥

मधुरोद्धतभेदेन तद्द्वयं द्विविधं पुनः।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ॥१।१०॥

३. रूपाणां भेदक-निरूपणम्

वस्तु नेता रसस्तेषां भेदः

(क) वस्तु

वस्तु च द्विधा।

तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः ॥१॥११॥
अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।

तन्निर्वर्त्यमभिव्याप्ति वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥१।१२॥
प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः।

सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥१।१३॥
प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात् त्रेधापि तत् त्रिधा।

प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ॥१।१५॥
मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः ॥१।१६॥

---

* निर्णयसागर प्रेस, बम्बई द्वारा सन् १९४१ मे प्रकाशित पंचम संस्करण

बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः ।.१।१८।।

आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ।।१।१९।।
मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः ।।१।२४।।

(ख) नेता

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ।।२।१।।

बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ।।२।२।।

(ग) रसः

(क) रसलक्षणम्

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः ।।४।१।।

(ख) विभावः, तद्भेदौ च

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत् ।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ।।४।२।।

यदुक्तं विभाव इति विज्ञातार्थ इति । × × × अमीषां चानपेक्षितबाह्यसत्त्वानां शब्दो पधानादेवासादिततद्भावानां सामान्यात्मनां स्वस्वसंबन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानामालम्बनादिभाव इति न वस्तुशून्यता । तदुक्तं भर्तृहरिणा—"शब्दोपहितरूपांस्तान्बुद्धेर्विषयतां गतान् । प्रत्यक्षमिव कंसादीन्साधनत्वेन मन्यते ।।" इति । षट्सहस्त्रीकृताप्युक्तम्—"एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते" इति । (पृष्ठ ७७)

अन्ये च चित्तवृत्तिविशेषा एतेषामेव विभावानुभावस्वरूपानुप्रवेशान्न पृथग्वाच्याः ।

(ग) स्थायिभावः

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ।।४।३४।।

सजातीयविजातीयभावान्तरैरतिरस्कृतत्वेनोपनिबध्यमानो रत्यादिः स्थायी । यथा बृहत्कथायां नरवाहनदत्तस्य मदनमञ्जूषायामनुरागः । तत्तदवान्तरानेकनायिका-

नुरागैरतिरस्कृतः स्थायी। × × × तदनेन प्रकारेण विरोधिनामविरोधिनां च समावेशो न विरोधी। तथाहि—विरोधः सहानवस्थानं बाध्यबाधकभावो वा। उभयरूपेणापि न तावत्तादात्म्यमस्यैकरूपत्वेनैवाविर्भावात्। स्थायिनां च विभावादीनां यदि विरोधस्तत्रापि न तावत् सहानवस्थानं रत्याद्युपरक्ते चेतसि स्रक्सूत्रन्यायेनाविरोधिनां व्यभिचारिणां चोपनिबन्धः समस्तभावकस्वसंवेदनसिद्धः। यथैव स्वसंवेदनसिद्धस्तथैव काव्यव्यापारसंरम्भेणानुकार्येऽप्यावेश्यमानः स्वचेतःसंवेदेन तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुः संपद्यते। तस्मान्न तावद्भावानां सहानवस्थानम्। बाध्यबाधकभावस्तु भावान्तरैर्भावान्तरतिरस्कारः। स च व्यभिचारिणां स्थायिनामविरुद्धव्यभिचारिभिः स्थायिनोऽविरुद्धास्तेषामङ्गत्वात्प्रधानविरुद्धस्य चाङ्गत्वायोगादानन्तर्यविरोधित्वमप्यनेन प्रकारेणापास्तं भवति। तथा च मालतीमाधवे शृङ्गारान्तरं बीभत्सोपनिबन्धेऽपि न किंचिद्वैरस्यं तदेवमेव स्थिते विरुद्धरसैकावलम्बनत्वमेव विरोधे हेतु। सत्त्वविरुद्धरसान्तरव्यवधानेनोपनिबध्यमानो न विरोधी। (पृष्ठ ९०-९१)

यत्र तु श्लेषादिवाक्येष्वनेकतात्पर्यमपि तत्र वाक्यार्थभेदेन स्वतन्त्रतया चार्थद्वयपरतेत्यदोषः। (पृष्ठ ९२)

तदेवमुक्तप्रकारेण रत्याद्युपनिबन्धे सर्वत्राविरोधः। यथा वा श्रूयमाणरत्यादिष्वपि वाक्येषु तत्रैव तात्पर्यम्। ते च

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥४।३५॥

इह शान्तरसं प्रति बहिनामनेकविधा विप्रतिपत्तयः। तत्र केचिदाहुः—नास्त्येव शान्तो रसः। तस्याचार्येण निर्भावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात्। अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति। अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्। अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति। एवं वदन्तः शममपि नेच्छन्ति। यथा तथास्तु। सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते। तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्।

अतोऽष्टावेव स्थायिनः। ननु च 'रसनाद्रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः। निर्वेदादिष्वपि तत्प्रकाममस्तीति तेऽपि रसाः॥' इत्यादिना रसान्तराणामप्यन्यैरभ्युपगतत्वात्स्थायिनोऽप्यन्ये कल्पिता इत्यवधारणानुपपत्तिः।

अत्रोच्यते—

निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ॥४।३६॥

विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम् । अत एव ते चिन्तादिस्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परितोष नीयमाना वैरस्यमावहन्ति । न च निष्फलावमानत्वमेतेषामस्थायित्वनिबन्धनंहा स्यादीनामप्यस्थायित्वप्रसङ्गात् । पारम्पर्येण तु निर्वेदादीनामपि फलवत्त्वात् । अतो निष्फलत्वमस्थायित्वे प्रयोजकं न भवति । किंतु विरुद्धैरविरुद्धैर्भावैरतिरस्कृतत्वम् । न च निर्वेदादीनामिति न ते स्थायिन । ततो रसत्वमपि न तेषामुच्यते । अतोऽस्थायित्वादेवैतेषामरसता । कः पुनरेतेषां काव्येनापि संबन्धः ?

४. रस—शब्दशक्त्यो

न तावद्वाच्यवाचकभावः स्वशब्दैरनावेदितत्वात् । न हि शृङ्गारादिरसेषु काव्येषु शृङ्गारादिशब्दा रत्यादिशब्दा वा श्रूयन्ते । येन तेषां तत्परिपोषस्य वाभिधेयत्वं स्यात् । यत्रापि च श्रूयन्ते तत्रापि विभावादिद्वारकमेव रसत्वमेतेषां न स्वशब्दाभिधेयत्वमात्रेण । नापि लक्ष्यलक्षकभावस्तत्सामान्याभिधायिनस्तु लक्षकस्य पदस्याप्रयोगात् । नापि लक्षितलक्षणया तत्प्रतिपत्तिः । यथा गङ्गायां घोष.' इत्यादौ । तत्र हि स्वार्थे स्रोतोलक्षणे घोषस्यावस्थानासंभवात्स्वार्थे स्खलद्गतिर्गङ्गाशब्दः स्वार्थं विना भूतार्थोपलक्षितं तटमुपलक्षयति । अत्र तु नायकादिशब्दा. स्वार्थेऽस्खलद्गतयः कथामिवार्थान्तरमुपलक्षयेयुः ? को वा निमित्तप्रयोजनाभ्यां विना मुख्ये सत्युपचरितं प्रयुञ्जीत ? 'सिहो माणवकः' इत्यादिवत् । अतएव गुणवृत्त्यापि नेयं प्रतीतिः । यदि वाच्यत्वेन रसप्रतिपत्तिः स्यात्तदा केवलवाच्यवाचकभावमात्रव्युत्पन्नचेतसामप्यरसिकानां रसास्वादो भवेत् ! न च काल्पनिकत्वमविगानेन सर्वसहृदयानां रसास्वादोद्भूते । अत केचिदभिधालक्षणागौणीभ्यो वाच्यान्तरपरिकल्पितशक्तिभ्यो व्यतिरिक्तं व्यञ्जकत्वलक्षणं शब्दव्यापारं रसालंकारवस्तुविषयमिच्छन्ति । तथा हि—विभावानुभावव्यभिचारिमुखेन रसादिप्रतिपत्तिरुपजायमाना कथमिव वाच्या स्यात् ? (पृष्ठ ९३)

रसान्तरेष्वप्ययमेव न्याय. । न केवलं रसेष्वेव यावद्वस्तुमात्रेऽपि ।

तथालंकारेष्वपि । (पृष्ठ ९४)

तस्य च ध्वनेर्विवक्षितवाच्याविवक्षितवाच्यत्वेन द्वैविध्यम् । अविवक्षितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्चेति द्विधा । विवक्षितवाच्यश्च असंलक्षित-

क्रमः क्रमद्योत्यश्चेति द्विविधः। तत्र रसादीनामसंलक्ष्यक्रमे ध्वनित्वं प्राधान्यप्रतीतौ सत्यामङ्गत्वेन प्रतीतौ रसवदलंकार इति।

अत्रोच्यते—

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः ॥४।३७॥

यथा लौकिकवाक्येषु श्रूयमाणक्रियेषु 'गामभ्याज'—इत्यादिष्वश्रूयमाणक्रियेषु च 'द्वारं द्वारम्' इत्यादिषु स्वशब्दोपादानात्प्रकरणादिवशाद् बुद्धिसंनिवेशिनी क्रियैव कारकोपचिता वाक्यार्थस्तथा काव्येष्वपि स्वशब्दोपादानात् क्वचित् 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' इत्येवमादौ, क्वचिच्च प्रकरणादिवशान्नियतविहितविभावाद्यविनाभावाद्वा साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानो रत्यादिः स्थायी स्वस्वविभावानुभावव्यभिचारिभिस्तत्तच्छब्दोपनीतैः संस्कारपरम्परया परं प्रौढिमानीयमानो रत्यादिवाक्यार्थः। न चापदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्। कार्यपर्यवसायित्वात्तात्पर्यशक्तेः। तथाहि पौरुषेयमपौरुषेयं वाक्यं सर्वं कार्यपरम्। अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तादिवाक्यवत्काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते। तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते। अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते। तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः। तदेतत्काव्यवाक्यम्। यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ। न चैवं सति गीतादिवत्सुखजनकत्वेऽपि वाच्यवाचकभावानुपयोगः। विशिष्टविभावादिसामग्रीविदुषामेव तथाविधरत्यादिभावनावतामेव स्वादोद्भूतेस्तदनेनातिप्रसङ्गोपि निरस्तः। ईदृशि च वाक्यार्थनिरूपणे परिकल्पिताभिधादिशक्तिवशेनैव समस्तवाक्यार्थावगतेः शक्त्यन्तरपरिकल्पनं प्रयासः। ×× अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यंङ्ग्यव्यञ्जकभावः। किं तर्हि भाव्यभावकसंबन्धः? काव्यं हि भावकम्। भाव्या रसादयः। ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते। न चान्यत्र शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसंबन्धाभावात्काव्यशब्देष्वपि तथा भाव्यमिति वाच्यम्। भावनाक्रियावादिभिस्तथाङ्गीकृतत्वात्। किंच मा चान्यत्र तथास्त्वन्वयव्यतिरेकाभ्यामिह तथावगमात्। तदुक्तम्—

"भावाभिनयसम्बन्धाद्भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाटचयोक्तृभिः॥'

इति। कथं पुनरगृहीतसम्बन्धेभ्यः पदेभ्यः स्थाय्यादिप्रतिपत्तिरिति चेल्लोके तथाविधचेष्टायुक्तस्त्रीपुंसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापि तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविना-

भूतचेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेया विनाभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीतिः ।

५. रसास्वादः तद्भोक्तारश्च

रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात् ।
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः ॥४।३८॥

द्रष्टुः प्रतीतिव्रीडेर्ष्यारागद्वेषप्रसंगतः ।
लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्येव दर्शनात् ॥४।३९॥

काव्यार्थोपप्लावितो रसिकवर्ती रत्यादिः स्थायीभावः स इति प्रतिनिर्दिश्यते । स च स्वाद्यतां निर्भरानन्दसंविदात्मतामापाद्यमानो रसो रसिकवर्तीति वर्तमानत्वान्नानुकार्यरामादिवर्ती वृत्तत्वात्तस्य । अथ शब्दोपहितरूपत्वेनावर्तमानस्यापि वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव । तथापि तदवभासस्यास्मदादिभिरनुभूयमानत्वादसत्समतैकास्वादं प्रति विभावत्वेन तु रामादेर्वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव । किञ्च न काव्यं रामादीनां रसोपजननाय कविभिः प्रवर्त्यते । अपि तु सहृदयानानन्दयितुम् । स च समस्तभावकस्वसंवेद्य एव । यदि चानुकार्यस्य रामादेः शृङ्गारः स्यात्ततो नाटकादौ तद्दर्शने लौकिक इव नायके शृङ्गारिणि स्वकान्तासंयुक्ते दृश्यमाने शृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकाणां प्रतीतिमात्रं भवेन्न रसानां स्वादः सत्पुरुषाणां च लज्जेतरेषां त्वसूयानुरागापहारेच्छादयः प्रसज्येरन् । एवं च सति रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमपास्तम् । अन्यतो लब्धसत्ताकं वस्त्वन्येनापि व्यज्यते । प्रदीपेनेव घटादि । न तु तदानीमेवाभिव्यञ्जकत्वाभिमतैरापाद्य स्वभावम् । भाव्यन्ते च विभावादिभिः प्रेक्षकेषु रसा इत्यावेदितमेव ।

ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभावः । कथं च सीतादीनां च देवीनां विभावत्वेनाविरोधः ? उच्यते ।

धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः ।
विभावयति रत्यादीन्स्वदन्ते रसिकस्य ते ॥४।४०॥

न हि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थां इतिहासवदुपनिबध्नन्ति । किं तर्हि सर्वलोकसाधारणाः स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधयो धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिन्यो वर्तन्ति ।

ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः ।

तत्र सीताविशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः किमिवाऽनिष्टं कुर्युः। किमर्थं तर्ह्यपादीयन्त इति चेदुच्यते—

क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद् बालानां द्विरदादिभिः ॥४।४१॥
स्वोत्साह स्ववते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः।

एतदुक्तं भवति। नात्र लौकिकशृङ्गारादिवत्स्त्र्यादिविभावादीनामुपयोगः। किं तर्हि प्रतिपादितप्रकारेण लौकिकरसविलक्षणत्वं नाटचरसानाम्। यदाह—'अष्टौ नाटचरसाः स्मृताः' इति।

काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ॥४।४२॥

नर्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान्भवति। तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात् काव्यार्थभावनया त्वस्मदादिवत्काव्यरसास्वादोऽस्यापि न वार्यते।

६. काव्याद् रसोद्भूतिः रससङ्ख्या च

कथं च काव्यात्स्वादोद्भूतिः किमात्मा चासाविति व्युत्पाद्यते—

स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
विकाशविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः ॥४।४३॥

शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ॥४।४४॥

अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम्।

काव्यार्थेन विभावादि संसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः संभेदेऽन्योन्यसंचलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः = स्वादः। तस्य च सामान्यात्मकत्वेपि प्रतिनियतविभावादिकारणजन्यत्वेन संभेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति। तद्यथा-शृङ्गारे विकासः, वीरे विस्तरः, बीभत्से क्षोभः, रौद्र विक्षेप इति। तदन्येषां चतुर्णां हास्याद्भुतभयानककरुणानां स्वसामग्रीलब्धपरिपोषाणां त एव चत्वारो विकासाद्याश्चेतसः संभेदाः। अत एव—

'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥'

इति। हेतुहेतुमद्भाव एव संभेदापेक्षया दर्शितो न कार्यकारणभावाभिप्रायेण तेषां कारणान्तरजन्यत्वात्।

'शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्य इति कीर्तितः ।'

इत्यादिना विकासादिसंभेदैकत्वस्यैव स्फुटीकरणादवधारणमप्यत एवाष्टाविति संभेदानां भावात् । ननु न युक्तं शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थसंभेदानन्दोद्भव इति । करुणादौ तु दुःखात्मकत्वे कथमिवासौ प्रादुर्भ्यात् । तथाहि—तत्र करुणात्मककाव्यश्रवणाद् दुःखादिर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति । न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते । सत्यमेतत् । किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु संभोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणामन्यश्च लौकिकात् करुणात् काव्यकरुणः । तथाहि—अत्रोत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तयः । यदि वा लौकिककरुणवद् दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात्तदा न कश्चित्तत्र प्रवर्तेत । ततः कारुण्यैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेदश्रुपातादयश्चेति वृत्तवर्णनाकर्णनेन विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्यदर्शनादिवत् प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते । तस्माद्रसान्तरवत् करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव ।

शान्तरसविषये विचारः

ननु शान्तरसस्याऽनभिनेयत्वाद्यद्यपि नाटयेऽनुप्रवेशो नास्ति तथापि सूक्ष्मातीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्यते । अतस्तदुच्यते—

शमप्रकर्षो निर्वाच्यो मुदितावेस्तदात्मता ॥४।४५॥

शान्तो हि यदि तावत्—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥

इत्येवंलक्षणः, तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्तस्य च स्वरूपेणानिर्वचनीयता । तथाहि—श्रुतिरपि 'स एष नेति नेति' इत्यन्यापोहरूपेणाह । न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्त्यथ तदुपायभूतो मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षाविलक्षणस्तस्य च विकाशविस्तारक्षोभविक्षेपरूपतैवेति । तदुक्तप्रायं शान्तरसास्वादो निरूपितः ।

७. रसस्वरूपोपसंहारः

इदानीं विभावादिविषयावान्तरकाव्यव्यापारप्रदर्शनपूर्वकः प्रकरणेनोपसंहारः प्रतिपाद्यते—

पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिस्वरूपकैः ।
काव्यादिभावसंज्ञायनुभावप्रख्यतां गतैः ॥४।४६॥

भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः ।

अतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशेषैश्चन्द्रादीरुद्दीपनविभावैः प्रमदाप्रभृतिभिरालम्बनविभावैर्निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभावै रोमाञ्चाश्रुभूक्षेपकटाक्षाद्यैरनुभावैरवान्तरव्यापारतया पदार्थीभूतैर्वाक्यार्थः स्थायीभावो विभावितो भावरूपतामानीतः स्वदते स रस इति प्राक्प्रकरणे तात्पर्यम् ।

विशेषलक्षणान्युच्यन्ते—तत्राचार्येण स्थायिनां रत्यादीनां शृंगारादीनां च पृथग्लक्षणानि विभावादिप्रतिपादनेनोदितानि । अत्र तु—

लक्षणैक्यं विभावैक्यादभेदाद्रसभावयोः ॥४।४७॥

८. शृंगाररसभेदाः

विभागस्तु—

अयोगो विप्रयोगश्च संभोगश्चेति स त्रिधा ।

अयोगविप्रयोगविशेषत्वाद्विप्रलम्भस्यैतत्सामान्याभिधायित्वेन विप्रलम्भशब्द उपचरितवृत्त्यात्र भूयादिति न प्रयुक्तः । तथाहि—दत्त्वा संकेतमप्राप्तेऽवध्यतिक्रमे साध्येन नायिकान्तरानुसरणाच्च विप्रलम्भशब्दस्य मुख्यप्रयोगो वञ्चनार्थत्वात् ।

तत्रायोगोऽनुरागोपि नवयोरेकचित्तयोः ॥४।५०॥
पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसंगमः ।

योगः = अन्योन्यस्वीकारः, तदभावः = अयोगः । पारतन्त्र्येण विप्रकर्षाद्दैवपित्राद्यायत्तत्वात् सागरिकामालत्योर्वत्सराजमाधवाभ्यामिव दैवाद्गौरीशिवयोरिवासमागमः = अयोगः ।

दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम् ॥४।५१॥
स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसंज्वराः ।
जडता मरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् ॥४।५२॥

कुन्तक

समय—दशम शतक का अन्त—एकादश शतक का आरम्भ

[ग्रन्थ—वक्रोक्ति जीवित]*

१. काव्य प्रयोजन

काव्य-बन्ध उच्च कुल मे समुत्पन्न (परिश्रम-हीन और मन्द-बुद्धि राजकुमार आदि) के हृदयों को आह्लादित करने वाला और कोमल मृदु शैली से कहा हुआ धर्मादि की सिद्धि का मार्ग है। (इसलिए अत्यन्त उपादेय है) ॥३॥

हृदयाह्लादकार अर्थात् चित्त को आनन्द देने वाला। काव्य-बन्ध अर्थात् सर्गबन्ध (महाकाव्य, मुक्तक) आदि होता है यह (मुख्य वाक्य का 'भवति' इस क्रिया के साथ) सम्बन्ध है। किस का (हृदयाह्लादकारक होता है) इस की जिज्ञासा होने पर (समाधानार्थ) कहते हैं—अभिजातानाम् अर्थात् उच्चकुलोत्पन्नो के (हृदय का आह्लादकारक होता है)। उच्च कुल में उत्पन्न होने वाले राजपुत्र आदि धर्मादि (रूप) प्राप्य (पुरुषार्थ चतुष्टय) के इच्छुक, विजय की इच्छा रखने वाले (किन्तु क्लेश) परिश्रम से डरने वाले होते हैं। उनके सुकुमार स्वभाव होने से (उनका परिश्रम से डरना स्वाभाविक है)। इस प्रकार उन (राजपुत्रादि) के हृदय को प्रसन्न करने वाला होने पर काव्य-बन्ध को खिलौने की समानता प्राप्त होती है। इसलिए कहते हैं (कि काव्य केवल खिलौनो के समान मनोरंजक ही नही है अपितु) धर्मादि (पुरुषार्थ चतुष्टय) की प्राप्ति का उपाय भी) है। प्राप्तव्य (उद्देश्यभूत) धर्मादि रूप चतुर्वर्ग के साधन अर्थात् सम्पादन मे उसका उपदेश रूप (बतलाने वाला) होने से उपाय अर्थात् उसकी प्राप्ति का निमित्त होता है।

तो भी उस प्रकार के (प्राप्तव्य) पुरुषार्थ का उपदेश करने वाले अन्य शास्त्रों ने क्या अपराध किया है (कि आप उनको छोड़ कर काव्य के लिए यह प्रयत्न कर रहे हैं।) इस शंका के निवारण के लिए कहते हैं : सुकुमार क्रम से कहा हुआ (साधन) है। सुकुमार अर्थात् सुन्दर सहृदयों के हृदय को हरण करने वाला जो क्रम अर्थात् रचना शैली है उस सरल शैली से कहा हुआ (साधन) है। अभिजातों (उच्च-कुलोत्पन्न राजपुत्र आदि) के आह्लादक होने पर (सत्कार्यों में) प्रवर्तक होने से काव्य-बन्ध धर्मादि

---

* आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली द्वारा सन् १९५५ में प्रकाशित प्रथम संस्करण

की प्राप्ति का उपाय हो जाता है। और शास्त्र में कठिन शैली से कहा होने के कारण धर्मादि का उपदेश मुश्किल से समझ में आता है। इसलिए उस प्रकार के (सुकुमार मति और परिश्रम-हीन राजपुत्रादि) के विषय मे (राजपुत्रादि के लिए) वह (धर्मादि का उपदेश) शास्त्रादि मे विद्यमान होने पर (उनकी समझ में न आने से) व्यर्थ ही रहता है।

(काव्य के प्रयोजन के प्रतिपादन में आपने अभिजात राजपुत्रादि का ही ध्यान क्यों रखा है, सामान्य पाठक का निदश क्यों नही किया इसके लिए कहते हैं) राजपुत्र आदि (वयस्क होकर यथासमय पैतृक) वैभव को प्राप्त कर के समस्त (राज्य) पृथ्वी के व्यवस्थापक बन कर उत्तम उपदेश से शून्य होने के कारण स्वतन्त्र होकर समस्त उचित लोक-व्यवहार का नाश करने मे समर्थ हो सकते है, इसलिए उनके (औचित्य या कर्तव्याकर्तव्य के) परिज्ञान के लिए कवि अतीत सच्चरित्र (रामचन्द्र आदि) राजाओ के चरित्र को (काव्य-रूप मे) लिखते हैं। इसलिए शास्त्र से अतिरिक्त काव्य का (और भी अधिक) महत्वपूर्ण प्रयोजन है ही। (जिसके कारण काव्य विशेष रूप से उपादेय है) ॥३॥

इस पुरुषार्थ-सिद्धि (अर्थात् चतुर्वर्गफल-प्राप्ति और राजपुत्रादि की उपदेश-सिद्धि) रूप (प्रयोजन) को रहने भी दें (छोड़ दे, किन्तु) लोक-यात्रा (लोक-व्यवहार) के संचालन के लिए भृत्य, मित्र, स्वामी आदि का आकर्षण आदि अन्य (कार्य) भी इस (काव्य) के बिना भली प्रकार सम्भव नही हो सकते हैं। यह (बात अगली कारिका मे) कहते हैं।

व्यवहार करने वाले (लौकिक) पुरुषों को अनुदिन के नूतन औचित्य से युक्त व्यवहार चेष्टा आदि का सौन्दर्य सत्काव्य के परिज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है। (इसलिए भी काव्य उपादेय है)।

व्यवहार अर्थात् लोकाचार, उसका परिस्पन्द अर्थात् क्रियाओं के क्रम-रूप मे व्यापार उसका सौन्दर्य अर्थात् रमणीयता। वह (लोकाचार के अनुष्ठान का सौन्दर्य) व्यवहार करने वाले (सामान्य लौकिक) जनो को उत्तम काव्यो के परिज्ञान से ही होता है। अन्य (किसी साधन) से प्राप्त नही हो सकता है। यह अभिप्राय है। वह सौन्दर्य कैसा है कि नूतन औचित्य-युक्त। नूतन अर्थात् अपूर्व अलौकिक औचित्य अर्थात् उचितत्व जिसका है। (ऐसा लोक-व्यवहार का सौन्दर्य काव्य से ही प्राप्त हो सकता है अन्य प्रकार से नही) इसका यह अभिप्राय हुआ कि (उत्तम काव्यों में) राजा आदि के व्यवहार का वर्णन करने पर उनके अंगभूत प्रधान मंत्री आदि सब

ही के अपने-अपने (प्रातिस्विक) उचित कर्तव्य और व्यवहार में निपुण रूप में ही (काव्य में) वर्णित होने से (उसके पढ़ने वाले) व्यवहार करने वाले समस्त जनों को (उनके उचित) व्यवहार की शिक्षा देने वाले होते हैं। इसलिए सुन्दर काव्यों में परिश्रम करने वाला (सर्वः कश्चित्—सब कोई) प्रत्येक व्यक्ति लोक-व्यवहार की क्रियाओं में सौन्दर्य को प्राप्त कर श्लाघनीय फल का पात्र होता है ॥४॥

और (तीसरी कारिका मे) जो इस चतुर्वर्ग-रूप पुरुषार्थ (धर्मादि) को उस (धर्मादि) के उपार्जन के विषय मे व्युत्पत्ति कराने वाला होने से, काव्य का परम्परा से प्रयोजन बतलाया है, वह (धर्मादि का फल काव्य के अध्ययन काल में नही अपितु समयान्तर में होता है इसलिए) भी उसके फल-भोग के कालान्तरभावी होने से, उसके फलभूत आह्लाद के जनक होने से उस (समयान्तर रूप) काल में ही परिणत होता है। (अध्ययन काल मे उसमे कोई लाभ नही है) इसलिए उससे भिन्न सहृदयों के हृदय के अनुरूप सुन्दर और उसी (अध्ययन समय मे ही) काल में रमणीय दूसरा प्रयोजन बतलाने के लिए (अगली कारिका) कहते हैं।

काव्यामृत का रस उस (काव्य) को समझने वाले (सहृदयों) के अन्तःकरण में चतुर्वर्ग-रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार को उत्पन्न करता है।

'चत्मकारो वितन्यते' का अर्थ अलौकिक आनन्द (चमत्कृति) का सचार किया जाता है, यह है। बार-बार आनन्द की अनुभूति कराता है। यह अभिप्राय है किस से (यह आनन्दानुभूति होती है) ?—काव्यामृत रस से। काव्य ही (मानों अमृत है, उसका रस अर्थात् उसका आस्वाद, उसका अनुभव, उससे। कहाँ (वह अनुभूति होती है) यह कहते हैं। अन्तः अर्थात् चित्त मे; किसके (चित्त में) ? उस (काव्य) को समझने वालों के; उस (काव्य) को जो जानते हैं वह तद्विद् (काव्यज्ञ) हुए उनके (हृदय में चमत्कार उत्पन्न करता है)। कैसे—कि चतुर्वर्ग-रूप फल के आस्वाद से भी बढकर। चतुर्वर्ग धर्मादि का फल अर्थात् उसका उपभोग उसका आस्वाद अर्थात् उसका अनुभव, प्रसिद्ध महत्त्व वाले उस (चतुर्वर्ग-रूप फल) को भी अतिक्रमण करके, जीत करके भूमिका (सदृश) बना कर (अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न करता है)।

(पृष्ठ ६-१३)

२. काव्य में अलंकार और अलंकार्य

अलंकृति का अर्थ अलंकार है। जिसके द्वारा अलंकृत किया जाय (उसको अलंकार कहते हैं)। इस प्रकार का विग्रह करने से (अलंकृति शब्द अलंकार के लिए

प्रयुक्त होता है) उसका (काव्यालंकार ग्रन्थों में) विवेचन अर्थात् विचार किया जाता है। और जो (उस अलंकृति का) अलंकरणीय अर्थात् वाचक (शब्द) रूप तथा वाच्य (अर्थ) रूप है उसका भी विवेचन (विचार) किया जाता है। (अर्थात्) सामान्य तथा विशेष लक्षण द्वारा उसका स्वरूप-निरूपण किया जाता है। किस प्रकार? अपोद्धृत्य अर्थात् अलग करके, निकाल कर, पृथक् पृथक् करके। जिस समुदाय (रूप वाक्य) मे उन दोनों (अलंकार्य शब्द-अर्थ तथा अलंकृति) का अन्तर्भाव है उससे विभक्त करके (उनका विवेचन काव्यालंकार ग्रन्थों मे किया जाता है)। किस कारण से (विवेचन किया जाता है)—उस (काव्य के समझने) का उपाय होने से। 'तत्' पद काव्य का ग्राहक है। उसका उपाय तदुपाय हुआ। उसका भाव तदुपायता, हुई। उसके कारण से (विवेचन किया जाता है) इसलिए इस प्रकार का विवेचन काव्य-व्युत्पत्ति का उपाय हो जाता है। (केवल इसीलिए शब्द और अर्थ रूप अलंकार्य तथा उनके अलंकारों का अलग-अलग विवेचन काव्यालंकार ग्रन्थों में किया जाता है। वास्तव में तो काव्य की दृष्टि से उन तीनों की अलग-अलग सत्ता नही है। अपितु उनकी समष्टि का ही नाम काव्य है। व्यष्टि का कोई महत्त्व नही है) परन्तु समुदाय के अन्तःपाती असत्य पदार्थों का भी (कभी-कभी) व्युत्पत्ति के लिए (शास्त्रों मे) विवेचन पाया जाता है। जैसे (वैयाकरणो के मत मे वाक्य के अन्तर्गत पदों का और पदो के अन्तर्गत वर्णों का अलग-अलग कोई अस्तित्त्व नही है। फिर भी) पदों के अन्तर्गत प्रकृति प्रत्यय का, और वाक्य के अन्तर्गत पदों का (अलग-अलग विवेचन व्याकरण ग्रन्थों में किया जाता है। इसी प्रकार काव्य में शब्द तथा अर्थ रूप अलंकार्य और अलंकारों की अलग-अलग स्थिति न रहते हुए भी उनको अलग-अलग कर के विवेचन किया जाता है। (पृष्ठ १५-१६)

२. इसका अभिप्राय यह हुआ कि अलकार सहित अर्थात् अलंकार सहित सम्पूर्ण अर्थात् अवयव-रहित समस्त समुदाय की काव्यता अर्थात् कवि-कर्मत्व है। इसलिए अलंकृत (वाक्य) का ही काव्यत्व है (अर्थात् अलंकार काव्य का स्वरूपाधायक धर्म है) न कि काव्य में अलकार का योग होता है। (पृष्ठ १७)

३. यह दोनों (शब्द और अर्थ) अलकार्य होते हैं। और चतुरतापूर्ण शैली से कथन (वैग्ध्यभगीभणिति) रूप वक्रोक्ति ही उन दोनो (शब्द तथा अर्थ) का अलंकार होती है।

यह शब्द और अर्थ दोनों ही अलंकार्य अर्थात् (अलंकार द्वारा) अलंकरणीय अर्थात् शोभातिशयकारी किसी न किसी अलकार से युक्त करने योग्य होते हैं। उनका वह अलंकार कौन-सा है यह, और उन दोनों का अलकार (इत्यादि पदों से) कहते

हैं। उन द्वित्व संख्या से युक्त (शब्द तथा अर्थ) का अलंकार केवल एक (वक्रोक्ति) ही है जिससे (शब्द और अर्थ) दोनों ही अलंकृत होते हैं। (पृष्ठ ५१)

६. काव्य और साहित्य

(उपमादि) अलंकार और (उसके) अलंकार्य (शब्द तथा अर्थ) को अलग-अलग करके उनकी विवेचना उस (काव्य की व्युत्पत्ति) का उपाय होने से (ही) की जाती है। (वास्तव में तो) अलंकार-सहित (शब्द और अर्थ, अर्थात् तीनों की समष्टि) काव्य है। (अतः तीनों का अलग-अलग विवेचन उचित नही है। फिर भी उस अलग-अलग विवेचन से काव्य-सौन्दर्य को ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त होती है इसलिए उनको अलग-अलग करके विवेचन करने की शैली अलकार ग्रन्थो मे पाई जाती है।)

× × × × (पृष्ठ १५)

यदि इस प्रकार काव्य-व्युत्पत्ति का उपाय होने से असत्यभूत (अलंकार) तथा अलंकार्य अथवा शब्द तथा अर्थ) उन दोनों का पार्थक्य (मान कर अलग-अलग निरूपण) किया जाता है तो फिर (वस्तुतः) सत्य क्या है, इसको कहते हैं : 'तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता'—सालंकार (शब्दार्थ) की काव्यता है : यह यथार्थ (तत्त्व) है।

× × × × (पृष्ठ १७)

सालंकार की काव्यता होती है यह अस्पष्ट-सा काव्य का स्वरूप-निरूपण किया है परन्तु स्पष्ट रूप से नही कहा है कि किस प्रकार की वस्तु काव्य नाम (व्यवहार) के योग्य होती है। इसलिए (उसको स्पष्ट रूप से निरूपण करने अर्थात् स्पष्ट रूप से काव्य का लक्षण करने के लिए कहते हैं :

काव्य-मर्मज्ञो के आह्लादकारक सुन्दर (वक्र) कवि व्यापार से युक्त रचना (बन्ध) में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिल कर काव्य (कहलाते) हैं ॥७॥

'शब्दार्थौ काव्यं' अर्थात् वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) दोनों मिल कर काव्य है। (अलग-अलग नही) दो (शब्द और अर्थ मिल कर) एक (काव्य कहलाते) हैं यह विचित्र ही (सी) उक्ति है। (अर्थात् हम वक्रोक्ति को काव्य का जीवित निर्धारण करने जा रहे हैं। वह बात काव्य के लक्षण से भी स्पष्ट होती है। शब्द और अर्थ यह दोनो मिल कर एक काव्य नाम को प्राप्त करते हैं यह कथन स्वयं एक प्रकार की वक्रता से पूर्ण होने से वक्रोक्ति है।) इसलिए यह जो किन्ही का मत है कि कवि कौशल से कल्पित किया गया है सौन्दर्यातिशय जिसका ऐसा केवल शब्द ही काव्य है,

और किन्हीं का रचना के वैचित्र्य से चमत्कारकारी अर्थ ही काव्य है (यह जो मत है) यह दोनो पक्ष खडित हो जाते हैं। (अर्थात् न केवल शब्द को और न केवल अर्थ को काव्य कहा जा सकता है अपितु शब्द और अर्थ दोनों मिल कर काव्य कहलाते हैं) इसलिए जैसे प्रत्येक तिल मे तेल रहता है इसी प्रकार (शब्द तथा अर्थ) दोनों मे ही तद्विदाह्लादकारित्व (काव्यत्व) होता है। किसी एक में नही। जैसे—

आनन्दस्यन्दी सुन्दर (शरत्पूर्णिमा के) चन्द्रमा के समान (सुन्दर या प्रकाशमान) मुख वाली, सुन्दर हाव-भावों के साथ बात करने वाली (सलीलं लीलाभिः सहितं उल्लपितुं वक्तुं शीलं यस्यास्तथाभूते) रक्तचरण बाली इन दोनों श्लोकों का अर्थ एक साथ होता है इसलिए अगले श्लोक के अरुण चरणे पद का यहाँ अन्वय हो रहा है) हे सुन्दरी (तरुणि) अनल्प रूप से मणि मेखला का शब्द करती हुई और निरन्तर नूपुर की मनोरम ध्वनि करती हुई तुम यदि अपने पति (या प्रिय) के घर को जाती हो तो तुम्हारा वह जाना (त्वदीय तत् परिसरणं) मुझे व्यर्थ ही क्यों सता रहा है? (दुःख दे रहा है।) ॥९-१०॥

(यहाँ) प्रतिभा के दारिद्र्य और दैन्य के कारण अत्यन्त स्वल्प सुभाषित (वक्तव्य) वाले (अर्थात् जिसके पास कहने योग्य, वर्णन करने योग्य कोई सुन्दर पदार्थ नही है, ऐसे) कवि ने (अनुप्रास के प्रलोभन मे) वर्णों की समानता की रम्यता मात्र का कथन किया है। परन्तु अर्थ चमत्कार का लेश भी उसमे नही है। और जो नव यौवन से तरंगित लावण्य तथा सुन्दर (लटभ) कान्ति वाले (किसी युवक) की कान्ता को चाहने वाला कोई (उपनायक) (इस श्लोक में जो यह) कह रहा है कि तुम यदि पति-गृह को जाती हो तो तुम्हारा वह (गमन, परिसरण) मुझे बिना कारण के कष्ट देता है। यह (वक्रता, सौन्दर्ययुक्त न होकर अत्यन्त ग्राम्य उक्ति है। और (किं मे रण-रणकमकारणं कुरुते' यह 'रणरणक' अर्थात् दुःख) अकारण नही है। क्योकि उस (कामुक) का अनादर करके उस (सुन्दरी) के (चले) जाने से उसके प्रति अनुरक्त अन्तःरकरण वाले उस (उपनायक) की विरह-विधुरता की शंका ही उसके दुःख का कारण है। अथवा यदि (तुम्हारे परिसरण, गमन) का मैंने क्या बिगाडा (अपराध किया) है इस प्रकार (परिसरण गमन मे) कारणता के अभाव का कथन करना हो तो यह भी अत्यन्त ग्राम्य कथन होगा। और (एक साथ ही दिए हुए) बहुत से सम्बोधन मुनिप्रणीत स्तोत्र-पाठ के समान (उपहासजनक से) प्रतीत होते हैं। और काव्य-मर्मज्ञों की आह्लादकारिता का तनिक भी पोषण नही करते हैं। इसलिए यह (उदाहरण) ऐसा ही (रद्दी-सा, व्यर्थ) है। (उसे काव्य नही कहना चाहिए) शोभातिशय से रहित वस्तुमात्र को काव्य नाम से नही कहा जा सकता है। जैसे—(निम्न उदाहरण भी चमत्कारहीन होने से काव्य नही कहा जा सकता है)—

(घट पट आदि) पदार्थ (स्वयं) प्रकाश-स्वरूप नहीं होते हैं। क्योंकि वे अन्धकार में वैसे (प्रकाश-स्वरूप) नही दीखते। यदि वे वैसे (प्रकाश-स्वरूप) हैं तो अन्धकार मे वैसे (प्रकाश-स्वभाव) क्यों नही हैं ? (नील पीत रूप आदि) गुणों का (पदार्थों मे) अध्यास (मिथ्या प्रतीति) करने के अभ्यास और व्यसन दृढ़ दीक्षा के कारण प्रबल गुण वाला यह सूर्य का व्यापार है (जो सब पदार्थों को प्रकाशित करता है। उस (सूर्य) के तेज के समान और क्या है ? (कुछ भी नही) ॥११॥

यहाँ शुष्क तर्क वाक्य (अनुमान वाक्य) की वासना से अधिवासित चित्त वाले कवि ने अभ्यासवश (व्यसनितया) केवल प्रतिभा से कल्पित वस्तुमात्र को (श्लोक में) उपनिबद्ध कर दिया है। परन्तु (उसमे) शब्द-सौन्दर्य का लवलेश भी दिखलाई नही देता है। क्योकि तर्क इस श्लोक का स्वरूप (शरीर) अनुमान वाक्य (तर्क वाक्य) पर ही आश्रित है। जैसे कि अन्धकार से अतिरिक्त पदार्थ-रूप धर्मी (स्वयं) प्रकाश स्वभाव वाले नही होते हैं यह (इस अनुमान वाक्य-रूप श्लोक में प्रतिज्ञा या) साध्य है। अन्धकार में उस प्रकार के (स्वयं-प्रकाश स्वभाव) न होने से यह (उक्त साध्य की सिद्धि के लिए हेतु है [अतः यह किसी नैयायिक का अनुमान वाक्यमात्र प्रतीत होता है, काव्य नही।]

(प्रश्न) यदि इस श्लोक में अनुमान वाक्य ही प्रस्तुत किया गया है तो (अनुमान वाक्य मे अपेक्षित) दृष्टान्त क्यो नही दिखलाया है ?

(उत्तर) तर्क की नीति के ही चित्त में प्रतिभासमान होने से। (दृष्टान्त इस अनुमान वाक्य में नही दिया है। अर्थात् बौद्ध आदि के न्याय के सिद्धान्त के अनुसार विशिष्ट विद्वानों के लिए अनुमान वाक्य में दृष्टान्त का होना आवश्यक नही है) जैसा कि (निम्नलिखित श्लोक में) कहा है—

उस (हेतु और साध्य के साध्य-साधन भाव) को न समझ सकने वाले (अल्पज्ञ पुरुष) के लिए (ही) दृष्टान्त में साध्य-साधन भाव (तद्भाव हेतुभावौ) दिखाए (स्थापित किए) जाते हैं। (विद्वानों के लिए उनकी आवश्यकता नही। क्योकि विद्वान् उस साध्य-साधन भाव को स्वयं समझ सकते हैं। इसलिए) विद्वानो के लिए केवल हेतु कहना चाहिए ॥१२॥

(ऊपर उदाहरण-रूप मे उद्धृत 'प्रकाशस्वाभाव्य' वाले श्लोक में) विदधति इस (प्रयोग) मे वि (उपसर्ग) पूर्वक धा (दधाति) धातु कृ डुकृञ् करणे) धातु (करोति) के अर्थ में (प्रयुक्त) है। और वह करोति (कृञ् धातु) का अर्थ (यहाँ) स्पष्ट रूप से समन्वित नहीं होता है। प्रकाश-स्वाभाव्य नही करते हैं। (यह अर्थ

स्पष्ट रूप से संगत नहीं प्रतीत होता है। अतः उसका प्रयोग अनुचित है) और 'प्रकाश-स्वाभाव्य' शब्द (का प्रयोग) भी चिन्त्य (अशुद्ध) है। (क्योंकि) प्रकाश जिसका स्वभाव है वह प्रकाश-स्वभाव (हुआ) उसका भाव इस (अर्थ) में (प्रकाश-स्वभाव शब्द से फिर एक और भावप्रत्यय (ष्यञ्) करने पर पूर्व पद की वृद्धि प्राप्त होती है। (पूर्वपद की वृद्धि होकर प्राकाशस्वाभाव्यं प्रयोग बनेना, प्रकाशस्वाभाव्यं प्रयोग नही बनेगा) और यदि (पहिले) स्वाभाव्य (ऐसा प्रयोग बना कर फिर उसका प्रकाश के साथ समास करके प्रकाशस्वाभाव्यं पद को बनाने का प्रयत्न करे तो भी ठीक नही होगा। क्योकि इस (स्वाभाव्य प्रयोग) मे भी भाव प्रत्यान्त (भाव शब्दान्त स्वभाव शब्द) से (फिर) भाव प्रत्यय का विशेष प्रयोग नही होता है। इसलिए (पहिले स्वाभाव्यं पद बना कर उसका प्रकाश शब्द के साथ) 'प्रकाशश्चासौ स्वाभाव्यं च' यह विशेषण (कर्मधारय) समास भी उचित नही है (अत. यह प्रयोग ठीक नही है)।

और (उक्त प्रकाशस्वाभाव्यं वाले श्लोक के) तृतीय पाद मे अत्यन्त (अर्थ के) असंपर्क (अर्थ बोध के बाधक) समासों का बाहुल्य-रूप अत्याचार (सहृदय) काव्य-मर्मज्ञो के लिए आह्लादकारक नही होता है। (चतुर्थ चरण मे) रवि-व्यापार इस (समस्त पद) मे प्राधान्येन अभिमत रवि शब्द को समास में गुणीभाव से नही बचाया गया है (जो कि बचाया जा सकता था) 'रवि व्यापारोऽय' के स्थान पर समास को तोड़ कर) 'खे.' (व्यापारोऽय) यह पाठान्तर भी सम्भव होने से। (रवि-व्यापारः इस समस्त पद का प्रयोग उचित नही हुआ है। क्योकि उससे रवि का अभिमत प्राधान्य नही रहता है। इस लिए शोभातिशय से शून्य और अनेक दोष-ग्रस्त यह प्रकाशस्वाभाव्यं वाला श्लोक काव्य कहलाने योग्य नही है।)

(प्रश्न, यदि शोभातिशय-शून्य वस्तुमात्र को काव्य नही कहा जा सकता है तो, अप्रस्तुत प्रशंसा जैसे किन्ही स्थलों में) अलंकार-शून्य होने से वस्तुमात्र का सहृदय-हृदयाह्लादकारित्व कैसे होता है ?'

उत्तर—यह शंका हो तो वह ठीक नही है क्योंकि (ऐसे उदाहरणों में) अन्योक्ति (अन्यापदेश) के रूप मे अप्रस्तुत प्रशंसा-रूप अलंकार कवि (तथा पाठक) के चित्र मे स्फुरित हो ही जाता है। और पहिले बिना गढे हुए पत्थर के टुकडे की (लगने वाली) मणि के समान प्रतिभा से प्रतिभासमान वस्तु विदग्ध कवि-रचित वाक्य (काव्य) में उपारूढ़ हो कर (बाद को) सान पर घिसे हुए मणि के समान मनोहर होकर काव्य-मर्मज्ञ (सहृदयों) के आह्लादकारित्व को प्राप्त करती है। इसीलिए एक ही विषय (वस्तुनि) में सावधान और असावधान कवि द्वारा रचित (निम्नाकित) दो वाक्य (श्लोक) प्रचुर भेद को प्रदर्शित करते हैं।

गरम-गरम आँसुओ से कलुषित मानिनी जनो के दृष्टिपातो (कटाक्षों) को ग्रहण करता हुआ, डरता-डरता सा धीरे-धीरे उदय होता हुआ चन्द्रमा आकाश (में आया) को चला ॥१३॥

नवीन कमलकन्द के समान कान्ति वाली कलाओं को एक-दो-तीन की परिपाटी से धीरे-धीरे प्रकट करते हुए प्रियो के विरहाग्नि से दीप्त नेत्र वाली (कुछ) स्त्रियों के कटाक्षों से डरता हुआ मानो छिपा हुआ-सा चन्द्रमा उदय हो रहा है ॥१४॥

इन दोनो का अन्तर सहृदय-संवेद्य है । यह (अन्तर) वही समझ (विचार) सकते हैं । इसलिए यह बात निश्चित हुई कि न केवल रमणीयता-विशिष्ट शब्द काव्य है और न (केवल) अर्थ । (अपितु शब्द और अर्थ दोनो की समष्टि मे 'व्याप्यवृत्ति' काव्यत्व है) । यह बात (भामह ने अपने काव्यालंकार १, १५-१७ में) कही (भी) है—

अन्यों (अनेक आलंकारिकों ने) ने रूपकादि (अर्थालंकार) अलंकार-वर्ग का अनेक प्रकार से निरूपण किया है । (क्योकि अलकारों के बिना गुणादि-युक्त काव्य भी इस प्रकार शोभित नही होता है जिस प्रकार कि) सुन्दर होने पर भी अलंकारों के बिना स्त्री का मुख (पूर्ण रूप से) शोभित नही होता है ॥१५॥

दूसरे लोग (जो शब्दालकार को प्रधान मानते हैं) रूपकादि (अर्थालकारों) अलंकारो को (शब्द-सौन्दर्य तथा अर्थ के अनुभव के बाद प्रतीत होने से) बाह्य (अप्रधान) कहते हैं और सुबन्त तिङन्त पदों के सौन्दर्य (अलकृति) को ही वाणी का (प्रधान) अलंकार मानते हैं ॥१६॥

इसी (सुबन्त तिङन्त पदों के सौन्दर्य) को (शब्दालंकार प्रधानतावादी) 'सौशब्य' कहते हैं । (वही काव्य मे अधिक चमत्कार-जनक होने से प्रधान है) अर्थ (अलंकारों) की व्युत्पत्ति इतनी चमत्कार-जनक नही होती है । (इसलिए शब्दालंकार ही प्रधान और रूपकादि अर्थालंकार बाह्य अथवा अप्रधान हैं । यह दूसरे लोगो का मत है) परन्तु हम (भामह) को शब्दालंकार तथा अर्थालंकार भेद से दोनो ही इष्ट हैं ॥१७॥

इसलिए शब्द और अर्थ दोनो सम्मिलित रूप से काव्य हैं—यह स्थिर हुआ । इस प्रकार (शब्द तथा अर्थ) दोनो के काव्यत्व के निर्धारित हो जाने पर कभी (उन दोनों में से) किसी एक की कुछ न्यूनता हो जाने पर भी काव्य व्यवहार होने लगे (जो कि इष्ट नही है) इसलिए (उस एक में काव्य-व्यवहार के निवारण के लिए)

कहते हैं, 'सहितौ'। सहितौ अर्थात् सहभाव से, 'साहित्य' से अवस्थित (शब्द और अर्थ दोनों मिल कर काव्य कहलाते हैं।)

(प्रश्न) वाच्य और वाचक के सम्बन्ध के (नित्य) विद्यमान होने से इन दोनो (शब्द और अर्थ) के साहित्य (सहभाव) का अभाव कभी नही होता है। (तब शब्दार्थौ सहितौ काव्यं यह कहने का क्या प्रयोजन है) ?

(उत्तर) सत्य है। (सभी वाक्यों मे शब्द और अर्थ का सहभाव या साहित्य रहता है) किन्तु यहाँ विशिष्ट (प्रकार का) साहित्य अभिप्रेत है। कैसा (विशिष्ट सहभाव अभिप्रेत है ? इसका उत्तर देते हैं) वक्रता (सौन्दर्य) से विचित्र गुणों तथा अलकारों की सम्पत्ति सौन्दर्य का परस्पर स्पर्धा पर आ जाना (रूप विशिष्ट प्रकार का साहित्य काव्यत्व का प्रयोजक है) इसलिए—

मेरे मत में सर्वगुण-युक्त और मित्रों के समान परस्पर संगत शब्द और अर्थ दोनों एक दूसरे के लिए शोभा-जनक होते हैं (वही काव्य पद वाच्य होते हैं) जैसे ॥१८॥

उसके बाद (प्रातःकाल के समय) अरुण के आगमन से कान्ति-रहित हुआ चन्द्रमा काम (सम्भोग) से दुर्बल कामिनी के कपोल के समान पीला पड़ गया (पांडुता को प्राप्त हो गया) ॥१९॥

इस (उदाहरण) में अरुणोदय के कारण कान्ति-रहित चन्द्रमा के सम्भोग (काम) से क्षीण हुई कामिनी के कपोलतल के साथ पांडुत्व की समानता के समर्थन से अर्थालंकार का परिपोष, (उसको) शोभातिशय प्रदान करता है। और आगे कहा जाने वाला वर्ण-विन्यास वक्रता (अनुप्रास) रूप शब्दालंकार भी अत्यन्त रमणीय है। (इसलिए) वर्ण-विन्यास के सौन्दर्य से उत्पन्न (अर्थगत) लावण्य गुण की सम्पत्ति (भी इस उदाहरण मे) है ही। (अतः शब्द और अर्थ का विशिष्ट साहित्य होने से यह पद्य काव्य कहलाने योग्य है। × × × (पृष्ठ १७-२६)

वास्तव में तो उन दोनो में से किसी एक के साहित्य का अभाव होने पर दूसरे का साहित्य-विरह स्वयं ही आ जाता है। इसलिए (अर्थ को भली प्रकार प्रकाशित करने मे) समर्थ शब्द के अभाव में (उत्तम चमत्कारी) अर्थ स्वरूपतः स्फुरित होने पर भी निर्जीव-सा ही रहता है। (इसी प्रकार) शब्द भी वाक्योपयोगी (चमत्कारी) अर्थ के अभाव मे (किसी साधारण) अन्य अर्थ का वाचक होकर वाक्य का भारभूत (व्याधिभूत)-सा प्रतीत होने लगता है।

इसलिए (इस प्रसक्तानुप्रसक्त विषय के) अधिक (करने) विस्तार की आवश्यकता नही है। प्रकृत (कारिका की व्याख्या) तो (इस प्रकार है कि)—किस प्रकार के बन्ध मे (शब्द और अर्थ का साहित्य होना चाहिए) 'मनोहर कवि-व्यापार से युक्त' (बन्ध) में। वक्र अर्थात् शास्त्रादि में प्रसिद्ध शब्द और अर्थ के उपनिबन्धन से भिन्न, (आगे कही जाने वाली) छह प्रकार की वक्रता से युक्त, जो कवि व्यापार अर्थात् कवि की रचना (क्रिया) का क्रम, उस से जो (बन्ध) शोभित अथवा प्रशंसित होता है उस (बन्ध) मे (साहित्य से अवस्थित शब्द तथा अर्थ काव्य कहलाते है)। इस प्रकार (लक्षण करने पर) भी कष्ट कल्पना से उपहत (बन्ध) मे भी प्रसिद्धभिन्नत्व हो सकता है (वह भी काव्य कहलाने लगेगा) इसलिए (उसके निवारणार्थ) कहते हैं—'तद्विदाह्लादकारिणि'। तत् इस (पद) से काव्य का ग्रहण होता है। उस (काव्य) को जानते हैं वह तद्विद् अर्थात् काव्य-मर्मज्ञ (हुए) उनको आह्लाद अर्थात् आनन्ददायक जो (बन्ध) उस तद्विदाह्लादकारी बन्ध में व्यवस्थित (शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं।) वक्रता, वक्रता के भेद और तद्विदाह्लादकारित्व को अलग-अलग यथास्थान (आगे उदाहरणों द्वारा) दिखलावेंगे ॥७॥

इस प्रकार काव्य का सामान्य लक्षण कर चुकने के बाद, (काव्य के) विशेष लक्षण का (निरूपण) प्रारम्भ करते है। उनमे से पहिले (काव्य के अंगभूत) शब्द तथा अर्थ के स्वरूप का निरूपण करते हैं—

यद्यपि (साधारणतः) वाच्य अर्थ और वाचक शब्द (होता है यह बात) प्रसिद्ध ही है, फिर भी इस काव्य मार्ग मे (केवल वाच्य को अर्थ और केवल वाचक को शब्द नही कहते हैं। अपितु) उन (शब्द तथा अर्थ) का वास्तविक अर्थ यह (अगली कारिका में दिखलाया हुआ) है ॥८॥

इति अर्थात् इस प्रकार की बात प्रसिद्ध है कि जो वाचक होता है वह शब्द होता है और जो वाच्य होता है वह अर्थ होता है। (प्रश्न) द्योतक और व्यंजक भी शब्द हो सकते हैं (आपने केवल वाचक को शब्द कहा है। उस वाचक पद से द्योतक तथा व्यंजक शब्दों का) उनका सग्रह न होने से अव्याप्ति होगी। (उत्तर) यह नही कहना चाहिए। क्योकि (वाचक शब्दो के समान व्यंजक तथा द्योतक शब्दों मे भी) अर्थ-प्रतीतिकारित्व की समानता होने से उपचार (गौणी वृत्ति) से वह (द्योतक तथा व्यंजक) दोनों भी वाचक ही (कहे जा सकते) हैं। इसी प्रकार द्योत्य और व्यंग्य दोनो अर्थों में भी बोध्यत्व (प्रत्येयत्व) की समानता (होने) से वाच्यत्व ही रहता है। इसलिए वाचकत्व और वाच्यत्व लोक मे (क्रमशः) शब्द तथा अर्थ का प्रसिद्ध लक्षण है, फिर भी इस लौकिक काव्य-मार्ग में अर्थात् कवियों की पद्धति में

(केवल वाचकत्व या वाच्यत्व शब्द तथा अर्थ का यथार्थ लक्षण नहीं है अपितु) यह आगे (अगली नवम कारिका में) कहे जाने वाला इन दोनों (शब्दो) का वास्तविक 'अर्थ' अर्थात् कुछ अपूर्व रहस्य है ॥८॥

(वह अपूर्व रहस्य-तत्त्व) कैसा है यह (अगली कारिका में) कहते हैं—

(पर्यायवाची) अन्य (शब्दों) के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक (शब्द ही वस्तुतः) शब्द (कहलाता) है अर्थात् अनेक पर्यायवाचक शब्दों के होते हुए भी उन सब की अपेक्षा विलक्षण रूप से जो अर्थ को प्रकाशित कर सके केवल वही शब्द काव्य-मार्ग में शब्द कहा जाता है। इसी प्रकार सहृदयों को आनन्दित करने वाला अपने (स्पन्द) स्वभाव से सुन्दर (पदार्थ ही काव्य-मार्ग में वस्तुतः) अर्थ (शब्द से व्यवहार किए जाने योग्य होता) है ॥९॥

काव्य में (वस्तुतः) शब्द वह है जो उस (काव्य) के योग्य समस्त सामग्री से युक्त है। कैसा, कि, विवक्षित अर्थ का जो अकेला वाचक हो (अन्य कोई शब्द जिस अर्थ को प्रकट न कर सके उस अर्थ को प्रकाशित करने वाला) विवक्षित अर्थात् (कवि) जिसको कहना चाहता है उसका अद्वितीय वाचक, उसका केवल अकेला (एकमात्र) वाचक (पद ही काव्य में 'शब्द' कहा जा सकता है।) कैसे, अन्य (अनेक समानार्थक) शब्दों के रहते हुए भी। उस अर्थ के वाचक अन्य बहुत से (शब्दों) के विद्यमान होने पर भी। (जो कवि के विवक्षित अर्थ को पूर्ण रूप से कह सके वही 'शब्द' कहलाता है) इसलिए सामान्य रूप से जो अर्थ विवक्षित है उसके लिए विशेष (अर्थ) का कथन करने वाला शब्द भली प्रकार से वाचक (रूप से प्रयुक्त) नही हो सकता है।

× × × (पृष्ठ ३५-३८)

और वाच्य-रूप अर्थ कैसा (काव्य में अभिप्रेत है)। काव्य में जो सहृदयो के हृदयों का आह्लादकारी अपने स्वभाव से सुन्दर हो। सहृदय अर्थात् काव्य के मर्मज्ञ 'उनके आह्लाद अर्थात् आनन्द को करने वाला जो स्वस्पन्द अर्थात् अपना स्वभाव उस से सुन्दर' अर्थात् सुकुमार। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यद्यपि पदार्थ नानाविध धर्म से युक्त हो सकता है फिर भी उस प्रकार के धर्म से (उसका) सम्बन्ध (काव्य में) वर्णन किया जाता है जो (धर्म विशेष) सहृदयो के हृदय में आनन्द को उत्पन्न करने में समर्थ हो सकता है। और उस (धर्म) में ऐसी सामर्थ्य सम्भव होती है जिससे कोई अपूर्व स्वभाव की महत्ता अथवा रस को परिपुष्ट करने की क्षमता (अंगता) अभिव्यक्ति को प्राप्त करती है। (पृष्ठ ४४)

× × ×

इसलिए (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् इस काव्य-लक्षण मे) इस प्रकार का शब्द और अर्थ का विशिष्ट ही लक्षण लेना चाहिए। (सामान्य शब्द और अर्थ के लिए ही काव्य शब्द का प्रयोग होने) से 'नेयार्थ' और 'अपार्थ' (नामक काव्य-दोष) आदि एकदम निकल जाते हैं (उनकी कोई सम्भावना ही काव्य मे नही रहती है। क्योकि उस प्रकार के शब्द या अर्थ काव्य ही नही कहलाते है) इसलिए उन दोषों का अलग वर्णन करने की आवश्यकता नही रहती है ॥९॥ (पृष्ठ५०)

४. साहित्य का स्वरूप

(काव्य की) शोभाशालिता (सौन्दर्याधायकता) के प्रति इन दोनों (शब्द तथा अर्थ) की न्यून और आधिक्य से रहित (परस्परस्पर्द्धि समभाव से) कुछ अनिर्वचनीय (लोकोत्तर) मनोहर स्थिति (ही) 'साहित्य' (शब्द का यथार्थ अर्थ) है ॥१७॥

सहित (शब्द तथा अर्थ) का 'साहित्य' है। इन (सहित) शब्द और अर्थ की सहृदय-आह्लादकारिता की कारणभूत जो कोई अलौकिक अवस्थिति अर्थात् विचित्र रचना-शैली (है वही साहित्य है) कैसी कि—न्यूनता और अधिकता से रहित होने से मनोहारिणी, अर्थात् परस्परस्पर्द्धित्व से रमणीया। जिसमें (शब्द अर्थ) दोनों में से किसी भी एक का न्यूनत्व अर्थात् अपकर्ष नही है और न अतिरिक्तत्व अर्थात् उत्कर्ष ही है। ऐसी अन्यूनातिरिक्तत्व-विशिष्ट स्थिति को 'साहित्य' कहते हैं) यह अभिप्राय है ॥१७॥

(प्रश्न) इस प्रकार का साम्य दोनों दूषित (शब्दार्थ) मे भी हो सकता है। (तो क्या उसको भी 'साहित्य' कहा जा सकेगा ?)

(उत्तर) इस (शंका के निवारण के) लिए कहते हैं 'शोभाशालितां प्रति।' शोभा सौन्दर्य को कहते हैं उससे जो शोभित प्रशंसित होता है वह शोभाशाली हुआ। उसका भाव शोभाशालिता, उसके प्रति अर्थात् सौन्दर्यशालिता के प्रति यह अर्थ हुआ। और यही सहृदय-आह्लादकारिता है। उस (सौन्दर्यशालिता अथवा सहृदयाह्लादकारिता) के लिए ('चर्मणि द्वीपिन हन्ति' के समान 'तस्या' यहाँ निमित्त मे सप्तमी है) स्पर्धत्वेन (अन्यूनानतिरिक्तत्वेन) जो स्थिति अर्थात् परस्पर समानता के सुन्दर रूप में जो (शब्द और अर्थ) की स्थिति है वह 'साहित्य' कहलाती है। उस (साहित्य) में (काव्य के शब्दों मे से एक) शब्द का दूसरे शब्द के साथ और एक अर्थ का दूसरे अर्थ के साथ 'साहित्य' अभिप्रेत है। (अनेक शब्द तथा अनेक अर्थ रूप) वाक्य मे काव्य के लक्षण की परिसमाप्ति होती है यह (१, ७ सातवी कारिका मे) प्रतिपादन ही कर चुके हैं।

(प्रश्न) एक शब्द का दूसरे अर्थ के साथ और एक अर्थ का दूसरे शब्द के साथ 'साहित्य' क्यों नही मानते हो ? यह प्रश्न करो तो—

(उत्तर) वह ठीक नही। (एक शब्द का दूसरे शब्द के साथ और एक अर्थ का दूसरे अर्थ के साथ 'साहित्य' होना चाहिए। इस) क्रम के परिवर्तन मे कोई प्रयोजन न होने से और (परिवर्तित रूप का) समन्वय न हो सकने से। (इस क्रम का परिवर्तन करना उचित नही है)। इसलिए जिस रचना मे इन शब्द तथा अर्थो का यथायोग्य अपनी (अन्यूनानतिरिक्त रूप) सम्पत्सामग्री का समुदय सहृदयाह्लादकारी परस्पर स्पर्धा से स्फुरित होता है वह कोई (विशिष्ट) ही वाक्य-रचना 'साहित्य' नाम की अधिकारिणी होती है।

(यही बात निम्नलिखित अन्तर्श्लोकों मे कही गई है।)

मार्गों (रीतियो) की अनुकूलता से सुन्दर, माधुर्यादि गुणों से युक्त, वक्रता (बाँकपन) के अतिशय से युक्त अलकार का विन्यास (जिसमे विद्यमान है वह।) ॥३४॥

वृत्तियो के औचित्य से मनोहारी रसों का परिपोषण उचित रूप से (शब्द और अर्थ) दोनों में स्पर्धा से जहाँ रहता है)। ॥३५॥

काव्य-मर्मज्ञो को आनन्द प्रदान करने वाले व्यापार से सुन्दर (शब्द और अर्थ की) वह कुछ अनिर्वचनीय (अतिसुन्दर) स्थिति पद (व्याकरण) आदि (वाक्य मीमासा तथा प्रमाण-न्याय शास्त्र) वाङ्मय का सार (सर्वोत्तम भाग) 'साहित्य' (शब्द से) कहा जाता है ॥३६॥

इन व्याकरण, मीमांसा, न्याय तथा साहित्य चारो का ही प्रत्येक वाक्य में (अर्थात् बहुत अधिक) प्रयोग होता है। १ जैसे गकार, औकार विसर्जनीयात्मक यह (गौः) इस प्रकार का पद, इस प्रातिपदिकार्थ पंचक (१. प्रातिपदिकार्थ, २. लिंग, ३. परिमाण, ४. वचन, ५ कारक) अथवा आख्यातार्थ षट्क (१. व्यापाराश्रय कर्त्ता, २. फलाश्रय कर्म, ३ काल, ४. पुरुष, ५. वचन, ६ भाव रूप इस (अमुक) अर्थ का वाचक है। यह 'पद-सस्कार-शास्त्र' (व्याकरण-शास्त्र) का काम (व्यापार) है। २. पदों के परस्परान्वय-रूप सम्बन्ध-मूलक (पदो के परस्पर अन्वय के उपस्थित होने वाला) यह वाक्यार्थ का तात्पर्य है, यह 'वाक्य-विचार शास्त्र' (मीमांसा) का उपयोग है। ३. प्रत्यक्षादि प्रमाणों से यह उपपन्न है। इस प्रकार युक्तियुक्तत्व (का प्रतिपादन) प्रमाण-शास्त्र (न्याय) का प्रयोजन है। (इन सब स्थलो मे 'लक्षण' शब्द का अर्थ 'शास्त्र' है) ४. यह (वाक्य विशेष) ही स्वभावगत सौन्दर्य से सहृदयो की हृदय-

हारिता को प्राप्त हो जाता है। यह 'साहित्य' (शास्त्र) की उपयोगिता है। इन (व्याकरण आदि शास्त्रो) में से यद्यपि प्रत्येक का अपने-अपने विषय (क्षेत्र) मे प्राधान्य और अन्यों का (उस क्षेत्र मे) गुणीभाव है, किन्तु फिर भी सारे वाङ्मय के प्राणभूत 'साहित्य' रूप (यहाँ लक्षण शब्द का अर्थ स्वरूप है) कवि व्यापार का ही वस्तुतः सबसे अधिक महत्व है। क्योकि यह (साहित्य का भाव) जहाँ अमुख्य रूप से भी जिस अन्य (व्याकरण-प्रधान भट्टिकाव्य जैसे) वाक्य समूह (रचना) मे अपनी परिमल मात्र (गन्धमात्र, 'नाममात्र') से ही संस्कार करता है (जहाँ साहित्य का अश गौण हो जाता है) इस (साहित्य) के अधिवास (प्राधान्येन) से रहित होने मात्र से ही उस (वाक्य-सन्दर्भ) की रमणीयता का अभाव हो जाता है। और उस (रमणीयता-भाव) के कारण (उस वाक्य-सन्दर्भ या काव्य) की उपादेयता की हानि हो जाती है। इसलिए (उस गुणीभूत काव्य की) अपनी रचना (प्रवृत्ति) व्यर्थ हो जाती है। (व्याकरण, मीमांसा, न्याय आदि) शास्त्रो से (साहित्य-शास्त्र का) भिन्न-प्रयोजनत्व और शास्त्रों के प्रतिपाद्य चतुर्वर्ग (रूप फल) से अधिक फलत्व इस (साहित्य) का पहिले (१,३,५ कारिकाओ में) ही प्रतिपादन कर चुके हैं।

(यही बात निम्नलिखित संग्रह श्लोको में भी कही है)—

अर्थ का विचार किए बिना भी (अपनी) रचना के सौन्दर्य से (ही) संगीत (के शब्दों) के समान जो काव्य-मर्मज्ञों को आनन्द प्रदान करता है ॥३७॥

अर्थ की प्रतीति हो जाने के बाद पद और वाक्य के अर्थ से भिन्न (व्यंग्य-स्वरूप) जो ठंडाई आदि (पानक) के आस्वाद के समान अन्त.करण मे कुछ अपूर्व आस्वाद (आनन्द) प्रदान करता है ॥३८॥

प्राणों के बिना शरीर और स्फूर्ति के बिना जीवन (जैसे व्यर्थ और निर्जीव है उस) के समान जिस (साहित्य तत्त्व) के बिना विद्वानो के वाक्य निर्जीव (आकर्षण-विहीन, चमत्कार-रहित) हो जाते हैं ॥३९॥ (पृष्ठ ६०-६३)

५. वक्रोक्ति

(अ) स्वरूपः—

(प्रश्न) वह (शब्द, अर्थ दोनो का एक ही अलंकार) कौन-सा है? (उत्तर कहते हैं) वक्रोक्ति ही शब्द तथा अर्थ दोनों का एकमात्र अलंकार है)। प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की विचित्र वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति है)। वैदग्ध्य अर्थात् चतुरतापूर्ण

कवि-कर्म (काव्य-निर्माण) का कौशल, उसकी भंगी शैली या शोभा उससे भणिति अर्थात् (वर्णन) कथन करना। विचित्र (असाधारण) प्रकार की वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति कहलाती है। (पृष्ठ ४१)

(ब) कवि-व्यापारः—

कवियो के व्यापार की वक्रता के (मुख्यतः) छः प्रकार हो सकते हैं। उन (छः भेदो) मे से प्रत्येक (भेद) के वैचित्र्य से शोभित होने वाले अनेक भेद हो सकते हैं ॥१८॥

१. वर्ण-विन्यास वक्रता—

वर्णों का विन्यास वर्ण-विन्यास है। (अर्थात्) अक्षरों का विशेष प्रकार से (रचना मे) रखना वर्ण-विन्यास कहलाता है) उसका वक्रत्व (बाँकपन) प्रसिद्ध (साधारण) शैली से (भिन्न प्रकार से। (वैचित्र्य से) रचना। सन्निवेश-विशेष से विहित सहृदयाह्लादकारी शोभातिशय ('वर्ण-विन्यास वक्रता' कहलाती है)।

२. पद-पूर्वार्द्ध वक्रता—

सुबन्त या तिङन्त रूप पद (सुप्तिङन्तं पदम् अष्टा० १, ४, १४) का जो पूर्वार्द्ध (सुबन्त पद का पूर्वार्द्ध) प्रातिपदिक अथवा (तिङन्त पद का पूर्वार्द्ध) धातु-रूप, उसकी वक्रता बाँकपन, अर्थात् विन्यास का वैचित्र्य (उसी को 'पद-पूर्वार्द्ध वक्रता' कहते हैं)। उस (पद-पूर्वार्द्ध वक्रता) के बहुत से प्रकार हो सकते हैं।

(क) जहाँ रूढ़ि शब्द का ही प्रकरण के अनुरूप, वाच्य-रूप से प्रसिद्ध धर्म के अध्यारोप को लेकर प्रयोग किया जाय वह 'पद-पूर्वार्द्ध वक्रता' का प्रथम प्रकार है।

(ख) दूसरा (पद-पूर्वार्द्ध वक्रता का प्रकार वह होता है) जहाँ (रूढ़ि) संज्ञा शब्द वाच्य-रूप से प्रसिद्ध धर्म मे लोकोत्तर अतिशय का अध्यारोप गर्भ मे रख कर प्रयुक्त किया जाता है। (इसका अभिप्राय यह हुआ कि पहिला भेद धर्मीगत अतिशय का और दूसरा भेद धर्मगत अतिशय का बोधक होता है। व्यंजनावाद में भी फल के धर्मीगत तथा धर्मगत रूप से दो भेद किये गये है)।

(ग) पद-पूर्वार्द्ध (प्रातिपदिक) वक्रता का (तीसरा) अन्य प्रकार 'पर्याय वक्रता' है। जिसमे वस्तु का अनेक शब्दो से कथन सम्भव होने पर (भी) प्रकरण के अनुरूप होने से कोई (सर्वातिशायी) विशेष पद (ही) प्रयुक्त किया जाता है।'

(घ) पद-पूर्वार्द्ध वक्रता का 'उपचारवक्रता' नामक (चौथा) अन्य प्रकार है। जहाँ अमूर्त, वस्तु का मूर्त वस्तु का वाचक शब्द द्वारा सादृश्य लक्षणामूलक) उपचार से कथन किया जाय।

(ङ) 'विशेषण-वक्रता' (भी) पद-पूर्वार्द्ध वक्रता का (पाँचवाँ) प्रकार है। जहाँ विशेषण के माहात्म्य से ही सहृदयह्लादकारित्व रूप वक्रत्व अभिव्यक्त होता है।

(च) 'यह जो संवृत्ति-वक्रता' है वह 'पद-पूर्वार्द्ध वक्रता' का (छठा) और प्रकार है। जहाँ प्रकरण के अनुरूप किसी अपकर्ष अथवा उत्कर्ष (विशेष) के कारण पदार्थ का स्वरूप व्यक्त रूप से साक्षात् नही कहा जा सकता है और (अर्थ) छिपाने की सामर्थ्य से युक्त किसी शब्द से (अस्पष्ट रूप) कहा जाता है। (वहाँ 'संवृत्ति-वक्रता' होती है)।

(छ) यह 'वृत्ति-वैचित्र्य वक्रत्व' भी 'पद-पूर्वार्द्ध वक्रता' का सातवाँ (भेद) अन्य प्रकार हो सकता है। (वृत्ति-शब्द का अर्थ यहाँ सम्बन्ध है। सम्बन्ध के वैचित्र्य से जहाँ वक्रता हो उसे 'वृत्ति-वैचित्र्य वक्रता' कहते हे। समासादितवृत्तीना अर्थात्) जहाँ प्राप्त (अनुभूत अर्थात् अनुभव-सिद्ध) सम्बन्धों में से कवि, किसी विशेष (सम्बन्ध) का ही ग्रहण करते हैं। (वहाँ 'वृत्ति-वैचित्र्य वक्रता' होती है)।

(ज) पद-पूर्वार्द्ध वक्रता का (आठवाँ) अन्य प्रकार 'लिंग-वैचित्र्य' पाया जाता है। जहाँ वैचित्र्य-सम्पादन के लिए भिन्न लिंग के शब्दो का भी समानाधिकरण रूप से प्रयोग होता है। (वहाँ 'लिग-वक्रता' नामक पद-पूर्वार्द्ध वक्रता का भेद होता है)।

(झ) (तिङन्त) पद के पूर्वार्द्ध धातु का 'क्रिया-वैचित्र्य वक्रता' नामक वक्रता का और (नवाँ) भेद है। जहाँ क्रिया वैचित्र्य के प्रतिपादन पर रूप से वैदग्ध्य भंगी भणिति से रमणीय (क्रिया पदो के) प्रयोगो को कविगण प्रयुक्त करते हैं (वहाँ 'क्रिया वक्रता' होती है)।

वक्रता का एक और (मुख्य भेदो में तीसरा) प्रकार 'प्रत्ययाश्रित' (प्रत्यय-वक्रता) भी है। (वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकार. प्रत्ययाश्रयः। यह इस १९ वी कारिका का उत्तरार्द्ध भाग है। उसको प्रतीक-रूप से उद्धृत कर उसकी व्याख्या करते है) वक्रता का अन्य भेद भी है। कैसा कि प्रत्यय के आश्रित रहने वाला (प्रत्यय) अर्थात् सुप् या तिङ् (प्रत्यय) वह आश्रय अर्थात् स्थान है जिसका वह उस प्रकार का प्रत्ययाश्रय प्रभेद) है। उस (प्रत्यय-वक्रता) के भी बहुत-से भेद हो सकते हैं। (जैसे) १. 'संख्या-वैचित्र्य कृत', २. 'कारक-वैचित्र्यकृत' ३. 'पुरुष-वैचित्र्यकृत' (आदि)। उनमें से

संख्या-वैचित्र्यकृत (प्रत्यय-वक्रता उसको कहते हैं। जिसमें काव्य की शोभा के लिए वचन-वैचित्र्य की रचना की जाती है।

('प्रत्यय-वक्रता' का दूसरा भेद) कारक-वैचित्र्यकृत (होता है)—जहाँ अचेतन पदार्थ मे भी चेतनत्व का अध्यारोप करके रसादि के परिपोषण के लिए (उनमे) चेतन की ही क्रिया का समावेश-रूप कर्तृत्वादि कारक (के रूप मे उस अचेतन पदार्थ) का वर्णन किया जाता है (वहाँ कारक-वैचित्र्यकृत प्रत्यय-वक्रता होती है)।

(प्रत्यय-वक्रता का तीसरा भेद) 'पुरुष-वैचित्र्य-वक्रत्व' (वहाँ होता) है, जहाँ प्रथम पुरुष का (मध्यम अथवा उत्तम पुरुष रूप) अन्य के साथ विपर्यास का कवि लोग प्रयोग करते हैं। (अर्थात्) काव्य के वैचित्र्य के लिए (मध्यमपुरुष बोधक) युष्मद् (शब्द) अथवा (उत्तम पुरुष बोधक) अस्मद् (शब्द) के प्रयोग करने के स्थान पर प्रातिपदिकमात्र (प्रथमपुरुष) का प्रयोग करते हैं।

वाक्य का वक्रभाव (पद-वक्रता से भिन्न) अन्य ही है। जिसके सहस्त्रों भेद हो सकते हैं। और जिसमे यह (उपमादि-रूप प्रसिद्ध) समस्त अलंकार वर्ग का अन्तर्भाव हो जायगा ॥२०॥

वाक्य की वक्रता (पद-वक्रता से) अन्य है। वाक्य की, अर्थात् पदसमुदाय-रूप (वाक्य) की। 'अव्यय, कारक विशेषण (आदि) से युक्त क्रिया (आख्यात) वाक्य (कहलाती) है' इस प्रकार (के लक्षण द्वारा) जिसकी प्रतीति होती है उस (वाक्य) श्लोकादि (रूप वाक्य) का वक्र-भाव अर्थात् वर्णन-शैली का वैचित्र्य अन्य अर्थात् पूर्वोक्त (१. वर्ण-विन्यास वक्रता, २. पद-पूर्वार्द्ध वक्रता तथा ३. प्रत्ययाश्रित-वक्रता) वक्रता से भिन्न, समुदाय (रूप-वाक्य) वैचित्र्य-मूलक (वाक्य का) कुछ अपूर्व वक्रभाव हो सकता है।

('वाक्य समुदायात्मक) 'प्रकरण' अथवा प्रकरण समुदायात्मक) 'प्रबन्ध' में सहज (स्वाभाविक) और आहार्य (व्युत्पत्ति द्वारा उपार्जित) सौकुमार्य से मनोहर जिस प्रकार का वक्रभाव है उसको (भी इस २१ कारिका मे) कहते हैं ॥२१॥

वक्र-भाव अर्थात् रचना-वैचित्र्य, प्रबन्ध (काव्य,नाटक आदि) के एकदेश (अवयव-भूत) 'प्रकरण' में जैसा है, अथवा (प्रकरण समुदायात्मक) 'प्रबन्ध' अर्थात् नाटकादि मे जैसा (वक्र-भाव) है वह भी (इस कारिका मे) कहा जाता है। कैसा कि सहज और आहार्य सौकुमार्य से मनोहर। सहज माने स्वाभाविक और आहार्य माने व्युत्पत्ति से उपार्जित जो सौकुमार्य अर्थात् सौन्दर्य उस से मनोहर हृदयहारी जो वह उस प्रकार का 'सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः' हुआ।

प्रबन्ध (रामायण महाभारत आदि महाकाव्य या नाटक आदि) मे वक्र-भाव (का उदाहरण) जैसे—किसी महाकवि के बनाए हुए रामकथा-मूलक नाटक आदि में (१. वर्ण-विन्यास वक्रता, २. पद-पूर्वार्द्ध वक्रता, ३. प्रत्ययाश्रित-वक्रता, ४. वाक्य वक्रता और ५. प्रकरण-वक्रता) वक्रता से सुन्दर सहृदयहृदयाह्लादकारी (नायक रूप) महापुरुष का वर्णन ऊपर से (मोटे रूप से) किया गया प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में (कवि का प्रयोजन केवल उस महापुरुष के चरित्र का वर्णन करना मात्र नही होता है अपितु) 'राम के समान आचरण करना चाहिए रावण के समान नही' इस प्रकार का विधि और निषेधात्मक धर्म का उपदेश (उस काव्य या नाटक का) फलितार्थ होता है। (यही उस प्रबन्ध काव्य आदि की वक्रता या सौन्दर्य है)।

(पृष्ठ ६४-९३)

६. स्वभावोक्ति-निराकरण

जिन (दंडी सदृश) आलंकारिक आचार्यों के मत में स्वभावोक्ति (भी) अलंकार है उनके मत मे और अलकार्य क्या रह जाता है? (अर्थात् स्वभाव ही अलंकार्य है। उसको अलंकार मान लेने पर फिर 'अलकार्य' किस को कहा जायगा? अतः अलंकार्य-भूत स्वभावोक्ति को अलकार मानना उचित नही है) ॥११॥

जिन आलंकारिकों अर्थात् अलंकार (शास्त्र) के रचने वाले आचार्यों के मत में स्वभावोक्ति अलंकार है, अर्थात् जो पदार्थ के (स्वरूपाधायक) धर्मभूत स्वभाव की उक्ति अर्थात् कथन वही (जिनको) अलंकृति अर्थात् अलंकार प्रतीत होता है वह विवेचन-शक्ति से रहित सुकुमारबुद्धि) होने से (अलंकार्य और अलंकार के) विवेक (भेद, 'विचिर पृथग्भावे') का कष्ट नही उठाना चाहते हैं। (यदि उसके विवेचन का कष्ट करें तो उन्हे विदित हो जाय कि स्वभावोक्ति अलंकार नही अलंकार्य है क्योकि) स्वभावोक्ति इस (शब्द) का क्या अर्थ है? स्वभाव ही का वर्णन (होने पर) स्वभावोक्ति कही जा सकती है। यही स्वभावोक्ति शब्द का अर्थ हुआ)। वह (स्वभाव-वर्णन) ही यदि अलकार है तो फिर उस (स्वभाव-वर्णन) से भिन्न काव्य के शरीर-स्थानीय कौन-सी वस्तु है जो उनके मत मे अलंकार्यतया अर्थात् विभूष्यत्वेन स्थित हो? (स्वभावोक्ति से) पृथक् (अपनी) सत्ता को प्राप्त करे। अर्थात् और कुछ नही है (जिसे 'अलकार्य' कहा जा सके। स्वभाव-वर्णन ही 'अलंकार्य' है। अतः उसको 'अलंकार' कहना उचित नही है।)॥११॥

(पूर्वपक्ष) इस पर स्वभावोक्ति-वादी प्रश्न करता है कि आपने अर्थात् वक्रोक्तिवादी ने ही ग्रन्थ की १, ६ कारिका मे) पहले यह (सिद्धान्त) स्थापित किया

है कि (अलंकार्य और अलंकार के) विभाग से रहित सालंकार (शब्दार्थ रूप) वाक्य का ही काव्यत्व है। तो (जब आप स्वयं अलंकार्य और अलंकार का विभाग नही मानते हैं तब हमसे) यह क्यों कहते हैं (कि स्वभावोक्ति को अलंकार मानने पर अलंकार्य क्या होगा ? हम भी अलकार और अलंकार्य का विभाग नही मानते हैं आप ऐसा समझ सकते हैं।)

(उत्तरपक्ष) ठीक है। (हम अलंकार्य और अलंकार का वास्तविक विभाग नही मानते हैं) किन्तु (हमारे मत मे) वहाँ भेद-विवक्षा (अपोद्धार बुद्धि) से पूर्वोक्त (पृ० १६ पर दिखाए हुए) वर्णपद न्याय से अथवा 'वाक्यपद न्याय' से (जिस प्रकार वैयाकरण सिद्धान्त में पद से भिन्न उसके अवयव रूप 'वर्ण' नही होते हैं और वाक्य से भिन्न उसके अवयवभूत 'पदों' की स्वतन्त्र वास्तविक स्थिति नही है फिर भी प्रकृति-प्रत्यय-क्रिया-कारक आदि व्यवहार किया जाता है, इसी प्रकार काव्य में भी अलंकार तथा अलंकार्य की अलग पारमार्थिक स्थिति न होने पर भी भेद-विवक्षा मे अलंकार्य अलंकार) विभाग किया जा सकता है। यह कह ही चुके हैं। (इसलिए यहाँ भी अलंकार्य तथा अलंकार का भेद होना आवश्यक है। भले ही वह पारमार्थिक न हो। 'स्वभावोक्तिवाद' में अलंकार्य-भूत पदार्थ-स्वरूप को ही अलंकार मान लेने पर वह भेद नही बनता है। अतः यह स्वभावोक्ति की अलंकारता का पक्ष ठीक नही है।) इसी बात को प्रकारान्तर से प्रतिपादन करने के लिए (विकल्पयितु) कहते हैं—

(स्वभावोक्ति को जब अलंकार मानोगे तब उससे भिन्न कुछ अन्य अलंकार्य होगा। परन्तु उस) स्वभाव के (स्वरूप के कथन के) बिना वस्तु का वर्णन (कथन) ही सम्भव नही हो सकता है। क्योकि उस (स्वभाव) से रहित वस्तु (शश-विषाण, वन्ध्या-पुत्र आदि के समान) तुच्छ असत्कल्प (निरुपाख्य) हो जाती है ॥१२॥

स्वभाव व्यतिरेकेण अर्थात् स्व स्वरूप (स्वपरिस्पन्द) के बिना निःस्वभाव, स्वरूप-रहित (वस्तु) का वर्णन ही नही किया जा सकता है। वस्तु अर्थात् वाच्य-भूत (का वर्णन) क्यो (नही हो सकता है) ? तद्रहित अर्थात् उस स्वभाव से रहित अर्थात् वर्जित (वस्तु) क्योंकि 'निरुपाख्य' हो जाती है। उपाख्या से निष्क्रान्त (इस अर्थ विग्रह में 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पंचम्या' इस वार्तिक से समास होकर) निरुपाख्य (पद बनता है और उसका अर्थ अवर्णनीय या तुच्छ असत्कल्प आदि होता है। क्योकि) उपाख्या (शब्द का अर्थ) 'शब्द' है। (उससे निष्क्रान्त अर्थात्) उसका अगोचर (अविषय) भूत (वस्तु) वर्णन के अयोग्य ही हो जाता है। क्योकि स्वभाव शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है। जिस से (अर्थ का) कथन (अभिधान) और ज्ञान (प्रत्यय) होते हैं वह 'भाव' है। और 'स्व' का अर्थात् अपना 'भाव' (अर्थात् स्वरूप

जिससे पदार्थ का कथन और ज्ञान-रूप व्यवहार होता है वह) 'स्वभाव' (स्वरूप) है। इसलिए वह (स्वभाव या स्वरूप) ही सब पदार्थों (यस्य कस्यचित् पदार्थस्य) का ज्ञान और कथन (प्रख्या ज्ञान और उपाख्या माने कथन) रूप व्यवहार का कारण होता है। उस (स्वभाव अर्थात् स्वरूप) से रहित वस्तु शश-विषाण सदृश शब्द और ज्ञान (व्यवहार) के अगोचर हो जाती है। (उसका शब्द से कथन या ज्ञान नही हो सकता है) क्योंकि स्वभाव (स्वरूप)-युक्त वस्तु ही सर्वथा कथन करने योग्य होती है। इसलिए (स्वभाव-कथन, स्वरूप-कथन स्वभावोक्ति, अलंकार्य ही हो सकता अलंकार नहीं और यदि स्वभाव वर्णन को आप अलंकार मानने का आग्रह ही करते हैं तो आपके मत में) स्वभावोक्ति से युक्त होने से (अत्यन्त अशिक्षित और मूर्ख) गाड़ी हाँकने वालों के वाक्यों में भी सालंकारता (अतएव काव्यत्व) प्राप्त होने लगेगी। (जो कि अभीष्ट नही है। अतः स्वभावोक्ति अलंकार नही है) ॥१२॥

इस बात को दूसरी युक्ति से फिर कहते हैं :

(स्वभाव अर्थात् स्वरूप तो काव्य का शरीर-स्थानीय है) वह शरीर ही यदि (स्वभावोक्ति नामक) अलंकार हो जाय तो वह (स्वभावोक्ति अलंकार) दूसरे किस (अलंकार्य) को अलंकृत करेगा। (वह स्वभाव या स्वरूप ही अलंकार्य हो और स्वभावोक्ति ही अलंकार हो यह नही कहा जा सकता है क्योकि संसार मे) कहीं कोई स्वयं अपने कन्धे पर नही चढ़ सकता है ॥१३॥

किसी भी वर्ण्यमान वस्तु का स्वभाव (स्वरूप) ही वर्णनीय होने से वर्ण्य शरीर से रूप होता है। वह (वर्ण्य शरीर-रूप स्वभाव) ही यदि अलंकार अर्थात् विभूषण हो जाय तो उससे भिन्न और (अलकार्य) क्या है जिसको (यह स्वभावोक्ति अलकार) अलकृत अर्थात् विभूषित करता है। यदि यह कहो कि (स्वभावोक्ति अलंकार) स्वय अपने स्वरूप को ही अलंकृत करता है तो यह अनुपपन्न (युक्ति-विरुद्ध) होने से अनुचित है। क्योकि (संसार में) कही भी (कोई) अपने आप अपने कन्धे पर नही चढ़ता है। शरीर ही शरीर के कन्धे पर कहीं नही चढ़ता है, यह अभिप्राय हुआ। स्वयं अपने मे (अधिरोहणादि रूप स्वाश्रित) क्रिया का विरोध होने से। (इसलिए भी स्वभावोक्ति को अलंकार मानना उचित नहीं है) ॥१३॥

और दुर्जनतोष (न्याय से यदि थोड़ी देर के लिए स्वाभावोक्ति को अलंकार मान भी लिया जाय तो) उसको मान कर भी हम कहते हैं (कि इष्ट-सिद्धि नही होगी। क्योंकि)—

स्वभाव (स्वभावोक्ति) को अलंकार मानने पर (काव्य में उसके अतिरिक्त उपमा आदि) अन्य अलंकारों की रचना होने पर उन दोनों (अर्थात् स्वभावोक्ति तथा उपमादि अन्य अलंकारों के भेद का ज्ञान स्पष्ट होता है अथवा अस्पष्ट। (यह बतलाओ) ॥१४॥

(स्वभावोक्ति अलंकार का अन्य उपमादि अलंकारों से भेद-ज्ञान) स्पष्ट होने पर (उन दोनों अलंकारों की निरपेक्ष स्थिति होने से 'मिथोऽनपेक्षतयैषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यतै इस लक्षण के अनुसार) सर्वत्र संसृष्टि (अलंकार) होगा। और (उपमादि के साथ स्वभावोक्ति के भेद-ज्ञान के) स्पष्ट न हो पर (अगांगिभाव-रूप से, अथवा एकाश्रयानुप्रवेश अथवा सन्देह रूप तीन प्रकार के संकरों में से किसी प्रकार का) संकर ही सर्वत्र होने लगेगा इसलिए (शुद्ध रूप से उपमादि अन्य अलकारो का विषय (उदाहरण) ही नही बचेगा। अर्थात् शुद्ध उपमादि अलंकार जहाँ रह सके ऐसा कोई उदाहरण नही मिलेगा ॥१५॥

स्वभाव के भूषण होने पर अर्थात् स्वरूप (स्वपरिस्पन्द) के अलंकार मानने पर, जब (उपमादि) अन्य अलंकार बनाए (रचे) जाते हैं तब उनके रचे जाने पर दो प्रकार की स्थिति हो सकती है। वह (दो प्रकार की गति) कौन-सी (है) ? उन दोनों अर्थात् स्वभावोक्ति (अलकार) और अन्य (उपमादि) अलंकारो का भेदावबोध अर्थात् भेद का ज्ञान प्रकट अर्थात स्पष्ट (रूप से हो) अथवा कभी अप्रकट अर्थात् अस्पष्ट रूप से हो। तब (उन दोनों से प्रथम पक्ष मे) उस (स्वभावोक्ति अलंकार के उपमा आदि अन्य अलंकारो के साथ भेद के ज्ञान के) स्पष्ट होने पर सर्वत्र अर्थात् समस्त कवि-वाक्यों (काव्यों) मे (स्वभावोक्ति तथा उपमादि अन्य अलंकारो की अनपेक्षतया स्थिति होने से 'मिथोऽनपेक्षतयैषा स्थितिः ससृष्टिरुच्यते' इस लक्षण के अनुसार) केवल संसृष्टि ही एक अलंकार होगा। और उस (भेद-ज्ञान) के अस्पष्ट होने पर (अंगागिभाव अथवा एकाश्रयानुप्रवेश अथवा सन्देह संकर इन तीन प्रकार के संकरो मे से किसी न किसी प्रकार का) एक संकरालंकार ही सर्वत्र होने लगेगा। उससे क्या हानि होगी यह कहते हैं। और (शुद्ध या केवल उपमादि अलकार जहाँ हों ऐसा) अन्य अलंकारों का विषय (उदाहरण) ही शेष नही रह जायेगा। अन्य उपमादि अलकारो का विषय अर्थात् क्षेत्र कही भी नही रहेगा। अर्थात् (वह उपमादि अन्य अलंकार) निर्विषय हो जाता है। अतः उनके लक्षणों का करना व्यर्थ हो जाता है।

अथवा (इस वैयर्थ्य को बचाने के लिए) यदि वह संसृष्टि और संकर ही उन (उपमादि अलंकारो) के विषय मान लिए जाये तो भी वह कुछ बनता नही है।

उन्ही (स्वभावोक्ति को स्वतंत्र अलंकार प्रतिपादन करने वाले) आलंकारिको के द्वारा (अर्थात् उपमादि अलंकार केवल ससृष्टि या संकर रूप मे ही उपलब्ध हो सकते हैं। स्वन्तत्र रूप से उनकी सत्ता सम्भव नही है) इस बात के स्वीकृत न होने से। (यह कहना भी उचित नही है)। इसलिए आकाश-चर्वरण के समान (असम्भव और) मिथ्या (पदार्थ अर्थात् स्वभावोक्ति के अलंकारत्व का) लिखना व्यर्थ है।

(पृष्ठ ५२-५७)

अनुवादक:—आचार्य विश्वेश्वर

कुन्तक

[वक्रोक्ति-जीवितम्]*

१. काव्यप्रयोजनम्

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकाः ॥१।३॥

हृदयाह्लादकारकश्चित्तानन्दजनकः काव्यबन्धः, सर्गबन्धादिर्भवतीति सम्बन्धः। कस्येत्याकांक्षायामाह, अभिजातानाम्। अभिजाताः खलु राजपुत्रादयो धर्माद्युपेयार्थिनो विजिगीषवः क्लेशभीरवश्च, सुकुमाराशयत्वात्तेषाम्। तथा सत्यपि तदाह्लादकत्वे काव्यबन्धस्य, क्रीडनकादिप्रख्यता प्राप्नोतीत्याह, धर्मादिसाधनोपायः। धर्मादेरुपेयभूतस्य साधने सम्पादने तदुपदेशरूपत्वादुपायस्तत्प्राप्तिनिमित्तम्।

तथापि तथाविधपुरुषार्थोपदेशपरैरपरैरपि शास्त्रैः किमपराद्धमित्यभिधीयते, सुकुमारक्रमोदितः। सुकुमारः सुन्दरः सहृदयहृदयहारी क्रमः परिपाटीविन्यासस्तेनोदितः कथितः सन्। अभिजातानामाह्लादकत्वे सति प्रवर्तकत्वात् काव्यबन्धो धर्मादिप्राप्त्युपायतां प्रतिपद्यते। शास्त्रेषु पुनः कठोरक्रमाभिहितत्वाद् धर्माद्युपदेशो दुरवगाहः। तथाविधे विषये विद्यमानोऽप्यकिञ्चित्कर एव।

राजपुत्रा. खलु समासादितविभवाः समस्तजगतोव्यवस्थाकारितां प्रतिपद्यमानाः श्लाघ्योपायोपदेशशून्यतया स्वतन्त्राः सन्तः समुचितसकलव्यवहारोच्छेदं प्रवर्तयितुं प्रभवन्तीत्येतदर्थमेतद्व्युत्पत्तये व्यतीतसच्चरितराजचरितं तन्निदर्शनाय निबध्नन्ति कवयः। तदेवं शास्त्रातिरिक्तं प्रगुणमस्त्येव प्रयोजनं काव्यबन्धस्य ॥३॥

मुख्यं पुरुषार्थसिद्धिलक्षणं प्रयोजनमास्तां तावत्, अन्यदपि लोकयात्राप्रवर्तननिमित्तं भृत्यसुहृत्स्वाम्यादिसमावर्जनमनेन विना न सम्भवतीत्याह—

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥१।४॥

---

* आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली द्वारा सन् १९५५ में प्रकाशित प्रथम संस्करण

व्यवहारो लोकवृत्तं, तस्य परिस्पन्दो व्यापारः क्रियाक्रमलक्षणस्तस्य सौन्दर्यं रामणीयकं तद्, व्यवहारिभिर्व्यवहर्तृभिः, सत्काव्याधिगमादेव कमनीयकाव्यपरिज्ञानादेव नान्यस्माद्, आप्यते लभ्यते, इत्यर्थः। कीदृशं तत्सौन्दर्यं नूतनौचित्यम्। नूतनमभिनवलौकिकमौचित्यमुचितभावो यस्य। तदिदमुक्तं भवति, महतां हि राजादीनां व्यवहारे वर्ण्यमाने तदङ्गभूताः सर्वे मुख्यामात्यप्रभृतयः समुचितप्रातिस्विककर्तव्यव्यवहारनिपुणतया निबध्यमानाः सकलव्यवहारिवृत्तोपदेशतामापद्यन्ते ततः सर्वःकश्चित् कमनीयकाव्ये कृतश्रमः समासादितव्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यातिशयः श्लाघनीयफलभाग् भवतीति ॥४॥

योऽसौ चतुर्वर्गलक्षणः पुरुषार्थस्तदुपार्जनविषयव्युत्पत्तिकारणतया काव्यस्य पारम्पर्येण प्रयोजनमित्याम्नातः, सोऽपि समयान्तरभावितया तदुपभोगस्य तत्फलभूताह्लादकारित्वेन तत्कालमेव पर्यवस्यति। अतस्तदरिक्तं किमपि सहृदयहृदयसंवादसुभगं तदात्वरमणीयं प्रयोजनान्तरमभिधातुमाह—

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥१।५॥

चमत्कारो वितन्यते चमत्कृतिर्विस्तार्यते, ह्लादः पुनः पुनः क्रियत इत्यर्थः। केन, काव्यामृतरसेन। काव्यमेवामृतं तस्य रसस्तदास्वादस्तदनुभवस्तेन। क्वेत्यभिदधाति, अन्तश्चेतसि। कस्य, तद्विदाम्। तं विदन्ति जानन्तीति तद्विदस्तज्ज्ञास्तेषाम्। कथम्, चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य। चतुर्वर्गस्य धर्मादेः फलं तदुपभोगस्तस्यास्वादस्तदनुभवस्तमपि प्रसिद्धातिशयमतिक्रम्य विजित्य पस्पशप्रायं सम्पाद्य। (पृष्ठ ९-१२)

२. काव्येऽलङ्काराङ्कार्यौ

अलंकृतिलंकरणम्। अलंक्रियते ययेति विगृह्य। सा विवेच्यते विचार्यते। यच्चालंकार्यमलंकरणीयं वाचकरूपं वाच्यरूपञ्च तदपि विवेच्यते। तयोः सामान्यविशेषलक्षणद्वारेण स्वरूपनिरूपणं क्रियते कथम्, अपोद्धृत्य। निकृष्य, पृथक् पृथगवस्थाप्य, यत्र समुदायरूपे तयोरन्तर्भावस्तस्माद्विभज्य। केन हेतुना, तदुपायतया। तदिति काव्यं परामृश्यते। तस्योपायस्तदुपायस्तस्य भावस्तदुपायता तया हेतुभूतया। तस्मादेवंविधो विवेकः काव्यव्युत्पत्युपायतां प्रतिपद्यते दृश्यते च समुदायान्तःपातिनामसत्यभूतानामपि व्युत्पत्तिनिमित्तमपोद्धृत्य विवेचनम्। यथा पदान्तर्भूतयोः प्रकृतिप्रत्ययोः, वाक्यान्तर्भूतानां पदानाञ्चेति। (पृष्ठ १५-१६)

× × ×

अयमत्र परमार्थः। सालंकारस्यालंकरणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः काव्यता कविकर्मत्वम्। तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः न पुनः काव्यस्यालंकार-योग इति ॥६॥ (पृष्ठ १७)

× × ×

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते ॥१।१०॥

उभौ द्वावप्येतौ शब्दार्थावलंकार्यावलंकरणीयौ, केनापि शोभातिशयकारिणा-ऽलंकरणेन योजनीयौ। किं तत् तयोरलंकरणमित्यभिधीयते, 'तयोः पुनरलंकृतिः।' तयो-र्द्वित्वसंख्याविशिष्टयोरप्यलंकृतिः पुनरेकैव, यया 'द्वावप्यलंक्रियेते। (पृष्ठ ५१)

३. काव्यं साहित्यञ्च

अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ॥१।६॥

× × ×

यद्येवमसत्यभूतोऽप्यपोद्धारस्तदुपायतया क्रियते तत् किं पुनः सत्यमित्याह—'तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता।' × × ×

सालंकारस्य काव्यतेति सम्मुग्धतया किंचित् काव्यस्वरूपमासूत्रितम् निपुणं पुनर्न निश्चितम्। किं लक्षणं वस्तु काव्यव्यपदेशभाग् भवतीत्याह—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥१।७॥

शब्दार्थौ काव्यम्, वाचको वाच्यश्चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्। द्वावेकमिति विचित्रैवोक्तिः। तेन यत्केषाञ्चिन्मतं कविकौशलकल्पितकमनीयातिशयः शब्द एव केवलं काव्यमिति, केषाञ्चिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यमिति, पक्षद्वयमपि निरस्तं भवति। तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते, न पुनरेकस्मिन्। यथा—

भण तरुणि रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि।
यदि सलीलोल्लापिनि गच्छसि तर्हि क्व त्वदीयं मे ॥
अनणुरणन्मणिमेखलमविरतशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम्।
परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते ॥

प्रतिभावारिद्रघदैन्यादतिस्वल्पसुभाषितेन कविना वर्णसावर्ण्यरम्यतामात्रमत्रोचितम्। न पुनर्वाच्यवैचित्र्यकणिका काचिदस्तीति।

यत्किल नूतनतारुण्यतरङ्गितलावण्यलटभकान्तेः कान्तायाः कामयमानेन केनचिदेतदुच्यते। यदि त्वं तरुणि रमणमन्दिरं व्रजसि तत्किं त्वदीयं रणरणकमकारणं मम करोतीत्यतिग्राम्येयमुक्तिः। किञ्च, न अकारणम्। यतस्तस्यास्तदनादरेण गमनेन तदनुरक्तान्तः करणस्य विरहविधुरताशङ्काकातरता कारणं रणरणकस्य। यदि वा परिसरणस्य मया किमपराद्धमित्यकारणतासमर्पकम्, एतदप्यतिग्राम्यतरम्। सम्बोधनानि च बहूनि मुनिप्रणीतस्तोत्रामन्त्रणकल्पानि न काञ्चिदपि तद्विदामाह्लादकारितां पुष्णन्तीति यत्किञ्चिदेतत्।

वस्तुमात्रञ्च शोभातिशयशून्यं न काव्यव्यपदेशमर्हति। यथा—

प्रकाशस्वाभाव्यं विदधति न भावास्तमसि यत्
तथा नैते ते स्युर्यदि किल तथा तत्र न कथम्।
गुणाध्यासाभ्यासव्यसनवृढदीक्षागुरुगुणो
रविर्व्यापारोऽयं किमथ सदृशं तस्य महसः॥

अत्र हि शुष्कतर्कवाक्यवासनाधिवासितचेतसा प्रतिभाप्रतिभातमात्रमेव वस्तु व्यसनितया कविना केवलमुपनिबद्धम्। न पुनर्वाचकवक्रताविच्छित्तिलवोऽपि लक्ष्यते। यस्मात्तर्कवाक्यशैथ्यमेव शरीरमस्य श्लोकस्य। तथा च, तमोर्व्यतिरिक्ताः पदार्था धर्मिणः प्रकाशस्वभावा न भवन्ति, इति साध्यम्। तमस्यतथाभूतत्वादिति हेतुः।

दृष्टान्तस्तर्हि कथं न दर्शितः? तर्कन्यायस्यैव चेतसि प्रतिभासमानत्वात्। तथोच्यते—

तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
स्याप्येते, विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः॥

इति। विदधतीति विपूर्वो दधातिः करोत्यर्थे वर्तते। स च करोत्यर्थोऽत्र न सुस्पष्टसमन्वयः प्रकाशस्वाभाव्यं न कुर्वन्तीति। प्रकाशस्वाभाव्यशब्दोऽपि चिन्त्य एव। प्रकाशः स्वभावो यस्यासौ प्रकाशस्वभावः। तस्य भाव इति भावप्रत्यये विहिते पूर्वपदस्य वृद्धिः प्राप्नोति। अथ स्वभावस्य भावः स्वाभाव्यमित्यत्रापि भावप्रत्ययान्ताद्भावप्रत्ययो न प्रचुरप्रयोगार्हः। तथा प्रकाशश्चासौ स्वाभाव्यञ्चेति विशेषणसमासोऽपि न समीचीनः।

तृतीये च पादेऽत्यन्तासमर्पकसमासभूयस्त्वर्वशसं न तद्विदाह्लादकारितामावहति। 'रविव्यापार' इति रविशब्दस्य प्राधान्येनाभिमतस्य समासे गुणीभावो न विकल्पितः। पाठान्तरस्य 'रवे.' इति सम्भवात्।

ननु वस्तुमात्रस्यालङ्कारशून्यतया कथं तद्विदाह्लादकारित्वमिति चेत्,

तन्न। यस्मादलङ्कारेणाप्रस्तुतप्रशंसालक्षणेनान्यापदेशतया स्फुरितमेव कविचेतसि। प्रथमं च प्रतिभाप्रतिभासमानमघटितपाषाणशकलकल्पमपि प्रख्यमेव वस्तु विदग्धकविविरचितवक्रवाक्योपारूढं शाणोल्लीढमणिमनोहरतया तद्विदाह्लादकारिकाव्यत्वमधिरोहति। तथा चैकस्मिन्नेव वस्तुनि, अवहितानवहितकविद्वितयविरचितं वाक्यद्वयमिदं महदन्तरमावेदयति—

मानिनीजनविलोचनपातानुष्णवाष्पकलुषानभिगृह्णन्।
मन्दमन्दमुदितः प्रययौ खं भीतभीत इव शीतमयूखः॥

क्रमादेकद्वित्रिप्रभृति परिपाटीः प्रकटयन्
कलाः स्वैरं स्वैरं नवकमलकन्दांकुररुचः।
पुरन्ध्रीणां प्रेयो विरहदहनोद्दीपितदृशां
कटाक्षेभ्यो बिभ्यन्निभृत इव चन्द्रोऽभ्युदयते॥

एतयोरन्तरं सहृदयहृदयसंवेद्यमिति तैरेव विचारणीयम्। तस्मात् स्थितमेतत्, न शब्दस्यैव रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वं, नाप्यर्थस्येति। तदिदमुक्तम्—

रूपकादिरलङ्कारस्तथान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्॥

रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङाञ्च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम्॥

तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः॥

तेन शब्दार्थौ द्वौ सम्मिलितौ काव्यमिति स्थितम्। एवमवस्थापिते द्वयोः काव्यत्वे कदाचिदेकस्य मनाङ्मात्रन्यूनतायां सत्यां काव्यव्यवहारः प्रवर्ततेत्याह,—सहिताविति। सहितौ सहितभावेन साहित्येनावस्थितौ।

ननु च वाच्यवाचकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वादेतयोर्न कथञ्चिदपि साहित्यविरहः। सत्यमेतत्, किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्। कीदृशम्, वक्रताविचित्रगुणालङ्कार-सम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोहः तेन—

समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा॥

ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी।
वध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम्॥

अत्रारुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुषः शशिनः कामपरिक्षामवृत्तेः कामिनीकपोलफल-कस्य च पाण्डुत्वसाम्यसमर्थनावर्थालङ्कारपरिपोषः शोभातिशयमावहति। वक्ष्यमाणवर्ण-विन्यासवक्रतालक्षणः शब्दालङ्कारोऽप्यतितरां रमणीयः। वर्णविन्यासविच्छित्तिविहिता लावण्यगुणसम्पदस्त्येव। (पृष्ठ १५-२६)

× × × ×

द्वयोरप्येतयोरुदाहरणयोः प्राधान्येन प्रत्येकमेकतरस्य साहित्यविरहो व्याख्यातः परमार्थतः पुनरुभयोरेकतरस्य साहित्यविरहोऽन्यतरस्यापि पर्यवस्यति। तथा चार्थः समर्थवाचकाऽसद्भावे स्वात्मना स्फुरन्नपि मृतकल्प एवावतिष्ठते शब्दोऽपि वाक्यो-पयोगिवाच्यासम्भवे वाच्यान्तरवाचकः सन् वाक्यस्य व्याधिभूतः प्रतिभातीत्यलमति-प्रसंगेन।

प्रकृतन्तु। कीदृशे, बन्धे, 'वक्रकविव्यापारशालिनि'। वक्रो योऽसौ शास्त्रादि-प्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकी षट्प्रकारवक्रताविशिष्टः कवि-व्यापारस्तत्क्रियावक्रमस्तेन शालते श्लाघते यस्तस्मिन्। एवमपि कष्टकल्पनोपहतेऽपि प्रसिद्धव्यतिरेकित्वमस्तीत्याह— 'तद्विदाह्लादकारिणि'। तदिति काव्यपरामर्शः। तद्विदन्तीति तद्विदस्तज्ज्ञाः, तेषामाह्लादं करोति यस्तस्मिन्, तद्विदाह्लादकारिणि बन्धे व्यवस्थितौ। वक्रता वक्रताप्रकारा-स्तद्विदाह्लादकारित्वञ्च प्रत्येकं यथाऽवसरमेवोदाहरिष्यते॥७॥

एवं काव्यस्य सामान्यलक्षणे विहिते विशेषमुपक्रमते। तत्र शब्दार्थस्य तावत्स्वरूपं निरूपयति—

वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः॥१।८॥

इति एवविधं वस्तु प्रसिद्धं प्रतीतम्। यो वाचकः स शब्द, यो वाच्यश्चाभिधेयः सोऽर्थः इति। ननु च द्योतकव्यञ्जकावपि शब्दौ सम्भवतः। तदसंग्रहान्नाव्याप्तिः।

यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव । एवं द्योत्यव्यङ्ग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादुपचाराद् वाच्यत्वमेव । तस्माद् वाचकत्वं वाच्यत्वं च शब्दार्थयोर्लोके सुप्रसिद्धं यद्यपि लक्षणं, तथाप्यस्मिन् अलौकिके काव्यमार्गे काव्यवर्त्मनि, अयमेतयोर्वक्ष्यमाणलक्षणः परमार्थः, किमप्यपूर्वं तत्त्वमित्यर्थः ॥८॥

कीदृशमित्याह—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ॥१।९॥

स शब्दः काव्ये यस्तत्समुचितसमस्तसामग्रीकः । कीदृक्, 'विवक्षितार्थैकवाचकः' । विवक्षितो योऽसौ वक्तुमिष्टोऽर्थस्तदेकवाचकः, तस्य एकः केवल एव वाचकः । कथम्, अन्येषु सत्स्वपि । अपरेषु तद्वाचकेषु बहुष्वपि विद्यमानेषु । तथा च, सामान्यात्मना वक्तुमभिप्रेतो योऽर्थस्तस्य विशेषाभिधायी शब्दः सम्यग् वाचकतां न प्रतिपद्यते ।

(पृष्ठ ३५-३८)

× × ×

अर्थश्च वाच्यलक्षणः कीदृशः ? काव्ये यः 'सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः' । सहृदयाः काव्यार्थविदस्तेषामाह्लादमानन्दं करोति यस्तेन स्वस्पन्देन आत्मीयेन स्वभावेन सुन्दर सुकुमारः । तदेतदुक्तं भवति—यद्यपि पदार्थस्य नानाविधधर्मखचितत्वं सम्भवति तथापि तथाविधेन धर्मेण सम्बन्धः समाख्यायते यः सहृदयहृदयाह्लादमाधातुं क्षमते । तस्य च तदाह्लादसामर्थ्यं सम्भाव्यते येन काचिदेव स्वभावमहत्ता रसपरिपोषाङ्गत्वं वा व्यक्तिमासादयति । (पृष्ठ ४३-४४)

× × ×

तदेवंविधं विशिष्टमेव शब्दार्थयोर्लक्षणमुपादेयं । तेन नेयार्थापार्थादयो दूरोत्सारितत्वात् पृथङ् न वक्तव्याः ॥९॥ (पृष्ठ ५०)

४. साहित्यस्य स्वरूपम्

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रतिकाव्यसौ ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥१।१७॥

सहितयोर्भावः साहित्यम् । अनयोः शब्दार्थयोर्या काप्यलौकिकी चेतनचमत्कारकारितायाः कारणं, अवस्थितिर्विचित्रैव विन्यासभंगी । कीदृशी, अन्यूनानतिरिक्तत्व-

मनोहारिणी, परस्परस्पर्धित्वरमणीया। यस्यां द्वयोरेकतरस्यापि न्यूनत्वं निकर्षो न विद्यते नाप्यतिरिक्तत्वमुत्कर्षो वास्तीत्यर्थः।

ननु च तथाविधं साम्यं द्वयोरुपहतयोरपि सम्भवतीत्याह, 'शोभाशालितां प्रति'। शोभा सौन्दर्यमुच्यते। तया शालते श्लाघते यः स शोभाशाली, तस्य भावः शोभाशालिता, तां प्रति सौन्दर्यश्लाघितां प्रतीत्यर्थः। सैव च सहृदयाह्लादकारिता। तस्यां स्पर्धित्वेन याऽसाववस्थितिः परस्परसास्यमुभगमवस्थानं सा साहित्यमुच्यते। तत्र वाचकस्य वाचकान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण साहित्यमभिप्रेतम्। वाक्ये काव्यलक्षणस्य परिसमाप्तत्वादिति प्रतिपादितमेव (१,७)।

ननु च वाचकस्य वाच्यान्तरेण, वाच्यस्य वाचकान्तरेण कथं न साहित्यमिति चेत्।

तन्न, क्रमव्युत्क्रमे प्रयोजनाभावादसमन्वयाच्च। तस्मादेतयोः शब्दार्थयोर्यथास्वं यस्यां स्वसम्पत्सामग्रीसमुदायः सहृदयाह्लादकारी परस्परस्पर्धया परिस्फुरति, सा काचिदेव वाक्यविन्याससम्पत् साहित्यव्यपदेशभाग् भवति।

मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदयः।
अलङ्करणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः॥
वृत्त्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि॥३५॥

सा काव्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा।
पदाविवाक्यपरिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते॥

एतेषाञ्च पद-वाक्य-प्रमाण-साहित्यानां चतुर्णामपि प्रतिवाक्यमुपयोगः। १. तथा चैतत्पदमेवं स्वरूपं गकारौकारविसर्जनीयात्मकं, एतस्य चार्थस्य प्रातिपदिकार्थपञ्चकलक्षणस्य आख्यातपदार्थषट्कलक्षणस्य वाचकमिति पदसंस्कारलक्षणस्य व्यापारः। २. पदानाञ्च परस्परान्वयलक्षणसम्बन्धनिबन्धनमेतद्वाक्यार्थतात्पर्यमिति वाक्यविचारलक्षणस्योपयोगः। ३. प्रमाणेन प्रत्यक्षादिनैतदुपपन्नमिति युक्तियुक्तत्वं नाम माणलक्षणस्य प्रयोजनम्। ४. इदमेव परिस्पन्दमाहात्म्यात् सहृदयहृदयहारितां प्रतिपन्नमिति साहित्यस्योपयुज्यमानता।

एतेषां यद्यपि प्रत्येकं स्वविषये प्राधान्यमन्येषां गुणीभावस्तथापि सकलवाक्यपरिस्पन्दजीवितायमानस्यास्य साहित्यलक्षणस्यैव कविव्यापारस्य वस्तुतः सर्वत्रातिशायित्वम्। यस्मादेतदमुख्यतयापि यत्र वाक्यसन्दर्भान्तरे स्वपरिमलमात्रेणैव संस्कारमारभते

तस्यैतदधिवासशून्यतामात्रेणैव रामणीयकविरहः पर्यवस्यति । तस्मादुपादेयतायाः परिहाणिरुत्पद्यते । तथा च स्वप्रवृत्तिवैयर्थ्यप्रसंगः । शास्त्रातिरिक्तप्रयोजनत्वं शास्त्राभिधेयचतुर्वर्गफलाधिकत्वञ्चास्य पूर्वमेव प्रतिपादितम् (१, ३, ५) ।

अपर्यालोचितेऽप्यर्थे बन्धसौन्दर्यसम्पदा ।
गीतवद् हृदयाह्लादं तद्विदां विदधाति यत् ।।

वाच्यावबोधनिष्पत्तौ पदवाक्यार्थवर्जितम् ।
यत्किमप्यर्पयत्यन्तः पानकास्वादवत् सताम् ।।

शरीरं जीवितेनेव स्फुरितेनेव जीवितम् ।
विना निर्जीवता येन वाक्यं याति विपश्चिताम् ।।

(पृष्ठ ६०-६३)

५. वक्रोक्ति :

(अ) स्वरूपम् —

वक्रोक्तिः, प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा । कीदृशी, वैदग्ध्यभंगीभणितिः । वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्म कौशलं, तस्य भङ्गीविच्छित्तिः, तया भणितिः । विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते । (पृष्ठ ५१)

(ब) कवि-व्यापार :—

कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः सम्भवन्ति षट् ।
प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिशोभिनः ।।१।१८।।

× × × ×

१. वर्ण-विन्यासवक्रता—

वर्णानां विन्यासो वर्णविन्यासः । अक्षराणां विशिष्टन्यसनं, तस्य वक्रत्वं वक्रभावः प्रसिद्धप्रस्थानातिरेकिणा वैचित्र्येणोपनिबन्धः । सन्निवेशविशेषविहितस्तद्विदाह्लादकारी शब्दशोभातिशयः । × × ×

२. पदपूर्वार्द्धवक्रता—

पदस्य सुबन्तस्य तिङन्तस्य वा यत्पूर्वार्द्धं प्रातिपदिकलक्षणं धातुलक्षणं वा तस्य वक्रता वक्रभावो विन्यासवैचित्र्यम् । तत्र च बहवः प्रकाराः सम्भवन्ति ।

(क) यत्र रूढिशब्दस्यैव प्रस्तावसमुचितत्वेन वाच्यप्रसिद्धधर्मान्तराध्यारोपगर्भत्वेन निबन्धः स पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः प्रथमः प्रकारः । × × ×

(ख) द्वितीयः। यत्र संज्ञाशब्दस्य वाच्यप्रसिद्धधर्मस्य लोकोत्तरातिशयाध्यारोपंगर्भीकृत्योपनिबन्धः। × × ×

(ग) 'पर्यायवक्रत्वं' नाम प्रकारान्तरं पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः। यत्रानेकशब्दाऽभिधेयत्वे वस्तुनः किमपि पर्यायपदं प्रस्तुतानुगुणत्वेन प्रयुज्यते। × × ×

(घ) पदपूर्वार्द्धवक्रताया 'उपचारवक्रत्वं' नाम प्रकारान्तरं विद्यते। यत्रामूर्तस्य वस्तुनो मूर्तद्रव्याभिधायिना शब्देनाभिधानमुपचारात्। × × ×

(ङ) 'विशेषणवक्रत्वं' नाम पदपूर्वार्धवक्रतायाः प्रकारो विद्यते। यत्र विशेषणमाहात्म्यादेव तद्विदाह्लादकारित्वलक्षणं वक्रत्वमभिव्यज्यते। × × ×

(च) अयमपरः पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः प्रकारो यदिदं 'संवृतिवक्रत्वं' नाम। यत्र पदार्थस्वरूपं प्रस्तावानुगुण्येन केनापि निकर्षेणोत्कर्षेण वा युक्तं व्यक्ततया साक्षादभिधातुमशक्यं संवृतिसामर्थ्योपयोगिना शब्देनाभिधीयते। × × ×

(छ) इदमपरं पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः प्रकारान्तरं सम्भवति 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रत्वं' नाम। यत्र समासादितवृत्तीनां कासाञ्चिद्विचित्राणामेव कविभि. परिग्रहः क्रियते। × ×

(ज) अपरं 'लिङ्गवैचित्र्यं' नाम 'पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः' प्रकारान्तरं दृश्यते। यत्र भिन्नलिङ्गानामपि शब्दानां वैचित्र्याय सामानाधिकरण्योपनिबन्धः। × ×

(झ) पदपूर्वार्द्धस्य धातोः 'क्रियावैचित्र्यवक्रत्वं' नाम वक्रत्वप्रकारान्तरं विद्यते। यत्र क्रियावैचित्र्यप्रतिपादनपरत्वेन वैदग्ध्यभंगीभणितिरमणीयान् प्रयोगान् निबध्नन्ति कवयः। तत्र क्रियावैचित्र्यं बहुविधं विच्छित्तिविततव्यवहारं दृश्यते। × ×

'वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रय' इति। वक्रभावस्यान्योऽपि प्रभेदो विद्यते। कीदृशः, 'प्रत्ययाश्रयः'। प्रत्ययः सुप् तिङ् च यस्याश्रयः स्थानं स तथोक्तः। तस्यापि बहवः प्रकाराः सम्भवन्ति, संख्यावैचित्र्यविहितः, कारकवैचित्र्यविहितः, पुरुषवैचित्र्यविहितश्च। तत्र संख्यावैचित्र्यविहितः—यस्मिन् वचनवैचित्र्यं काव्यबन्धशोभायै निबद्धयते। × × ×

कारकवैचित्र्यविहितः—यत्राचेतनस्यापि पदार्थस्य चेतनत्वाध्यारोपेण चेतनस्यैव क्रियासमावेशलक्षणं रसादिपरिपोषणार्थं कर्तृत्वादिकारकं निबध्यते। × × ×

पुरुषवैचित्र्यविहितं वक्रत्वं विद्यते—यत्र प्रत्यक्षापरभावविपर्यायासं प्रयुञ्जते कवयः काव्यवैचित्र्यार्थं युष्मदि अस्मदि वा प्रयोक्तव्ये प्रातिपदिकमात्रं निबध्नन्ति। × ×

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्त्रधा ।
यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥१।२०॥

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यः । वाक्यस्य पदसमुदायभतस्य । 'आख्यातं साध्ययकारक-विशेषणं वाक्यम् ।' इति यस्य प्रतीतिस्तस्य श्लोकादेर्वक्रभावो भङ्गीभणितिवैचित्र्यं, अन्यः पूर्वोक्तवक्रताव्यतिरेकी समुदायवैचित्र्यनिबन्धनः कोऽपि सम्भवति । × ×

वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धे वास्ति यादृशः ।
उच्यते सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः ॥१।२१॥

वक्रभावो विन्यासवैचित्र्यं, प्रबन्धैकदेशभूते प्रकरणे यादृशोऽस्ति यादृग् विद्यते, प्रबन्धे वा नाटकादौ सोऽप्युच्यते कथ्यते । कीदृशः, 'सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः ।' सहजं स्वाभाविकं, आहार्यं व्युत्पत्त्युपार्जितं, यत्सौकुमार्यं रामणीयकं तेन मनोहरो हृदय-हारी यः स तथोक्तः । × × ×

प्रबन्धे वक्रभावो यथा—कुत्रचिन्महाकविविरचिते रामकथोपनिबन्धे नाटकादौ पञ्चविधवक्रतासामग्रीसमुदायसुन्दरं सहृदयहृदयहारि महापुरुषवर्णनमुपक्रमे प्रतिभासते । परमार्थतस्तु विधिनिषेधात्मकधर्मोपदेशः पर्यवस्यति, रामवर्तितव्यं न रावणवदिति ।
(पृष्ठ ६४-६३)

६. स्वभावोक्तेर्निराकरणम्

अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः ।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥१।११॥

येषामलङ्कारकृतामलङ्कारकाराणां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः, या स्वभावस्य पदार्थ-धर्मलक्षणस्य परिस्पन्दस्य उक्तिरभिधा, सैवालङ्कृतिरलङ्करणं प्रतिभाति, ते सुकुमार-मानसत्वाद् विवेकक्लेशद्वेषिणः । यस्मात् स्वभावोक्तिरिति कोऽर्थः । स्वभाव एवोच्यमानः । स एव यद्यलंकारस्तत्किमन्यत् तद्व्यतिरिक्तं काव्यशरीरकल्पं वस्तु विद्यते यत्तेषाम-लङ्कार्यतया विभूष्यत्वेनावतिष्ठते पृथगवस्थितिमासादयति । न किंचिदित्यर्थः ॥११॥

ननु च पूर्वमेवावस्थापितं यत्, वाक्यस्यैवाविभागस्य सालङ्कारस्य काव्यत्व-मिति (१,६) तत्किमर्थमेतदभिधीयते ? सत्यम् । किन्तु तत्रासत्यभूतोऽपि, अपोद्धार-बुद्धिविहितो विभागः कथ कर्तुं शक्यते वर्णपदन्यायेन वाक्यपदन्यायेन चेत्युक्तमेव । एतदेव प्रकारान्तरेण विकल्पयितुमाह—

स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते ।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरूपाख्यं प्रसज्यते ॥१।१२॥

स्वभावव्यतिरेकेण स्वपरिस्पन्दं विना निःस्वभावं वक्तुमभिधातुमेव न शक्यते, न शक्यते । वस्तु वाच्यलक्षणम् । कुनः, तद्रहितं तेन स्वभावेन रहितं वर्जितं यस्मान्निरूपाख्यं प्रसज्यते । उपाख्यायाः निष्क्रान्तं निरूपाख्यम् । उपाख्या, शब्दः, तस्यागोचरभूतमभिधानायोग्यमेव सम्पद्यते । यस्मात् स्वभावशब्दस्येदृशी व्युत्पत्तिः, भवतोऽस्मादभिधानप्रत्ययौ इति भावः, स्वस्यात्मनो भावः स्वभावः । तेन स एव यस्य कस्यचित् पदार्थस्य प्रत्योपाख्यावतारनिबन्धनम् । तेन वर्जितं असत्कल्पं वस्तु शशविषाणप्रायं शब्दज्ञानगोचरतां प्रतिपद्यते । स्वभावयुक्तमेव सर्वथाभिधेयपदवीमवतरतीति शाकटिकवाक्यानामपि सालंकारता प्राप्नोति, स्वभावोक्तियुक्तत्वेन ॥१२॥

एतदेव युक्त्यन्तरेण विकल्पयति—

शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरुते परम् ।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ॥१।१३॥

यस्य कस्यचिद् वर्ण्यमानस्य वस्तुनो वर्णनीयत्वेन स्वभाव एव वर्ण्यशरीरम् । स एव चेदलंकारो, यदि विभूषणं, तत्किमपरं तद्व्यतिरिक्तं विद्यते यदलंकुरुते विभूषयति । स्वात्मानमेवालंकरोतीति चेत्, तदयुक्तम्, अनुपपत्तेः । यस्मादात्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति । शरीरमेव शरीरस्य न कुत्रचिदप्यंसमधिरोहतीत्यर्थः । स्वात्मनि क्रियाविरोधात् ॥१३॥

अन्यच्च, अभ्युपगम्यापि ब्रूमः—

भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे ।
भेदावबोधः प्रकटस्तयोरप्रकटोऽथवा ॥१।१४॥

स्पष्टे सर्वत्र संसृष्टिरस्पष्टे संकरस्ततः ।
अलंकारान्तराणां च विषयो नावशिष्यते ॥१।१५॥

भूषणत्वे स्वभावस्य अलंकारत्वे स्वपरिस्पन्दस्य यदा भूषणान्तरमलंकारान्तरं विधीयते तदा विहिते कृते तस्मिन् सति, द्वयी गतिः सम्भवति । काऽसौ ? तयोः स्वभावोक्त्यलंकारान्तरयोः भेदावबोधो भिन्नत्वप्रतिभासः प्रकटः सुस्पष्टः क्वाचिदप्रकटश्चापरिस्फुटो वेति । तदा स्पष्टे प्रकटे तस्मिन् सर्वत्र सर्वस्मिन् कविविषये संसृष्टिरेवैकालंकृतिः प्राप्नोति । अस्पष्टे तस्मिन्नप्रकटे सर्वत्रैकः संकरोऽलंकारःप्राप्नोति । ततः को दोषः स्यादित्याह—'अलंकारान्तराणाञ्च विषयो नावशिष्यते' । अन्येषामलंकाराणामुपमादीनां विषयो

महिम भट्ट

समय—ग्यारहवी शताब्दी का मध्य-काल

[ग्रन्थ—व्यक्ति विवेक]

१. वाक्य का स्वरूप

वाक्य एक ही प्रकार का होता है क्योंकि उस मे क्रिया की प्रधानता है और क्रिया एक ही होती है। कहा है—'वाक्य उसे कहते हैं जिसमे केवल एक अर्थ होता है, क्रिया की प्रधानता होती है, गुणवत्ता होती है और जिसके अवयव (पद) साकाक्ष होते हैं पर जहाँ भेद दिखाना इष्ट हो वहाँ अन्य शब्दों की आकांक्षा नही होती।'

२. अर्थ के दो प्रकार

अर्थ दो प्रकार का होता है—वाच्य और अनुमेय। शब्द-व्यापार-विषयक अर्थ वाच्य कहलाता है। उसे मुख्य भी कहते हैं। कहा है—

'सुनने मात्र से जिसकी तदर्थता पूर्ण हो जाती है। उसे 'मुख्य अर्थ' कहते हैं और जिस अर्थ का उपपादन यत्नों द्वारा होता है उसे 'गौण अर्थ' कहते हैं।'

३. अनुमेयार्थ का स्वरूप और उसके भेद

उस मुख्य (वाच्य) अर्थ से अथवा उसे लिंगभूत मानकर अनुमान द्वारा जो अर्थ अनुमित होता है वह 'अनुमेय' कहलाता है। उस (अनुमेय) अर्थ के तीन भेद हैं—वस्तुमात्र, अलंकार और रस। इनमें प्रथम दो—वस्तुमात्र और अलंकार—तो वाच्य मे भी सभव हैं पर अन्य—रस—केवल अनुमेय है। पद का अर्थ तो केवल वाच्य हो हो सकता है अनुमेय नही, क्योकि पद के निरश अर्थात् स्वतःपूर्ण होने से उसमें साध्य-साधन-भाव का अभाव होता है (जिसकी अनुमान मे अनिवार्यता है)

४. वाक्यार्थ के भेद

वाच्यार्थ की अंश परिकल्पना अशो के विधि और अनुवाद रूप से अवस्थित होने के कारण तथा विधेयांश के सिद्धासिद्धरूप से उपपादन-सापेक्ष और उपपादन-अनपेक्ष होने के कारण वाक्यार्थ के दो भेद है।

५. अनुमेय-विषयता

जैसे वाक्यार्थ विषय के साध्य-साधन रूप में स्थित होने पर साध्य और साधन की प्रतीति का क्रम सुलक्ष होता है वैसे ही—वस्तुमात्र और अलंकार—इन दोनों अनुमेय विषयो मे भी सुलक्ष होता है। केवल अनुमेय रसादि में असंलक्ष्यक्रम वाला गम्य-गमक भाव होता है जिसे सहभाव भ्रान्ति से कुछ लोगों ने व्यंग्य-व्यंजक भाव माना है और उससे सम्बद्ध 'ध्वनि' की कल्पना की है। गम्य-गमक भाव केवल औपचारिक रूप से प्रयुक्त किया गया है मुख्य रूप से नही अन्यथा आगे बताई हुई रीति से उसमे बाधा (विरोध) उपस्थित होती है। उपचार का प्रयोजन है सचेतन के समान चमत्कारी बना देना जो चित्र, पुस्तकादि व्यक्ति विषयों मे देखने को मिलता है। अर्थों का ऐसा स्वभाव ही है कि वाच्यार्थ वैसा चमत्कार-जनक नही होता जैसा वह विधि-निषेधादि से काकु-रूपी होने पर अथवा अनुमेयता को प्राप्त होने पर होता है।

६. वस्तु और अलंकार में औपचारिक व्यंग्यत्व की भी असम्भावना

आद्यों—वस्तुमात्र और अलंकार—मे सुलक्ष-क्रम होने से भ्रान्ति की संभावना ही नही अतः उसमें व्यग्य-व्यपदेश सर्वथा असम्बद्ध है। अतएव ध्वनिपदेश्य श्रूयमाण शब्दों का और उनके अत.संनिवेशी स्फोट अभिमतार्थ का व्यंग्य-व्यंजक-भाव संभव नही और व्यंजकत्व के साम्य से शब्दार्थात्मक काव्य मे जो ध्वनि-व्यपदेश किया गया वह भी उपपन्न नही होता क्योंकि उसमें कार्यकारण-मूलक गम्य-गमक भाव का उपगम होता।

७. रत्यादिभावों की प्रतीति के विषय मे शंका और उसका परिहार

विभावादि वाक्यार्थों के साथ ही उत्पन्न होने वाले रत्यादि भावो की प्रतीति सबको होती है। और अन्तरासबंध-स्मरणादि विघ्नों और व्यवधानों का अनुभव किसी को नही होता है।

रत्यादि की प्रतीति ही रसादि की प्रतीति है। इस प्रकार मुख्य वृत्ति से ही 'व्यंग्य-व्यंजक-भाव' अभ्युपगत हो सकता है। किन्तु वहाँ वस्तुतः तो प्रदीप-घट न्याय से उपपन्न गम्य-गमक भाव ही होता है। क्योंकि उसी (ध्वनिकार) ने कहा है कि व्यंजकत्व के मार्ग में जो अर्थ अर्थान्तर को द्योतित करता है वह अपने स्वरूप को प्रकाशित करके ही अन्य का प्रकाशक होता है।

वाच्य और प्रतीयमान अर्थों की जैसे क्रमशः प्रतीति होती है, एक साथ नही होती, और जैसा उनका गम्य-गमक संबंध है उसे व्यक्तिवादी ने भी उनके स्वरूप का निरूपण करते हुए मान लिया है अतः समाधान करने की इच्छा से हम उसे यहाँ उद्धृत करते हैं। "ऐसा किसी को अनुभव नहीं होता कि विभावानुभाव और व्यभिचारी ही रस हैं। अतः विभावादि की प्रतीति से अविनाभूत रसादि की प्रतीति होती है और उन दोनों प्रतीतियों की कार्य-कारण भाव से अवस्थिति होने के कारण उनमें क्रम अर्थात् पूर्वापरता-अवश्यंभावी है। परन्तु वह लाघव के कारण लक्षित नहीं होता। अतः व्यंग्य-रसादि अलक्ष्य-क्रम माने गये हैं।"

पुनश्च "अतः वाच्य-व्यंग्य की प्रतीति में भी अभिधानाभिधेय की प्रतीति के समान निमित्त-निमित्ती भाव होने से क्रम 'नियम-भावी' है। वह उक्त युक्ति में कही लक्ष्य होता है और कही नही।"

८. ध्वनि का परार्थानुमान में अन्तर्भाव

इस प्रकार वक्ष्यमाणक्रम से वाच्य और प्रतीयमान के लिंग-लिंगी भाव का ही समर्थन होता है जिससे संपूर्ण ध्वनि का अनुमान में ही अतर्भाव हो जाता है क्योंकि ध्वनि की अपेक्षा अनुमान महाविषय है। महाविषय इसलिए कि उसमें ध्वनि के अतिरिक्त पर्यायोक्ति, गुणीभूत व्यंग्य आदि सभी का समावेश हो जाता है। वचन-व्यापार-पूर्वक होने के कारण यह अनुमान परार्थानुमान है। परार्थ अनुमान त्रिरूप-लिंगाख्यानक होता है—यह बात उक्त मार्ग से अनभिज्ञ अविचक्षण (अज्ञ) लोगों को दृष्टिगोचर नही होती।

९. वाक्यार्थ की साध्य-साधन-भाव-गर्भता

प्रश्न है कि यदि सभी वाक्यार्थ साध्य-साधन-भाव-गर्भित कहे जायें तो जिस प्रकार साध्य और साधन का नियमपूर्वक उपादान होता है वैसे ही क्या दृष्टान्त का भी होगा क्योंकि वह व्याप्ति-साधन-प्रमाण विषय होने के कारण अवश्य अपेक्षित होता है। नही, (दृष्टान्त का उपादान आवश्यक नही) क्योंकि प्रसिद्ध सामर्थ्य वाले साधन के उपादान से दृष्टान्त की अपेक्षा का निराकरण (प्रतिक्षेप) हो जाता है। कहा है :—'जो व्यक्ति साधन से, अपरिचित हो उसे दृष्टान्त (उदाहरण) से साधन और हेतु का ज्ञान करा देना चाहिए पर विद्वानों को केवल हेतु बताने की आवश्यकता है दृष्टान्त की नही।'

१०. रत्यादि के सुख-हेतुत्व पर आक्षेप

रत्यादि सुखादि अवस्थाओं का काव्यादि मे सचेतन-चमत्कारकारी सुखास्वाद संभव कहाँ है जो व्यग्यत्व के उपचार के लिए अनुमेय रसादि की किसी भी प्रयोजन से कल्पना की जाये। लोक में ऐसा कही देखने को नही मिलता कि लिंग द्वारा यदि शोकादि का अनुमान किया जाये तो अनुमाता को सुखास्वाद का लवमात्र भी अनुभव होता है। प्रत्युत साधुओं तथा उदासीनों तक के हृदयों मे भय, शोक, दौर्मनस्य आदि दुःख ही उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं—और न लोक की अपेक्षा काव्यादि में कोई ऐसी विशिष्टता होती है कि उन्ही मे इसका उपगम हो, लोक मे नही। वे ही लौकिक विभावादि हेतुकार्य-सहकारी रूप से गमक हैं और वे ही रत्यादि अवस्था-विशेष रूप वाले भावगम्य हैं। फिर काव्यादि में ऐसी क्या विशेषता है जो उन्ही मे रसास्वाद हो, लोक में नहीं। इसका किंचित् भी प्रयोजन संभव न होने से रत्यादि में व्यंग्यत्व का उपचार उपपन्न नही होता।

बात यह है जहाँ विभावादि के मुख से भावों का अवगम होता है वही सहृदयैकसंवेद्य रसास्वाद का उदय होता है। वस्तुओं का स्वभाव ही ऐसा है अतः प्रामाणिक लोग इसमें पर्यनुयोग (सत्य में संदेह) की आवश्यकता नही समझते।

क्योंकि भरत के अनुसार 'विभाव अनुभाव और संचार के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।' कहा भी है—

भावों के संयोजन से व्यक्त होकर संवित्तिगोचर होने वाला और आस्वादन के रूप में आत्मानुभूत होने वाला काव्यार्थ रस कहलाता है।

११. विभावादि और हेत्वादि की अभेद-शंका

लोक मे तो हेत्वादिक ही संभव हैं विभाव और भाव आदि नहीं। और यह मानना भी ठीक नही कि विभावादि का तथा हेत्वादि का एक ही अर्थ है—विभावादि और हेत्वादि भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं क्योंकि उनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं जो रामादिगत रत्यादि लोक में स्थायी अवस्था विशेष हैं वे ही कवि आदि द्वारा वर्णित होने से अर्थ-गर्भित होकर उन रस-विशेषों को भावित करती हैं और इसीलिए भाव कहलाती हैं। जैसा कि भरत ने कहा है :—

'क्योंकि ये (भाव) नानाभिनयों के सम्बन्ध[1] से (द्वारा) रसों को भावित करते हैं, इसीलिए नाट्य-योजक इन्हें 'भाव' कहते हैं।'

उनके हेतु जो सीतादि हैं, वे काव्यादि में समर्पित होकर विभाव कहलाते हैं क्योंकि जिनसे भाव विभावित होते हैं, वे विभाव कहलाते हैं जैसा कि भरत ने कहा है—'क्योंकि इन (विभावों) के द्वारा वागाभिनय और अंगाभिनय पर आश्रित अनेक अर्थ विभावित होते हैं अतः ये 'विभाव' कहे जाते हैं।'

और इन कारणों (विभावों) से उत्पन्न कार्य-रूप मुख-प्रसाद आदि ही काव्य में उपदर्शित होकर उन भावों का अनुभव कराते हैं अतः वे अनुभाव कहलाते हैं। भरत ने कहा है—

'वाक्, अंग और सत्त्व—तीनों—के अभिनय द्वारा वाक्, अंग और उपांगों से संयुक्त अर्थ जिनसे अनुभूत होता है वे अनुभाव कहलाते हैं।'

अन्तरान्तर-अवस्थित और अवान्तर हेतुओं से जनित जो विशेष अवस्थायें उत्कलिका[2] (चिन्ता, तरंग) के समान उत्पन्न होती हैं वे ही अपने वर्ग के विभाव और अनुभाव से उपदर्शित होकर विशेष रूप से अभिमुख (सहायक) होती हैं अतः व्यभिचारी कहलाती हैं। जैसा कि भरत ने कहा है—

जो विविध भाव अभिमुख (सहायक, पूरक) रूप से रसों में विद्यमान रहते हैं वे 'व्यभिचारी' कहलाते हैं।

ये जो स्थायी, व्यभिचारी और सात्त्विक भेदों वाले उनचास भाव बताये गये हैं वे सभी व्यभिचारी हैं। केवल प्रत्येक की नियतरूपता होने के कारण उनके ये भिन्न नाम (व्यपदेश) रखे गए हैं। जैसे स्थायित्व केवल स्थायी भावों में ही प्रतिनियत है, व्यभिचारी और सात्त्विक भावों में नही, व्यभिचारित्व केवल व्यभिचारियों में है, स्थायी और सात्त्विक भावों मे नही, सात्त्विकत्व केवल सात्त्विक भावों मे है, अन्य दो मे नही। परन्तु इनमें से स्थायी भावों की उभयगति है, अर्थात् वे स्थायी भी होते हैं

---

१. नाटच-शास्त्र में (भरत) तथा दशरूपक में उद्धृत श्लोक में 'नानाभिनयसंबंधान्' पाठ है जिसमें यह पद 'रस' का विशेषण है पर व्यक्ति-विवेक में 'नानाभिनय-संबंधात्' पाठ स्वीकार किया है जिसका अर्थ है विभिन्न अभिनयों द्वारा।

२. उत्कलिका शब्द के दो अर्थ हैं—चिंता और तरंग। चिंतादि संचारी तरंगवत् हैं अतः दोनों के व्यंजक एक शब्द का लेखक ने बहुत ही उचित प्रयोग किया है।

और व्यभिचारी रूप में भी आ सकते हैं, जबकि व्यभिचारी और सात्त्विक उभयगति नहीं हैं अर्थात् वे कभी स्थायी नही हो सकते केवल व्यभिचारी ही रह सकते हैं।

भावाध्याय में स्थायी का जो लक्षण बताया गया है वह केवल अभ्याभिचारी-दशापन्न (व्यभिचारी रूप मे न प्रयुक्त) स्थायी का ही मानना चाहिए अन्य—कभी कभी व्यभिचारी-रूप से प्रयुक्त—का नही अन्यथा लक्षण-वाक्य व्यर्थ (निरर्थक) हो जायेगा। इस स्थायी का अनुकरण करने वाले ही होते हैं और वे (रस) ही प्रधान होते हैं। यह बात उनके लक्षण से विदित स्वरूप से ही स्पष्ट हो जाती है, क्योकि स्थायी-भावो और रसों की अवस्थिति बिब-प्रतिबिब रूप से है। इस प्रसंग मे स्थायी भावों मे निर्वेदादि के समान व्यभिचारी भावों का उपादान नही किया जा सकता क्योंकि यदि उनका उपादान करने पर निर्वेदादि समान केवल स्थायी रह जायेंगे; व्यभिचारित्व खो बैठेंगे। अतः यह वर्गत्रय विभाग केवल योग्यता मात्र प्रवर्त्तित है। व्यभिचारी भी कभी-कभी स्थायी हो जाते हैं केवल इसी तथ्य से भ्रम मे पड़ कर कुछ लोगों को स्थायी के लक्षण मे भ्रम हो जाता है। इतना स्पष्ट करके यही इस अप्रस्तुत वस्तु के विस्तार को समाप्त करते हैं।

१२. कृत्रिम विभावादि के द्वारा रसास्वाद

इस प्रकार विभावादि का और हेत्वादि का कृत्रिम और अकृत्रिम के भेद से तथा काव्य और लोक—दो पृथक्—विषयों मे होने से स्वरूप-भेद और विषय-भेद हैं। अत. उनकी एकत्वसिद्धि नही होती अर्थात् वे पृथक् हैं। इसलिए जब अविद्यमान रत्यादि भावो मे विभावादि-प्रतीति होती है तो वह उतने ही सार वाली होती अतः वह प्रतीति 'गम्या' कहलाती है और यह नाम मुख्य वृत्ति से ही उपपन्न है। यह प्रतीति-परामर्श ही स्वाभाविक रसास्वाद है।

यदि रत्यादि सदा परोक्ष रहते हैं तो कोई बाधा की बात नही क्योंकि प्रत्यक्ष अर्थ साक्षात् सवेद्यमान होने पर भी सहृदयो को वैसा चमत्कृत नही करता जैसा सत्कवि द्वारा वचन-गोचरता को प्राप्त किया हुआ होने पर करता है। कहा है—

'भाव कवि की शक्ति से अर्पित भाव-युक्तियो से जैसा स्फुरित होता है जैसा प्रत्यक्षः नही हो सकता।'

भाव सामान्यतः उतना स्वाद्य नहीं होता जितना भाव-युक्तियों से अनुमेयता होने पर होता है और वाच्यार्थ वैसा सुखकारी नही होता जैसा प्रतीयमान अर्थ होता है।'

ध्वनिकार ने भी कहा है—सार-रूप अर्थ अपने शब्दों के अनभिधेयत्व से प्रकाशित होकर अत्यन्त शोभित होता है। 'और काव्यादि का अर्थ केवल प्रतीतिमात्र-परक होता है क्योकि तभी विधेयार्थ के विधि-निषेध की व्युत्पत्ति संभव है। कहा है :—'सम्बन्ध से भ्रांति भी प्रभाव होती है।'

अत: सचेतसों (सहृदयों) मे गम्य-गमक भाव की स्थिति के सत्यासत्य पर विचार करना निरर्थक है। इसी तरह काव्य-विषय में वाच्य-व्यंग्य की प्रतीति के सत्यासत्य पर विचार करना भी निरर्थक है। और इस विषय में अन्य प्रमाणों की परीक्षा तो सर्वथा उपहास-जनक है।

अकृत्रिम हेत्वादि से अकृत्रिम (अर्थों) की ही प्रतीति होती है। अत: उनमें केवल अनुमेयत्व ही हो सकता है व्यंग्यत्व की तो गन्ध भी नही हो सकती क्योकि उनमें सुखास्वाद का तो अंशमात्र भी कहाँ मिलेगा। इसी दृष्टि से लोक की अपेक्षा काव्यादि में विशेषता है। गम्य रत्यादि में ही सुखास्वाद प्रयोजक व्यंग्यत्व का उपचार हो सकता है।

इस प्रकार मुख्य वृत्ति से तो अर्थ के दो ही भेद हैं—वाच्यार्थ और गम्यार्थ। पर उपचार (गौण) रूप से तीसरा व्यंग्यार्थ भी कहा जा सकता है।

'वाणी का गुणीकृत (गौण) अर्थ कही संभव नही क्योकि अपने उपादान से किसी वस्तु का अर्थ बोध नही हो सकता जैसे दृप्ति (चर्मजल पात्र) से जल का बोध नही हो सकता।'

वाच्य और प्रतीयमान का मुख्य वृत्ति से व्यंग्यव्यंजक भाव भी संभव नहीं क्योंकि व्यक्ति-लक्षण (व्यंजना का लक्षण) ही उपपन्न नही है। क्योकि व्यक्ति का लक्षण यह बताया है।

१३. व्यक्ति का लक्षण और उसके तीन भेद :

'सत् अथवा असत् प्रकाशमान अर्थ की सम्बन्ध-स्मरणानवेक्षी प्रकाश के साथ ही प्रकाश विषय मे परिणति (आपत्ति) 'अभिव्यक्ति' कहलाती है। इनमे सत् की अभिव्यक्ति तीन प्रकार की है क्योंकि सत् स्वयं तीन प्रकार का है।

कारणात्मा में तिरोभूत कार्य की शक्ति-रूप से अवस्थिति होने के कारण उस (कार्य) की इन्द्रिय-गोचरता को प्राप्ति प्रथम प्रकार की अभिव्यक्ति है जिसे 'आवि-

र्भावाभिव्यक्ति' कहते हैं। जैसे क्षीरादि (कारणों) में अवस्थित दध्यादि (कार्यों) की उन अवस्थाओं का उपगम होने पर उसे कुछ लोग 'उत्पत्ति' नाम देते हैं। उक्त आविर्भूत (कार्य) के किसी प्रतिबन्ध के कारण अप्रकाशमान हो जाने पर किसी उपसर्जनीकृतात्म प्रकाशक के द्वारा उसका प्रकाशित होना द्वितीय प्रकार की अभिव्यक्ति है। जैसे प्रदीपादि से घटादि की अभिव्यक्ति !

सिद्ध अर्थ में अपने ज्ञान से अन्य का ज्ञान कराने वाला व्यंजक कहलाता है जैसे 'दीपक' जो अपने प्रकाश से अन्य को व्यक्त करता है। ऐसी अवस्था में व्यंजक और कारक में क्या भेद है।

ध्वनिकार ने भी कहा है—'अपने रूप को प्रकाशित करते हुए अन्य अर्थ का अवभास करानेवाला 'व्यंजक' कहलाता है। जैसे प्रदीप घटादि का व्यंजक है।

उसी अनुभूत-पूर्व और संस्कार-रूप से अंतर्विपरि-वर्तमान तथा कही व्यभिचरित न होने वाले व्यंजक का अर्थान्तर से अथवा अर्थान्तर के प्रतिपादक से संस्कार-प्रबोध मात्र हो जाना तृतीय प्रकार की अभिव्यक्ति है। जैसे धूम से अग्नि की अभिव्यक्ति। अथवा जैसे अलेख्य, पुस्तक, प्रतिबिम्ब, अनुकरण या शब्द से गौ आदि की अभिव्यक्ति।

असत् की अभिव्यक्ति केवल एक प्रकार की हो सकती है क्योकि असत् के भेद असम्भव हैं। इस अभिव्यक्ति का उदाहरण है—अर्कालोक (सूर्यप्रकाश) से इन्द्र-धनुषादि की अभिव्यक्ति।

१४. वाच्य में व्यक्ति-लक्षण की असंगति

असत् अभिव्यक्ति के इस लक्षण की वाच्य के साथ संगति नहीं। सत् अभिव्यक्ति में भी प्रथम दो प्रकार तो संगत नहीं क्योंकि उन दोनों के ही लक्षण उनके प्रतीयमान का संस्पर्श नही करते। प्रथम प्रकार की सत् अभिव्यक्ति मे तो दध्यादि इन्द्रियों के विषय नही रहते, द्वितीय में घटादि की वाच्यार्य के सहभाव से उसी रूप में प्रतीति असम्भव है। इस प्रकार दोनों ही स्वरूप सस्पर्श नही करते और स्वरूप-संस्पर्श के बिना लक्षण ही ठीक नही होता।

तृतीय प्रकार की सत् अभिव्यक्ति की संगति अनुमान के साथ है। व्यंजना के साथ नही। क्योकि अनुमान का लक्षण इस प्रकार है—त्रिरूप लिंग से अनुमेय में जो ज्ञान होता है वह 'अनुमान' है। इसलिए यह अभिव्यक्ति भी अनुमान है क्योकि

एक अर्थ से अर्थान्तर की प्रतीति नही हो सकती, अनुमान हो सकता है और उस अनुमान से अर्थान्तर का उपपादन हो जाता है। उपमादि का भी अनुमान मे ही अन्तर्भाव है।

अन्य को देखकर अन्य की कल्पना भी युक्त नही क्योकि ऐसा करने में, अतिप्रसग दोष आ जाता है।

वाच्यार्थ से अर्थान्तर की प्रतीति अविनाभाव-सम्बन्ध के कारण के अनन्तर ही हो यह भी सम्भव नही, क्योंकि उसकी प्रतीति सभी मे होती है। सहभाव से प्रतीति मानना भी ठीक नही, क्योंकि जिस प्रकार धूमाग्नि की प्रतीति में क्रम-भाव है—सहभाव नही—वैसे ही वाच्य में अर्थ की प्रतीति का भी क्रम-भाव ज्ञात है। अत: इसमें असम्भव नामक लक्षण-दोष है। यदि यह कहे कि रसादि की अपेक्षा से इनका सहभाव से प्रकाश वांछनीय है तो अव्याप्ति नामक लक्षण-दोष आ जाता है क्योकि वस्तुमात्र और अलंकार-रूपी प्रकाश का और प्रकाशक का सहभाव नही है। यदि रसादि के प्रकाश का विभावादि के प्रकाशन के साथ सहभाव बतायें तो भी उपपन्न नही। क्योकि कवि लोग विभाव नामक कृत्रिम कारणों से प्रतिबिम्ब-तुल्य असत् रत्यादि स्थायी नामक भावो को प्रतिपत्ता के प्रतीति पथ मे लाकर हृदय-सवाद से आस्वाद्य बना देते हैं जिससे वे रस कहलाने लगते हैं। किन्तु (विभावेतर) कारणादि से कार्यादि प्रतिबिम्ब के समान साथ ही प्रकाशित नही हो जाते, क्योकि अवसाय (प्रतिपाद्य) कार्य-कारण भाव का ही अवसाद हो जाता है। जहाँ उक्त लक्षण वाला अर्थ मुख्य रूप से हो वहाँ काव्य ही नही होता ध्वनि-रूपता की तो बात ही क्या!

प्रकाशक अर्थ दो प्रकार का होता है उपाधि-रूप और स्वतन्त्र। इनमे ज्ञान शब्द प्रदीपादि तो उपाधि-रूप है, जैसा कि कहा है—प्रकाश तीन प्रकार के हैं, स्वप्रकाश, परप्रकाश और (केवल) प्रकाश। स्वतंत्र के उदाहरण धूमादि हैं। इनमे आद्य को यहाँ समझने की आवश्यकता नही है क्योंकि प्रत्यक्ष और अभिधेय अर्थों में ही काव्यता आ जाती है। अन्य अर्थात् स्वतन्त्र में व्यक्ति की उपपत्ति न होने से केवल लिंगत्व की ही उपपत्ति होती है। प्रकाशक के सहभाव से तो तीनों ही प्रकार के व्यंग्याभिगत अर्थों का प्रकाश ध्वनिकार को भी अभिमत नहीं। जैसा कि उसने स्वयं कहा है—"ऐसा किसी को अनुभव नहीं होता कि विभावानुभाव और व्यभिचारी ही रस हैं। अत: विभावादि की प्रतीति से अविनाभूत रसादि की प्रतीति होती है और उन दोनों प्रतीतियों की कार्य-कारण भाव से अवस्थिति होने के कारण उनमें

क्रम अर्थात् पूर्वापरता—अवश्यम्भावी है। परन्तु वह लाघव के कारण लक्षित नहीं होता। अत: व्यंग्य-रसादि अलक्ष्यक्रम माने गये हैं।"

१५. काव्य का स्वरूप

विभावादि के संयोजन वाला (तथा) रस की अव्यभिचारी रूप से सर्वत्र अभिव्यक्ति करने वाला कवि व्यापार काव्य कहलाता है। उसके दो भेद हैं—अभिनेय (दृश्य) और अनभिनेय (श्रव्य)। इन दोनों ही का फल शास्त्र के समान विधि-निषेध विषय की व्युत्पत्ति कराना है। केवल व्युत्पाद्य लोगों मे जाडच अथवा अजाडच का जो भेद है उसी के अनुसार काव्य-नाटच और शास्त्र में दोनों ही उपाय मात्र मे भिन्न हैं, फल में नही। (अर्थात् विधि-निषेध का ज्ञान कराने के ये दो उपाय हैं। फल दोनों का एक ही है—'विधि-निषेध का ज्ञान'। काव्य-नाटच ऐसे उपाय हैं जो जड़ों को भी समझ में आ सकते हैं, जब कि शास्त्र केवल विद्वानों को।

(पृष्ठ ९५-९६)

'वाच्यार्थ अथवा अनुमितार्थ जहाँ किसी सम्बन्ध से अर्थान्तर को प्रकाशित करते हैं उसे काव्यानुमिति कहते हैं।'

यह अनुमान का ही लक्षण है अन्य किसी का नही। क्योकि परार्थ अनुमान त्रिरूप लिंगाख्यानक होता है—ऐसा कहा गया है।

काव्य की आत्मा रसादिरूप वाली मानने में किसी को विरोध नही है।

(पृष्ठ १०५)

१६. अभिधा-स्थापना

शब्द की एक ही शक्ति है—अभिधा और अर्थ की एक ही लिंगता है। इनमें व्यंजकत्व नामक कोई वस्तु नही होती यह सिद्ध हो गया है। शब्द के लक्षण में ध्वनि का उपादान वृथा ही किया गया क्योकि उस शक्ति से अर्थान्तर में कोई इष्ट गति नही आती। उन (शब्दार्थ) को उपसर्जन (गुणीकरण) विशेषित करना भी युक्त नही क्योंकि गुणीभूत व्यंग्य काव्य मे भी चारुता इष्ट होती है। अत: विशेष का उपादान अर्थवान् नही होगा (निरर्थक होगा) क्योकि वह केवल संज्ञा-सबंध मात्र फल देने वाला होता है। और उस स्थिति मे वाक्यवर्त्ती से भिन्न किसी भी विशेष की संज्ञा में आप्ति अतिप्रसंग-दोष युक्त होगी। अत: प्रधान अथवा अन्य (गौण) रूप से जहाँ स्पष्ट रूप से वाच्य-शक्ति द्वारा अनुमेय अर्थ का भान होता है वह काव्य कहलाता

है। वाच्य और प्रत्येय (प्रतीयमान) अर्थों की व्यंग्य-व्यंजकता मानना ठीक नही क्योंकि वे प्रदीप-घट के समान एक साथ प्रकाशित नही होते। उनमे तो पक्षधर्मत्व संबंध व्याप्ति की सिद्धि से वैसा ही अनुमान है जैसा वृक्षत्व-आम्रत्व मे और अनल-धूम में क्योकि अनुमान के ही लक्षण का यहाँ अन्वय होता है। इन्द्रचापादि की जो असत् अभिव्यक्ति है उसे व्यक्ति कैसे कहा जा सकता है। वह तो केवल कृति है। असत् का कार्यत्व हो सकता है पर हेतुत्व नही हो सकता—वैसे ही जैसे सामर्थ्य के विगम (अभाव, से गगनेन्दीवर (आकाश) कुसुम नही हो सकता। शब्द का प्रयोग प्राय: अन्य के लिए होता है। उस अन्य के बिना व्यवहार ही शक्य नही। इसलिए युक्ति की आशा न होने के कारण कोई व्यक्ति 'असत्' मे प्रवृत्त नही होगा अथवा यदि (भूल से) हो जायेगा तो (बाद में) निवृत्त हो जायेगा अत: साध्यसाधन-गर्भता परम इष्ट है। शब्द और अर्थ के आधार पर साध्य-साधन-गर्भता दो प्रकार की है। उनके पदार्थ और वाक्यार्थ के आधार पर पुन: दो-दो भेद हैं। साध्य के तीन भेद हैं—वस्तुमात्र, अलंकार और रसादि। इनमें पहले दो— वस्तुमात्र, अलंकार तो शब्दानुभाव के अन्तर्गत हैं पर अंतिम—रस—भक्ति (लक्षण) के कारण व्यंग्यत्व वाला बन जाता है। भक्ति का एक प्रयोजन है चमत्कारित्व। वह उस (रस) में होता है और उसके हेतु केवल विभावादि होते हैं। क्योकि लोक मे हेत्वादि होते हैं विभावादि नही। अत: लोक में वह चमत्कार नही होता जो काव्य में।

भिन्न-भिन्न लक्षण होने के कारण हेतु और विभाव को एक मानने की भूल न करनी चाहिए। और यह अर्थों का स्वभाव ही है कि वे सत्कवि गिरागोचर होकर जैसे स्वाद्य बन जाते हैं वैसे (लोक) साक्षात् रूप में नही।

१७. काव्य में गम्य-गमक भाव

ऐक्य के स्वरूप की व्युत्पत्ति चाहने वाले बुद्धिमान को उसका निम्नलिखित सामान्य लक्षण बताना चाहिए—जहाँ वाच्य और प्रतीयमान अर्थों का गम्य-गमक भाव से संस्पर्श हो वह काव्य होता है। इसी लक्षण से व्युत्पत्ति सिद्ध होती है।

अनुवादक
पं० काशीराम शर्मा एम. ए.

महिमभट्टः

[व्यक्ति-विवेकः]*

१. वाक्यस्वरूपम्

वाक्यमेकप्रकारं, क्रियाप्राधान्यात्, तस्याश्चैकत्वात् । यदाहुः—

"साकांक्षावयवं भेदे परानाकांक्षशब्दकम् ।
क्रियाप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते ॥" (पृष्ठ ३८)

२. अर्थद्वैविध्यम्

अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च । तत्र शब्दव्यापारविषयो वाच्यः । स एव मुख्य उच्यते । यदाहु :—

"श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते ।
तं मुख्यमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम् ॥" (पृष्ठ ३९)

३. अनुमेयार्थ-स्वरूपम्, तद्भेदाश्च

तत एव तदनुमिताद्वा लिंगभूताद्यदर्थान्तरमनुमीयते सोऽनुमेयः । स च त्रिविधः । वस्तुमात्रमलंकारा रसादयश्चेति । तत्राद्यो वाच्यावपि सम्भवतः । अन्यस्त्वनुमेय एवेति । तत्र पदस्यार्थो वाच्य एव नानुमेयः, तस्य निरंशत्वात् साध्यसाधनभावाभावतः ।
(पृष्ठ ४०)

४. वाक्यार्थस्य भेदाः

वाक्यार्थस्तु वाच्यस्यार्थस्यांशपरिकल्पनायामंशानां विध्यनुवादभावेनावस्थिते-विधेयांशस्य सिद्धासिद्धतयोपपादनानपेक्षसापेक्षत्वेन द्विविधा बोद्धव्यः । (पृष्ठ ४०)

यथा च वाक्यार्थविषये साध्यसाधनभावे साध्यसाधनप्रतीत्योः सुलक्षः क्रमभावः तथा वस्तुमात्रादावनुमेयविषयेऽप्यवगन्तव्यः । केवलं रसादिष्वनुमेयेष्वयमसंलक्ष्यक्रमो गम्यगमकभाव इति सहभावभ्रान्तिमात्रकृतस्तत्रान्येषां व्यंग्यव्यंजकभावाभ्युपगमः,

---

* चौखम्बा संस्कृत-सीरिज, बनारस, द्वारा सन् १९३६ में प्रकाशित संस्करण

तन्निबन्धनश्च ध्वनिव्यपदेशः। स तु तत्रौपचारिक एव प्रयुक्तो न मुख्यः तस्य वक्ष्यमाण-नयेन बाधितत्वात्। उपचारस्य च प्रयोजनं सचेतनचमत्कारकारित्वं नाम। तद्धि मुख्ये चित्रपुस्तकादौ व्यक्तिविषये परिवृष्टमेव।

वाच्यो ह्यर्थो न तथा चमत्कारमातनोति यथा स एव विधिनिषेधादिः काव्य-भिधेयतामनुमेयतां वावतीर्ण इति स्वभाव एवायमर्थानाम्। (पृष्ठ ५३-५४)

६. वस्त्वलङ्कारयोरौपचारिकव्यङ्ग्यत्वस्याप्यसम्भवः

आद्ययोस्तु क्रमस्य सुलक्षत्वाद् भ्रान्तिरपि नास्तीति निर्निबन्धन एव तत्र व्यंग्य-व्यपदेशग्रहः। अत एव श्रूयमाणानां शब्दानां ध्वनिव्यपदेश्यानामन्तःसन्निवेशिनश्च स्फोटाभिमतस्यार्थस्य व्यंग्यव्यंजकभावो न सम्भवतीति व्यंजकत्वसाम्याद्यः शब्दार्थात्मनि काव्ये ध्वनिव्यपदेशः सोप्यनुपपन्न, तत्रापि कार्यकारणमूलस्य गम्यगमकभावस्योपगमात्। (पृष्ठ ५७)

७. रत्यादिप्रतीतेर्विभावादिसमकालत्वशङ्का तत्परिहारौ

ननु विभावादिवाक्यार्थसमकालमेव रत्यादीनां भावानां प्रतीतिरुपजायमाना सर्वैरेवावधार्यते। न तु तत्रान्तरा सम्बन्धस्मरणादिविघ्नव्यवधानसंवित्तिः काचिद्।

रत्यादिप्रतीतिरेव रसादिप्रतीतिरिति मुख्यवृत्त्यैव व्यंग्यव्यंजकभावाभ्युपगमः। तत्र प्रदीपघटादिवदुपपन्नो गम्यगमकभावः। यत् स एवाह—व्यंजकत्वमार्गे तु यदार्थो-र्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवद्।

× × ×

वाच्यप्रतीयमानयोरर्थयोर्यथा क्रमेणैव प्रतीतिर्न समकालं यथा चानयोर्गम्य-गमकभावः यथा तेनैव व्यक्तिवादिना तयोः स्वरूपं निरूपयितुकामेनाप्युक्तं, तदेवा-स्माभिः समाधित्सुभिरिह लिख्यते परम्।

तद्यथा—"न हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः। अत एव विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारण-भावेनावस्थानात् क्रमोऽवश्यम्भावी। स तु लाघवान्न लक्ष्यत इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो-व्यंग्या रसादय इत्युक्तम्" इति।

पुनश्च "तस्मादभिधानाभिधेयप्रतीत्योरिव वाच्यव्यंग्यप्रतीत्योर्निमित्तनिमित्ति-भावाद् नियमभावी क्रम। स तूक्तयुक्तेः क्वचिल्लक्ष्यते क्वचित्तु न लक्ष्यत" इति।

(पृष्ठ ५८-६३)

८. ध्वनेः परार्थानुमानरूपता

तदेवं वाच्यप्रतीयमानयोर्वक्ष्यमाणक्रमेण लिंगलिंगिभावस्य समर्थनात् सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानान्तर्भावः समन्वितो भवति तस्य च तदपेक्षया महाविषयत्वात् । महाविषयत्वं चास्य ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये पर्यायोक्तादौ गुणीभूतव्यंग्यादौ च सर्वत्र सम्भवात् । तच्च वचनव्यापारपूर्वकत्वात् परार्थमित्यवगन्तव्यम् । त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थमनुमानमिति केवलमुक्तनयानभिज्ञतया तन्न लक्षयत्यविचक्षणो लोकः । (पृष्ठ ६३-६४)

९. वाक्यार्थस्य साध्यसाधनभावगर्भता

अथ यदि सर्व एव वाक्यार्थः साध्यसाधनभावगर्भ इत्युच्यते । तद्यथा साध्यसाधनयोस्तत्र नियमेनोपादानं तथा दृष्टान्तस्यापि स्यात् तस्यापि व्याप्तिसाधनप्रमाणविषयतयावश्यापेक्षणीयत्वात् । न । प्रसिद्धसामर्थ्यस्य साधनस्योपादानादेव तदपेक्षया प्रतिक्षेपात् । तदुक्तम्—

"तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः ।
ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव च केवलः ॥" (पृष्ठ ६४-६५)

१०. रत्यादीनामनुमेयानां सुखहेतुत्वाक्षेपः

ननु कुतोऽयं रत्यादीनां सुखाद्यवस्थाविशेषाणां काव्यादौ सचेतनचमत्कारी सुखास्वादसम्भवः, यो रसादीनामनुमेयानां व्यंग्यत्वोपचारस्य प्रयोजनांशतया कल्प्यते । न हि लोके लिंगतः शोकादिष्वनुमीयमानेष्वनुमातुः सुखास्वादलवोऽपि लक्ष्यते । प्रत्युत प्रत्युत साधूनामुदासीनानामपि वा भयशोकदौर्मनस्यादिदुःखसममुपजायमानमवधार्यते । न च लोकतः काव्यादौ कश्चिदतिशयः येनासौ तत्रैवोपगम्येत, न लोके । त एव हि लौकिका विभावादयो हेतुकार्यसहकारिरूपा गमकाः । त एव च रत्यादयोऽवस्थाविशेषरूपा भावा गम्याः । तत् कोऽतिशयः काव्यादौ, यत् तत्रैव रसास्वादो न लोक इति प्रयोजनांशासम्भवाद् रत्यादिषु व्यंग्यत्वोपचारोऽनुपपन्न एव ।

उच्यते । यत्र विभावादिमुखेन भावानामवगमस्तत्रैव सहृदयैकसंवेद्यो रसास्वादोदय इति वस्तुस्वभाव एवायं न पर्यनुयोगपदवीमवतरति प्रामाणिकानाम् । यदाह भरतः—"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" इति । यथोक्तम्—

"भावसंयोजनाव्यंग्यपरिसंवित्तिगोचरः ।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते ॥" (पृष्ठ ६५-६७)

११. विभावादिहेत्वादीनामभेदशङ्का

न च लोके विभावादयो भावा वा सम्भवन्ति हेत्वादीनामेव तत्र सम्भवात्। न च विभावादयो हेत्वादयश्चेत्येक एवार्थ इति मन्तव्यम्। अन्ये हेत्वादयोऽन्य एव विभावादयः। तेषां भिन्नलक्षणत्वात्। तथा हि ये लोके रत्यादयो रामादिगताः स्थेमभाजोऽवस्थाविशेषाः केचित् त एव काव्यादौ कविप्रभृतिभिर्वर्णनाद्यर्थमात्मन्यनुसंहिताः सन्तो भावयन्ति तांस्तान् रसानिति भावा इत्युच्यन्ते। यदाह भरतः—

"नानाभिनयसम्बन्धाद् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्, तस्मादमी भावा विज्ञेया नाटचयोक्तृभिः॥"

ये च तेषां हेतवः सीताद्याः केचित्, त एव काव्यादिसमर्पिताः सन्तो विभाव्यन्ते भावा एभिरिति विभावा इत्युच्यन्ते। यदाह भरत :—

"बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात्, तेनायं विभाव इति संज्ञितः॥"

ये च तेषां केचित् कार्यरूपा मुखप्रसादादयोऽर्थास्त एव काव्यादावुपदर्श्यमानाः सन्तोऽनुभावयन्ति तांस्तान् भावानित्यनुभावा इत्युच्यन्ते।

यदाह भरत :—

"वागङ्गसत्त्वाभिनयैर्यस्मादर्थोनुभाव्यते।
वागङ्गोपांगसंयुक्तः सोऽनुभाव इति स्मृतः॥"

ये च तेषामन्तरान्तरानवस्थायिनोऽवस्थाविशेषास्तदवान्तरहेतुजनिता उत्कलिकाकाराः केचिदुत्पद्यन्ते, त एव निजनिजविभावानुभाववर्गमुखेनोपदर्श्यमानाः सन्तो विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति तेषु तेषु भावेष्विति व्यभिचारिण इत्युच्यन्ते। यदाह भरत :—विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः' इति।

ये चैते स्थायिव्यभिचारिसात्त्विकभेदादेकोनपञ्चाशद्भावां उक्तास्ते सर्वे व्यभिचारिण एव। केवलमेषां प्रतिनियतरूपापेक्षो व्यपदेशभेदः। तथा हि स्थायित्वं स्थायिष्वेव प्रतिनियतं, न व्यभिचारिसात्त्विकेषु। व्यभिचारित्वं व्यभिचारिष्वेव, नेतरयोः। सात्त्विकत्वमपि सात्त्विकेष्वेव, नेतरयोरिति। तत्र स्थायिभावानामुभयी गतिः। न व्यभिचारिसात्त्विकानाम्। ते हि नित्यं व्यभिचारिण एव न जातुचित् स्थायिनः प्रकल्पन्ते।

यत्तु भावाध्याये स्थायिनां लक्षणमुक्तं तद्व्यभिचारिदशापन्नानामेव तेषामवगन्तव्यं नान्येषां, लक्षणवचनस्य वैयर्थ्यप्रसंगात् । स्याद्यनुकरणात्मानो हि रसा इष्यन्ते, ते च प्रधानमिति तल्लक्षणमुखेनैव तेषां स्वरूपावगमसिद्धेः, तेषां बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेनाऽवस्थानात्, स्थायिभावेषु च निर्वेदादिष्विव व्यभिचारिणामनुपादानात् । तदुपादाने हि तेषां स्थायित्वमेव स्यान्न व्यभिचारित्वं निर्वेदादिवत् । तस्माद्योग्यतामात्रप्रवर्तितोऽयं वर्गत्रयविभागोपदर्शनाय व्यभिचारिष्वपि स्थायिव्यपदेशस्तन्मात्रविप्रलम्भकृतोऽन्येषां स्थायिभावलक्षणभ्रम इत्यलमप्रस्तुतवस्तुविस्तरेण । (पृष्ठ ६७-७३)

१२. कृत्रिमैर्विभावादिभिरसत्यरत्यादिप्रतीतिपरामर्श एव रसास्वादः

तदेवं विभावादीनां हेत्वादीनां च कृत्रिमाकृत्रिमतया काव्यलोकविषयतया च स्वरूपभेदे विषयभेदे चावस्थिते सत्येकत्वासिद्धेर्यदा विभावादिभिर्भावेषु रत्यादिष्वसत्येष्वेव प्रतीतिरुपजन्यते तदा तेषां तन्मात्रसारत्वात् प्रतीयमाना इति गम्या इति च व्यपदेशा मुख्यवृत्त्योपपद्यन्त एव । तत्प्रतीतिपरामर्श एव च रसास्वादः स्वाभाविक इत्युक्तम् ।

आस्तां वा रत्यादिर्नित्यपरोक्षः । प्रत्यक्षोपि ह्यर्थः साक्षात् संवेद्यमानः सचेतसां न तथा चमत्कारमातनोति यथा स एव सत्कविना वचनगोचरतां गमितः । यदुक्तम्—

"कविशक्त्युत्थिता भावास्तन्मयीभावयुक्तिकृतः ।
तथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तथाध्यक्षतः किल ॥" इति ।

सोऽपि च तेषां न तथा स्वदते, यथा तैरेवानुमेयतां नीत इति स्वभाव एवायं न पर्यनुयोगमर्हति । तदुक्तम्—

"नानुमितो हेत्वार्थः स्वदतेऽनुमितो यथा विभावार्थः ।
न च सुखयति वाच्योऽर्थः प्रतीयमानः स एव यथा ॥"

इति । ध्वनिकृताप्युक्तम्—'सारूपो ह्यर्थः स्वशब्दाभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरां शोभामावहति' इति । प्रतीतिमात्रपरमार्थं च काव्यादि तावतैव विज्ञेयेषु विधिनिषेधव्युत्पत्तिसिद्धेः ।

तदुक्तम्—"भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा' इति ।

"मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषोऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥" इति च ।

तेनात्र गम्यगमकयोः सचेतसां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एव। काव्यविषये च वाच्यव्यंग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एवेति तत्र प्रमाणान्तरपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यत इति।

तत्र हेत्वादिभिरकृत्रिमैरकृत्रिमा एव प्रत्याय्यन्ते। तत्रैषामनुमेयत्वमेव न व्यंग्यत्वगन्धोऽपीति, कुतस्तत्र सुखास्वादलवोपि सम्भवति। एष एव लोकतः काव्यादावतिशय इत्युपपद्यत एव रत्यादौ गम्ये सुखास्वादप्रयोजनो व्यंग्यत्वोपचार इति।

मुख्यवृत्त्या द्विविध एवार्थो वाच्यो गम्यश्चेति। उपचारतस्तु व्यंग्यस्तृतीयोऽपि समस्तीति सिद्धम्।

वाचो गुणीकृतार्थत्वं न सम्भवति जातुचित्।
तदर्थं तदुपादानादुदकार्थं दृतेरिव॥ इति संग्रहश्लोकः।

नापि वाच्यप्रतीयमानयोर्मुख्यवृत्त्या व्यंग्यव्यंजकभावः सम्भवति व्यक्तिलक्षणाऽनुपपत्तेः। (पृष्ठ ७३-७६)

१३. व्यक्तिलक्षणम्, तत्त्रैविध्यञ्च

सतोऽसत एव वार्थस्य प्रकाशमानस्य सम्बन्धस्मरणानवेक्षिणा प्रकाशकेन सहैव प्रकाशविषयतापत्तिरभिव्यक्तिरिति तल्लक्षणमाचक्षते। तत्र सतोऽभिव्यक्तिस्त्रिविधा, तस्य त्रैविध्यात्।

तत्र कारणात्मनि कार्यस्य शक्त्यात्मनावस्थानात् तिरोभूतस्येन्द्रियगोचरत्वापत्तिलक्षण आविर्भाव एका, यथा क्षीराद्यवस्थायां दध्यादेः। तथावस्थानानुपगमे तु सैवोत्पत्तिरित्युच्यते कैश्चित्। तस्यैवाविर्भूतस्य कुतश्चित् प्रतिबन्धादप्रकाशमानस्य प्रकाशकेनोपसर्जनीकृतात्मना सहैव प्रकाशो द्वितीया, यथा प्रदीपादिना घटादेः। तदुक्तम्

"स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः।
यथा दीपोऽन्यथाभावे को विशेषोऽस्य कारकात्॥"

इति। ध्वनिकारेणाप्युक्तं—'स्वरूपं प्रकाशयन्नेव परार्थावभासनो व्यंजक इत्युच्यते यथा प्रदीपो घटादेः' इति।

तस्यैवानुभूतपूर्वस्य संस्कारात्मनान्तर्विपरिवर्तिनः कुतश्चिदव्यभिचारिणोऽर्थान्तरात् तत्प्रतिपादकाद्वा संस्कारप्रबोधमात्रं तृतीया, यथा धूमादग्नेः, यथा चालेख्य-

पुस्तकप्रतिबिम्बानुकरणादिभ्यः, शब्दाच्च गवादेः। असतस्त्वेकप्रकारैव, तस्य प्रकारान्तरासम्भवाद्, यथार्कालोकाविन्द्रचापादेः। इति। (पृष्ठ ७६-७८)

१४. वाच्ये व्यक्तिलक्षणस्यासम्भवः

न चैतल्लक्षणं वाच्ये संगच्छते। तथा हि—सतोऽभिव्यक्तिराद्ययोरर्थयोर्लक्षणं न तत्प्रतीयमानेष्वेकमपि संस्प्रष्टुं क्षमते तस्य वह्न्यादेरिवेन्द्रियविषयभावापत्तिप्रसंगाद् घटादेरिव वाच्यार्थसहभावेनेदन्ताप्रतीतेरसम्भवात्। न च स्वरूपासंस्पर्शि लक्षणं भवति।

तृतीयस्यास्तु यल्लक्षणं तदनुमानस्यैव संगच्छते, न व्यक्तेः। यदुक्तं 'त्रिरूपाल्लिंगाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमान' मिति। तच्चानुमानमेव। न ह्यर्थादर्थान्तरप्रतीतिरनुमानमन्तरेणार्थान्तरमुपपद्यते। उपमानादीनां च तत्रैवान्तर्भावात्।

यदाहुः—'न चान्यदर्शनेऽन्यकल्पना युक्तातिप्रसंगात्। तस्य नान्तरीयकतायां स्यात्। न हि यथाविधसिद्धः तथाविधस्निधानं सूचयति। सामान्येन च सम्बधिनार्थप्रतिपत्तिरनुमानमिति द्वे एव प्रमाणे' इति।

न च वाच्यादर्थादर्थान्तरप्रतीतिरविनाभावसम्बन्धस्मरणमन्तरेणैव सम्भवति, सर्वस्यापि तत्प्रतीतिप्रसंगात्। नापि सहभावेन, धूमाग्निप्रतीत्योरिव तत्प्रतीत्योरपि क्रमभावस्यैव संवेदनाद् इत्यसम्भवो लक्षणदोषः।

अथ रसाद्यपेक्षया तयोः सहभावेन प्रकाशोऽभिमत इत्युच्यते, अव्याप्तिस्तर्हि लक्षणदोषः। वस्तुमात्रालंकारप्रकाशस्य प्रकाशकासहभावेनाव्याप्तेः।

न च रसादिष्वपि विभावादिप्रकाशनसहभावेन प्रकाशनमुपपद्यते। यतस्तैरेव कारणादिभिः कृत्रिमैर्विभावाद्यभिधानैरसन्त एव रत्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः स्थायिभावव्यपदेशभाजः कविभिः प्रतिपत्तृप्रतीतिपथमुपनीयमाना हृदयसंवादादास्वाद्यत्वमुपयन्तः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते। न च कारणादिभिः कार्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः सहैव प्रकाशितुमुत्सहन्ते कार्यकारणभावावसायस्यैवावसादप्रसंगाद्। यत्र तु तल्लक्षणं मुख्यतया सम्भवति तत् काव्यमेव न भवतीति कुत एव तद्विशेषध्वनिरूपता स्यात्।

द्विविधो हि प्रकाशकोऽर्थ उपाधिरूपः स्वतन्त्ररूपश्चेति। तत्र ज्ञानशब्दप्रदीपादिरुपाधिरूपः। तदुक्तं—'त्रयः प्रकाशाः स्वपरप्रकाशा' इति। अन्यः स्वतन्त्रो धूमादिः। तत्राद्यस्तावद् भवद्भिर्नाभ्युपगन्तव्य एव प्रत्यक्षाभिधेययोरेवार्थयोः काव्यतापत्ति-

प्रसंगात्। अन्यस्य तु लिंगत्वमेवोपपद्यते न व्यंजकत्वं व्यक्तरेनुपपत्तेः। न च त्रिविधस्यापि व्यंग्याभिमतस्यार्थस्य प्रकाशकसहभावेन प्रकाशस्तस्यापि ध्वनिकारस्याभिमतः।

यदयमाह—'न हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः। तत एव च तत्प्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेनावस्थानात् क्रमोऽवश्यम्भावी। स तु लाघवान्न प्रकाशत इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो व्यंग्या रसादय' इति। (पृष्ठ ७८-८०)

कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी काव्यमुच्यते। तच्चभिनेयानभिनेयार्थत्वेन द्विविधम्। सामान्येनोभयमपि च तच्छास्त्रवद्विधिनिषेधविषयव्युत्पत्तिफलम्। केवलं व्युत्पाद्यजनजाडयजाडयतारतम्यापेक्षया काव्यनाट्यशास्त्ररूपोऽयमुपायमात्रभेदो न फलभेदः। (पृष्ठ ९५-९६)

१५. काव्यस्य स्वरूपम्

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता ॥२५॥ इति।

एतच्चानुमानस्यैव लक्षणं नान्यस्य। यदुक्तं "त्रिरूपाल्लिंगाख्यानं परार्थानुमानमि" ति। केवलं संज्ञाभेदः।

काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः। (पृष्ठ १०५)

१६. अभिधा-स्थापना

शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिंगता।
न व्यंजकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम् ॥२७॥

उक्तं वृथैव शब्दस्योपादानं लक्षणे ध्वनेः।
न हि तच्छक्तिमूलेष्टा काचिदर्थान्तरे गतिः ॥२८॥

न चोपसर्जनत्वेन तयोर्युक्तं विशेषणम्।
यतः काव्ये गुणीभूतव्यंग्येऽपीष्टैव चारुता ॥२९॥

अत एव विशेषस्योपादानमपि नार्थवत्।
संज्ञासम्बन्धमात्रैकफलं तदिति गम्यते ॥३०॥

तदा चातिप्रसंगः स्यात्संज्ञायां यस्य कस्यचित् ।
यद्वाक्यवर्त्तिनोऽन्यस्य विशेषस्य तदाप्तितः ॥३१॥

तस्मात् स्फुटतया यत्र प्राधान्येनान्यथापि वा ।
वाच्यशक्त्यानुमेयोऽर्थो भाति तत् काव्यमुच्यते ॥३२॥

वाच्यप्रत्येययोर्नास्ति व्यंग्यव्यंजकतार्थयोः ।
तयोः प्रदीपघटवत् साहित्येनाप्रकाशनात् ॥३३॥

पक्षधर्मत्वसम्बन्धव्याप्तिसिद्धिव्यपेक्षणात् ।
वृक्षत्वाभ्रत्वयोर्यद्वद् यद्वच्चानलधूमयोः ॥३४॥

अनुमानत्वमेवात्र युक्तं तल्लक्षणान्वयात् ।
असतश्चेन्द्रचापादेः का व्यक्तिः कृतिरेव सा ॥३५॥

कार्यत्वं ह्यसतोऽपीष्टं हेतुत्वं तु विरुध्यते ।
सर्वसामर्थ्यविगमाद् गगनेन्दीवरादिवत् ॥३६॥

शब्दप्रयोगः प्रायेण परार्थमुपयुज्यते ।
नहि तेन विना शक्यो व्यवहारयितुं परः ॥३७॥

न च युक्तिनिराशंसात् ततः कश्चित् प्रवर्त्तते ।
निवर्त्तते वेत्यस्येष्टा साध्यसाधनगर्भता ॥३८॥

ते प्रत्येकं द्विधा ज्ञेये शाब्दत्वार्थत्वभेदतः ।
पदार्थवाक्यार्थतया ते अपि द्विविधे मते ॥३९॥

तत्र साध्यो वस्तुमात्रमलंकारा रसादयः ।
इति त्रिधैव, तत्राद्यौ पदं शब्दानुमानयोः ॥४०॥

अन्त्योऽनुमेयो भक्त्या तु तस्य व्यंग्यत्वमुच्यते ।
भक्तेः प्रयोजनांशो यश्चमत्कारित्वलक्षणः ॥४१॥

स तत्रास्तीति, सोऽप्यस्य विभावाद्येकहेतुकः ।
अत एव न लोकेऽपि चमत्कारः प्रसज्यते ॥४२॥

तत्र हेत्वादयः सन्ति न विभावादयो यतः ।
न चैकार्थत्वमाशंक्यमेषां लक्षणभेदतः ॥४३॥

स्वभावश्चायमर्थानां यन्न साक्षादमी तथा।
स्वदन्ते सत्कविगिरां गता गोचरतां यथा ॥४४॥

(पृष्ठ १०५-१०८)

१७. काव्ये गम्यगमकभावः

किंच काव्यस्य स्वरूपं व्युत्पादयितुकामेन मतिमता तल्लक्षणमेव सामान्येनाख्यातव्यम्, यत्र वाच्यप्रतीयमानयोर्गम्यगमकभाव संस्पर्शस्तत् काव्यमिति, तावतैव व्युत्पत्तिसिद्धेः। (पृष्ठ १३६)

भोज

समय—ग्यारहवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध

ग्रन्थ—[सरस्वतीकण्ठाभरण]

१. वाङ्मय के भेद :

जिससे विधि (करणीय) और निषेध (अकरणीय) का ज्ञान तथा लोक-यात्रा का प्रवर्त्तन होता है वह (वाङ्मय) 'अध्येय' कहा गया है। उसके छह प्रकार हैं—काव्य, शास्त्र, इतिहास, काव्य-शास्त्र, काव्येतिहास और शास्त्रेतिहास।

।२।१३८-३९।

× × ×

श्रव्य काव्य:—

वह काव्य जो दृश्य नही होता, जो (अभिनेताओ द्वारा) बोला नही जाता, केवल कानो को ही सुख देता है, 'श्रव्य' है। वह छ. प्रकार का है—आशी:, नान्दी, नमस्कार, वस्तु-निर्देश, आक्षिप्त और ध्रुवा।.....

२।१४०-१४१

प्रबन्ध काव्य :—

कवि अनौचित्य का त्याग करके 'वाक्यो' की भाँति 'प्रबन्धो' मे भी रस, अलंकार और उनके मिश्रण की निबंधना करते हैं। ५।१२६

चारों वृत्तियों के अंगों से युक्त, चतुर उदात्त नायक वाले, चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के फलदायक प्रबन्ध को कौन अपना बन्धु नही बनाता ? ५।१२७

विद्वानो ने प्रबन्ध मे पाँच सधियाँ बतलाई हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण।

जगत् उस काव्य का अभिनन्दन करता है जो विस्तृत नही है; जो संक्षिप्त नही है; जो श्रव्य वृत्त वाला, और गुण-युक्त है तथा जिसके सर्ग के अन्त में वृत्त बदल जाता है। ५।१२९

स्थानो का चित्रांकन—पुर, उपवन, राष्ट्र आदि, समुद्र और आश्रम का वर्णन प्रबंध के रस का उत्कर्ष करता है। ५।१३०

काव्य मे ऋतु, रात, दिन, सूर्य और चन्द्रमा के उदय और अस्त के वर्णनों द्वारा काल का चित्रण रस-पोषक होता है। ५।१३१

राजकुमारी, राजकुमार, स्त्री, सेना के अंगों के वक्रतापूर्ण संचालन (से युक्त) पात्रों का वर्णन काव्य मे रस का प्रवाह ला देता है। ५।१३२

उद्यान-क्रीड़ा, जल-क्रीड़ा, मधु,पान, रतोत्सव, विप्रलम्भ, विवाह और (शृंगारिक) चेष्टाएँ काव्य को विशेष सरस बनाती हैं। ५।१३३

मन्त्र, दूत-गमन, युद्ध, नायक के अभ्युदय आदि से पुरुषार्थ की पुष्टि काव्य में रस बरसाती है। ५।१३४

यदि (कवि) पर्वत, ऋतु, रात्रि आदि के वर्णन से ही संतुष्ट हो जाता है तो नगरी आदि का वर्णन न करना दोष नही है—ऐसा विद्वानों का मत है। ५।१३५

आरम्भ में गुण से नायक की प्रतिष्ठा करके फिर उसके द्वारा विरोधियों का निराकरण (होना चाहिए। यही) प्रकृति-सुन्दर मार्ग है। ५।१३६

शत्रु के भी वंश, पराक्रम, विद्या आदि का वर्णन करके उसकी विजय से नायक के उत्कर्ष का कथन आनन्द-दायक होता है। ५।१३७

× × ×

दृश्य काव्य :—

दृश्य काव्य वह है जो अभिनेताओं द्वारा कथित, वाचिक आदि (अभिनयों) द्वारा निःसृत और आंगिक अभिनय से सम्पन्न होता है।·····उसके छह भेद हैं—लास्य, ताण्डव, छलिक, सम्पा, हल्लीसक और रासक। २।१४२-१४३

× × ×

२. वाङ्मय के अन्य तीन प्रकार :—

वाङ्मय के तीन प्रकार हैं—वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति। इनमें से रसोक्ति सर्वाधिक हृदयग्राहिणी है। ।५।८

रसोक्ति :—

रस-योजना की चौबीस विभूतियाँ कही गई हैं—भाव, जन्म, अनुबन्ध, निष्पत्ति, पुष्टि, संकर, ह्रास, आभास, शम, शेष, विशेष, परिशेष, विप्रलम्भ. संभोग, उनकी चेष्टाएँ, उसकी (प्रेमकी) परीष्टियाँ, (विप्रलंभ आदि की) निरुक्ति, प्रकीर्ण, प्रेम, प्रेम-पुष्टियाँ नायिका-नायक-गुण, पाकादि, प्रेम-भक्ति और नानालंकार-संसृष्टि के प्रकार। ये रसोक्तियाँ हैं। इनके स्वरूप-ज्ञान से कवि काव्य-रचना मे समर्थ होता है। ५।९-१२

अपने-अपने आलम्बन विभावों से व्यक्त होता हुआ रस रति आदि (पूर्वावस्थित) रूप मे भाव कहाता है। ५।१३

× × ×

स्थायी (भाव) वे हैं जो चिरकाल तक चित्त मे ठहरते हैं; (अनुभावादि) अनुबन्धियों से सम्बद्ध होने पर प्रबुद्ध होकर रसदशा को प्राप्त होते हैं। ५।१९

× × ×

रजस् और तमस् से मुक्त मन सत्त्व कहाता है। सत्त्व के योग से उत्पन्न (भाव) सात्त्विक कहाते हैं। ये रस-रूप आनन्द के साधक हैं। ५।२०

व्यभिचारी भाव वे कहाते हैं जो विशेष रूप से हृदयस्थ स्थायी भावों को सारे शरीर में चलायमान कर देते हैं और अनुभाव आदि के हेतु होते हैं। ये व्यभिचारी भाव उत्पन्न होकर पुनः उत्पन्न नही होते। स्मृति आदि (संचारी भाव) प्रेम आदि (स्थायी भावों) मे रहते भी हैं और नहीं भी रहते। ५।२१-२२

× × ×

प्रेम की बारह महा-ऋद्धियाँ :

प्रेम की महा-ऋद्धियाँ बारह हैं—नित्य, नैमित्तिक, सामान्य, विशेष, प्रच्छन्न, प्रकाश, कृत्रिम, अकृत्रिम, सहज, आहार्य, यौवनज और विस्रम्भज। ५।९७-९८

प्रेम-पुष्टियाँ क्रम से ये हैं—चक्षुःप्रीति, मनःसंग, बारंबार संकल्प, प्रलाप, जागरण, कृशता, अन्य विषयों में अरति, लज्जा, विसर्जन, व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा और मरण। ५।९९-१००

व्याज के तीन भेद—

व्याज (कलापूर्ण अभिव्यक्ति) के तीन प्रकार हैं—अन्तर्व्याज, बहिर्व्याज,

निर्व्याज। प्रेम-संबंधी उदर्क (परिपाक) तीन प्रकार का है—धर्मोदर्क, अर्थोदर्क और कामोदर्क। ५।१२५

× × ×

रस के बारह भेद :—

[रस (बारह) हैं—शृंगार, वीर, करुण, रौद्र, अद्भुत, भयानक, बीभत्स, हास्य, प्रेयान्, शान्त, दान्त [उदात्त], और उद्धत।] ५।१६४

शृंगार-रस

अभिमान और अहंकार (को व्यक्त करने) वाला अर्थ शृंगार रस कहलाता है। इस रस के योग से काव्य कमनीय बन जाता है। ५।१

प्राणियों की अन्तरात्मा में इस रस की उत्पत्ति विशेष अदृष्ट-रूप से होती है। यह रस आत्मा के सम्यक् गुणों की उद्भूति का कारण है। ५।२

यदि कोई कवि शृंगारी है तो उसके काव्य में जगत रसमय बन जाता है और यदि वह अशृंगारी है तो (उसके लिए) सभी कुछ नीरस है। ५।३

रति :—

मन के अनुकूल विषयों मे सुख की अनुभूति का नाम रति है। विषयो मे असंप्रयुक्त होने पर वही रति प्रीति कहाती है। ५।१३८

रति रूप से रस के [स्थायि-] भाव का उदाहरण—

चन्द्रोदय के आरम्भ में समुद्र के समान महादेव ने, किञ्चित् अधीर होकर बिम्बाफल के समान [अरुण] अधर वाले पार्वती-मुख पर दृष्टि डाल दी।१।

इस पद्य में शिव की विशिष्ट अभिलाषा बिम्बोष्ठ आदि के द्वारा मनोनुकूल उमा मुख पर नेत्र-व्यापार के कारण अनुमित है। वह (अभिलाषा) सात्त्विक आदि भावों के वर्णन न होने पर भी सुखानुभूति की उत्पत्ति का अनुमान करा देती है।

रति रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

उस [शिव जी] को देखकर काँपती हुई कृशाङ्गी पार्वती आगे रखने के लिए उठाए गए पद को धारण करती हुई उस सरिता की भाँति न आगे बढ़ सकीं और

न स्थिर रह सकी, जो मार्ग मे पर्वत की बाधा के कारण आकुलित [अवरुद्ध] हो जाती है ।७।

इस पद्य में पूर्व-जन्म के अनुभव के संस्कार के कारण शिव के प्रतिकूल होने पर भी उन मे पार्वती की सर्वदा निरन्तर रति, चिरकाल से वियुक्त; कठिन तपस्या के द्वारा प्रार्थनीय मिलन वाले शिव के आकस्मिक दर्शन से उद्दीप्त होती हुई, तत्काल उत्पन्न स्वेद, स्तम्भ, वेपथु सात्त्विक-भावो से उपलक्षित; हर्ष, स्मृति, आवेग, साध्वस आदि व्यभिचारी-भावों से तथा पद-निक्षेप-रूपी शरीरानुभाव से अभिव्यक्त हो रही इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी-भावों के संयोग से रति स्थायी-भाव निष्पन्न हो रहा है ।

रति निसर्ग, ससर्ग, औपम्य, अध्यात्म, अभियोग, संप्रयोग, अभिमान और विषय से उत्पन्न होती है । ५।१६५

प्रीति भी ऐसी ही होती है, किन्तु संप्रयोग के बदले यह अभ्यास से उत्पन्न होती है । इन के उदाहरण ये हैं : ५।१६६

× × ×

[प्रेयान् रस का उदाहरण—]

जो मुझे अच्छा लगता है, प्रिया वही करती है—बस इतना ही वह जानती है, परन्तु जो कुछ भी प्रिय वह [मेरे लिए] करती है, इसे वह नही जानती ।

५।१६६।७४

इस पद्य मे वत्सल प्रकृति वाले धीरललित नायक का प्रिया-रूप आलम्बन विभाव से उत्पन्न स्नेह नायक स्थायी भाव विषय की सुकुमारता-रूपी प्रकृति आदि उद्दीपन विभावों द्वारा उद्दीप्त, उत्पन्न मोह, धृति, स्मृति आदि व्यभिचारी-भावों; तथा अनुभावों से संसृष्ट होकर प्रेयान् रस के रूप मे निष्पन्न हो रहा है ।

× × ×

[उदात्त रस का उदाहरण—]

जब साधारण भी पुरुष आतंक-रहित होकर कन्या की याचना करता है, तो फिर ब्रह्मा के प्रपौत्र तथा लोकों के विजेता [रावण] का क्या कहना ! ५।१६६।७७

इस पद्य में उदात्त-प्रकृति राम की स्वभाव से ही तत्त्वान्वेषिणी मति न तो आकृति के अयोग्य (अनुचित) विषय में प्रवृत्त होती है, और न (उचित विषय) में

प्रवृत्त होकर शान्त होती है। 'सीता मेरे द्वारा स्वीकार करने योग्य है'—इस रूप से प्रवृत्त (राम की मति) रावण की प्रार्थना और लक्ष्मण के प्रोत्साहन से उद्दीप्त होकर; समुत्पन्न चिन्ता, वितर्क, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति आदि और समयानुसार आगे चल कर अनुमीयमान विवेक, चातुर्य, औदार्य, धैर्य आदि के द्वारा संसृष्ट होकर उदात्त नामक रस के रूप मे निष्पन्न हो रही है।

[उद्धत रस का उदाहरण—]

'मैं अपकार करने वाला हूँ' ऐसा समझ कर हृदय में [मेरी ओर से] भय करो। विमुख हो जाने वालों पर मेरा खड्ग प्रहार की कामना कभी नहीं करता। ५।१६६।७८

इस पद्य मे 'मेरे द्वारा इस का अपकार हुआ है', यह जो भय है, वह न रहे। 'पराङ्मुख लोगो मे मेरा खड्ग कभी भी प्रहार के लिए नही उठता, यह अहंकार सदा से ही रूढ (स्थायी) प्रतीत होता है। इस प्रकार यह उद्धत नामक रस गर्व-प्रकृति वाला है।

३. रीति

वैदर्भ (विदर्भ देश मे उत्पन्न) आदि (कवियों) की रचना-पद्धति काव्य में 'मार्ग' कही गई है। 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति 'रीङ्' धातु से है जिसका अर्थ है 'जाना'। २।२७

वह रीति छह प्रकार की होती है—वैदर्भी, पांचाली, गौडीया, आवन्तिका, लाटीया और मागधी। २।२८

'वैदर्भी' रीति वह है जो समास-रहित, श्लेष आदि सकल गुणों से युक्त तथा वीणा के स्वर-सौन्दर्य से शोभित हो। २।२९

पाँच-छह पदो के समास वाली, ओज और कान्ति गुणों से रहित, मधुर और सुकुमार रीति को विद्वानों ने 'पांचाली' कहा है। २।३०

अति उद्भट पदो के समास वाली, ओज और कान्ति गुणो से युक्त रीति को रीति-मर्मज्ञ 'गौडीया' बतलाते हैं। २।३१

दो, तीन या चार पदों के समास वाली, पांचाली और वैदर्भी की मध्यवर्त्तिनी रीति 'आवन्तिका' है। २।३२

समस्त रीतियों से मिश्रित रचना 'लाटीया' कहलाती है। पूर्वोक्त रीतियो का निर्वाह न होने पर खण्ड-रीति (का नाम) 'मागधी' है। २।३३

४. अरीतिमत् दोष

जहाँ श्लेष आदि गुणो का विपर्यय होता है उसे 'अरीतिमत्' (दोष) कहते हैं। उसके तीन भेद कहे गए हैं—शब्द-प्रधान, अर्थ-प्रधान और उभय-प्रधान। और ये तीनों श्लेष आदि के सम्बन्ध से तीन-तीन प्रकार के है। १।२८-३०

'शब्द-प्रधान' (अरीतिमत्) उसे कहा गया है जहाँ श्लेष, समता और सौकुमार्य का विपर्यय हो। श्लेष के विपर्यय से सन्दर्भ 'शिथिल' (नामक दोष से युक्त) होता है, समता के विपर्यय से 'विषम' और सौकुमार्य के विपर्यय से 'कठोर'। २।३०-३२

वाक्य मे (लक्षित) वह गुण-विपर्यय 'अर्थ-प्रधान' (नामक अरीतिमत् दोष) कहा गया है जिसमे कान्ति, प्रसाद अथवा अर्थ-व्यक्ति का विपर्यय हो। प्रसाद के विपर्यय से वाक्य 'अप्रसन्न' होता है; अर्थ-व्यक्ति के विपर्यय से 'नेयार्थ' और कान्ति के विपर्यय से 'ग्राम्य'। २।३२-३५

जहाँ ओज, माधुर्य और औदार्य गुणों का प्रकर्ष नही होता वहाँ, उनके विपर्यय के कारण, 'उभय-प्रधान' (नामक अरीतिमत् दोष) होता है। वाक्य मे ओज के रीति-विरोधी विपर्यय को विद्वानों ने 'असमस्त' (दोष) कहा है। रीति के नाश के कारण, माधुर्य-विपर्यय को काव्य-सर्वज्ञो ने 'अनिर्व्यूढ' कहा। जिसमे रीति का निर्वाह न होने के कारण, औदार्य का विपर्यय होता है उस वाक्य को अलकार-शास्त्रियों ने 'अनलंकार' (दोषयुक्त) बतलाया। २।३५-४१

अनुवाद : डॉ० उदयभानुसिंह, एम.ए.पी.-एच.डी.
प्रो० सत्यदेव चौधरी, एम.ए.

भोजदेवः

[सरस्वतीकण्ठाभरणम्]*

१. वाङ्मयस्य भेदाः

यद्विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणम् ।
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते ॥२।१३८॥

काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च ।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम् ॥२।१३९॥

श्रव्यकाव्यम्—

श्रव्यं तत्काव्यमाहुर्यन्नेक्ष्यते नाभिधीयते ।
श्रोत्रयोरेव सुखदं भवेत्तदपि षड्विधम् ॥२।१४०॥

आशीर्नान्दी नमस्कारो वस्तुनिर्देश इत्यपि ।
आक्षिप्तिका ध्रुवा चेति शेषो ध्येयं भविष्यति ॥२।१४१॥

प्रबन्धकाव्यम्—

वाक्यवच्च प्रबन्धेषु रसालङ्कारसंकरान् ।
निवेशयन्त्यनौचित्यपरीहारेण सूरयः ॥५।१२६॥

चतुर्वृत्त्यंगसंपन्नं चतुरोदात्तनायकम् ।
चतुवर्गफलं को न प्रबन्धं बान्धवीयति ॥५।१२७॥

मुखं प्रतिमुखं गर्भोऽवमर्शश्च मनीषिभिः ।
स्मृतानिर्वहणं चेति प्रबन्धे पंच संधयः ॥५।१२८॥

अविस्तृतमसंक्षिप्तं श्रव्यवृत्तं सुगन्धि च ।
भिन्नसर्गान्तवृत्तं च काव्यं लोकोऽभिनन्दति ॥५।१२९॥

पुरोपवनराष्ट्रादिसमुद्राश्रमवर्णनैः ।
देशसंपत्प्रबन्धस्य रसोत्कर्षाय कल्पते ॥५।१३०॥

---

* निर्णय सागर प्रेस, बम्बई द्वारा, सन् १९३४ मे प्रकाशित सस्करण ।

ऋतुरात्रिदिवार्केन्दूदयास्तमयकीर्तनैः ।
कालः काव्येषु संपन्नो रसपुष्टिं नियच्छति ॥५।१३१॥

राजकन्याकुमारस्त्रीसेनासेनांगभंगिभिः ।
पात्राणां वर्णनं काव्ये रसस्रोतोऽधितिष्ठति ॥५।१३२॥

उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवाः ।
विप्रलम्भा विवाहाश्च चेष्टाः काव्ये रसावहाः ॥५।१३३॥

मन्त्रद्यूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयादिभिः ।
पुष्टिः पुरुषकारस्य रसं काव्येषु वर्षति ॥५।१३४॥

नावर्णनं नगर्यादेर्दोषाय विदुषां मतम् ।
यदि शैलूषराज्यादेर्वर्णनेनैव तुष्यति ॥५।१३५॥

गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन वित्तिषाम् ।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः ॥५।१३६॥

वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि ।
तज्जयाप्तायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः ॥५।१३७॥

दृश्यकाव्यम्—

यदाङ्गिकैकनिर्वर्त्यमुज्झितं वाचिकादिभिः ।
नर्तकैरभिधीयेत प्रेक्षणाक्ष्वेडिकादि तत् ॥२।१४२॥

तल्लास्यं ताण्डवं चैव छलिकं संपया सह ।
हल्लीसकं च रासं च षट्प्रकारं प्रचक्षते ॥२।१४३॥

२. वाङ्मयस्यऽन्ये त्रयो भेदा :

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते ॥५।८॥

रसोक्तिः—

भावो जन्मानुबन्धोऽथ निष्पत्तिः पुष्टिसंकरौ ।
ह्रासाभासौ शमः शेषो विशेषः परिशेषवान् ॥५।९॥

विप्रलम्भोऽथ संभोगस्तच्चेष्टास्तत्परीष्टयः ।
निरुक्तयः प्रकीर्णानि प्रेमाणः प्रेमपुष्टयः ॥५।१०॥

नायिकानायकगुणाः पाकाद्याः प्रेमभक्तयः ।
नानालङ्कारसंसृष्टेः प्रकाराश्च रसोक्तयः ॥५।११॥

चतुर्विंशतिरित्युक्ता रसान्वयविभूतयः ।
स्वरूपमासां यो वेद स काव्यं कर्तुमर्हति ॥५।१२॥

आलम्बनविभावेभ्यः स्वेभ्यः स्वेभ्यः समुन्मिषन् ।
रसो रत्यादिरूपेण भाव इत्यभिधीयते ॥५।१३॥

× × ×

चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते संबध्यन्तेऽनुबन्धिभिः ।
रसत्वं प्रतिपद्यन्ते प्रबुद्धाः स्थायिनोऽत्र ते ॥५।१६॥

रजस्तमोभ्भामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते ।
निर्वृत्तयेऽस्य तद्योगात्प्रभवन्तीति सात्त्विकाः ॥५।२०॥

विशेषणाभितः काये स्थायिनं चारयन्ति ये ।
अनुभावाविहेतूंस्तान्वदन्ति व्यभिचारिणः ॥५।२१॥

जनित्वा ये न जायन्ते तेऽथवा व्यभिचारिणः ।
स्मृत्यादयो हि प्रेमादौ भवन्ति न भवन्ति च ॥५।२२॥

प्रेमाणो द्वादश महर्द्धयः—

नित्यो नैमित्तिकश्चान्यः सामान्योऽन्यो विशेषवान् ।
प्रच्छन्नोऽन्यः प्रकाशोऽन्यः कृत्रिमाकृत्रिमावुभौ ॥५।६७॥

सहजाहार्यनामानौ परौ यौवनजोऽपरः ।
वित्रम्भजश्च प्रेमाणो द्वावशैते महर्द्धयः ॥५।६८॥

चक्षुःप्रीतिर्मनःसंगः संकल्पोत्पत्तिसंततिः ।
प्रलापो जागरः कार्श्यमरतिर्विषयान्तरे ॥५।६६॥

लज्जाविसर्जनं व्याधिरुन्मादो मूर्च्छनं मृतुः ।
मरणं चेति विज्ञेयाः क्रमेण प्रेमपुष्टयः ॥५।१००॥

व्याजस्य त्रयो भेदाः—

अन्तर्व्याजबहिर्व्याजनिर्व्याजा व्याजभक्तयः ।
धर्मार्थकामोदर्काश्च प्रेमसूदर्कभक्तयः ॥५।१२५॥

रसस्य द्वावश भेदाः—

शृंगारवीरकरुणरौद्राद्भुतभयानकाः ।
बीभत्सहास्यप्रेयांसः शान्तवात्सल्यौद्धताः रसाः ॥५।१६४॥

शृंगार रस—

रसोऽभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते ।
योऽर्थस्तस्यान्वयात्काव्यं कमनीयत्वमश्नुते ॥५।१॥

विशिष्टादृष्टजन्मायं जन्मिनामन्तरात्मसु ।
आत्मसम्यग्गुणोद्भूतेरेको हेतुः प्रकाशते ॥५।२॥

शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स एव चेदशृंगारो नीरसं सर्वमेव तत् ॥५।३॥

३. रतिः—

मनोनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनं रतिः ।
असंप्रयोगविषया सैव प्रीतिर्निगद्यते ॥५।१३८॥

तद्रूपेण रसस्य भावो यथा—

हरस्तु किंचित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥१॥

अत्र बिम्बोष्ठत्वादिभिर्मनोनुकूले पार्वतीमुखे विलोचनव्यापारानुमितो महेश्वरस्याभिलाषविशेषः सात्त्विकादेरनुत्पादात्सुखानुभवस्योत्पत्तिमात्रमनुमापयति ।

× × ×

रतिरूपेणैव रसनिष्पत्तिर्यथा—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि—
र्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥७॥

अत्र जन्मान्तरानुभवसंस्कारात्प्रतिकूलेऽपि शूलिनि शैलात्मजायाः सर्वकालमेवाविच्छिन्ना रतिश्चिरवियुक्तस्य दुश्चरेणापि तपसा प्रार्थनीयसंगमस्य तस्याकस्मिकवशंने-

नोद्दीप्यमाना सद्यःसमुपजायमानसात्त्विकस्त्रेवस्तम्भवेपथूपलक्षितैर्हर्षस्मृत्यावेगसाध्वसादि-भिर्व्यभिचारिभावैः पदनिक्षेपलक्षणेन च शरीरानुभावेन संसृज्यते । सोऽयं विभावानु-भावव्यभिचारिसंयोगे रतिरूपेण रसो निष्पद्यते ।

× × ×

रतिर्निसर्गसंसर्गौपम्याध्यात्माभियोगजा ।
संप्रयोगाभिमानोत्था विषयोत्था च कथ्यते ॥५।१६५॥

प्रीतिरप्येवमेव स्यान्न त्वस्यां सांप्रयोगिकी ।
आभ्यासिकी तु तत्स्थाने तदुदाहृतयो यथा ॥५।१६६॥

× × ×

प्रेयोरसस्योदाहरणम्—

'यदेव रोचते मह्यं तदेव कुरुते प्रिया ।
इति वेत्ति न जानाति तत्प्रियं यत्करोति सा ॥५।१६६।७४॥

अत्र वत्सलप्रकृतेर्धीरतया ललितनायकस्य प्रियालम्बनविभावादुत्पन्नः स्नेह स्थायिभावो विषयसौकुमार्यात्मप्रकृत्यादिभिरुद्दीपनविभावैरुद्दीप्यमानः समुपजायमानै-र्मोहधृतिस्मृत्यादिभिर्व्यभिचारिभावैरनुभावैश्च संसृज्यमानो निष्पन्न प्रेयानिति प्रतीयते ।

उदात्तरसस्योदाहरणम्—

साधारण्यान्निरातंकः कन्यामन्योऽपि याचते ।
किं पुनर्जगतां जेता प्रपौत्रः परमेष्ठिनः ॥ ५।१६६।७७॥

अत्र रामस्योदात्तप्रकृतेर्निसर्गत एव तत्त्वाभिनिवेशिनी मतिर्नाकृत्यविषये प्रवर्तते, न च प्रवृत्तोपारमति, सा च सीतेयं मम स्त्रीकारयोग्येत्येवंरूपेण प्रवृत्ता रावणप्रार्थना-लक्ष्मणप्रोत्साहनाभ्यामुद्दीप्यमाना समुपजायमानचिन्तावितर्कव्रीडावहित्थस्मृत्यविभिः कालोचितोत्तरानुमीयमानैश्च विवेकचातुर्यौदार्यधैर्यादिभिः संसृज्यमानोदात्तरसरूपेण निष्पद्यते ॥

उद्धतरसस्योदाहरणम्—

अपकर्तास्मीति मा ते मनसि भूद्भूयम् ।
विमुखेषु न मे खड्गः प्रहर्तुं जातु वाञ्छति ॥ ५।१६६।७८

अत्र मयास्यापकारः कृत इति यच्चेतसि भयं तन्माभूत् पराङ्मुखेषु मे खड्गः कदाचिदपि न प्रहर्तुमुत्सहते इति सर्वदैव रूढोऽहंकारः प्रतीयते । सोऽयं गर्वप्रकृतिरुद्धतो नाम रसः । × × ×

३. रीतिः

वैदर्भीविकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः ।
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ॥२।२७॥

वैदर्भी साथ पांचाली गौडीयावन्तिका तथा ।
लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिर्निगद्यते ॥२।२८॥

तत्रासमासा निःशेषश्लेषादिगुणगुम्फिता ।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥२।२९॥

समस्तपञ्चषपदामोज कान्तिविवर्जिताम् ।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः ॥२।३०॥

समस्तात्युद्भटपदामोजःकान्तिगुणान्विताम् ।
गौडीयेति विजानन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः ॥२।३१॥

अन्तराले तु पाञ्चालीवैदर्भ्योर्यावतिष्ठते ।
सावन्तिका समस्तैः स्याद् द्वित्रैस्त्रिचतुरैः पदैः ॥२।३२॥

समस्तरीतिर्ध्यामिश्रा लाटीया रीतिरुच्यते ।
पूर्वरीतेरनिर्वाहे खण्डरीतिस्तु मागधी ॥२।३३॥

४ अरीतिमद्दोषा :—

गुणानां दृश्यते यत्र श्लेषादीनां विपर्ययः ॥१।२८॥

अरीतिमदिति प्राहुस्तत् त्रिधैव प्रचक्षते ।
शब्दार्थोभययोगस्य प्राधान्यात्प्रथमं त्रिधा ॥१-२९॥

भूत्वा श्लेषादियोगेन पुनस्त्रेधोपजायते ।
अत्र यः श्लेषसमता सौकुमार्यविपर्ययः ॥१।३०॥

शब्दप्रधानमाहुस्तमरीतिमतिदूषणम् ।

तत्र—

विपर्ययेण श्लेषस्य संदर्भः शिथिलो भवेत् ॥१।३१॥

भवेत्स एव विषमः समयाता विपर्ययात् ।
सौकुमार्यविपर्यासात्कठोर उपजायते ॥१।३२॥

या तु कान्तिप्रसादार्थव्यक्तीनामन्यथा गतिः ।
अर्थप्रधानः प्रोक्तः स वाक्ये गुणविपर्ययः ॥१।३३॥

अप्रसन्नं भवेद्वाक्यं प्रसादस्य विपर्ययात् ।
वाक्यं भवति नेयार्थमर्थव्यक्तेर्विपर्ययात् ॥१।३४॥

कान्तेर्विपर्ययाद्वाक्यं ग्राम्यमित्यपदिश्यते ।
ओजोमाधुर्यमौदार्यं न प्रकर्षाय जायते ॥१।३५॥

यस्मिंस्तमाहुरुभयप्रधानं तद्विपर्ययात् ।
वाक्ये यः खण्डयन्रीतिं भवत्योजोविपर्ययः ।

असमस्तमिति प्राहुर्वोषं तमिह तद्विदः । १।३६॥
माधुर्यव्यत्ययो यस्तु जायते रीतिखण्डनात् ।

तदनिष्ठ्यूंढमित्युक्तं काव्यसर्वस्ववेदिभिः ॥१।३८॥

यस्तु रीतेरनिर्वाहादौदार्यस्य विपर्ययः ।
वाक्यं तदनलंकारमलंकारविदो विदुः ॥१।४१॥

क्षेमेन्द्र

समय—ग्यारहवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध

[ग्रन्थ—औचित्य-विचार-चर्चा]

१. औचित्य-निरूपण

काव्य के लिए अलङ्कार अथवा व्यर्थ गणना किए हुए गुणों से क्या लाभ; जब तक काव्य का जीवन औचित्य सम्यक् परिशीलन से भी नही प्राप्त होता है ॥४॥

अलङ्कार काव्य के भूषण होने से केवल अलङ्कारों के समान ही है एवं गुण भी गुण ही है। शृंगारादि द्वारा सिद्ध काव्य का स्थिर तो जीवन-औचित्य ही है। ॥५॥

परस्पर-उपकारक सुन्दर शब्दार्थ-रूप काव्य के जो उपमा, उत्प्रेक्षादिक प्रचुर अलङ्कार दर्शाए गए हैं, वे बाहर की शोभा के कारण होने से कटक, कुण्डल, केयूर और हारादि के समान अलङ्कार ही होते हैं। कुछ काव्य-लक्षण-निपुण विद्वानों ने जो काव्य के गुण कहे हैं वे भी प्रसिद्ध सत्य, शील आदि के समान, आहरण-शील होने से गुण ही हैं। आगे वर्णन किया जाने वाला औचित्य ही काव्य का दृढ़, अविनाशी जीवन है। उस औचित्य के न रहने पर गुण एव अलङ्कार से युक्त काव्य भी निर्जीव के समान होता है। शृंगारादि रसों से प्रसिद्ध काव्य का धातुवाद रस की सिद्धि के तुल्य औचित्य ही स्थिर जीवन है।

अलङ्कार उचित स्थान पर धारण करने पर ही अलङ्कार होते हैं। औचित्य से युक्त गुण ही सर्वदा गुण कहलाते हैं ॥६॥

औचित्य का स्वरूप—

जो पदार्थ जिसके सदृश (अनुरूप) होता है उसे प्रचीन आचार्यों ने उचित कहा है। उचित के भाव को औचित्य कहते ॥६॥

सम्प्रति सम्पूर्ण काव्य-रूपी शरीर के प्राणभूत औचित्य की प्रधान-रूप से उपलब्ध स्थिति को दर्शाते हैं—

पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलङ्कार, रस, क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सार-संग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, आशीर्वाद इन स्थानों मे मर्म-स्थानों के समान काव्य-रूपी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त प्राणभूत औचित्य स्पष्ट प्रतीत होता है ॥८-९-१०॥

२. पद-औचित्य—

एक ही उचित पद को तिलक के समान धारण करती हुई सूक्ति, कस्तूरी-धारण की हुई चन्द्रानना तथा चन्दन-चर्चित श्यामा (षोडश-वार्षिकी नायिका) के समान सुशोभित होती है ॥११॥

एक ही उचित पद को तिलक के समान धारण करने वाली सूक्ति अन्य भागों की अतिशय शोभा को प्रदर्शित करती हुई सौन्दर्य-बोध कराती है।

जैसा कि परिमल कवि (पद्मगुप्त) ने साहसाङ्क-चरित मे अवन्तिराज का वर्णन किया है—

हे देव ! नाथ ! पहले भाटों के वर्णन से अनेक बार यह सुनकर कि संग्राम मे तुम्हारी प्रचण्ड धारा मे शत्रु-कुल डूब गए हैं, गुर्जराधिप की मुग्धा रानी जल की आशा से अरण्य मे चकित हुई बार-बार पति की तलवार पर दृष्टि डालती है।

यहाँ पर अर्थौचित्य से चमत्कार-जनक मुग्धा पद से सूक्ति, चन्द्र-मुख वाली शरद्-ऋतु के समान, कृष्ण-वर्ण तिलक मे सुशोभित षोडश-वार्षिकी नायिका के समान, शुभ्रालङ्कार से अलङ्कृत सम्पूर्ण कवि-कुल मे श्रेष्ठ शोभा का प्रसार करती है।

धर्मकीर्त्ति के निम्नाङ्कित पद मे औचित्य नही है—

लावण्य-रूपी धन का व्यय नही गिना, महान् क्लेश स्वीकार किया; स्वतन्त्र सुख-पूर्वक निवास करने वाले पुरुष के लिए चिन्ता-रूप ज्वर का निर्माण कर दिया। यह बेचारी [नायिका] सदृश पति के अभाव से स्वयं ही विनष्ट हो रही है। इस तन्वी के शरीर की रचना करते हुए विधाता ने अपने मन मे न मालूम क्या विचारा था !

इस श्लोक मे 'तन्वी' पद केवल शब्दानुप्रास की छटा दिखलाने के लिए रखा गया है। किसी अर्थौचित्य की चमत्कार-कणिका को प्रकट नही करता है। यहाँ पर 'सुन्दर' पद देना उचित होता। अथवा अन्य अत्यधिक रूप, लावण्य के

प्रकट करने वाले पद उचित होते । विरह से व्याकुल वनिता के लिए तन्वी पद प्रयुक्त होकर अर्थौचित्य की शोभा का उत्पादक होता है ।

३. वाक्य-औचित्य

औचित्य से निर्मित वाक्य, त्याग से उन्नत ऐश्वर्य के समान, शील से उज्ज्वल प्रसिद्धि के समान, विद्वानो मे निरन्तर प्रशंसनीय होता है ।।१२।।

जैसे कि राजशेखर के निम्नाकित पद मे वर्णित है—

हे सुन्दरी ! पुरुराज का सम्बन्धी, कामदेव के व्यापार का दीक्षा-गुरु, शुभ्र-रमणियो के मुख के सादृश्य से परिचित, तारा-वधुओ का पति, शीघ्र ही स्वच्छ किए गए दाक्षिणात्य सुन्दरियो की श्वेत दन्त-पक्ति की कान्तिवाले, महादेव की मुकुटमणि, चन्द्रमा को देखो ।

इसमे चन्द्रमा के, शृंङ्गार के सहायक, काम के उद्दीपक पदो से निष्पन्न वाक्यार्थ, सदर्थौचित्य के सामर्थ्य से अत्यधिक अर्थ की शोभा का जनक हो गया है ।

इसी के दूसरे पद मे वाक्य-औचित्य नही है—

शौर्य-रूप महान् नील-कमल के दण्ड के समान, सग्राम-सागर के महान् पुल के तुल्य, निरन्तर खड्ग-रूपी भुजङ्ग को धारण किए हुए चन्दन वृक्ष के सदृश, लक्ष्मी के क्रीडाभूत तकिए के समान, जय-कुञ्जर की बन्धन-शृङ्खला के तुल्य, सुन्दरियों के कामदेव के दर्प के सदृश, श्री दुर्योधन की भुजाओं के पराक्रम करने पर सम्पूर्ण संसार आनन्दित हो ।

यहाँ पर अत्यधिक कठोर, उत्कृष्ट, योद्धा के बाहुओं का असमुचित नील-कमल-दण्ड-तुला से सन्तुलित वाक्यार्थ हास्य से युक्त प्रतीत होता है ।

४. प्रबन्ध-औचित्य

प्रबन्धगत अर्थ उचित अर्थ वैशिष्ट्य से, गुण के प्रभाव से भव्य ऐश्वर्य से सज्जन के तुल्य, प्रकाशित होता है ।।१३।।

जिस प्रकार कालिदास ने कहा है—

संसार-प्रसिद्ध पुष्करावर्त्तकों के वंश मे तुम्हारा जन्म हुआ है । इच्छानुसार रूप को धारण करने वाले इन्द्र के प्रकृति-पुरुष तुल्य मै तुमको समझता हूँ । इसी

कारण मैं, जिसका प्रिय भाग्यवश दूर देश मे हैं, तुम्हारे प्रति याचक हुआ हूँ क्योकि श्रेष्ठ पुरुष के प्रति की हुई निष्फल याचना भी नीच मनुष्य मे प्राप्ति की सफल कामना वाली याचना से श्रेष्ठ है।

इसमे अचेतन मे चेतन का अध्यारोप करते हुए मेघ मे दूत-कर्म की योग्यता प्रदर्शित करने के लिए प्रसिद्ध पुष्करावर्त्तक मेघ-वश मे उत्पत्ति, मन्त्री-स्वरूप प्रकृति-पुरुषत्व जो दर्शाया है उससे समस्त प्रबन्ध के कथन के द्वारा उत्प्रेक्षा किए हुए सुन्दर इतिहास का अत्यधिक औचित्य प्रकट कर दिया है।

परन्तु कालिदास का निम्नपद प्रबन्धौचित्य-शून्य है—

महादेव ने, जिनके नेत्र उरुमूल पर शोभित नखराजि के द्वारा उस समय आकृष्ट हो गए थे, शिथिल वस्त्र को बाँधती हुई प्रियतमा को रोका।

इस पद्य मे अम्बिका के सम्भोग का वर्णन करते हुए, नीच जाति की स्त्री के योग्य निर्लज्जता से युक्त नख-पंक्ति से सुशोभित उस मूल से अपहृत नेत्र का होना, त्रिजगद्गुरु भगवान् शङ्कर के लिये जो कहा है वह प्रबन्धार्थ अनौचित्य की पराकाष्ठा को प्रदर्शित करता है।

५. गुणौचित्य—

प्रस्तुत अर्थ के औचित्य से ओज, प्रसाद, माधुर्य एवं सौकुमार्यादि लक्षण-सम्पन्न गुण काव्य में कमनीय सौभाग्यवत्ता को प्राप्त हुआ, सम्भोग के समय उदय हुए चन्द्र के समान, सहृदयो के आनन्द का जनक होता है ॥१४॥

जैसा कि बाणभट्ट ने वर्णन किया है—

हार, जल से गीले वस्त्र, कमल के पत्ते, तुषारकण बरसाता हुआ चन्द्रमा एवं सरस चन्दन जिसके ईंधन हैं ऐसी कामाग्नि कैसे बुझेगी ?

इसमें वियोग-व्यथा से छोड़े हुए धैर्य वाली कादम्बरी का विरह-व्यथा-वर्णन माधुर्य-सौकुमार्य आदि गुणो के योग से पूर्ण चन्द्र-मुखी के समान मिष्ट-भाषी होने, हृदय को आनन्द देने वाले प्रियतमता को फैलाता है।

जैसा चन्द्रक ने वर्णन किया है वह अनुचित है—

चञ्चल भाग्य वाले यद्धों के विषय में मेरी प्रतिज्ञा नही है क्योंकि जय और

पराजय भाग्याधीन है। युद्ध में आए हुए मेरी यही सदा प्रतिज्ञा है कि शत्रुगण (हमारे) अश्वों के पृष्ठ भाग को न देखें।

इस पद्य में क्षत्रियोचित व्यापार सदृश, ओज नामक काव्य-गुण से शून्य योद्धा की उक्ति उचितार्थ-सम्पन्न होते हुए भी, तेज-रूपी जीवन से पृथक्, मलिन घर की दीपशिखा के समान मन्द होती हुई सुशोभित नही होती है।

६. अलङ्कार-औचित्य

अर्थोचित अलङ्कार से सूक्ति पीन पयोधर पर लहराते हुए हार से मृगाक्षी के समान सुशोभित होती है ॥१५॥

प्रस्तुत अर्थ के योग्य उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलङ्कारों के द्वारा सूक्ति, ऊँचे स्तनों को स्पर्श करने वाले सुन्दर मुक्ताहार धारण किए रमणी के समान आभा फैलाती है ॥१५॥

जैसा कि श्रीहर्ष ने वर्णन किया है—

जिसने युद्ध-वार्त्ता से विश्राम प्राप्त कर लिया है, जो प्रेमी है, जो लोगों के चित्त में निवास करता है, जिसे वसन्तक प्रिय है, वह वत्सराज उदयन साक्षात् कामदेव की भाँति अपने महोत्सव के देखने के लिए उत्कण्ठा-पूर्वक आ रहा है।

यहाँ पर वत्सेश्वर की कामदेव से उपमा, शृंङ्गार-कालीन रस-पूर्ण सौन्दर्य के औचित्य से, अनिर्वचनीय-चित्त की चमत्कार-कारिता को प्रकट करती है।

चन्द्रक के निम्न वर्णन मे वह अलङ्कार औचित्य नही है—

पक्षियों से डाली हुई आँतों से वृक्षों पर झूला-सा बना हुआ है। भोजन से तृप्त शृगाली, सम्भोग से परिशान्त रमणी के समान, सो रही है। प्यासा गीदड़, रुधिर से सनी हुई तलवार को बार-बार चाट रहा है। बिल को खोजता हुआ सर्प मरे हुए हाथी की सूंड मे प्रविष्ट हो रहा है।

इसमें अयोग्य स्थल पर विद्यमान, मनुष्यों के मांस से तृप्त होकर सोई हुई गीदड़ी की, काम-क्रीड़ा से शान्त सुन्दरी से उपमा, कान्तिहीन हुई अत्यधिक विपरीतता को प्रकट करती है।

७. रसौचित्य

औचित्य से प्रदीप्त रस सम्पूर्ण सहृदयो के हृदय मे व्याप्त होकर, जिस प्रकार वसन्त अशोक को अंकुरित करता है, उसी प्रकार मन को प्रफुल्लित करता है ।।१६।।

औचित्य से जगमगाता हुआ, शृङ्गार आदि भेद-युक्त रस सम्पूर्ण पुरुषो के हृदय मे व्याप्त होकर, अशोक वृक्ष को विकसित करने वाले वसन्त के समान, मन को आनन्दित करता है ।

जैसा कि कालिदास ने कहा है—

बालचन्द्र के तुल्य कुटिल, अतिरक्त वर्णवाली ढाक की कलियाँ, शीघ्र वसन्त के समागम से वनस्थली के नखक्षतो के समान सुशोभित हुईं ।

इस पद्य मे, महादेव और पार्वती की शृङ्गार की अभिलाषा का आगे वर्णन करना है, अतः इससे पूर्व उद्दीपन विभाव के रूप मे वसन्त का वर्णन करते हुए, उसमे कामुक का अध्यारोप करके, वनस्थली-रूप वनिताओं के, कुटिल रक्तवर्ण भी ढाक की कलियों के वर्णन के द्वारा, नवीन समागम के उचित नखक्षतों की उत्प्रेक्षा की है जो अतीव औचित्य के सौन्दर्य को प्रदर्शित करती है ।

परन्तु कालिदास के निम्न पद मे यह औचित्य नही है—

उत्कृष्ट सौन्दर्य के होते हुए भी, गन्धहीन होने के कारण कनेर को चित्त नही चाहता है । प्रायः समग्र गुणों के आधान मे ब्रह्मा की प्रवृत्ति प्रतिकूल दिखाई देती है ।

इसमे केवल कनेर के फूल का वर्णन करते हुए, विधाता की निन्दा का प्रदर्शन कर, शृङ्गार के अनुपयोगी प्रस्तुत कथन द्वारा उस उद्दीपन विभावोचित कुछ भी वर्णन नही किया ।

८. तत्त्व-औचित्य

तत्त्व के उचित कथन से काव्य निश्चित विश्वास की दृढ़ता से, हृदय-सम्मत होकर उपादेयता को प्राप्त करता है ।।३०।।

तत्त्वोचित्त व्याख्यान से कवि का कथन, सत्य-ज्ञान की स्थिरता से, हृदय-सम्मत होकर उपादेय होता है ।।३०।।

जैसा कि मेरी बनाई 'बौद्धावदानलतिका' में वर्णन किया है—

शरीर-धारियो के, सर्वथा साथ जाने मे समर्थ प्राचीन (पूर्वजन्म के) कर्मों का विनाश; द्युलोक, भूलोक, नागलोक, बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था, मृत्यु-काल एवं गर्भावस्था इन सभी समयो मे नही होता है।

इस पद्य मे प्राचीन कर्मो का तीनो लोकों मे, शैशव, यौवन तथा वृद्धावस्था में, शरीर-धारियों के साथ जाने की सामर्थ्य के कारण विनाश नही होता है; इस कथन में निश्चित सम्पूर्ण मनुष्यो के हृदय-सम्मत तत्त्व का प्रतिपादन, औचित्य को प्रकट करता है।

जैसा माघ ने कहा है वह औचित्य-सूचक नहीं है—

भूखा मनुष्य व्याकरण को नही खाता है; प्यासा आदमी काव्य-रस का पान नही करता है; विद्या से किसी वंश का उद्धार नही होता है। अतः सब कलाओं के निष्फल होने से धन-संचय करना ही श्रेयस्कर है।

इस श्लोक में धन की इच्छा मे तत्पर पुरुष को धनार्जन ही करना चाहिए क्योकि भूखे आदमी का उदर व्याकरण-शास्त्र से नही भरता है और न प्यासा मनुष्य काव्य-रस के पान से तृप्त होता है, तथा विद्या से किसी ने कुल का उद्धार नही किया; इस कथन में यह सब बाते दरिद्रता एव दीनता के कारण धैर्य-हीन व्याकुलता से तत्त्वार्थ से पृथक् विपरीत प्रतिपादन करना अनौचित्य का सुस्पष्ट सूचक है क्योंकि सब सम्पदाओं की जननी विद्या ही कुलोद्धार करने में समर्थ, है अन्य कोई नहीं।

६ सत्त्व-औचित्य

कवि का सत्त्व-गुणोचित कथन, सुबुद्धि से विचार किए हुए श्रेष्ठ उदार-चरित्र के समान, चमत्कार-जनक होता है ॥३१॥

जैसा कि मेरे बनाए 'चित्रभारत' नाटक में वर्णन किया गया—[युधिष्ठिर के सत्त्वोत्कर्ष का वर्णन समुद्र के द्वारा कर रहे हैं]—

नदियों के समूह से प्रचण्ड वेग से बहने वाले जल से शरीर-वृद्धि होने पर, तथा प्रदीप्त एवं प्रवृद्ध बड़वानल की ज्वाला-समूह से जल का विनाश होने पर, महा-गम्भीर समुद्र न तो गर्व का और न दीनता का ही अनुभव करता है। महान् पुरुषों में अवस्थाओं की विभिन्नता से विकार उत्पन्न नही होता है।

इस पद्य में समुद्र-वर्णन के व्याज से युधिष्ठिर के सत्त्वोत्कर्ष का प्रतिपादन किया गया है। नदियों के प्रवाह से शरीर-वृद्धि होने पर एवं बड़वानल से शोषण किए जाने पर दोनों ही अवस्थाओं में महागम्भीर समुद्र न तो गौरव और न संकोच का ही अनुभव करता है। क्योंकि महापुरुषो मे अवस्थाओ के भेद से कोई विकार नही होता है इस कथन मे गम्भीर एवं धीर सत्त्व वृत्ति औचित्य की पुष्टि करती है।

भट्टेन्दुराज के निम्न पद में सत्त्वौचित्य नही है—

बडवाग्नि और समुद्र दोनों ही आश्चर्य-जनक हैं जिनके महान् कर्मों को सोचकर चित्त में कम्पन होने लगता है। विपुल सत्त्व के न होने से एक बड़वानल की निरन्तर जल पीने पर भी तृप्ति न हुई और दूसरे महात्मा समुद्र के शरीर में थोडा भी खेद उत्पन्न नहीं हुआ।

इस श्लोक मे बड़वाग्नि और समुद्र के सत्त्व और महत्त्व के कथन मे, वड़वाग्नि के विपुलाशय न होने से जल पीते हुए तृप्ति न हुई। दूसरे उपजीव्यमान समुद्र को ज़रा भी खेद नही हुआ। इन दोनों आश्चर्यो के वर्णन मे निरन्तर सन्तोष-हीनता से बडवाग्नि से किसको लज्जा नही होती। समुद्र के आश्रित की याचना-पूर्त्ति के असामर्थ्य से असत्त्व मे सत्त्व-स्तुति होने से अनौचित्य प्रतिपादन होता है।

१०. स्वभाव-औचित्य

स्वभाव-सम्बन्धी औचित्य, सुन्दरियों के स्वाभाविक और अद्वितीय सौन्दर्य के समान कवि की सूक्तियों का श्रेष्ठ अलङ्कार माना जाता है ॥३३॥

स्वभावोचितत्व कवि की वाणी का उसी प्रकार शोभाधायक होता है जिस प्रकार ललनाओं का स्वाभाविक और विशेष सौन्दर्य।

जैसा कि मेरी बनाई हुई 'मुनिमतमीमांसा' में वर्णित है—

कर्णमूल से लेकर केशान्त पर्यन्त गिरते हुए जलकणों के संसर्ग से चक्राकार स्तनों पर हार की शोभा को धारण करने वाली, शीत से रोमाञ्चित होकर सीत्कार करती हुई अजन के धुलने से लाल नेत्र प्रान्त वाली, खुले केशों से जल बरसाती हुई रमणी स्नान की समाप्ति पर किसके मन को अभिलाषा से द्रवीभूत नही कर देती है।

इस पद्य में प्रगाढ़ वैराग्य से निर्लिप्त व्यास-पुत्र शुकदेव के, आकाश-गङ्गा के किनारे स्नान से निकली हुई नग्न देवाङ्गनाओं के, निस्सङ्कोच दर्शन करने से, शान्त

निर्मल मन के कारण, कामदेव के शासन की निर्विकारता प्रकट होने पर; कर्णमूल से लेकर केश पर्यन्त गिरते हुए जलकणों के समूह से स्तनों पर क्षण भर हार की शोभा को धारण करने वाली, शीत के कारण रोमाञ्चित होने से सीत्कार करती हुई, अञ्जन के घुलने से रक्त नेत्र प्रान्त वाली, छिटके बाल-जालों से धारा बहाती हुई, स्नान के अनन्तर सुन्दरी किसके मन को साभिलाष नही करती है?—इस कथन में स्वयमेव आर्द्र स्वभाव वाली दूसरे को भी आर्द्र करती है यह उचित ही है।

उसी ग्रन्थ मे वर्णित मेरे निम्न श्लोक मे वह स्वभाव-औचित्य नहीं है—

पिशुन स्वभाव वालों की वाणी सम्पूर्ण-रूप से दोषावह होती है। उसी को दर्शाते हैं। उनकी भक्ति कातरता को, क्षमा भयशीलता को, पूजनीयों की स्तुति दीनता को, धैर्य कठोरता को, बुद्धि कुटिलता को, विद्या-बल क्षुब्धता को, ध्यान वञ्चकता को, तपस्या प्रच्छन्नता को, शील-स्वभाव नपुंसकता को प्राप्त होते हैं।

इस पद्य मे पिशुनो के स्वभाव का वर्णन करते हुए, भक्ति आदि गुणों की विपरीतता प्रकट करने से पिशुनो की वाणी किस वस्तु को दोषयुक्त नही बना देती है, इस कथन में स्वयं शुष्क-स्वभाव वाली दूसरे को आर्द्र करती है यह अनुचित है।

११. प्रतिभा-औचित्य

प्रतिभा से अलङ्कृत कवि का काव्य, लक्ष्मी से सुशोभित गुणी पुरुष के निर्मल कुल के समान, शोभा पाता है ॥३५॥

प्रतिभा से सुभूषित कवि का काव्य गुणवान् पुरुष के लक्ष्मी से सुशोभित निर्मल कुल के समान प्रकाशित होता है—

हे निर्दयी ! क्या तू बिम्ब के भ्रम से मेरे अधरोष्ठ को काट रहा है ? ऐ चञ्चल ! अब तू पके जामुन के फलों की आशा छोड दे। इस प्रकार, द्वार पर अपने प्रिय को जान कर, दूसरे प्रेमी से ओठ काटी गई हुई, तोतो को लक्ष्य कर उच्च स्वर से कोई कामिनी कह रही है।

इस पद्य में कोई नायिका द्वार पर आए प्रिय को जान कर, दूसरे प्रेमी के दाँतों से काटे गए ओठ वाली, सम्प्रति उसके आगमन से अनजान होती हुई, तोते को लक्ष्य कर कहती है कि ऐ निर्दयी ! तू क्या बिम्ब-फल के लालच से मेरे ओठ को काट रहा है ? ऐ चंचल ! पके हुए जामुन के फलों से अब तू निराश हो जा। क्रुद्ध हुई मे

तुझे नही दूँगी। उसके द्वारा उच्च-स्वर से विश्वास दिलाने के लिए छिपाने रूप नवीन बुद्धि-चातुर्य से युक्त सुन्दर वचन औचित्य के चमत्कार को प्रदर्शित करते हैं।

भट्टतौत ने कहा भी है—'नवीन नवीन बुद्धि चातुर्य को प्रदर्शित करने वाली प्रतिभा कहाती है।' उसी ग्रन्थ में वर्णित मेरे इस श्लोक मे वह प्रतिभा-औचित्य नहीं है—

प्रिय के बाहर चले जाने पर, शय्या एवं सुगन्धित मालाओं से रहित घर कर देने पर, प्रातःकाल वेश्या की वंचना से क्रुद्ध प्रगाढ प्रेम के पूर्ण पूर्व प्रेमी के प्राप्त होने पर, तुम्हारे दर्शन की अभिलाषा से द्वार पर टकटकी लगाकर देखती हुई अकेली सो गई, यह कहने पर नीवी के खोलने मे तत्पर प्रेमी को चरण।घातों से शोकरहित कर दिया।

इस पद में वेश्या ने आसक्त प्रेमी के साथ बात बना कर, नवीन प्रेमी के साथ रात बिता कर प्रात काल उसके चले जाने पर, शय्या, पुष्प आदि सम्भोग के चिह्नों को दूर कर, वेश्या की वञ्चना से क्रुद्ध, प्रगाढ़ प्रेम-रूपी ग्रह से ग्रस्त पूर्व प्रेमी के आने पर; तुम्हारे दर्शन की इच्छा से व्याकुल, दरवाजे पर टकटकी लगा कर अकेली सो गई इन वचनो से विश्वस्त होकर क्रोध को छोड कर, शीघ्रता से प्रेमपूर्ण होकर नीवी के खोलने मे तत्पर आकृति वाले प्रेमी को ईर्ष्या-पूर्वक क्रोध से चरण-कमल के प्रहारों द्वारा शोक-रहित कर दिया। शङ्का-रूपी काँटे को निकाल कर शोक-रहित बना दिया। अथवा निरन्तर रोमाञ्चित करने से अशोक वृक्ष की समता को प्राप्त कर दिया, यह वाक्यार्थ है। केवल सचाई के छिपाने की धृष्टता ही वेश्या के गाढ़ानुराग के कारण को प्रतिपादित करती है। प्रतिभा से उत्पन्न औचित्य की कणिका को भी प्रकट नही करती है।

अनुवादक—श्री आर्येन्द्र शर्मा, एम्.ए. साहित्याचार्य

क्षेमेन्द्रः

[औचित्य-विचार-चर्चा]*

१. औचित्य-निरूपणम्

काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न बुध्यते ॥४॥

अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥५॥

परस्परोपकारकरुचिरशब्दार्थरूपस्य काव्यस्योपमोत्प्रेक्षादयो ये प्रचुरालङ्कारास्ते कटककुण्डलकेयूरहारादिवदलंकारा एव, बाह्यशोभाहेतुत्वात्। येऽपि काव्यगुणाः केचन तल्लक्षणविचक्षणैः समाम्नातास्तेऽपि श्रुतसत्यशीलादिवद्गुणा एव आहार्यत्वात्। औचित्यं त्वग्रे वक्ष्यमाणलक्षणं स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य, तेन विनास्य गुणालंकारयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात्। रसेन शृङ्गारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य धातुवादरससिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः।

उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ॥६॥

किं तदौचित्यमित्याह—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥७॥

अधुना सकलकाव्यशरीरजीवितभूतस्यौचित्यस्य प्राधान्येनोपलभ्यां स्थितिं दर्शयितुमाह—

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे।
क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे ॥८॥

---

* चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज बनारस, द्वारा सन् १९३३ में प्रकाशित संस्करण

उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते ।
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे ॥९॥

प्रतिभायामवस्थायां विचारे नान्यथाशिषि ।
काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ॥१०॥

२. पदौचित्यम्

तिलकं बिभ्रती सूक्तिर्भात्येकमुचितं पदम् ।
चन्द्राननेव कस्तूरीकृतं श्यामेव चान्दनम् ॥११॥

एकमेवोचितं पदं तिलकायमानं बिभ्राणा सूक्तिः समुचितपरभागशोभातिशयेन रुचिरतामावहति ।

यथा परिमलस्य—

"मग्नानि द्विषतां कुलानि समरे त्वत्खड्गधाराकुले
नाथास्मिन्निति बन्दिवाचि बहुशो देव ! श्रुतायां पुरा ।
मुग्धा गुर्जरभूमिपालमहिषी प्रत्याशया पाथसः
कान्तारे चकिता विमुञ्चति मुहुः पत्युः कृपाणे दृशौ ॥"

अत्र मुग्धापदेनार्थौचित्यचमत्कारकारिणा सूक्तिः शरदिन्दुवदनेव श्यामतिलकेन श्यामेव शुभ्रविशेषकेण विभूषिता सकलकविकुललालभूतां विच्छित्तिमातनोति । न तु यथा धर्मकीर्तेः—

'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान्स्वीकृतः
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्ताज्वरो निर्मितः ।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता ॥'

अत्र 'तन्व्याः' इति पदं केवलशब्दानुप्रासव्यसनितया निबद्धं न काञ्चिदर्थौचित्यचमत्कारकणिकामाविष्करोति । 'सुन्दर्याः' इत्यत्र पदमनुरूपं स्यात् । अन्यानि वा निरतिशयरूपलावण्यव्यंजकानि । तन्वीपदं तु विरहविधुररमणीजने प्रयुक्तमर्थौचित्यशोभां जनयति ।

३. वाक्यौचित्यम्

औचित्यरचितं वाक्यं सततं संमतं सताम् ।
त्यागोद्यममिवैश्वर्यं शीलोज्ज्वलमिव श्रुतम् ॥१२॥

यथा राजशेखरस्य—

'सम्बन्धी पुरुभूभुजां मनसिजव्यापारदीक्षागुरु-
गौराङ्गीवदनोपमापरिचितस्तारावधूवल्लभः ।
सद्योमार्जितदाक्षिणात्यतरुणीदन्तावदातद्युति-
श्चन्द्रः सुन्दरि ! दृश्यतामयमितश्चण्डीशचूडामणिः ॥'

अत्रापि चन्द्रमसः शृंगारान्तरंगैरनंगोद्दीपनैः पदैर्निर्वर्तितो वाक्यार्थः सदर्थौचित्य-सामर्थ्येनात्यर्थमर्थनीयतां प्राप्तः ।

न तु यथास्यैव—

'नाले शौर्यमहोत्पलस्य विपुले सेतौ समिद्वारिधेः
शश्वत्खड्गभुजंगचन्दनतरौ क्रीडोपधाने श्रियः ।
आलाने जयकुञ्जरस्य सुदृशां कन्दर्पदर्पे परं
श्रीदुर्योधनदोष्णि विक्रमपरे लीनं जगन्नन्दतु ॥'

अत्रातिशयपरकर्कशसोत्कर्षसुभटभुजस्तम्भस्यासमुचितेन कुवलयनालतुलाधिरोपणेन वाक्यार्थः सोपहासतयेव निबद्धः परिज्ञायते ।

४. प्रबन्धौचित्यम्

उचितार्थविशेषेण प्रबन्धार्थः प्रकाशते ।
गुणप्रभावभव्येन विभवेनेव सज्जनः ॥१३॥

यथा कालिदासस्य—

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूरबन्धुर्गतोऽहं
याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥

अत्राचेतनस्य चेतनाध्यारोपेण मेघस्य दौत्ययोग्यताधानाय प्रथितपुष्करावर्तक-पर्जन्यवंश्यत्वममात्यप्रकृतिपुरुषत्वं च यदुपन्यस्तं तेन समस्तप्रबन्धस्याभिधानतोत्प्रेक्षिते-तिवृत्तरुचिरतरस्य निरतिशयमौचित्यमुद्द्योतितम् ।

यथा वा कालिदासस्य—

ऊरुमूलनखमार्गपंक्तिभिस्तत्क्षणं हृतविलोचनो हरः ।
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वतीं प्रियतमामवारयत् ॥

अत्राम्बिकासंभोगवर्णने पामरनारीसमुचितनिर्लज्जसज्जनखराजिविराजितोरु-मूलहृतविलोचनत्वं त्रिलोचनस्य भगवतस्त्रिजगद्गुरोर्यदुक्तं तेनानौचित्यमेव परं प्रबन्धार्थः पुष्णाति ।

५, गुणौचित्यम्

प्रस्तुतार्थोचितः काव्ये भव्यः सौभाग्यवान्गुणः ।
स्यन्दतीन्दूरिवानन्दं संभोगावसरोदितः ॥१४॥

यथा भट्टबाणस्य—

हारो जलार्द्रवसनं नलिनीदलानि
प्रालेयशीकरमुचस्तुहिनांशुभासः ।
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि
निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः ॥

अत्र विप्रलम्भभरभग्नधैर्यायाः कादम्बर्या विरहव्यथावर्णना माधुर्यसौकुमार्यादि-गुणयोगेन पूर्णेन्दुवदनेव प्रियंवदत्वेन हृदयानन्ददायिनी दयिततमतामातनोति ।
न तु यथा चन्द्रकस्य—

युद्धेषु भाग्यचपलेषु न मे प्रतिज्ञा
दैवं नियच्छति जयं च पराजयं च ।
एषैव मे रणगतस्य सदा प्रतिज्ञा
पश्यन्ति यत्न रिपवो जघनं हयानाम् ॥'

अत्र क्षत्रवृत्तिरिवौजसा काव्यगुणेनास्पृष्टा सुभटोक्तिरुचितार्थापि तेजोजौवित-विरहिता दुर्गतगृहदीपशिखेव मन्दायमाना न विद्योतते ।

६, अलङ्कारौचित्यम्

अर्थौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते ।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ॥१५॥

प्रस्तुतार्थस्यौचित्येनोपमोत्प्रेक्षारूपकादिनालंकारेण सूक्तिश्चकास्ति कामिनीवो-च्चकुचचुम्बिना रुचिरमुक्ताकलापेन ।

यथा श्रीहर्षस्य—

विश्रान्तविग्रहकथो रतिमाञ्जनस्य
चित्ते वसन्प्रियवसन्तक एव साक्षात् ।
पर्युत्सुको निजमहोत्सवदर्शनाय
वत्सेश्वरः कुसुमचाप इवाभ्युपैति ॥

अत्र वत्सेश्वरस्य कुसुमचापेनोपमा शृंगारावसरसरसचारुतरतामौचित्येन कामपि चेतश्चमत्कारिणीमाविष्करोति ।

न तु यथा चन्दकस्य—

खगोत्क्षिप्तैरन्त्रैस्तरुशिरसि दोलेव रचिता
शिवा तृप्ताहारा स्वपिति रतिखिन्नेव वनिता ।
तृषार्तो गोमायुः सरुधिरमसिं लेढि बहुशो
बिलान्वेषी सर्पो हतगजकराग्रं प्रविशति ॥

अत्रानुचितस्थानस्थितायाः पुरुषपिशिततृप्तसुप्तायाः शिवायाः सुरतकेलिक्लान्त कान्तया विच्छायैवोपमा परं वैपरीत्यं प्रकाशयति ।

७. रसौचित्यम्

कुर्वन्सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः ।
मधुमास इवाशोकं करोत्यंकुरितं मनः ॥१६॥

औचित्येन भ्राजिष्णुः शृंगारादिलक्षणो रसः सकलजनहृदयव्यापी वसन्त इवाशोक-तरुमंकुरितं मनः करोति ।

यथा वा कालिदासस्य—

बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥

अत्र पार्वत्यां परमेश्वरस्याभिलाषशृंगारे वक्ष्यमाणे प्रथममुद्दीपनविभावभूतस्य वसन्तस्य वर्णनायां कामुकाध्यारोपेण वनस्थलीललनानां कुटिललोहितपलाशकलिका-भिर्नवसंगमयोग्यनखक्षतान्युत्प्रेक्षितानि परमामौचित्यचारुतां प्रतिपादयन्ति ।

न तु यथास्यैव—

वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः ।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥

अत्र केवलकर्णिकारकुसुमवर्णनमात्रेण विधातृवाच्यतागर्भेणैव प्रस्तुतशृंगारानुपयोगिना तदुद्दीपनविभावोचितं न किंचिदभिहितम् ।

८. तत्त्वौचित्यम्

काव्यं हृदयसंवादि सत्यप्रत्ययनिश्चयात् ।
तत्त्वोचिताभिधानेन यात्युपादेयतां कवेः ॥३०॥

तत्त्वोचिताख्यानेन कवेः सूक्तं सत्यप्रत्ययस्थैर्यात्संवादि गृह्यतां याति ॥
यथा मम बौद्धावदानलतिकायाम्—

दिवि भुवि फणिलोके शैशवे यौवने वा
जरसि निधनकाले गर्भशय्याश्रये वा ।
सहगमनसहिष्णोः सर्वथा देहभाजां
नहि भवति विनाशः कर्मणः प्राक्तनस्य ॥

अत्र प्राक्तनस्य कर्मणस्त्रैलोक्ये शैशवयौवनवृद्धत्वावस्थासु देहिनां सह गमने समर्थत्वान्न विनाशोऽस्तीत्युक्ते निःसंशयसकलजनहृदयसंवादितत्त्वाख्यानमौचित्यं ख्यापयति ।

न तु यथा माघस्य—

बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते न पीयते काव्यरसः पिपासितैः ।
न विद्यया केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फलाः कलाः ॥

अत्रार्थार्थितापरत्वेन धनमेवार्जय, क्षुधितैर्व्याकरणं न भुज्यते, न च काव्यरसः पिपासितैः पीयते, न च विद्यया कुलं केनचिदुद्धृतमित्युक्ते सर्वमेतद्दारिद्र्यदैन्याविद्धृतधैर्यकातरतया तत्त्वविरहितं विपरीतमुपन्यस्तमनौचित्यं सुयुक्तमेव । विद्वानामेव सर्वसम्पत्प्रसविनीनां कुलोद्धारक्षमत्वं नान्यस्य ।

९. सत्त्वौचित्यम्

सत्त्वौचित्यं दर्शयितुमाह—

चमत्कारं करोत्येव वचः सत्त्वोचितं कवेः ।
विचारुचिरोदारचरितं सुमतेरिव ॥३१॥

सत्त्वोचितं कवेर्वचश्चमत्कारं करोति। सुमतेरिव विचार्यमाणं रुचिरमुदार-चरितम्।

यथा मम चित्रभारते नाटके—

'नदीवृन्दोद्दामप्रसरसलिलापूरिततनुः
स्फुरत्स्फीतज्वालानिबिडवडवाग्निक्षतजलः।
न दर्पं नो दैन्यं स्पृशति बहुसत्त्वः पतिरपा-
मवस्थानां भेदाद् भवति विकृतिर्नैव महताम्॥'

अत्र पयोधिव्यपदेशेन युधिष्ठिरस्य सत्त्वोत्कर्षेऽभिधीयमाने सरित्पूरप्रवर्धित-तनुर्वडवाग्निनिष्पीतश्च नोत्सेकं न संकोचमर्घिविपुलसत्त्वः स्पृशति। न ह्यवस्थानां भेदान्महाशयानां विकारो भवतीत्युक्ते गम्भीरधीरा सत्त्ववृत्तिरौचित्यमातनोति। न तु यथा भट्टेन्दुराजस्य—

आश्चर्यं वडवानलः स भगवानाश्चर्यमम्भोनिधि-
र्यत्कर्मातिशयं विचिन्त्य मनसः कम्पः समुत्पद्यते।
एकस्याशयघस्मरस्य पिबतस्तृप्तिर्न जाता जले-
रन्यस्यापि महात्मनो न वपुषि स्वल्पोऽपि जातः श्रमः॥

अत्र वडवानलसमुद्रयोः सत्त्वमहत्त्वे वक्ष्यमाणे नातिविपुलाशयत्वादेकस्य पिबतः पयोभिस्तृप्तिर्न जाता, द्वितीयस्य तदुपजीव्यमानस्य न मनागपि खेदः, तदेतदुभयमाश्च-र्यमित्युक्ते निःसंतोषतया सततया च कस्य न वडवाग्नेर्लज्जा, न च जलनिधे-राश्रितैकार्थिपूरणसामर्थ्यमित्यसत्त्वे सत्त्वस्तुतिरनौचित्यमावहति।

१०. स्वभावौचित्यम्

स्वभावौचित्यं दर्शयितुमाह—

स्वभावौचित्यमाभाति सूक्तीनां चारुभूषणम्।
अकृत्रिममसामान्यं लावण्यमिव योषिताम्॥३३॥

स्वभावोचितत्वं कविवाचामाभरणमाभाति, अकृत्रिममनन्यसामान्यं लावण्य-मिव ललनानाम्।

यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

'कर्णोत्तालितकुन्तलान्तनिपतत्तोयक्षणासंगिना
हारेणेव वृतस्तनी पुलकिता शीतेन सीत्कारिणी ।
निर्धौताञ्जनशोणकोणनयना स्नानावसानेऽङ्गना
प्रस्यन्दत्कबरीभरा न कुरुते कस्य स्पृहार्द्रं मनः ॥'

अत्र 'व्याससूनोः शुकस्य गाढवैराग्यनिःसंगस्य गगनगंगातीरे स्नातोत्तीर्णास्त्रिदशयोषितो विवसनास्तद्दर्शननिःसंकोचाः पश्यतः प्रशमविमलमनसः स्मरव्यतिकरनिर्विकारतायां प्रतिपाद्यमानायां कर्णमूलोत्क्षिप्तालकपर्यन्तनिपतत्तोयकणसन्तानेन स्तनयोः कृतमुहूर्तहारविभ्रमा, शीतेन रोमाञ्चसीत्कारिणी, धौताञ्जनारुणनयनान्ता, प्रस्रवन्मुक्तकेशकलापा, स्नानोत्तीर्णा तरुणी कस्य स्पृहार्द्रं न मनः करोती'त्युक्ते स्वयमार्द्रस्वभावः परमप्यार्द्रीकरोतीत्युचितमेतत् ।

न तु यथा मम तत्रैव—

भक्तिः कातरतां क्षमा सभयतां पूज्यस्तुतिर्दीनतां
धैर्यं दारुणतां मतिः कुटिलतां विद्याबलं क्षोभताम् ।
ध्यानं वञ्चकतां तपः कुहकतां शीलव्रतं षण्ढतां
पैशुन्यव्रतिनां गिरां किमिव ता नायाति दोषार्द्रताम् ॥

अत्र 'पिशुनस्वभावे वर्ण्यमाने भक्त्यादीनां गुणानां वैपरीत्ये प्रतिपादिते पिशुनानां वचसां किं वा दोषार्द्रतां नायाती'त्यभिहिते स्वयमनार्द्रस्वभावस्य परार्द्रीकरणमनुचितमेव ।

११. प्रतिभौचित्यम्

प्रतिभाभरणं काव्यमुचितं शोभते कवेः ।
निर्मलं सुगुणस्येव कुलं भूतिविभूषितम् ॥३५॥

प्रतिभालंकृतं कवेः काव्यमुचितं गुणवतः कुलमिव विमलं लक्ष्म्या प्रकाशितं शोभते ।

यथा मम लावण्यवत्याम्—

अदय ! दशसि किं त्वं बिम्बबुद्ध्याधरं मे
भव चपल निराशः पक्वजम्बफलानाम् ।
इति दयितमवेत्य द्वारदेशाप्तमन्या
निगदति शुकमुच्चैः कान्तदन्तक्षतोष्ठी ॥

अत्र 'कयापि द्वारदेशाप्तं प्रियं ज्ञात्वा अन्यकामुकदशनखण्डितौष्ठया सम्प्रति तदागमनानभिज्ञयेव शुकमुद्दिश्य यदुक्तं—निर्दय किं त्वं बिम्बफललोभादधरं मम विदारयसि । पक्वानां जम्बूफलानामिदानीं चपल निराशो भव कुपिता तुभ्यं नो दास्यामी'ति तेनोच्चैः प्रत्यायनापह्नवनवोन्मेषप्रज्ञाचातुर्यचारुवचनमौचित्यचमत्कारं करोति ।

यदाह भट्टतौतः—'प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' इति ।

न तु यथा मम तत्रैव—

निर्याते दयिते गृहे विशयने निर्माल्यमाल्ये हृते
प्राप्ते प्रातरसह्यरागिणि परे वारावहारेऽन्यथा ।
द्वारालीनविलोचना व्यसनिनी सुप्ताहमेकाकिनी-
त्युक्त्वा नीविविकर्षणैः स चरणाघातैरशोकीकृतः ॥

अत्र वेश्या व्यालग्नकामुकस्य वारावहारं विधाय नवकामुकेन सह क्षपायां नीतायां प्रभाते तस्मिन्निर्याते शय्याकुसुमादिसंभोगलक्षणे निवारिते वारवरञ्चनकुपिते गाढानुरागग्रहग्रस्तमतौ पूर्वकामुके प्राप्ते त्वदालोकनकांक्षिणी व्यसनिनी द्वारन्यस्तनयनाऽहमेकाकिनी सुप्तेति प्रत्यायनावचनविलीनमन्युसरभससरसनीविकर्षणोद्यताकृतिकृतेर्ष्याकोपया चरणनलिनप्रहारैरशोकीकृतः । शंकशल्योन्मूलनाग्निः शोकः सम्पादितः । सन्ततपुलकांकुरत्वादशोकतरुतुल्यतां नीत इति वा वाक्यार्थः केवलसत्यविप्रलम्भप्रारभ्यमात्रमेव गणिकाया गाढरागमूलतां च प्रतिपादयति । न तु प्रतिभोद्भूतामौचित्यकणिकां सूचयति ।

मम्मट

समय—ग्यारहवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध

[ग्रन्थ—काव्य-प्रकाश]*

१. काव्य-प्रकरण

(क) **काव्य-प्रयोजन** —

यश की प्राप्ति, सम्पत्ति-लाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, रोगादि विपत्तियों का विनाश, तुरन्त ही उच्च कोटि के आनन्द का अनुभव, और प्यारी स्त्री के समान मनभावन उपदेश देने के लिये काव्य-ग्रन्थ उपादेय (प्रयोजनीय) है ॥१।२॥

मूल कारिका का अर्थ विशद करने के लिये ग्रन्थकार लिखते हैं—काव्य-रचना द्वारा कालिदास आदि कवियों को यश, श्रीहर्ष आदि कवियों को सम्पत्ति, राजा आदि के साथ कैसा आचरण करना उचित है इसका ज्ञान, सूर्य आदि देवताओं द्वारा मयूर आदि कवियों को विपत्ति का विनाश प्राप्त हुआ है। जो संसार के सभी प्रयोजनों मे मुख्य है, जो प्राप्त होते ही तुरन्त अपने रस का स्वाद चखा कर ऐसे अपूर्व आनन्द का अनुभव कराता है कि शेष ज्ञेय वस्तुओं के ज्ञान उसके आगे तिरोहित हो जाते हैं, जो प्रभु अर्थात् स्वामी के द्वारा प्रकट किये गये शब्द-प्रधान वेदादि शास्त्रो से विलक्षण तथा मित्रों द्वारा कहे गये अर्थ-तात्पर्यादि-प्रधान पुराण-इतिहास आदि ग्रन्थो से भी भिन्न है, प्रत्युत शब्दों और अर्थों को गौण (अप्रधान) बनाकर रसादि के प्रकट करने वाले उपायों की ओर प्रवण कराने के कारण जो उक्त प्रभु-संमित और सुहृत्संमित वाक्यावलियो से भिन्न है ऐसी रचना-विशेष को काव्य कहते हैं। अर्थात् यह चतुर कवि की विचित्र वर्णनात्मक रचना है। ऐसा काव्य प्यारी स्त्री की भाँति अपनी उक्ति मे अनुराग उत्पन्न कराकर लोगो को अपनी ओर इस प्रकार खीचता है कि श्री रामचन्द्रादि के सदृश व्यवहार कीजिये, रावण आदि की भाँति नही, ऐसे उपदेश भी पात्रानुसार कवि तथा समझने वाले व्यक्ति को यह देता है। निदान लोगों को सभी प्रकार से इस काव्य-ज्ञान प्राप्ति के लिये यत्नशील होना चाहिये। (पृष्ठ २-३)

* **हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा सम्वत् २००० में प्रकाशित द्वितीय संस्करण**

(ख) **काव्य-रचना के कारण —**

एक तो कविता रचने की शक्ति, दूसरे लोक और शास्त्र आदि के अवलोकन की चतुराई, तीसरे काव्य जानने वालो द्वारा शिक्षा पाकर उसका अभ्यास, ये तीनो बातें काव्य (ज्ञान) की उत्पत्ति में हेतु (कारण) हैं ॥१।३॥

मूल कारिका रचने का अर्थ विशद करने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं कि शक्ति से तात्पर्य किसी विशेष संस्कार (प्रतिभा) से है, जो कवित्व का बीज-रूप (मूल कारण) है, जिसके बिना काव्य बन ही नही सकता, अथवा यदि बनाया भी जावे तो हँसी के योग्य हो, यह एक हेतु है। लोक शब्द से तात्पर्य उन सभी व्यापारों से है जो स्थावर और जंगम अर्थात् चराचर पदार्थों से सम्बन्ध रखते हैं। शास्त्रो से तात्पर्य उन ग्रन्थो से जो छन्द, व्याकरण, अभिधान, कोष, कला, चतुर्वर्ग (चारों पुरुषार्थ), हाथी, घोडे, खंग आदि के लक्षण बताने वाले और महाकवि विरचित काव्यादि हैं। आदि शब्द के कथन का यह भाव है कि इतिहासादि ग्रन्थो की गणना भी शास्त्रो मे की जावे। इन ग्रन्थों के भली भाँति अध्ययन करने से काव्य विषयक व्युत्पत्ति प्राप्त होती है, यह एक अन्य हेतु है जो लोग काव्यो की रचना और आलोचना करना जानते हैं उनके बनाने और उचित रीति से शब्द-योजना करने मे बारंबार की प्रवृत्ति, यह एक तीसरा हेतु है। इन तीनों हेतु-रूप गुण अर्थात् शक्ति, चातुर्य और अभ्यास के सम्मिलित होने पर—न कि विलग-विलग किसी एक के रहने पर—काव्य-रचना का उत्कर्ष प्रकट होता है। अतएव ये तीनों मिलकर काव्योत्कर्ष के साधक हेतु हैं, न कि इनमे से प्रत्येक पृथक्-पृथक् भी कारण होते हैं। (पृष्ठ ३-४)

(ग) **काव्य का स्वरूप —**

काव्य का स्वरूप यह है कि उसके शब्दों और अर्थों मे दोष तो नही ही हो, किन्तु गुण अवश्य हों, चाहे अलंकार कहीं-कही पर न भी हों।

काव्य-सम्बन्धी दोषों, गुणों और अलंकारों का निरूपण आगे किया जावेगा। कहीं-कही कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य प्राय. सर्वत्र अलंकार-विशिष्ट ही होता है, परन्तु किसी स्थान पर यदि स्फुट (प्रकट) अलंकार न भी हो तो काव्यत्व की हानि नही मानी जाती है। (पृष्ठ ४-५)

(घ) **काव्य के भेद—**

जब वाच्यार्थ (मुख्य अर्थ) की अपेक्षा व्यंग्य (प्रतीयमान) अर्थ अधिक चमत्कारक हो तो इस प्रकार के काव्य को पण्डितों ने उत्तम काव्य (ध्वनि) कहा है ॥१।४॥

मूल कारिका मे 'इद' (यह) शब्द काव्य के लिये प्रयुक्त हुआ है। बुधों (पंडितों) से तात्पर्य व्याकरण-शास्त्र के जानने वालो से है। उन वैयाकरणों ने ध्वनि उस शब्द का नाम रखा है जो प्रधानभूत स्फोट रूप व्यंग्य का व्यंजक (अर्थ-बोधक) है। उन वैयाकरणो के ही मत के अनुसार और लोगो ने भी वाच्यार्थ को गौण बना व्यंग्य अर्थ को प्रकट करने वाले शब्द तथा अर्थ इन दोनो को उत्तम काव्य माना है।

× × × × (पृष्ठ ६)

जब कि व्यंग्य अर्थ वैसा न हो अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार-कारी न हो, किन्तु गुणीभूत अर्थात् अप्रधान रूप से प्रतीयमान हो तो उस काव्य की मध्यम सज्ञा होगी। (पष्ठ ७)

× × ×

जिस काव्य मे शब्द-चित्र और वाच्य-चित्र हो और व्यंग्य अर्थ न हो तो उसको अधम काव्य कहते हैं ॥१।५॥ (पृष्ठ ८)

२. रस-निष्पत्ति

स्थायी (अविच्छिन्न प्रवाह वाले) रत्यादिक (ललनादि-विषयक प्रीतिरूप कोई विशेष मानसिक व्यापार) के जो आलम्बन (प्रीति की उत्पादिका ललना आदि) और उद्दीपन (प्रीति के पोषक चन्द्रोदयादि) ये दो कारण है तथा कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि जो कायिक, वाचिक एवं मानसिक कार्य हैं, तथा शीघ्रता से उनकी प्रतीति कराने वाले जो निर्वेदादि सहकारी भाव हैं, वे यदि श्रव्य काव्य (रघुवश आदि) और नाट्य (अभिज्ञान शाकुन्तल, उत्तर रामचरितादि) ग्रन्थों मे उपयोग मे लाये जाये तो उन्ही को विभाव (स्वाद लेने योग्य) अनुभाव (अनुभव में लाने योग्य) और व्यभिचारी भाव (विशेष रूप से हृदय मे संचार कराने योग्य) इन नामों से पुकारते हैं। इन्ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से व्यंजना वृत्ति द्वारा जो स्थायी भाव प्रतिपादित (सिद्ध) किया जाता है उसी (स्थायी भाव) का नाम (ध्वनिकार आदि आचार्यों ने) रस रखा है ॥४।२७-२८॥ (पृष्ठ ५४-५५)

× × ×

वह रस कार्य-रूप तो है नही, क्योंकि विभावादि कारणों के नष्ट हो जाने पर भी उसकी उत्पत्ति हो सकती है, और न वह रस ज्ञाप्य है क्योकि ज्ञाप्य पदार्थ तो सिद्ध होता है और यह रस तो सिद्ध नही, किन्तु विभावादि द्वारा व्यक्त किया गया आस्वादान योग्य है। यदि कोई यह आशंका उठाये कि कारक और ज्ञापक से भिन्न और कोई पदार्थ भला कही देखा भी गया है तो उसका यह उत्तर है कि ऐसे पदार्थ का न देखा

जाना ही उसकी अलौकिकता का साधक है। यह एक प्रकार का भूषण है न कि दूषण। आस्वादन की सिद्धि के साथ उसकी भी सिद्धि कही गई है अतएव स्वादोत्पत्ति के सम्बन्ध से रस की उत्पत्ति का कथन भी ठीक है। इस दृष्टि से उसे कार्य कह भी सकते हैं। लौकिक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से जो ज्ञान होता है, लौकिक प्रमाणो के ज्ञान से निरपेक्ष रखने वाले जो मित अर्थात् युंजान योगी लोग हैं उनका जो ज्ञान होता है, तथा भिन्न पदार्थ (द्वैत) ज्ञान के सम्पर्क से शून्य केवल आत्म-ज्ञान स्वरूप में परिणत निरवधि ज्ञान वाले जो युक्त योगी लोग हैं, उनके जो ज्ञान हैं—इन तीनों प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण अत्यन्त अद्भुत् स्वज्ञान-मात्र विषयी-भूत यह रस ज्ञाप्य भी कहा जा सकता है।

इस रस नामक पदार्थ का ग्रहण करने वाला ज्ञान निर्विकल्पक नही है, क्योंकि इसमे विभाव आदि के सम्बन्ध का प्राधान्य है। और वह सविकल्पक भी नही है, क्योकि जब उसका आस्वादन किया जाता है तब उसका प्रचुर अलौकिक आनन्दयुक्त होना अपने अनुभव ही से सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानान्तर के न होने से रसास्वादन की अवस्था में नाम रूप आदि का उल्लेख न हो सकने से सविकल्पक ज्ञान की सम्भावना ही नही हो सकती। सविकल्पक और निर्विकल्पक इन दोनो ज्ञानों से भिन्न होकर भी एक साथ दोनों के गुणो को रखने वाले इस रस का ज्ञान पूर्व की भाँति उसकी अलौकिकता ही को प्रकट करता है, न कि विरोध को। रस सिद्धि के विषय में उक्त रीति से श्रीमदाचार्य अभिनवगुप्त जी का मत उल्लिखित किया गया। यही अन्तिम मत वाग्देवतावतार विद्वद्वर श्री मम्मट भट्ट जी ने भी स्वीकार करके काव्य-प्रकाश में इसका विस्तार किया है। (पृष्ठ ६२-६३)

३. काव्य-दोष का स्वरूप

मुख्य अर्थ के ज्ञान के विघातक कारणों को दोष कहते हैं, काव्य में रस तो मुख्य होता ही है, परन्तु उसी रस के आश्रित (उपकारक होने के कारण अपेक्षित) वाच्य अर्थ भी मुख्य होता है। और रस तथा वाच्य अर्थ इन दोनों के उपयोग में आने वाले शब्दादिक भी हैं, अतएव उन शब्दों और अर्थों मे भी दोष होता है ॥७।४९॥

(पृष्ठ १६८)

४. काव्य-गुण-निरूपण

(अ) गुण का स्वरूप—

मनुष्य के शरीर मे प्रधान आत्मा के जैसे शूरता आदि गुण होते हैं वैसे ही काव्य में प्रधान रस के उत्कर्ष वा बड़प्पन देने वाले जो धर्म हैं वे ही गुण कहलाते

है और इनकी स्थिति अचल वा नियत (अवश्य उपस्थित) रहती है ॥८।६६॥

× × × (पृष्ठ २८३)

जैसे शूरता आदि गुण आत्मा ही के होते है न कि शरीर के आकार (स्वरूप) के वैसे ही माधुर्य, ओज और प्रसाद ये गुण रस के ही होते हैं न कि वर्णो के। कही-कही शूरता आदि गुणो के योग्य शरीर के आकार आदि का बडप्पन देख 'इसका आकार ही शूर है' ऐसा कहकर केवल डील-डौल मे बड़े किसी अशूर (कातर) मनुष्य को भी लोग शूर कह बैठते है। अथवा किसी शूर पुरुष को भी डीलडौल मे छोटा देखकर 'यह शूर नही है' ऐसा भी कह देते हैं और निरन्तर उसी प्रतीति के अनुसार व्यवहार भी करते हैं, वैसे ही मधुर आदि गुणो का व्यवहार और रस के अंगीभूत अमधुरादि गुणों मे केवल वर्णो की कोमलता से माधुर्यादि शब्दो का व्यवहार और मधुरादि रसों के प्रकाशक वर्णो के कोमल न होने से उनके मधुर न होने आदि का व्यवहार रस की मर्यादा को ग्रहण कराने वाले ज्ञान से शून्य रहकर उपयोग में लाते हैं। तात्पर्य यह है कि माधुर्य आदि धर्म रस ही के होते हैं और वे यथोचित वर्णों द्वारा प्रकाशित किये जाते है न कि केवल वर्णो ही के आश्रित (वर्णों की कोमलता व कठोरता के अधीन) रहते हैं। (पृष्ठ २८४)

(ब) गुण और अलंकार का भेद—

जो धर्म अगो (शब्द और अर्थ इन दोनो में से किसी एक वा दोनों) के द्वारा कभी-कभी (न कि सर्वदा) उपस्थित रहने वाले (प्रधान) रस का उपकार करते है वे धर्म, हार आदि के समान (शरीर की शोभा बढ़ाने वाले) अलंकार कहलाते हैं तथा अनुप्रास, उपमा आदि उनके भेद होते है ॥८।६७॥

जो धर्म वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) रूप (रस के) अप्रधान भागों की अतिशयता (बढ़ती) द्वारा उपस्थित रहने वाले प्रधान रस का उपकार करते हैं वे कण्ठ आदि अंगों की शोभा बढाकर जैसे आभूषण शरीरधारी का भी उपकार करते है, वैसे हार आदि की भाँति अलंकार कहे जाते हैं। ये अलंकार-रूप धर्म उस स्थान पर जहाँ कि रस नही होता केवल उक्ति का चमत्कार दिखला कर रह जाते हैं। कही-कही तो ये अलकार-रूप धर्म उपस्थित रहते हुए भी रस का उपकार नही करते।

(पृष्ठ २८४-८५)

× × ×

यह ऊपर कहा गया भेद ही गुणो और अलंकारों के भेद का प्रदर्शक है।

(पृष्ठ २८४-८५)

(ज) मुख्य काव्य-गुण—

माधुर्य उस गुण का नाम है, जो चित्त को प्रसन्न कर देता है और शृङ्गार रस मे चित्त को पानी-पानी कर देने का कारण होता है ॥८।६८॥

यहाँ पर शृङ्गार शब्द से तात्पर्य सम्भोग शृङ्गार से है। द्रुति (पानी-पानी होने) का अर्थ है गलित होना व पिघल जाना। सुनने योग्य तो ओजस् और प्रसाद नामक गुणों से विशिष्ट रचनाएँ भी (माधुर्य-गुण-विशिष्ट रचना के समान) होती है।

वह माधुर्य गुण करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्त-रस के प्रकरण मे चित्त को अत्यन्त विगलित कर देने के कारण प्रकृष्ट उत्कर्षयुक्त होता है।

(हास्य आदि रसो के न रहने से) उक्त तीनो रसो मे माधुर्य अत्यन्त द्रुति (विगलित होने) का कारण होने से विशेषोत्कर्षयुक्त हो जाता है।

(पृष्ठ २९०)

× × ×

चित्त को भड़का देने (उत्तेजित करने) वाले गुण का नाम ओजस् है और यह गुण वीर रस के वर्णन मे रहता है ॥८।६९॥

चित्त को फड़क उठने रूप भड़काने वाले गुण का नाम ओजस् है।

क्रमश: वीभत्स और रौद्र रस में उस ओजोगुण का उत्कर्ष बढ़ता चला जाता है। यह ओजस् नामक गुण वीर की अपेक्षा वीभत्स रस मे और वीभत्स रस की अपेक्षा रौद्र रस मे अधिक प्रखर हो जाता है। (पृष्ठ २९०-२९१)

× × ×

जो सूखे हुए ईधन मे आग की भाँति, स्वच्छ वस्त्रादि मे जल की भाँति तुरन्त मन मे व्याप्त हो जाता है (अर्थात् पढने अथवा सुनने वाले के चित्त को शीघ्र व्याप्त कर लेता है) वह प्रसाद नामक गुण है, उसकी स्थिति सर्वत्र (सभी रसों और भावादिकों मे) रहती है ॥८।७०॥ (पृष्ठ २९१)

अनुवादक—
पं० हरिमंगल मिश्र एम.ए.

मम्मट :

[काव्यप्रकाशः]*

१. काव्य-प्रकरणम्

(क) काव्य-प्रयोजनम्

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतयेकान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥१।२॥

कालिदासादीनामिव यशः श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्, राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम्, आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्, सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम् प्रभुसंमितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्संमितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम् ।

(पृष्ठ ६-१०)

(ख) काव्य-कारणम्

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥१।३॥

शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः । यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात् । लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य । शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थानाम् । काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनाम् । आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः । काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिताः न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्नतु हेतवः ।

(पृष्ठ ११-१३)

---

* सन् १९२१ मे प्रकाशित (चतुर्थ) झलकीकर सस्करण

(ग) काव्य-स्वरूपम्

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।

दोषगुणालंकाराः वक्ष्यन्ते । क्वापीत्यनेनैतदाह यत्सर्वत्र सालंकारौ क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः । (पृष्ठ १३-१७)

(घ) काव्य-भेदाः

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः ।।१।४।।

इदमिति काव्यम् । बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः । ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्य-व्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य । (पृष्ठ १९)

अतावृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् । (पृष्ठ २१)
शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ।।१५।। (पृष्ठ २२)

२. रसनिष्पत्तिः

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ।।४।२७।।

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ।।४।२८।।

(पृष्ठ २७)

× × ×

स च न कार्यः । विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात् । नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात् । अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः । कारकज्ञापकाभ्या-मन्यत् क्व दृष्टमिति चेत् । न क्वचिद् दृष्टमित्यलौकिकसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम् । चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम् । लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाण-तादस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतर-योगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽभिधीयताम् । तद्ग्राहकं च प्रमाणं न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात् । नापि सविकल्पकम् चर्व्यमाण-स्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः ।

(पृष्ठ ९३-९५)

३. काव्यदोष-स्वरूपम्

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥७।४६॥
(पृष्ठ २६३-२६४)

४. काव्यगुण-निरूपणम्

ये रसस्याङ्गिनो धर्मा. शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥८।६६॥

(क) गुणस्वरूपम्

आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाऽऽकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम् । क्वचित्तु शौर्यादिसमुचितस्याऽऽकारमहत्त्वादेर्दर्शनाद् 'आकार एवास्य शूर' इत्यादेर्व्यवहारादन्यत्राशूरेऽपि विततताकृतित्वमात्रेण 'शूरः' इति, क्वापि शूरेऽपि मूर्तिलाघवमात्रेण 'अशूर.' इति, अविश्रान्तप्रतीतयो यथा व्यवहरन्ति तद्वन्मधुरादिव्यञ्जकसुकुमारादिवर्णानां मधुरादिव्यवहारप्रवृत्तेरमधुरादिरसाङ्गानां वर्णानां सौकुमार्यादिमात्रेण माधुर्यादि, मधुरादिरसोपकरणानां तेषामसौकुमार्यादेरमाधुर्यादि, रसपर्यन्तविश्रान्तप्रतीति वन्ध्या व्यवहरन्ति । अतएव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः । (पृष्ठ ४६२-४६५)

(ख) गुणालङ्कारयोर्भेदः

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥८।६७॥

ये वाचकवाच्यलक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यं रसं सम्भविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽपि उपकारका हारादय इवालंकाराः । यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः । क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति । × × × एष एव च गुणालंकारप्रविभागः । (पृष्ठ ४६५)

(ग) प्रमुख-काव्यगुणाः

आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ॥८।६८॥

शृंगारे अर्थात् सम्भोगे । द्रुतिर्गलितत्वमिव । श्रव्यत्वं पुनरोजःप्रसादयोरपि ।

करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।

अत्यन्तद्रुतिहेतुत्वात् ।

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ॥८।६९॥

चित्तस्य विस्तारूपदीप्तत्वजनकमोजः ।

बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।

वीराद् बीभत्से ततो रौद्रे सातिशयमोजः ।

शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ॥८।७०॥
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।

(पृष्ठ ४७४-४७७)

रुय्यक

समय—बारहवी शताब्दी का मध्य भाग

[ग्रन्थ—अलंकार-सर्वस्व]

१. रुय्यक से पूर्ववर्त्ती आचार्यो की काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी धारणाओ का पर्यवेक्षण

इस साहित्य-संसार मे भामह, उद्भट आदि प्राचीन आलंकारिकों ने प्रतीयमान (व्यग्य) अर्थ को वाच्य अर्थ का उत्कर्ष करने वाला होने से उसे अलंकारो की ओर लगाया है। जैसे कि –पर्यायोक्ति, अप्रस्तुत-प्रशसा, समासोक्ति, आक्षेप, व्याज-स्तुति, उपमेयोपमा, अनन्वय आदि अलकारो से मे वस्तु-रूप व्यग्य को उन्होने 'स्वसिद्धये पराक्षेप.' (अपने अर्थ को सिद्ध करने के लिए दूसरे अर्थ का आक्षेप) 'परार्थं स्वसमर्पण' (दूसरे अर्थ को संगत करने के लिए अपने अर्थ को सर्वथा छोड़ देना) इन दो प्रकार की शैली से बताया है।

रुद्रट ने तो भावालंकार को ही दो प्रकार का कहा है—रूपक, दीपक, अपह्नुति, तुल्ययोगिता आदि अलकारों मे उपमा आदि अलकार को अर्थ का उपस्कारक (उत्कर्षक) माना है। उत्प्रेक्षा को तो स्वय ही प्रतीयमान (व्यग्य) माना है। रसवत्, प्रेयः आदि अलकारो मे रस-भाव आदि को वाच्यार्थ की शोभा का हेतु कहा है। इस प्रकार तीनों ही प्रकार के व्यंग्य को अलंकार रूप से रखा है।

वामन ने तो सादृश्य-निबन्धन (गौणी) लक्षणा को वक्रोक्ति अलंकार कहते हुए कई ध्वनि-भेदो को अलंकार-रूप से ही कहा है। केवल गुण-युक्त पद-रचनात्मिका रीति को काव्य का आत्मा माना है।

उद्भट आदियो ने तो गुण और अलकारो की प्रायशः समता ही सूचित की है। विषय मात्र से ही केवल इनमे भेद माना है, और संघटना धर्मत्व से दृष्टि की है। इस प्रकार अलकार ही प्रधान हैं—यह प्राच्य आलंकारिकों का मत है।

'वक्रोक्तिजीवित' प्रणेता [आचार्य कुन्तक] ने तो चतुरता के ढग से उक्ति के स्वभाव वाली वक्रोक्ति को ही प्रधानता से काव्य का आत्मा माना है। काव्य को उसने

व्यापार-प्रधान माना है। एक विशेष प्रकार के कथन का नाम ही अलंकार हुआ करता है। यद्यपि प्रतीयमान (व्यंग्य) तीन प्रकार का होता है; पर व्यापार-रूप उक्ति ही कवि के सरम्भ का विषय होता है। उपचार और वक्रता आदि से समस्त ध्वनि-प्रपंच माना गया है। काव्य की आत्मा केवल उक्ति की विचित्रता ही होती है, व्यङ्ग्यार्थ काव्य का आत्मा नही होता। ऐसा [आचार्य कुन्तक का] दर्शन (मत) है।

भट्ट नायक ने तो प्रौढोक्ति से माने हुए व्यंग्य के व्यापार को ही काव्य का अंश मानते हुए शब्द और अर्थ के स्वरूप को तिरस्कृत करने वाले व्यापार (व्यंग्य) की ही प्रधानता मानी है। उसमे भी अभिधा-भावकत्व तथा लक्षणा-व्यापार इन दो को अतिक्रमण करने वाले रस-चर्वणात्मक व्यापार को—जिसका दूसरा नाम भोग है—प्रधानता से विश्रान्ति का स्थान (मुख्य) माना है।

ध्वनिकार [आनन्दवर्धनाचार्य] ने तो व्यञ्जना को अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा इन व्यापारो (वृत्तियो) के बाद का और अवश्य-स्वीकर्त्तव्य व्यापार माना है; उसी के ध्वनन, द्योतन आदि पर्याय-वाचक हैं। ध्वनिकार के मत मे व्यापार (वृद्धि) तो वाक्यार्थ होती नहीं, और वाक्यार्थ ही व्यङ्ग्य होता है, गुण और अलंकार उसके उपस्कारक (अलंकृत करने वाले) हैं। वही व्यङ्ग्य ही प्रधान होने से विश्राम का स्थान है; ध्वनिकार ने उसे ही काव्य का आत्मा सिद्धान्तित किया है।

व्यापार विषय के द्वारा ही स्वरूप प्राप्त करता है, विषय की प्रधानता से ही व्यापार की प्रधानता होती है। व्यापार स्वरूप से विदित नही रहता; इस कारण विषय ही सारे भार को सहन वा वहन करने वाला होता है। इसलिए व्यङ्ग्य नाम रखने वाले विषय को ही काव्य का आत्मा कहना चाहिये। उसी का गुण एवम् अलंकार से मनोहरता का साम्राज्य हुआ करता है। रस आदि काव्य का जीवन हैं—इन्हे अलङ्कार रूपता से नही कहना चाहिये क्योकि—अलंकार तो उपस्कारकारक (शोभा करने वाले) होते हैं, और रस आदि प्रधान (आत्मा) होने से उपस्कार्य (शोभित होने वाले) होते हैं। अतः वाक्य का अर्थभूत व्यग्य ही काव्य का जीवित (आत्मा) है, यही पक्ष वाक्यार्थ-कोविद सहृदय पुरुषों का आकर्षक है। व्यञ्जना व्यापार किसी से भी छिपा हुआ नही होता। इसी के आश्रयण से अन्य कोई भी पक्ष प्रतिष्ठित (खडा) नही रह सकता।

जो कि 'व्यक्ति विवेक' प्रणेता (महिमभट्ट) ने वाच्यार्थ को व्यङ्ग्यार्थ का लिङ्गी मानकर व्यञ्जना का अनुमान मे अन्तर्भाव माना है, पर वाच्य अर्थ का व्यङ्ग्य के साथ तादात्म्य (अभिन्नता) तथा उसकी उत्पत्ति न होने से उक्त कथन अविचार-

पूर्वक है। यह बात कुशाग्र बुद्धियों से प्रेय है—और बहुत गहन है—अतः हम उसका यहाँ विस्तार नहीं करते।

व्यञ्जना का व्यापार व्यंग्य में रहता है। व्यङ्ग्य की प्रधानता से 'ध्वनि' और अप्रधानता से 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' होकर यह काव्य के भेद बन जाते हैं। व्यंग्य के अस्फुट होने पर अलंकार-युक्त चित्र नामक काव्य का तीसरा भेद भी होता है। उसमें ध्वनि उत्तम काव्य होता है। वह ध्वनि लक्षणा-मूल होने पर अविवक्षित वाच्य तथा अभिधा-मूलक होने पर विवक्षितान्यपर वाच्य-इस प्रकार दो भेदों वाला होता है। आदिम भेद अर्थान्तर संक्रमित वाच्य और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य भेद से दो प्रकार का होता है। दूसरा भेद विवक्षितान्यपर वाच्य दो प्रकार का होता है—१. असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य, २. संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य। शब्दशक्ति-मूलक वस्तु-ध्वनि (रस) असंलक्ष्य क्रम-व्यङ्ग्य होता है। अर्थ शक्तिमूल वस्तु ध्वनि संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य होता है। शब्द और अर्थ—दोनों की शक्ति के मूल वाली वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि होती है। इनमें रसादि-ध्वनि 'अलंकार-मञ्जरी' में दिखलाई गई है। क्योंकि काव्य शृंगारादि-रस प्रधान हुआ करता है। शेष का वही विभाग बता दिया गया। है। गुणीभूत-व्यङ्ग्य को वाच्याङ्गत्व आदि के भेदों से समासोक्ति आदि मे यथा सम्भव दिखलाया गया है। चित्र-काव्य तो शब्दालङ्कार और अर्थालंकार के स्वभाव वाला होने से बहुत भेदों वाला होता है। (पृष्ठ ३-१९)

अनुवादक—पं० दीनानाथ शर्मा सारस्वत

रुय्यक :

[अलङ्कार-सर्वस्वम्]*

१. रुय्यकात् पूर्ववर्त्तिभिराचार्यैः प्रतिपादित-काव्यशास्त्रसम्बधिधारणानां पर्यवेक्षणम्

इह हि तावद्भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरंतनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयालंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते । तथाहि—पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसासमासोक्त्याक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयोपमानन्वयादौ वस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वेन 'स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्' इति यथायोगं द्विविधया भङ्ग्या प्रतिपादितं तैः ।

रुद्रटेन तु भावालङ्कारो द्विर्धेत्योक्तः । रूपकदीपकापह्नुतितुल्ययोगितादावुपमाद्यलङ्कारो वाच्योपस्कारकत्वेनोक्तः । उत्प्रेक्षा तु स्वयमेव प्रतीयमाना कथिता । रसवत्प्रेयःप्रभृतौ तु रसभावादिर्वाच्यशोभाहेतुत्वेनोक्तः । तदित्थं त्रिविधमपि प्रतीयमानमलङ्कारतया ख्यापितमेव ।

वामनेन तु सादृश्यनिबन्धनाया लक्षणाया वक्रोक्त्यलङ्कारत्वं ब्रुवता कश्चिद् ध्वनिभेदोऽलङ्कारतयैवोक्तः । केवलं गुणविशिष्टपदरचनात्मिका रीतिः काव्यात्मकत्वेनोक्ता ।

उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम् । विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात् । संघटनाधर्मत्वेन चेष्टेः । तदेवमलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ।

वक्रोक्तिजीवितकारः पुनर्वैदग्ध्यभङ्गीभणितिस्वभावां बहुविधां वक्रोक्तिमेव प्राधान्यात्काव्यजीवितमुक्तवान् । व्यापारस्य प्राधान्यं च काव्यस्य प्रतिपेदे । अभिधानप्रकारविशेषा एव चालङ्काराः । सत्यपि त्रिभेदे प्रतीयमाने व्यापाररूपा भणितिरेव कविसंरम्भगोचरः । उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः । केवलमुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यं, न व्यंग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम् ।

भट्टनायकेन तु व्यंग्यव्यापारस्य प्रौढोक्त्याभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवता न्यग्भावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम् । तत्राप्यभिधाभावकत्वलक्षण-

* निर्णय सागर प्रेस, बम्बई द्वारा सन् १९३९ मे प्रकाशित द्वितीय संस्करण

व्यापारद्वयोत्तीर्णो रसचर्वणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापारः प्राधान्येन विश्रान्तिस्थानतयाङ्गीकृतः ।

ध्वनिकारः पुनरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यव्यापारत्रयोत्तीर्णस्य ध्वननद्योतनादिशब्दाभिधेयस्य व्यञ्जनव्यापारस्यावश्याभ्युपगम्यत्वाद् व्यापारस्य च वाक्यार्थत्वाभावाद् वाक्यार्थस्यैव च व्यंग्यरूपस्य गुणालंकारोपस्कर्तव्यत्वेन प्राधान्याद् विश्रान्तिधामत्वाद्वात्मत्वं सिद्धान्तितवान् ।

व्यापारस्य विषयमुखेन स्वरूपप्रतिलम्भात् तत्प्राधान्येन प्राधान्यात् स्वरूपेण विदितत्वाभावाद्विषयस्यैव समग्रभरसहिष्णुत्वम् । तस्माद्विषय एव व्यंग्यनामा जीवितत्वेन वक्तव्यः । यस्य गुणलंकारकृतचारुत्वपरिग्रहसाभ्याम् । रसादयस्तु जीवितभूता नालंकारत्वेन वाच्याः । अलंकाराणामुपस्कारकत्वाद्रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात् । तस्माद् व्यंग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितमित्येष एव पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानामावर्जकः । व्यंजनव्यापारस्य सर्वेरनपह्नुतत्वात्तदाश्रयेण च पक्षान्तरस्याप्रतिष्ठानात् ।

यत्तु व्यक्तिविवेककारो वाच्यस्य प्रतीयमानं प्रति लिङ्गतया व्यञ्जनस्यानुमानान्तर्भावमाख्यत् तद्वाच्यस्य प्रतीयमानेन सह तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावादविचारिताभिधानम् । तदेदत्कुशाग्रधिषणैः क्षोदनीयमतिगहनगहनमिति नेह प्रतन्यते ।

अस्ति तावद् व्यंग्यनिष्ठो व्यञ्जनव्यापारः । तत्र व्यंग्यस्य प्राधान्याप्राधान्याभ्यां ध्वनिगुणीभूतव्यंग्याख्यौ द्वौ काव्यभेदौ । व्यंग्यस्यास्फुटत्वेऽलंकारवत्त्वेन चित्राख्यः काव्यभेदस्तृतीयः । तत्रोत्तमो ध्वनिः । तस्य लक्षणाभिधामूलत्वेनाविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्यौ द्वौ भेदौ । आद्योऽप्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वेन द्विविधः । द्वितीयोऽप्यसंलक्ष्यक्रमसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यतया द्विविधः । लक्षणमूलशब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यः । अर्थशक्तिमूलो वस्तु (रसादि)-ध्वनिः संलक्ष्यक्रमव्यंग्यः । शब्दार्थोभयशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरलंकारध्वनिश्चेति । तत्र रसादिध्वनिरलंकारमञ्जर्यां दर्शितः । काव्यस्य शृङ्गारप्रधानत्वात् । शिष्टस्तु यथावसरं तत्रैव विभक्तः । गुणीभूतव्यंग्यो वाच्याङ्गत्वादिभेदैर्यथासंभवं समासोक्त्यादौ दर्शितः । चित्रं तु शब्दार्थालंकारस्वभावतया बहुतरप्रभेदम् । (पृष्ठ ३-१६)

विश्वनाथ

समय—सन् १३००—१३५० ई०

ग्रन्थ—[साहित्यदर्पण]*

१. काव्य-फल

अल्पबुद्धि वालो को भी सुख से—बिना किसी विशेष परिश्रम के-चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-रूप फल की प्राप्ति काव्य के ही द्वारा हो सकती है, अतः उसके स्वरूप (लक्षण) का निरूपण किया जाता है ॥१।२॥

काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति, रामादिको की भाँति धर्म-कार्यो में प्रवृत्त होना चाहिये और रावणादिको की भाँति अधर्म कार्यों मे नही प्रवृत्त होना चाहिए इत्यादि रीति से कृत्य अर्थात् अनुष्ठेय (शास्त्र-विहित) कर्मो मे प्रवृत्ति, अकृत्य अर्थात् अनाचरणीय (शास्त्र-निषिद्ध) कर्मों से निवृत्ति के उपदेश के द्वारा सुप्रसिद्ध

इसी बात का प्राचीनोक्ति द्वारा समर्थन करते हैं—अच्छे काव्यों के निषेवण अर्थात् अध्ययनादि से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधनो तथा नृत्य-गीतादि कलाओं मे वैचक्षण्य प्राप्त होता है, ससार मे कीर्ति होती है और हृदय मे प्रसन्नता होती है ।

काव्य से धर्म की प्राप्ति भगवान् नारायण के चरणारविन्द की स्तुति के द्वारा सुप्रसिद्ध ही है । इस प्रकार काव्य धर्म के प्रति साक्षात् कारण होगया । 'एकः 'शब्द''''' इत्यादि वेद-वाक्यों से भी काव्य के द्वारा धर्म की प्राप्ति सुप्रसिद्ध है । इस वाक्य मे 'शब्दः' के एक वचन से भी एकत्व-रूप अर्थ की प्रतीति हो सकती थी फिर भी 'एकः' कहने से 'एकोऽपि' यह अर्थ लक्षित होता है । इससे यह तात्पर्य निकलता है कि एक भी शब्द यदि सुप्रयुक्त हो अर्थात् रस का व्यंजक बना के सुन्दर रीति से निवेशित किया गया हो अथवा सम्यक् रीति से ज्ञात हो अर्थात् काव्यानुशीलन के समय भावना के द्वारा यथावत् रस का व्यंजक समझा गया हो तो वह इस लोक मे और परलोक

* नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा सम्वत् १९९१ में प्रकाशित द्वितीय संस्करण

में कामधेनु (मनोरथ पूर्ण करने वाला) होता है। इससे स्पष्ट है कि काव्यो की रचना और उनका अनुशीलन दोनो ही धर्मोत्पादक है, कामधुक् हैं और वेदानुमोदित हैं।

काव्यो से उनके बनाने वालो को धन की प्राप्ति होती है यह बात तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। राजादिको से कवियो का धनागम देखा ही जाता है। काममुख की प्राप्ति धन के द्वारा प्रत्यक्ष है। काव्य से उत्पन्न धर्म के फल का परित्याग करने से मोक्ष की प्राप्ति भी काव्य के द्वारा हो सकती है। अथवा मोक्ष के उपयोगी उपनिषदादि वाक्यों मे व्युत्पत्ति पैदा करने के कारण काव्य को मोक्ष का हेतु जानना।

नीरस होने के कारण वेद, शास्त्रादि से चतुर्वर्ग की प्राप्ति दु:ख से ही होती है और वह भी परिपक्व-बुद्धि पुरुषो को ही होती है, सबको नही। किन्तु परम आनन्द समूह (रसास्वाद) का उत्पादक होने के कारण सुकुमार बुद्धि राजकुमारादिको को भी सुखपूर्वक उसकी प्राप्ति यदि किसी से हो सकती है तो वह काव्य से ही। तात्पर्य यह है कि 'एव' शब्द से वेद-शास्त्रादि की व्यावृत्ति करना अभीष्ट है, क्योकि उनसे सुख-पूर्वक धर्मादि की प्राप्ति नही होती और सुकुमार बुद्धि वालों को तो किसी प्रकार होती ही नही।

प्रश्न—अच्छा तो फिर परिपक्व-बुद्धि पुरुष वेद-शास्त्रादिको के रहते हुए काव्यो में क्यो परिश्रम करे? वे सुकुमार-मति या मन्द-मति तो हैं नही जो काव्यों मे लगे? उत्तर—यह ठीक नही, क्योकि कडवी कसैली औषध से शान्त होने योग्य कोई रोग यदि मीठी-मीठी सुन्दर सफेद खॉड से दूर होने लग जाय तो ऐसा कौन अभागा रोगी होगा जो खॉड खाना पसन्द न करे। इसलिये यह कोई बात नही कि परिपक्व-बुद्धि पुरुष काव्य नही पढ़ेगे। (पृष्ठ १०-१६)

२. काव्य का स्वरूप

काव्य का स्वरूप कहेगे। इस कारिका से अभिधेय अर्थात् विषय और 'च' शब्द से सम्बन्ध तथा प्रयोजन भी दिखाये गये है। अच्छा तो फिर काव्य का क्या लक्षण है? इस आकाक्षा मे कोई (काव्य-प्रकाशकार) कहता है—दोषरहित, गुण-सहित और अलकारो से विभूषित शब्द तथा अर्थ को काव्य कहते हैं, किन्तु यदि कही अलंकार स्फुट न हो तो भी कोई हानि नही। यह चिन्तनीय (दूषणीय) है। दोष दिखाते हैं। यदि दोषरहित को ही काव्य मानोगे तो 'न्यक्कार' इत्यादि पद्य काव्य नही ठहरेगे।

पहले तो शत्रुओ का होना ही मेरा तिरस्कार है। उस पर भी यह (तपस्वी नही) मेरा शत्रु है—यह और भी अनुचित है। वह भी यही है। (यदि दूर कही

छिपा रहता तो भी खैर थी)। केवल है ही नही—राक्षसों के कुल का (एक दो का नहीं) संहार कर रहा है !! आश्चर्य तो यह है कि रावण जी रहा है। देवाऽसुरादि समस्त त्रैलोक्य को रुलाने वाले, राक्षस-राज 'रावण' के जीते जी यह बात ! इन्द्रजित् = मेघनाद को धिक्कार है और जगाये हुए कुम्भकर्ण से भी क्या बना ? और स्वर्ग-रूप तुच्छ ग्राम को लूट लेने भर से व्यर्थ फूले हुए इन मेरे बाहुओ से भी क्या फल ?

इस पद्य मे विधेयाविमर्श दोष है, अतः यदि निर्दोष को ही काव्य मानोगे तो यह काव्य न ठहरेगा।

'तददोषौ' इत्यादि पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार तो यह सदोष पद्य काव्य कहा नही जा सकता, किन्तु इसके विपरीत उन्ही ने ध्वनि होने के कारण इसे उत्तम काव्य माना है, अत अव्याप्ति नामक लक्षण-दोष हुआ।

इस पद्य मे जहाँ विधेयाविमर्श दोष है—वही दूषित है, सब तो नही ? फिर जिस अंश मे दोष है वह अकाव्यत्व का प्रयोजक होगा ? उत्तर—इस प्रकार इन दो विरुद्ध अंशो से इधर-उधर खीचा गया यह पद्य न तो काव्य ही रहेगा न अकाव्य ही।

इसके अतिरिक्त श्रुति-दुष्टत्व, विधेयाविमर्शत्वादिक दोष काव्य के किसी एक अंश को ही दूषित करते हों, सो बात भी नही है। तो फिर क्या है ? सम्पूर्ण काव्य को दूषित करते हैं।

काव्यो का आत्म-स्थानापन्न जो रस उसमें यदि अपकर्ष (हीनता) न पैदा करे तो श्रुति-दुष्टत्वादिको को दोष नही माना जाता।

यदि यह बात न माने तो नित्य दोष और अनित्य दोषो की व्यवस्था नही हो सकेगी।

जैसा ध्वनिकार ने कहा है—जिन श्रुति-दुष्टत्वादिको को दोष कहा है और अनित्य बतलाया है, वे 'ध्वनि' अर्थात् उत्तम काव्य के आत्मभूत अर्थात् प्रधान व्यंग्य शृंगार में ही त्याज्य हैं। सर्वत्र शृंगार में भी नही।

सदोष को काव्य नही मानने से या तो काव्य के लक्षण का विषय (उदाहरण) अत्यन्त विरल हो जायगा या असम्भव ही हो जायगा, क्योंकि किसी वाक्य का सर्वथा निर्दोष होना एकदम असम्भव है। यदि सर्वथा निर्दोष वाक्य दुर्लभ है तो 'अदोषौ' पद मे 'अ' को ईषदर्थक मानेगे। यदि ऐसा करोगे तो 'ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्' यह

लक्षण होगा। इसका अर्थ है कि थोड़े दोष से युक्त शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं। इसके अनुसार काव्यों में थोडा दोष रहना भी आवश्यक होगा और यदि किसी अति निपुण कवि के निर्दोष, शब्द और अर्थ हुए तो वे काव्य नही कहलायेगे। यदि इस लक्षण मे 'सतिसम्भवे' इतना और निवेश करके यह अर्थ करो कि दोषों की सम्भावना होने पर थोडे दोष वाले शब्द और अर्थ काव्य होते हैं—अधिक दोष-युक्त नही, सो यह भी ठीक नहीं—जैसे रत्न के लक्षण में कीटानुवेध का परिहार नही किया जाता वैसे ही काव्य के लक्षण मे दोष का परिहार अनावश्यक है। जैसे कीड़ा लग जाने से किसी रत्न का रत्नत्व नही दूर हो जाता--केवल उसकी उपादेयता में तारतम्य हो जाता है, इसी प्रकार श्रुति-दुष्टत्वादि दोष, काव्य के काव्यत्व को नहीं हटा सकते। केवल उसके उत्कर्ष मे कुछ न्यूनता कर सकते हैं। इस बात मे प्रमाण देते हैं—उक्तचेति-जहाँ रसादि का भान स्फुट होता हो वहाँ कीटानुविद्ध रत्नादि के समान दोष रहने पर भी काव्यत्व माना जाता है।

(शब्दार्थौ इसका 'सगुणौ' यह विशेषण भी युक्ति-युक्त नही है। क्योकि गुण केवल रस मे ही रहते हैं, शब्द और अर्थ मे नही। यह बात अष्टम उल्लास मे गुणो का वर्णन करते हुए उन्ही काव्य-प्रकाशकार ने स्वय कही है—अर्थात् जैसे आत्मा का गुण शूरता आदि है इसी प्रकार माधुर्यादि गुण काव्य के आत्मभूत रस के ही धर्म हैं और अचल हैं। इससे स्पष्ट है कि गुण रसो मे ही रहते हैं शब्द या अर्थ मे नही।

यदि यह कहो कि शब्द और अर्थ रस के व्यजक होते हैं, अतः उपचार (परम्परा सम्बन्ध) से इनमे भी गुण रह सकते हैं। यो भी ठीक नही। यह तो बतलाओ, तुम जिन शब्दो और अर्थो को काव्य समझते हो, उनमे रस रहता है या नही? यदि नही, तो गुण भी नही रह सकते, क्योकि गुण तो रस के अन्वय-व्यतिरेक का अनुगमन करते हैं। यदि कहो कि उनमे रस है तो फिर 'रसवन्तौ' यही विशेषण क्यो न दिया? यदि कहो कि गुण बिना रस के रह ही नही सकते, अतः सगुण कहने से ही सरस होना अर्थ बल से सिद्ध हो जायगा, तो इस दशा मे भी 'सरसौ' यही विशेषण देना चाहिये, 'सगुणौ' नही। क्योंकि 'प्राणिमान् देश है' इस वाक्य की जगह 'शौर्यवान् देश है' यह वाक्य कोई नही बोलता।

यदि कहो कि 'सगुणौ शब्दार्थौ' इसका यह अभिप्राय है कि गुणो के अभिव्यंजक शब्दों और अर्थो का काव्य में प्रयोग करना चाहिए, तो यह भी ठीक नही क्योंकि गुणो के अभिव्यंजक शब्द और अर्थ काव्य में केवल उत्कर्ष पैदा करते हैं—वे स्वरूप के आधायक नही होते। इसीलिये कहा है—शब्द और अर्थ काव्य के शरीर

हैं और रसादिक आत्मा है । माधुर्यादि गुण शौर्यादि की भांति, श्रुति-कटुत्वादि दोष काणत्वादि की तरह, वैदर्भी आदि रीतियाँ अंग-रचना के सदृश और उपमादिक अलंकार कटक, कुण्डलादि के तुल्य होते हैं। इस काव्य-पुरुष के रूपक से पूर्वलक्षण में कहा हुआ 'अनलंकृती पुनः क्वापि' यह अंश भी खण्डित हो गया। खण्डन-प्रकार दिखाते हैं—इस उक्त अंश का यही अर्थ है कि सब स्थानों पर अलंकार-युक्त शब्द-अर्थ होने चाहियें, किन्तु यदि कही अलंकार स्फुट न हो तो भी वहाँ काव्यत्व होता है। परन्तु उक्त रूपक में अलंकारों को कटक, कुण्डल के तुल्य कहने से यह स्पष्ट है कि वे उत्कर्ष करने वाले ही होते हैं, स्वरूप के घटक नही होते। इसी से 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' यह वक्रोक्ति-जीवितकार का कथन भी खण्डित हो गया, क्योकि वक्रोक्ति तो एक अलंकार है—और अलंकार, स्वरूप के अन्तर्गत नही होते ।

अस्फुटालंकार का जो निम्नलिखित उदाहरण काव्य-प्रकाशकार ने दिया है, वह भी ठीक नही है। जिसने बाल-भाव अथवा अनूढात्व को दूर किया है वही तो वर है और वे ही (पूर्वानुभूत) चैत्रमास की (वसन्त ऋतु की) रात्रियाँ हैं। खिली हुई मालती (वासन्तीलता) से सुगन्धित वही प्रौढ (अमन्द अर्थात् उद्दीपक) कदम्ब वन का समीर है और मै भी वही हूँ। तात्पर्य यह कि सब वस्तुये पूर्वानुभूत ही हैं, कोई नई चीज़ या नई बात नही, तो भी नर्मदा के किनारे उस बेंत की कुंज मे विहार करने को जी उत्कण्ठित हो रहा है—यह उदाहरण चिन्त्य (दूष्य) है। दोष दिखाते हैं—यहाँ विभावना और विशेषोक्ति से उत्थापित सन्देह-संकरालकार स्फुट है।

इस पूर्वोक्त ग्रन्थ से 'दोष-रहित, गुण-सहित, अलंकारों से भूषित और रस से युक्त काव्य को बनाता हुआ कवि कीर्ति और प्रीति को पाता है', इत्यादि काव्य के लक्षण भी खण्डित हो गये ।

'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'—काव्य का आत्मा ध्वनि है, यह जो ध्वनिकार ने कहा है—वहाँ प्रश्न यह है कि क्या वस्तु, अलंकार और रसादिक इन सब की ध्वनियों को काव्य की आत्मा मानते हो ? या केवल रसादि की ध्वनि को ही ? इनमें पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योकि पहेली आदि में—जहाँ वस्तु ध्वनित होती है—काव्य का लक्षण अतिव्याप्त हो जायगा। अलक्ष्य में लक्षण के जाने से अतिव्याप्ति नामक लक्षण का दोष होता है। यदि दूसरा पक्ष मानो तो हमें स्वीकार है। रसादि ध्वनि को हम भी काव्यात्मा मानते हैं।

प्रश्न—यदि केवल रसादिध्वनि को काव्यात्मा मानते हो तो निम्न पद्य मे काव्य का लक्षण नहीं घटेगा। इस स्थान पर मेरी सास नींद में निमग्न होती है—

अर्थात् बेखबर सोती है और यहाँ मैं सोती हूँ। दिन मे ही देख लो। हे रात के अन्धे (रतौध वाले) पथिक ! कही रात मे मेरी खाट पर मत आ पडना। यह स्वयं दूती की उक्ति है। इत्यादिक स्थलो मे—जहाँ वस्तुमात्र व्यंग्य है—काव्यत्व का व्यवहार कैसे होगा ? उत्तर—यहाँ भी रसाभास के कारण ही हम काव्यत्व मानते हैं। उक्त पद्य मे आगन्तुक परपुरुष मे स्वयं दूती का अनुराग प्रतीत होता है, अतः शृंगाराभास है।

यदि यह न मानो अर्थात् वस्तु मात्र के व्यंग्य होने पर भी यदि काव्यत्व मानने लगो तो 'राजा देवदत्त गाँव को जाता है' इत्यादि वाक्य भी काव्य हो जायेगे, क्योकि इस वाक्य से भी देवदत्त के भृत्य का पीछे-पीछे जाना व्यंग्य है। यदि कहो कि यह भी काव्य ही सही—तो यह ठीक नही, क्योंकि सरस वाक्य ही काव्य माना जाता है, अन्य नही। इसमें प्रमाण देते हैं—प्राचीन आचार्यों ने भी रूप मीठी-मीठी वस्तु के द्वारा, कठिन वेद शास्त्रादिकों से विमुख, सुकुमार-बुद्धि, शिक्षणीय राजपुत्रादिको के प्रति रामादि की तरह प्रवृत्त होना चाहिये, रावणादि की तरह नही इत्यादिक कृत्य मे प्रवृत्ति और अकृत्य से निवृत्ति के उपदेश को ही काव्य का प्रयोजन बतलाया है, अतः जहाँ रसास्वाद है वे ही वाक्य काव्य होते हैं, नीरस नही। ऐसा ही आग्नेय पुराण मे भी कहा है—वाणी के चातुर्य की प्रधानता होने पर भी काव्य मे जीवनभूत रस ही है। व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट ने भी कहा है—काव्य के आत्मभूत संगी (स्थायी) रसादिक हैं, इसमे तो किसी को विवाद ही नही। ध्वनिकार ने भी कहा है—कवि यदि केवल इतिहास लिख दे तो उस ग्रन्थ को आत्मपद (काव्यपद) प्राप्त नही हो सकता। कवि जो कुछ लिख दे वह सब काव्य नही हुआ करता और न उससे काव्य का प्रयोजन ही सिद्ध होता है। पुरानी कथाओं का ज्ञान होना काव्य का प्रयोजन नही वह तो इतिहास पुराणादिकों से भी हो सकता है।

प्रश्न—यदि सरस वाक्य ही काव्य होते हैं तो रघुवंशादिक प्रबन्धों के अन्तर्गत जो अनेक नीरस पद्य हैं, वे काव्य न रहेगे ? उत्तर—ऐसा नही है। जैसे सरस पद्य के कुछ नीरस पद उसी के रस से रसवान् समझे जाते हैं इसी प्रकार प्रबन्ध के रस से नीरस पद्यों मे भी रसवत्ता मानी जाती है। यहाँ पद्य शब्द गद्य का भी उपलक्षण है।

गुणों के व्यंजक वर्णों के और अलंकारों के होने एवं दोषो के न होने से नीरस वाक्यो मे भी जो काव्यत्व व्यवहार देखा जाता है, वह सरस काव्य के बन्ध (रचना) की समता के कारण किया हुआ गौण (लाक्षणिक) प्रयोग जानना।

यह जो वामन (अलंकार-सूत्रकार श्री वामनाचार्य) ने कहा है कि 'काव्य की आत्मा रीति है' सो भी ठीक नही—क्योंकि रीति तो संघटना (रचना) रूप है—और

संघटना शरीर के अग-विन्यास के तुल्य होती है—वह आत्मा नही हो सकती—आत्मा शरीर से भिन्न होता है।

ध्वनिकार ने यह जो कहा है कि—'सहृदयो से श्लाघ्य जो अर्थ काव्य का आत्मा व्यवस्थापित किया है, उसके दो भेद होते हैं—एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान।' इस कारिका में वाच्यार्थ को काव्य का आत्मा बतलाना उनके 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इस अपने कथन से ही विरुद्ध होने के कारण निरस्त समझना चाहिये।

अच्छा तो फिर काव्य का निर्दिष्ट लक्षण क्या है ? इस आकांक्षा में स्वसम्मत लक्षण कहते हैं—रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं। रस के स्वरूप का निरूपण तीसरे परिच्छेद मे करेगे। 'रसात्मक' पद का अर्थ करते हैं—सार अर्थात् सबसे प्रधान होने के कारण रस ही जिसका जीवनभूत आत्मा है, वह वाक्य 'रसात्मक' कहलाता है। रस के बिना काव्यत्व नही होता यह बात पहले कह चुके हैं। 'रस्यते इति रसः' इस योगार्थ के द्वारा, जो आस्वादित हो, उस सबको रस कहते हैं—इससे रस, रसाभास, भाव और भावाभासादि का भी ग्रहण होता है। उनमें से रस का उदाहरण देते हैं—नवोढा नायिका वासगृह को शून्य (सखी आदि से वियुक्त) देखकर पलँग से कुछ थोडी-सी, धीरे-धीरे उठी—और उठकर, निद्रा की मुद्रा से लेटे हुए प्रियतम को बहुत देर तक—बड़े ध्यान से देखती रही कि कही जागते तो नही हैं। अनन्तर सोता हुआ समझकर विश्वास-पूर्वक चुम्बन किया—परन्तु उस कपट निद्रित की कपोलस्थली को हर्ष से रोमाचित देखकर वह नव वधू लज्जा से नम्रमुखी हो गई और हँसते हुए प्रियतम ने अधिक समय तक उसका चुम्बन किया। यहाँ शृंगार रस की अभिव्यक्ति होती है।

भाव का उदाहरण—इसमें विष्णु के दस अवतारों का वर्णन है—जिसके सिन्ने (मछली का पर) के एक किनारे मे सारा समुद्र समा गया—(मत्स्यावतार) और जिसकी पीठ पर अखण्ड ब्रह्माण्ड आ गया (कूर्म) जिसकी दाढ में पृथ्वी छिप गई (वाराह) और नख में दैत्यराज-हिरण्यकशिपु लिपट रहा (नृसिह), जिसके पैर में पृथ्वी और आकाश समा गये (वामन) और क्रोध में क्षत्रिय जाति विलीन होगई (परशुराम) एवं जिसके बाण मे रावण का (राम), हाथ में प्रलम्बासुर का (कृष्ण), ध्यान मे जगत् का (बुद्ध) और खड्ग में अधर्मी लोगों का लय हुआ (निष्कलंक) उस किसी अलौकिक तेज को मेरा नमस्कार है। यहाँ भगवद्विषयक रतिभाव व्यंग्य है।

रसाभास का उदाहरण—कामातुर भ्रमर, अपनी प्रिया का अनुगमन करता हुआ पुष्प-रूप एक पात्र में मधु (पुष्प रस रूप मत्त) का पान करने लगा और स्पर्श-

सुख से निमीलित नयना मृगी को उसका प्रेमी कृष्णसार मृग, सींग से धीरे-धीरे खुजाने लगा। यहाँ शृंगाराभास है। अनौचित्य से प्रवृत्त और पशु-पक्षी-विषयक शृंगार को शृंगाराभास कहते हैं। इसी प्रकार अन्य रसों और भावो के उदाहरण जानना।

गुणो का लक्षण करते हैं—गुण अलकार और रीतियाँ काव्य की उत्कृष्टता के कारण होते हैं ॥१।३॥

जैसे शौर्यादि गुण, कटक कुण्डलादि अलंकार और अंग-रचनादिक मनुष्य के शरीर का उत्कर्ष सूचन करते हुए उसके आत्मा का उत्कर्ष सूचित करते हैं इसी प्रकार काव्य मे भी माधुर्यादि गुण उपमादिक अलंकार और वैदर्भी आदिक रीतियाँ शरीर-स्थानीय शब्द और अर्थ का उत्कर्ष सूचित करते हैं और जैसे शौर्यादिक मनुष्य के उत्कर्षक कहे जाते हैं इसी प्रकार माधुर्यादिक काव्य के उत्कर्षक माने जाते हैं। (पृष्ठ १६-३२)

आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पद-समूह को वाक्य कहते हैं।

वाक्य का स्वरूप

एक पदार्थ के साथ सम्बन्ध करने में बाधा न होना योग्यता कहाता है। यदि योग्यता के बिना पदसमुदाय को वाक्य माना जायगा तो 'वह्निना सिञ्चति' यह भी वाक्य हो जायगा।

किसी ज्ञान की समाप्ति या पूर्ति का न होना आकांक्षा है। वाक्यार्थ की पूर्ति के लिए किसी पदार्थ की जिज्ञासा का बना रहना आकांक्षा कहलाता है। आकांक्षा-शून्य पद-समुदाय को वाक्य मानें तो 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादिक निराकाक्ष पद-समूह भी वाक्य हो जायगा।

बुद्धि अर्थात् प्रकृतोपयोगी पदार्थों की उपस्थिति के 'अविच्छेद' अर्थात् अव्यवधान को आसत्ति कहते हैं।

यदि बुद्धि विच्छेद होने पर भी वाक्यत्व स्वीकार किया जाय तो इस समय कहे हुए 'देवदत्त.' पद का दूसरे दिन बोले हुए 'गच्छति' पद के साथ सम्बन्ध होना चाहिये।

यद्यपि पूर्वोक्त जिज्ञासा इच्छा-रूप होने के कारण आत्मा में रहती है और योग्यता पदार्थों मे ही रह सकती है, तथापि ये दोनों 'उपचार' (परम्परा-सम्बन्ध) से पद-समुदाय मे रहती हैं।

आकांक्षादि-युक्त वाक्यों के समूह को महावाक्य कहते हैं। इस प्रकार वाक्य के दो भेद हुए ॥२।१॥

एक वाक्य, दूसरा महावाक्य। महावाक्य की सत्ता में प्रमाण देते हैं—अपने-अपने अर्थ का बोधन करके समाप्त हुए वाक्यों का, अंगोगिभाव-सम्बन्ध से, फिर मिलकर एक वाक्य (महावाक्य) होता है। उनमे वाक्य का उदाहरण 'शून्य-वासगृहं' इत्यादि है और महावाक्य का रामायण, रघुवंशादिक।

पद-समुदाय वाक्य होता है, यह कह चुके हैं। उसमें पद का लक्षण करते हैं—प्रयोग के योग्य, अनन्वित एक अर्थ के बोधक वर्णों को पद कहते हैं। जैसे 'घटः' यह वर्ण-समुदाय प्रयोग के योग्य है।

इस लक्षण में 'प्रयोगार्ह' कहने से प्रातिपदिक की व्यावृत्ति होती है।

अनन्वित कहने से वाक्य और महावाक्य की व्यावृत्ति होती है।

अनन्वित कहने से वाक्य और महावाक्य की व्यावृत्ति होती है, क्योकि इनमे अन्वित अर्थ का बोध होता है, अनन्वित का नही। 'एक' कहने से साकाक्ष अनेक पद और अनेक वाक्यों का व्यवच्छेद होता है। 'अर्थ-बोधक' कहने से क, च, ट, त, प इत्यादि वर्णों की व्यावृत्ति होती है। 'वर्णा.' इस पद में बहुवचन अविवक्षित है।

(पृष्ठ ३४-३६)

३. काव्य के रूप

जो केवल सुने जा सकें—वे गद्य और पद्य दो प्रकार के श्रव्य-काव्य—होते हैं ॥६।३१३॥

छन्दों में लिखे काव्य को पद्य कहते हैं। वह यदि मुक्त—दूसरे पद्य से निरपेक्ष हो तो मुक्तक और यदि दो श्लोकों में वाक्य-पूर्ति होती हो तो युग्मक कहाता है। एवं तीन पद्यों का सन्दानितक अथवा विशेषक, चार का कलापक और पाँच अथवा इनसे अधिक का कुलक होता है ॥६।३१४।३१५॥

मुक्तक का उदाहरण—सान्द्रेति—जिस सान्द्रानन्द ब्रह्म का ध्यान योगी लोग बड़े एकाग्र चित्त होकर जैसे-तैसे कभी कर पाते हैं उसी को मथुरा की स्त्रियाँ खेल-खेल में आलिंगन करती हैं, उससे बाते करती हैं, उसे खेंचे-खेंचे फिरती हैं और चुम्बन भी करती हैं, वे धन्य हैं।

युग्मक—जैसे—

किं करोषि करोपान्ते कान्ते गण्डस्थलीमिमाम् ।
प्रणयप्रवणे कान्ते नैकान्ते नोचिताः क्रुधः ।।
इति यावत्कुरङ्गाक्षी वक्तुमीहामहे वयम् ।
तावदाविरभूच्चूते मधुरो मधुपध्वनि ।।*

अर्थात्, "हे सुन्दरि ! अपने कपोलो को हथेली के सहारे टिका कर यह क्या कर रही हो ? अपने प्रेमी वल्लभ पर एकदम क्रोध ही करते रहना ठीक नही ।" जब हम उस मृगनयनी को यह बात कहना ही चाहते थे कि उसी समय आम्रवृक्ष पर भौरों का मधुर गुंजन प्रारम्भ हो गया ।

इसी प्रकार और उदाहरण भी जानना ।

जिसमें सर्गों का निबन्धन हो वह महाकाव्य कहाता है । इसमें एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय—जिसमे धीरोदात्तत्वादि गुण हों—नायक होता है । कही एक वंश के सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक होते हैं । शृगार, वीर और शान्त मे से कोई एक रस अंगी होता है । अन्य रस गौण होते हैं । सब नाटक-सन्धियाँ रहती हैं । कथा ऐतिहासिक या लोक में प्रसिद्ध सज्जन-सम्बन्धिनी होती है । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग मे से एक उसका फल होता है । आरम्भ मे आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य वस्तु का निर्देश होता है । कही खलों की निन्दा और सज्जनों का गुण-वर्णन होता है । इसमे न बहुत छोटे, न बहुत बडे आठ से अधिक सर्ग होते है । उनमें प्रत्येक में एक ही छन्द होता है, किन्तु अन्तिम पद्य (सर्ग का) भिन्न छन्द का होता है । कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते हैं । सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होनी चाहिये । इसमे सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया (शिकार), पर्वत, ऋतु (छहों), वन, समुद्र, संभोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथा-सम्भव सांगोपांग वर्णन होना चाहिये । इसका नाम कवि के नाम से (जैसे माघ) या चरित्र के नाम से (जैसे कुमारसंभव) अथवा चरित्र-नायक के नाम से (जैसे रघुवंश) होना चाहिए । कही इनके अतिरिक्त भी नाम होता है—जैसे भट्टि । सर्ग की वर्ण्यीय कथा से सर्ग का नाम रक्खा जाता है । सन्धियों के अंग यहाँ यथासम्भव रखने चाहियें । अवसाने—यहाँ बहुवचन की विवक्षा नही है—यदि एक या दो भिन्न वृत्त हों तो भी कोई हर्ज नही । जलक्रीडा, मधुपानादिक सागोपाग होने चाहिये । महाकाव्य के उदाहरण जैसे रघुवशादिक ।।६।३१५-३२४।।

---

* युग्मक का उदाहरण संस्कृत-भाग है, इसका हिन्दी-अनुवाद नहीं ।

आर्ष (ऋषि-प्रणीत) काव्य में सर्गों का नाम 'आख्यान' होता है। जैसे महाभारत मे। प्राकृत काव्यों मे सर्गों का नाम 'आश्वास' होता है। इसमें स्कन्धक या कही गलितक छन्द होते हैं। जैसे सेतुबन्ध। अपभ्रंश भाषा के काव्यो मे सर्गों का नाम कुडवक होता है और छन्द भी अपभ्रंश के योग्य अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे कर्णपराक्रम। भाषेति—संस्कृत, प्राकृतादि भाषा या बाहूलीका आदि विभाषा के नियमानुसार बनाया गया एक कथा का निरूपक, पद्य-बद्ध, सर्गमय ग्रन्थ—जिसमें सब सन्धियाँ न हो—काव्य कहलाता है। काव्य के एक अश को अनुसरण करने वाला खण्डकाव्य होता है। जैसे मेघदूत। परस्पर निरपेक्ष श्लोक-समूह को कोप कहते हैं। यह यदि 'व्रज्या' (वर्णमाला) के क्रम से बने तो अतिसुन्दर होता है। सजातियों के एक स्थान मे सन्निवेश को व्रज्या कहते हैं ॥६।३२५-३२९॥ (पृष्ठ ३२२-३२५)

४. गद्य-काव्य

अब गद्य काव्यों का निरूपण करते हैं। गद्य चार प्रकार का होता है—मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक।* पहला समास-रहित होता है। दूसरे में पद्य के अंश पड़े रहते हैं। तीसरे में दीर्घ समास और चौथे में छोटे-छोटे समास होते हैं।

मुक्तक का उदाहरण—'गुरुर्वचसि पृथुरुरसि'—इत्यादि। अर्थात् वह बात करने में बृहस्पति तुल्य था। उसका वक्ष विशाल था।

वृत्तगन्धि का उदाहरण—'समरकण्डूलनिबिडभुजदण्डकुण्ठीकृतकोदण्डशिंजिनीटंकारोज्जागरितवैरिनगर'—इत्यादि। अर्थात्, उसके प्रचण्ड भुजदण्ड युद्ध के लिये खुजला रहे थे। फिर उसने हाथो मे गोलाकार धनुष लेकर उसकी डोरी की टंकार से शत्रुओ के नगर को जगा दिया। यहाँ अनुष्टुप का अंश अन्तःपतित है।

उत्कलिकाप्राय का उदाहरण—अनिशविसृमरनिशितशरविसरविदलितसमरपरिगतप्रवरपरबलः।' अर्थात्, उसने समर मे आई हुई शत्रुओं की प्रबल सेना को लगातार अपने तीक्ष्ण बाणों की वर्षा से छिन्न-भिन्न कर डाला।

चूर्णक का उदाहरण—'गुणरत्नसागर, जगदेकनागर, कामिनीमदन जनरञ्जन' इत्यादि। अर्थात्, तुम गुण रूपी रत्नो के सागर हो। संसार में अद्वितीय चतुर हो। रमणियों के लुभाने मे कामदेव के समान सुन्दर हो। प्रजाजन को प्रसन्न करने वाले हो।

---

* नीचे जितने संस्कृत-भाग ही मुक्तक आदि के उदाहरण हैं, इनके हिन्दी-अनुवाद नहीं।

कथा में सरस वस्तु गद्यों के द्वारा ही बनायी जाती है। इसमें कहीं-कहीं आर्याछन्द और कहीं वक्त्र तथा अपवक्त्र छन्द होते हैं। प्रारम्भ मे पद्यमय नमस्कार और खलादिकों का चरित्र निबद्ध होता है। जैसे कादम्बरी।

आख्यायिका कथा के समान होती है। इसमे कविवंश-वर्णन होता है, और अन्य कवियों का वृत्तान्त तथा पद्य भी कहीं-कहीं रहते हैं। यहाँ कथा-भागों का नाम 'आश्वास' रखा जाता है। आर्या, वक्त्र या अपवक्त्र छन्द के द्वारा अन्योक्ति से आश्वास के आरम्भ मे अगली कथा की सूचना दी जाती है। जैसे हर्ष-चरित। 'आख्यायिका की कथा नायक के मुख से ही निबद्ध होनी चाहिये' यह किन्ही का मत है—सो ठीक नही, क्योकि आचार्य दण्डी ने यह कहा है कि 'आख्यायिका में भी अन्य लोगो के वचन होते हैं—केवल नायक ही के नही—अतः इस विषय में कोई नियम नही है।' आख्यानादिक कथा और आख्यायिका के ही अन्तर्भूत हैं। यह भी दण्डी ने ही कहा है। इनके उदाहरण पंचतन्त्रादि हैं।

जिसमे गद्य और पद्य दोनों हों उस काव्य को चम्प कहते। गद्य-पद्यमय राजस्तुति का नाम विरुद है। विविध भाषाओं से निर्मित करम्भक कहलाता है ॥६।३३०-३३७॥ (पृष्ठ ३२५-३२६)

अनुवादक : साहित्याचार्य श्री शालग्राम शास्त्री

विश्वनाथः

[साहित्यदर्पण]*

१. काव्यफलम्

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥१।२॥

चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवदित्यादिकृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव ।

उक्तं च—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥' इति ।

किञ्च काव्याद्धर्मप्राप्तिर्भगवन्नारायणचरणारविन्दस्तवादिना, 'एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति' इत्यादिवेदवाक्येभ्यश्च सुप्रसिद्धैव । अर्थप्राप्तिश्च प्रत्यक्षसिद्धा । कामप्राप्तिश्चार्थद्वारैव । मोक्षप्राप्तिश्चैतज्जन्यधर्मफलाननुसन्धानात् । मोक्षोपयोगिवाक्ये व्युत्पत्त्याधायकत्वाच्च । चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते । परमानन्दसंदोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव ।

ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्नः करणीय इत्यपि न वक्तव्यम् । कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात् । (पृष्ठ १०-१६)

२. काव्यस्य स्वरूपम्

काव्यस्य स्वरूपं निरूप्यते । एतेनाभिधेयं च प्रदर्शितम् । तत्किं स्वरूपं तावत्काव्यमित्यपेक्षायां कश्चिदाह—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' इति । एतच्चिन्त्यम् । तथाहि—यदि दोषरहितस्यैव काव्यत्वं तदा—

---

* नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा संवत् १९९१ में प्रकाशित द्वितीय संस्करण

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग्धिक्कञ्चकजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥'

अस्य श्लोकस्य विधेयाविमर्शदोषदुष्टतया काव्यत्वं न स्यात्। प्रत्युत ध्वनित्वेनोत्तमकाव्यताऽस्यऽङ्गीकृता। तस्मादव्याप्तिर्लक्षणदोषः। ननु कश्चिदेवांशोऽत्र दुष्टो न पुनः सर्व एवेति चेत्तर्हि यत्रांशे दोषः सोऽकाव्यत्वप्रयोजकः, यत्र ध्वनिः स उत्तमकाव्यत्वप्रयोजक इत्यंशाभ्यामुभयत आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्यं वा किमपि न स्यात्। न च कश्चिदेवांशं काव्यस्य दूषयन्तः श्रुतिदुष्टादयो दोषाः, किं तर्हि, सर्वमेव काव्यम्। तथाहि—काव्यात्मभूतस्य रसस्यानपकर्षकत्वे तेषां दोषत्वमपि नाङ्गीक्रियते। अन्यथा नित्यदोषानित्यदोषत्वव्यवस्थापि न स्यात्। यदुक्तं ध्वनिकृता—

'श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च वर्णिताः।
ध्वन्यात्मन्येव भृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥' इति।

किञ्चैवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसंभवात्।

नन्वीषदर्थे नञः प्रयोग इति चेत्तर्हि 'ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्' इत्युक्ते निर्दोषयोः काव्यत्वं न स्यात्। सति सम्भवे 'ईषद्दोषौ' इति चेत्, एतदपि काव्यलक्षणेऽत्राच्यम्। रत्नादिलक्षणे कीटानुवेधादिपरिहारवत्। नहि कीटानुवेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशाः, किन्तूपादेयतारतम्यमेव कर्तुम्, तद्वदत्र श्रुतिदुष्टादयोऽपि काव्यस्य। उक्तं च—

'कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः ॥' इति।

किञ्च शब्दार्थयोः सगुणत्वविशेषणमनुपपन्नम्। गुणानां रसैकधर्मत्वस्य 'ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः' इत्यादिना तेनैव प्रतिपादितत्वात्। रसाभिव्यञ्जकत्वेनोपचारत उपपद्यत इति चेत्, तथाप्ययुक्तम्। तथाहि—तयोः काव्यस्वरूपेणाभिमतयोः शब्दार्थयो रसोऽस्ति, न वा। नास्ति चेत्, गुणवत्त्वमपि नास्ति। गुणानां तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। अस्ति चेत्, कथं नोक्तं रसवन्ताविति विशेषणम्। गुणवत्त्वान्यथानुपपत्त्यैतल्लभ्यत इति चेत्, तर्हि सरसाविव्येव वक्तुं युक्तम्, न सगुणाविति। नहि प्राणिमन्तो देशा इति वक्तव्ये शौर्यादिमन्तो देशा इति केनाप्युच्यते।

ननु 'शब्दार्थौ सगुणौ' इत्यनेन गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ काव्ये प्रयोज्यावित्यभिप्राय इति चेत्, न। गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थवत्त्वस्य काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वम्, न तु स्वरूपाधायकत्वम्। उक्तं हि—काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराः कटक-कुण्डलादिवत्, इति। एतेन 'अनलंकृती पुनः क्वापि' इति यदुक्तम्, तदपि परास्तम्। अस्यार्थः—सर्वत्र सालंकारौ क्वचित्स्वस्फुटालंकारावपि शब्दार्थौ काव्यमिति। तत्र सालंकारशब्दार्थयोरपि काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वात्। एतेन 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' इति वक्रोक्तिजीवितकारोक्तमपि परास्तम्। वक्रोक्तेरलंकाररूपत्वात्। यत्तु क्वचिदस्फुटालंकारत्वे उदाहृतम्—

'यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कुदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥' इति।

एतच्चिन्त्यम्। अत्र हि विभावनाविशेषोक्तिमूलस्य सन्देहसंकरालंकारस्य स्फुटत्वम्। एतेन —

'अदोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥'

इत्यादीनामपि काव्यलक्षणत्वमपास्तम्। यत्तु ध्वनिकारेणोक्तम्—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इति, तत्किं वस्त्वलंकाररसादिलक्षणस्त्रिरूपो ध्वनिः काव्यस्यात्मा उत रसादि-रूपमात्रो वा। नाद्यः, प्रहेलिकादावतिव्याप्तेः। द्वितीयश्चेदोमिति ब्रूम। ननु यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, तदा—

'अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअन्धिय सज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥'*

इत्यादौ वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत्, न। अत्रापि रसाभासवत्तैयवेति ब्रूमः। अन्यथा 'देवदत्तो ग्रामं याति' इति वाक्ये तद्भृत्यस्य तदनुसरणरूपस्यङ्ग्यावगतेरपि काव्यत्वं स्यात्। अस्त्विति चेत्, न। रसवत एव काव्यत्वाङ्गीकारात्। काव्यस्य प्रयोजनं हि रसास्वादमुखपिण्डदानद्वारा वेदशास्त्रविमुखानां सुकुमार-

* श्वश्रूरत्र निमज्जति, अत्राऽहं, दिवस एव प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्धं, शय्याया मन निमङ्क्ष्यमि ॥

मतीनां राजपुत्रादीनां विनेयानां रामादिवत्प्रवर्तितव्यम्, न रावणादिवदित्यादि कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेश इति चिरन्तनैरप्युक्तत्वात् । तथा चाग्नेयपुराणेऽप्युक्तम्—'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्' इति । व्यक्तिविवेककारेणाप्युक्तम्—'काव्यस्यात्मनि संगिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः' इति । ध्वनिकारेणाप्युक्तम्—'नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मपवलाभः । इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः' इत्यादि । नन्न तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषांचिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेत्, न । रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात् । यत्तु नीरसेष्वपि गुणाभिव्यञ्जकवर्णसङ्घावाद्दोषाभावादलंकारसद्भावाच्च काव्यव्यवहारः स रसादिमत्काव्यबन्धसाम्याद् गौण एव । यत्तु वामनेनोक्तम्—'रीतिरात्मा काव्यस्य' इति, तन्न । रीते संघटनाविशेषत्वात् । संघटनायाश्चावयवसंस्थानरूपत्वात्, आत्मनश्च तद्भिन्नत्वात् । यच्च ध्वनिकारेणोक्तम्—

> 'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः ।
> वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥' इति ।

अत्र वाच्यात्मत्वं काव्यस्यात्मा ध्वनिः—'इति स्ववचनविरोधादेवापास्तम् । तर्हि स्वरूपं काव्यमित्युच्यते—

> वाक्यं रसात्मकं काव्यं ।

रसस्वरूपं निरूपयिष्यामः । रस एवात्मा सारूपतया जीवनाधायको यस्य । तेन विना तस्य काव्यत्वाभावस्य प्रतिपादितत्वात् । 'रस्यते इति रसः' इति व्युत्पत्तियोगाद्भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते ।

तत्र रसो यथा—

> 'शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चित्क्षणं-
> निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
> विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
> लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥'

अत्र हि संभोगशृङ्गाराख्यो रसः ।

भावो यथा महापात्रराघवानन्वसान्धिविग्रहिकाणाम्—

> 'यस्यालीयत शल्कसीम्नि जलधिः, पृष्ठे जगन्मण्डलं,
> दंष्ट्रायां धरणी, नखे दितिसुताधीशः, पदे रोदसी ।
> क्रोधे क्षत्रगणः, शरे दशमुखः, पाणौ प्रलम्बासुरो,
> ध्याने विश्वमसावधार्मिककुलं कस्मैचिदस्मै नमः ॥'

अत्र भगवद्विषया रतिर्भावः ।

रसाभासो यथा—

'मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
शृंगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ।।'

अत्र संभोगशृङ्गारस्य तिर्यग्विषयत्वाद्रसाभासः ।

गुणाः किंस्वरूपा इत्युच्यन्ते—

उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः ।।१।३।।

गुणाः शौर्यादिवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, देहद्वारेणेव शब्दार्थद्वारेण तस्यैव काव्यस्यात्मभूतं रसमुत्कर्षयन्तः काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते । (पृष्ठ १६-३२)

वाक्यस्वरूपमाह—

वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ।

योग्यता पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः, पदोच्चयस्यैतदभावेऽपि वाक्यत्वे 'वह्निना सिञ्चति' इत्याद्यपि वाक्यं स्यात् । आकांक्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः । स च श्रोतुर्जिज्ञासारूपः । निराकांक्षस्य वाक्यत्वे 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादीनामपि वाक्यत्वं स्यात् । आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः—

बुद्धिविच्छेदेऽपि वाक्यत्वे इदानीमुच्चरितस्य देवदत्तशब्दस्य विनान्तरोच्चरितेन गच्छतीति पदेन संगतिः स्यात् । अत्राकाङ्क्षायोग्यतयोरात्मार्थधर्मत्वेऽपि पदोच्चयधर्मत्वमुपचारात् ।

वाक्योच्चयो महावाक्यम्

योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त इत्येव ।

इत्थं वाक्यं द्विधा मतम् ।।२।१।।

इत्थमिति वाक्यमहावाक्यत्वेन । उक्तं च—

'स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया ।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहृत्य जायते ।।' इति ।

तत्र वाक्यं यथा—'शून्यं वासगृहं'- इत्यादि। महावाक्यं यथा—रामायण-महाभारतरघुवंशादि।

पदोच्चयो वाक्यमित्युक्तम्, तत्र किं पदलक्षणमित्यत आह—

वर्णाः पदं प्रयोगार्हान्वितैकार्थबोधकाः।

यथा—घटः। प्रयोगार्हेति प्रातिपदिकस्य व्यवच्छेदः। अनन्वितेति वाक्यमहावाक्ययोः। एकेति साकाङ्क्षानेकपदवाक्यानाम्। अर्थबोधका इति क-च-ट-त-पेत्यादीनाम्। वर्णा इति बहुवचनमविवक्षितम्। (पृष्ठ ३४-३६)

३. काव्यस्य प्रकाराः

श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ॥६।३१३॥

तत्र पद्यमयान्याह—

छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।
द्वाभ्यां तु युग्मकं संदानितकं त्रिभिरिष्यते ॥६।३१४॥

कलापकं चतुर्भिश्च पंचभिः कुलकं मतम्।

तत्र मुक्तकं यथा मम—

'सान्द्रानन्दमनन्तमव्ययमजं यद्योगिनोऽपि क्षणं
साक्षात्कर्तुमुपासते प्रतिमुहुर्ध्यानैकतानाः परम्।
धन्यास्ता मधुरापुरीयुवतयस्तद् ब्रह्म याः कौतुका—
दालिंगन्ति समालपन्ति शतधा कर्षन्ति चुम्बन्ति च ॥'

युग्मकं यथा मम—

'किं करोषि करोपान्ते कान्ते गण्डस्थलीमिमाम्।
प्रणयप्रवणे कान्ते नैकान्तेनोचिताः क्रुधः ॥
इति यावत्कुरङ्गाक्षीं वक्तुमीहामहे वयम्।
तावदाविरभूच्चूते मधुरो मधुपध्वनिः ॥'

एवमन्यान्यपि।

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥६।३१५॥

सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वित ।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ॥६।३१६॥

शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः ॥६।३१७॥

इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥६।३१८॥

आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ॥६।३१९॥

एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ॥६।३२०॥

नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ॥६।३२१॥

संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ॥६।३२२॥

संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ॥६।३२३॥

वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ॥६।३२४॥

नामास्य, सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ।

सन्ध्यंगानि यथालाभमत्र विधेयानि । 'अवसानेऽन्यवृत्तकैः' इति बहुवचनमविवक्षितम् । सांगोपांगा इति जलकेलिमधुपानादयः । यथा—रघुवंश-शिशुपाल-वध-नैषधादयः । यथा वा मम-राघवविलासादिः ।

अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः ॥६।३२५॥

अस्मिन्महाकाव्ये । यथा—महाभारतम् ।

प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन्सर्गा आश्वाससंज्ञकाः ।
छन्दसा स्कन्धकेनैतत् क्वचिद्वृगलितकैरपि ॥६।३२६॥

यथा—सेतुबन्धः । यथा वा मम—कुवलयाश्ववरितम् ।

अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन्सर्गाः कुडवकाभिधाः ।
तथापभ्रंशयोग्यानि च्छन्दांसि विविधान्यपि ॥६।३२७॥

यथा कर्णपराक्रमः ।

भाषाविभाषनियमात्काव्यं सर्गसमुत्थितम् ।
एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितम् ॥६।३२८॥

यथा—भिक्षाटनम्, आर्याविलासश्च ।

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च ।

यथा—मेघदूतादिः ।

कोषः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः ॥६।३२९॥

व्रज्याक्रमेण रचितः स एवातिमनोरमः ।

सजातीयानामेकत्र संनिवेशो व्रज्या । यथा—मुक्तावल्यादिः ।

(पृष्ठ ३२२-३२५)

४. गद्यकाव्यम्

अथ गद्यकाव्यानि । तत्र गद्यम्—

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च ॥६।३३०॥

भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम् ।
आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम् ॥६।३३१॥

अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम् ।

मुक्तकं यथा—'गुरुर्वचसि पृथुरुरसि'—इत्यादि ।

वृत्तगन्धि यथा मम—'समरकण्डूलनिबिडभुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिञ्जिनीटंकारोज्जागरितवैरिनगर'—इत्यादि ।

अत्र 'कुण्डलीकृतकोदण्ड'—इत्यनुष्टुब्वृत्तस्य पादः, 'समरकण्डूल' इति च प्रथमाक्षरद्वयरहितस्तस्यैव पादः ।

उत्कलिकाप्रायं यथा ममैव—'अणिसविसुमरणिसिवसरविसरविदलिवसमर-परिगदपवरपरबल'—इत्यादि ।

चूर्णकं यथा मम—'गुणरत्नसागर, जगदेकनागर, कामिनीमदन जनरञ्जन' इत्यादि ।

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ॥६।३३२॥

क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिदुक्त्रापवक्त्रके ।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम् ॥६।३३३॥

यथा—कादम्बर्यादिः ।

आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वंशानुकीर्तनम् ।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित् ॥६।३३४॥

कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते ।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित् ॥६।३३५॥

अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम् ।

यथा—हर्षचरितादिः ।

'अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्' इति दण्डाचार्यवचनात्केचित् 'आख्यायिका नायकेनैव निबद्धव्या' इत्याहुः, तदयुक्तम् । आख्यानादयश्च कथाख्यायिकयोरेवान्तर्भावान्न पृथगुक्ताः । यदुक्तं दण्डिनैव—

'अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ।' इति ।

एषामुदाहरणम्—पञ्चतन्त्रादि ।

अथ गद्यपद्यमयानि—

गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ॥६।३४६॥

यथा—देशराजचरितम् ।

गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते ।

यथा—विरुदमणिमाला ।

करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम् ॥६।३३७॥

यथा मम—षोडशभाषामयी प्रशस्तिरत्नावली । (पृष्ठ ३२५-३२६)

पण्डितराज जगन्नाथ

समय—सत्रहवीं शताब्दी का मध्य भाग

[ग्रन्थ—रसगंगाधर]

१. काव्य-लक्षण

रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य कहते हैं। अलौकिक आनन्द-जनक ज्ञान का विषय होना रमणीयता है। अलौकिकत्व चमत्कारत्व का ही पर्याय है। यह एक विशिष्ट प्रकार की आनन्द-दायिनी अनुभूति है। इसका कारण है एक विशिष्ट प्रकार की भावना जो अलौकिकत्व से युक्त शब्दार्थ के बार-बार अनुचिन्तन से उत्पन्न होती है। 'तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है' 'तुम्हे धन दूंगा', इस प्रकार के अर्थ ज्ञान से उत्पन्न आनन्द अलौकिक नही, अतः इन वाक्यों के लिए काव्य का प्रयोग नही किया जा सकता। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि चमत्कार को उत्पन्न करने वाली भावना के विषयभूत अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। अथवा, जिस या जिन शब्दों से प्रतिपादित अर्थ के बार-बार अनुचिन्तन करने से चित्त मे चमत्कार उत्पन्न होता हैं, वे ही काव्य हैं। अथवा, विशिष्ट चमत्कार को उत्पन्न करने वाले अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है।

'दोष-रहित, गुण एवं अलङ्कार सहित शब्द और अर्थ काव्य है" प्राचीनों ने काव्य का जो यह लक्षण लिखा है, उस पर विचार करते हैं—

शब्द और अर्थ दोनों काव्य नहीं कहे जा सकते, क्योकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसके विपरीत 'काव्य ज़ोर से पढ़ा जा रहा है', 'काव्य से अर्थ समझा जाता है', 'काव्य सुना, पर अर्थ समझ मे न आया,' इत्यादि सार्वजनीन व्यवहार से विशिष्ट शब्द ही 'काव्य' (शब्द के अर्थ) का बोधक है।

शंका—ऐसे व्यवहार के लिए जिसमे काव्य शब्द का प्रयोग केवल 'शब्द' के विषय में किया गया हो लक्षण मान लीजिए।

उत्तर—हाँ, ऐसा तब हो सकता है जब आप किसी दृढ़तर प्रमाण से यह सिद्ध कर दें कि काव्य शब्द का मुख्य प्रयोग आप से अभिप्रेत 'शब्द और अर्थ' दोनों

के लिए होता है। ऐसा कोई प्रमाण हम नहीं देखते। विरोधी मत निश्चय ही अमान्य है। इस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों का नाम काव्य है इसमें कोई प्रमाण उपलब्ध न होने से हमारे द्वारा उपस्थित किए हुए पूर्वोक्त व्यवहार के अनुसार विशिष्ट शब्द का नाम ही काव्य है, इस बात का कौन निषेध कर सकता है ? इसी से काव्य 'शब्द और शब्दार्थ दोनो का वाचक है,' इस कथन का भी खण्डन हो जाता है। इस प्रकार विशिष्ट शब्द के ही काव्य सिद्ध होने से उसी के लक्षण करने की आवश्यकता है न कि स्वकल्पित शब्दार्थ-रूप काव्य के लक्षण करने की। यही बात वेद, पुराण आदि के लक्षणों में भी समझनी चाहिए, अन्यथा यही दुरवस्था उनमें भी होगी।

जो वादी यह युक्ति देते हैं कि जिससे रस का उद्‌बोध होता हो उसी के लिए काव्य का प्रयोग होना चाहिए और वह शब्द और अर्थ दोनों मे समान है, अतएव दोनों को काव्य कहना उचित है—यह मत ठीक नही। क्योकि (इस लक्षण को मान लेने पर) ध्वनिकार आदि सभी आलङ्कारिको द्वारा सम्मत राग भी रस-व्यञ्जक होने के कारण प्रस्तुत काव्य-लक्षण के अन्तर्गत आ जायगा। अधिक क्या कहे, सभी नाट्याङ्गों को प्रायः रस-व्यञ्जक होने के कारण काव्य मानना अनिवार्य हो जायगा। इसी हेतु से रसोद्‌बोध मे समर्थ रचना ही काव्य है, यह युक्ति भी खण्डित हो गई। और भी, शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य कहलाते हैं अथवा प्रत्येक पृथक्-पृथक् भी पर्याप्त है ? प्रथम विकल्प नही हो सकता क्योकि जिस प्रकार 'एक' (दो के अवयव) के लिए 'दो' का व्यवहार नही होता है; उसी प्रकार श्लोक के अवयव वाक्य के लिए 'काव्य' का प्रयोग नही हो सकेगा। द्वितीय भी अमान्य है क्योकि एक पद्य के लिए काव्यद्वय का व्यवहार करना पड़ेगा। अतएव वेद, शास्त्र और पुराण के लक्षण की तरह शब्द को ही काव्य मानना चाहिए।

काव्य-लक्षण में गुण और अलङ्कार आदि की योजना भी अनुचित है। क्यों कि अभिसरण-विधि, अभिसरण-निषेध, जीवनाभाव आदि के द्योतक, दूती, अभिसारिका, विरहिणी आदि द्वारा कथित 'चन्द्रमण्डल उदित हो गया है' और 'सूर्यास्त हो गया है' इत्यादि प्रयोगों मे अव्याप्ति हो जायगी। परन्तु, यह काव्य नही है—यह नही कहा जा सकता।। क्योकि इस अवस्था में आपके द्वारा अभिप्रेत काव्य को भी कोई काव्य नही कहेगा। काव्य का प्राण चमत्कार इन दोनों मे समान है। दूसरे गुण और अलङ्कारों की अनुपलब्धि से उनका काव्य-लक्षण में सन्निवेश अनुचित है।

प्राचीनो के काव्य-लक्षण मे 'अदोषौ' पद भी अनुपयुक्त है। क्योंकि 'अमुक काव्य दोष-युक्त है' ऐसा लोक मे प्रयोग होता है। मुख्यार्थ-बाध न होने से लक्षणा के

द्वारा भी इसको काव्य नही कहा जा सकता। **शङ्का**—पूर्ण संयोग के न होने पर भी वृक्ष को संयोगी कहा जाता है, उसी प्रकार अंशतः निर्दोष होने पर भी 'यह काव्य दोष-युक्त है' यह व्यवहार हो जायगा। **उत्तर**—यह भी ठीक नही, क्योकि 'वृक्ष की जड़ में पक्षी का संयोग है अन्यत्र शाखा में नही' इस प्रतीति के समान यह पद्य पूर्वार्द्ध में काव्य है उत्तरार्द्ध में नही ऐसा सार्वजनीन अनुभव न होने से अलक्ष्य मे भी काव्यत्व की प्रसक्ति हो जायगी।

जिस प्रकार आत्मा के धर्म शौर्य आदि होते हैं उसी प्रकार काव्य की आत्मा रस के धर्म गुण कहे जाते हैं। जिस तरह शरीर के शोभा-विधायक हार आदि होते हैं उसी प्रकार अलंकार भी काव्य को अलंकृत करते हैं। परन्तु जिस प्रकार वीरता अथवा हारादिक शरीर के निर्माण मे अनुपयोगी हैं, उसी प्रकार काव्य-लक्षण मे इनका प्रयोग भी अनुपयुक्त है।

साहित्य-दर्पणकार ने 'जिसमें रस हो वही काव्य है, यह जो लक्षण निश्चित किया है वह ठीक नही है, क्योकि इसके स्वीकार करने पर वस्तु-अलंकार-प्रधान काव्य काव्य ही न रहेगे। आप कहेगे कि हम उनको काव्य मानना ही नही चाहते—यह उचित नहीं; क्योकि इससे महाकवियों की प्राचीन परम्परा में अव्यवस्था आ जायगी। उन्होंने स्थान-स्थान पर जल के प्रवाह, वेग, गिरने, उछलने और भ्रमण एवं बन्दरो और बालकों की क्रीड़ाओ का वर्णन किया है। यह नही कहा जा सकता कि इनमें भी यथा-कथञ्चित् परम्परा से रस-स्पर्श है ही। कारण, 'बैल चलता है' हरिण दौड़ता है'—इनमे भी इस प्रकार का रस-स्पर्श मान कर इन्हे भी काव्य मानना पडेगा किन्तु ऐसा प्रयोग नही है। क्योकि जगत की सम्पूर्ण वस्तुएँ विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारी भाव इनमें से किसी न किसी के अन्तर्गत आ ही जाती हैं।

(पृष्ठ ४–६)

२. काव्य-हेतुक प्रतिभा

काव्य का कारण कवि में विद्यमान केवल प्रतिभा है। काव्य-निर्माण के लिए अनुकूल शब्दार्थों की उपस्थिति का नाम प्रतिभा है।

उसका कारण कही किसी देवता अथवा किसी महापुरुष की प्रसन्नता के कारण अदृष्ट; और कही असाधारण अध्ययन तथा काव्य-रचना का अभ्यास है। किन्तु तीनों ही नही, क्योंकि कई बालकों एवं अबोधों को भी केवल महापुरुषों की कृपा से ही प्रतिभोत्पत्ति हुई है। इसमें उनके पूर्व-जन्म के विलक्षण व्युत्पत्ति और काव्य-रचना-भ्यास भी नहीं मान सकते क्योंकि इसमें अनावश्यक विस्तार, प्रमाण का अभाव तथा सब की अनुपस्थिति में भी कार्य सम्पन्न हो सकता है।

लोक में वेदादिक प्रबल प्रमाणों से कारण के निश्चय के उपरान्त भी यदि कारण में विरोध (व्यभिचार) हो तो उसके परिहार के लिए अन्य कारणों के निश्चय न होने पर पूर्व-जन्म कृत धर्म-अधर्म आदि कारण की कल्पना की जाती है। नही तो कार्य-कारण विरोध के लिए पूर्व-जन्म के कर्मों को कारण मानना भ्रान्ति-जनक ही होगा।

केवल अदृष्ट ही कारण है यह भी नही कहा जा सकता क्योंकि बहुत काल तक काव्य करने में असमर्थ होते हुए भी कुछ व्यक्तियों मे श्रमपूर्वक अध्ययन और अभ्यास के अनन्तर प्रतिभा उत्पन्न हो जाती है। इसमे भी अदृष्ट को कारण मानने पर व्युत्पत्ति और अभ्यास के पूर्व भी प्रतिभा उत्पन्न हो जानी चाहिए थी। इसमे प्रतिभा के बाधक किसी अन्य अदृष्ट की कल्पना कर ली जानी चाहिए—ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योकि ऐसे अनेक स्थलों पर दो अदृष्टों की कल्पना की अपेक्षा रचनात्मक व्युत्पत्ति और अभ्यास को ही प्रतिभा के कारण मानने में लाघव है। इसलिए पूर्व-प्रतिपादित पद्धति ही श्रेयस्कर है।

उस प्रकार के अदृष्ट तथा उस प्रकार के अध्ययन और अभ्यास से उत्पन्न प्रतिभा मे एक ही प्रकार की विलक्षणता होती है जो काव्य का कारण है। इसलिए यहाँ कोई व्यभिचार नही। अन्यथा भिन्न-भिन्न प्रतिभाओ से कार्य भी पृथक्-पृथक् होने के कारण कोई दोष सम्भव नही है।

जिन मनुष्यों में व्युत्पत्ति और अभ्यास के होते हुए भी प्रतिभा उत्पन्न नहीं होती है उनमे विलक्षण व्युत्पत्ति और अभ्यास ही कारण हैं। अथवा किसी विशेष प्रकार के पाप को प्रतिभा का प्रतिबन्धक मान लेने से यह दोष नही रहता। काव्य के प्रति प्रतिबन्धकाभाव की कारणता तीनों को इकट्ठे कारण मानने वाले और केवल प्रतिभा अथवा शक्ति को कारण मानने वाले दोनो के लिए समान ही आवश्यक है क्योकि प्रतिवादी जब मन्त्रादिकों से कुछ दिनो के लिए किसी अनेक काव्य बनाने वाले कवि की भी वाणी को रोक देता है, तो उससे काव्य उत्पन्न नही होता, यह देखा गया है। (पृष्ठ ९-११)

३. काव्य-भेद

वह काव्य (१) उत्तमोत्तम, (२) उत्तम, (३) मध्यम और (४) अधम भेद से चार प्रकार का होता है।

उत्तमोत्तम काव्य उसे कहते हैं, जिसमे शब्द और अर्थ दोनों अपने को गौण बना कर किसी चमत्कार-जनक अर्थ को अभिव्यक्त करें अर्थात् व्यञ्जना-वृत्ति से

समझावें। चमत्कार-जनक अर्थ की अभिव्यक्ति से अति गूढ़ और अत्यन्त स्पष्ट व्यङ्ग्य वाले काव्य का निराकरण हो जाता है। अपरांग और वाच्य-सिध्यङ्ग व्यंग्य भी चमत्कारी होते हैं; अतः उनके निवारण के लिए लक्षण मे 'अपने को गौण बनाकर' कहा गया; अर्थात् शब्द और अर्थ (वाच्य) दोनो से व्यंग्य की प्रधानता अपेक्षित है।

उदाहरण—प्रियतमा अपने प्रियतम के समीप सोई है, पर आश्चर्य है कि वह अपने मनोरथों को सफल करने मे असमर्थ है; अतः अर्द्ध-निमीलित नेत्रों से प्रियतम के मुख-कमल को देख रही है।

इसमे आलम्बन नायक, उद्दीपन विभाव समीप-शयन से ध्वनित एकान्त स्थान आदि, अनुभाव उस प्रकार अवलोकन आदि और व्यभिचारी भाव लज्जा, औत्सुक्य आदि के सयोग से रति की अभिव्यक्ति होती है। आलम्बन आदि के स्वरूप का वर्णन आगे करेंगे।

इस पद्य में रति की अभिव्यक्ति न मान कर 'यदि यह सो गया हो, तो मैं इसका मुख-कमल चूम लूँ'। नायिका की इस प्रकार की इच्छा ही व्यंग्य है—यह नही कहा जा सकता। क्योकि 'वह अपने मनोरथों को सफल करने में असमर्थ है' इससे उसके हृदय मे सब मनोरथ विद्यमान हैं। इस प्रतीति से मनोरथ शब्द के द्वारा सामान्य रूप से चुम्बनेच्छा का भी वर्णन हो जाता है। यह मनोरथ शब्द से मनोरथ रूप सामान्य इच्छा के कथन होने पर भी 'चुम्बन करूँ' इस विशेष विषय से युक्त इच्छा को व्यंग्य मानने में कोई बाधा नहीं है—यह नही कहा जा सकता। कारण—चमत्कार नही रहेगा, बस यही बाधा है। विशेष-रूप से व्यंग्य होने पर भी सामान्य रूप से वाच्य अर्थ सहृदयो के हृदय में चमत्कार उत्पन्न करने में असमर्थ होता है। आलङ्कारिको ने अभिधा वृत्ति से सर्वथा अस्पृष्ट व्यंग्य को ही चमत्कारकारी स्वीकार किया है। चुम्बनेच्छा रति के अनुभाव-रूप मे सुन्दर कही जा सकती है। अन्यथा जिस प्रकार 'चुम्बन करता हूँ' इस कथन मे कोई चमत्कार नही है उसी प्रकार उसमे भी कोई चमत्कार नही होगा। अतः यह रति की अपेक्षा गौण ही है, प्रधान नही। इसी प्रकार श्लोक में लज्जा भी मुख्यतया व्यंग्य नही है क्योकि 'अर्द्ध-निमीलित नेत्रो से' इस नायिका के विशेषण से लज्जा अभिव्यक्त होती है। पद्य में उस विशेषण का सिद्ध बात के अनुवाद-रूप मे वर्णन किया गया है, विधेय-रूप में नही—तब उस विशेषण से पूर्णतया सम्बन्ध रखने वाली लज्जा ही इसका प्रधान अर्थ है यह नही कहा जा सकता। परन्तु अर्द्ध-निमीलित नेत्रो से विशिष्ट निरीक्षण ही विधेय है। अतः यह अनुवाद नही है यह नही कहा जा सकता। क्योकि इस प्रकार नयनो का अर्द्ध-निमीलन से विशिष्ट निरीक्षण रति

का ही कार्य है। लज्जा को मुख्य रूप से व्यंग्य मानने पर निरीक्षण शब्द का प्रयोग अनपेक्षित हो जायगा। जिस प्रकार अभिधा-वृत्ति के द्वारा रति के अनुभाव 'निरीक्षण' की अपेक्षा लज्जा का अनुभाव 'अर्द्ध-निमीलन' गौण है; उसी प्रकार व्यंजना-वृत्ति के द्वारा रति की अपेक्षा लज्जा को गौण मानना उचित है। अन्य उदाहरण—

नायक अपने मित्र से कह रहा है—गुरुजनों के बीच में बैठी हुई अतएव लज्जावनत प्रियतमा को मैंने धीरे कमल की डंडी से मार दिया। उसने कुण्डलो को कुछ नचा कर एवं भौहे नीची करके मुझे देखा और घूम गई।

इस पद्य में 'घूम गई' इस वाक्य से—'ऐ ! बिना सोचे समझे कार्य करने वाले ! तुमने यह अनुचित कार्य क्यों किया'।' इस अर्थ से युक्त अमर्ष-भाव प्रधानतया ध्वनित होता है और उसकी अपेक्षा श्लोक के शब्द और अर्थ गौण हो गए हैं।

उत्तमोत्तम काव्य का दूसरा उदाहरण—

जो सुकुमारी नव वधू, पलङ्ग पर सोई हुई भी श्वास के स्पर्श मात्र से भी अपने लता के समान अङ्गों को संकुचित कर लेती थी वह प्रवत्स्यत्पतिका इस समय प्रस्थान से पूर्व की रात्रि में, अपने हृदय पर सशङ्क प्रिय के रखे हुए हाथ को नव-वधू जाति के स्वभाववश हटाती है किन्तु धीरे-धीरे।

यहाँ धीरे-धीरे हटा कर अपने स्थान पर पहुँचाने के रूप में रति नामक स्थायी भाव संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य है। स्थायी भाव आदि भी संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य होते हैं यह आगे सिद्ध किया जायगा। काव्य के इसी उत्तमोत्तम भेद को 'ध्वनि-काव्य' कहा जाता है।

अप्पय दीक्षित ने 'चित्रमीमांसा' में 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इस पद्य की ध्वनि-काव्य के उदाहरण के प्रसङ्ग में निम्नाङ्कित व्याख्या की है—

स्तनों का चन्दन उत्तरीय के खीचने से मिट सकता है, इस प्रकार की अन्यथा सिद्धि के निवारणार्थ 'निःशेष' कहा। स्नान से भी चन्दन-च्युति सम्भव है, इस कारण सम्भोग के चिह्न की अभिव्यक्ति के लिए 'तट' कहा। स्नान से तो सभी स्थानों का चन्दन धुल जाना चाहिए पर तेरे तो स्तनो के केवल अग्रभाग का ही मिटा है, यह आलिङ्गन से ही हुआ है। इसी प्रकार 'निर्मृष्ट रागोऽधरः, इसमें पान खाने में विलम्ब होने पर ओठ का रंग कुछ-कुछ मिट जाता है, इस प्रकार की अन्यथा-सिद्धि के निवारण के लिए 'निर्मृष्ट रागः' कह कर राग के पूर्णतः मिट जाने का कथन किया

गया। स्नान से भी ओठ का रंग मिट सकता है—इसके निराकरण के लिए और सम्भोग-चिह्न की अभिव्यक्ति के लिए 'अधर' का विशेष रूप से प्रयोग हुआ। ऊपरी ओठ के राग सहित होने पर नीचे के ओठ का ही रंग मिट जाना चुम्बन से ही सम्भव है। यहाँ से लेकर 'यह भी ध्वनि का उदाहरण है' इस प्रकरण द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि जो 'तट' आदि शब्दों से निर्मित वाक्यार्थ हैं, वे स्नान के निराकरण द्वारा सम्भोग के अङ्ग-आलिङ्गन, चुम्बन आदि के प्रतिपादन से प्रधान व्यंग्य की अभिव्यक्ति में सहायता करते हैं। यह सब अप्पय दीक्षित का विवेचन अलङ्कार-शास्त्र के तत्त्व को न समझने के कारण है, क्योंकि यह सभी प्राचीन ग्रन्थो एव युक्तियों के विरुद्ध है। जैसा कि काव्य-प्रकाशकार ने पञ्चम उल्लास के अन्त मे कहा है—'नि.शेष' आदि व्यञ्जक-रूप से गृहीत 'चन्दन-च्यवन' आदि दूसरे कारणों से भी सम्भव हैं। क्योकि इसी श्लोक में वे स्नान के कार्य के रूप मे प्रयुक्त है, उपभोग मे ही सीमित नही हैं, इस कारण अनैकान्तिक हैं। और वही उन्होंने व्यक्ति-विवेककार का जो यह मत है कि—

'हे धार्मिक ! अब आप विश्वस्त होकर घूमिए, उस कुत्त को, जिससे आपको डर था, आज गोदावरी नदी के कछार की कुञ्ज में रहने वाले मत्त सिंह ने मार दिया।' इत्यादिक स्थलों में हेतु से कार्यज्ञान होता है, और 'हेतु' से कार्य के ज्ञान होने का नाम अनुमान है तथा व्यञ्जना से भी यही बात होती है, अतः व्यञ्जना और अनुमान में कोई भेद नही। इसका खण्डन करते हुए 'व्यभिचारी' और असिद्ध होने का जिन हेतुओं में सन्देह है उनसे भी अर्थ ध्वनित हो सकता है, यह स्वीकार किया है। इसी प्रकार प्रथमोद्योत मे ध्वनिकार द्वारा भी यही मान्य है; और इस प्रकार व्यञ्जक अर्थों की साधारणता प्रतिपादन करने वाले प्रामाणिक ग्रन्थों के साथ असाधारणता का प्रतिपादन करने वाले आपके ग्रन्थ का विरोध स्पष्ट है।

प्रश्न—आप जो 'नि·शेष' इत्यादि वाक्यार्थों से वापी-स्नान के स्थान पर सम्भोग की अभिव्यक्ति कर रहे हैं वह किसलिए ? व्यंग्य अर्थ की अभिव्यञ्जना के लिये ?

उत्तर—यह सम्भव नहीं, क्योंकि व्यंग्य अर्थ के निष्पादन के लिए यह आवश्यक नही कि उसको व्यक्त करने वाली सभी वस्तुएँ उसी से सम्बन्धित हों।

दूती नायक से सम्भोग करके नायिका के पास आई है। उसकी दशा देखकर नायिका उससे कहती है—

हे सखि ! हाय ! मुझ मन्द-भागिनी के लिए तुझे भी जागरण, दुर्बलता, चिन्ता, आलस्य और निःश्वास ने दबा रखा है, तू भी इन से दुःखी हो रही है ।

इस पद्य में साधारण रूप से निर्दिष्ट जागरण आदि बातों से वक्तादि के वैशिष्ट्य से विशेष अर्थ (सम्भोग) की अभिव्यक्ति होती है । प्रत्युत यदि व्याप्ति का पर्यायवाची असाधारण्य अनुमान के अनुकूल तथा व्यञ्जना के प्रतिकूल है । तट आदि शब्दों से रचित होने पर भी 'निःशेष' इत्यादि वाक्यार्थ असाधारण नही है क्योकि गीले कपडे द्वारा पोंछने आदि से भी ये सम्भव हैं तो बावड़ी-स्नान के हटा देने से क्या फल हुआ ? क्योकि जिस तरह एक स्थान पर व्यभिचरित होने की भाँति ही अनेक स्थानों पर व्यभिचरित होना भी अनुमान के प्रतिकूल है पर व्यञ्जना के नही । और यहाँ पर तू उसके पास ही रमण करने गई थी यह व्यंग्य 'उसके पास गमन' और 'रमण-रूप फल' दो बातों से निर्मित है । इनमे से 'उसके पास ही गई थी' इस अंश को व्यंग्य सिद्ध करना तुम्हारे मत से दुष्कर है । तुम्हारी बताई रीति के अनुसार 'निःशेष' इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रतिपाद्य विशेषण वाक्यो के अर्थ-वाच्यार्थ वापी-स्नान में बाधित होने से वाच्यार्थ में अभिव्यक्त विधि-निषेध-मूलक प्रधान वाक्यार्थो के प्रतिपादक 'गता' 'न गता' इन शब्दों द्वारा विपरीत लक्षण से निषेध और विधि की प्रतीति होती है । वाच्यार्थ बाधित होने पर जो अर्थ प्रकट होता है वह व्यञ्जना से बोधित होता है, यह ठीक नही । जैसे 'आश्चर्य है कि यह सरोवर पूर्ण है, जिसमे मनुष्य लेटते हुए नहा रहे हैं । इस वाक्य में नहाने वाले मनुष्यों का विशेषण 'लेटते हुए' से स्पष्ट है कि 'तालाब' पूर्ण नही है [इस अर्थ को व्यंग्य न कह कर लक्ष्य कहना पड़ेगा] ।

'उसके पास ही गई थी' इस अंश के लक्षण द्वारा प्रतीत होने पर भी 'रमण'-रूप फलाश की लक्षणा-मूला व्यंजना द्वारा प्रतीति अनिवार्य ही है । यदि ऐसा कहा जाय तो 'अधम शब्द का अर्थ हीन है और वह हीनता जाति अथवा कर्म से होती है । उत्तम नायिका अपने नायक को जाति से हीन तो बता नहीं सकती' इत्यादि प्रकरण से आपने ही 'रमण' को अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध किया है । क्योकि यहाँ पर अन्य प्रमाणों से शब्दार्थ असिद्ध है । और भी यदि किसी न किसी प्रकार व्यञ्जना मान भी लें तो भी आपका तात्पर्य सिद्ध नही हो सकता । क्योकि 'स्तनों के ऊपरी भाग का चन्दन हटना' आदि एवं नायक की 'अधमता' ये वाच्य तुम्हारे कथनानुसार अन्य किसी प्रकार से निष्पन्न न होकर दूती के सम्भोग-मात्र अर्थ के बोधक होने से गुणीभूत व्यंग्य हो जायेंगे । इस प्रकार आपकी ही स्थापना का विरोध स्पष्ट है । अतः अति चतुर नायिका के कहे हुए इन विशेषण-रूप वाक्यार्थो का वाच्य अर्थ (वापी-स्नान) और व्यंग्य अर्थ (सम्भोग) दोनों का साधारण्य होना ही उचित है । तब इसका अर्थ इस

प्रकार करना चाहिए—' हे बान्धव जन के ऊपर आई हुई पीड़ा को न जानने वाली स्वार्थ मे तत्पर दूती ! तू स्नान का समय न निकल जाय, इस भय से नदी और मेरे प्रिय दोनों के पास न जाकर, मेरे पास से स्नान करने के लिए सीधी बावड़ी चली गई। उस, दूसरे की पीड़ा को न जान कर दुःख देने वाले अधम के पास नही। बावड़ी में बहुतेरे युवा जन स्नानार्थी आते हैं, उनसे लज्जित होने के कारण तूने अपने हाथों को कन्धे पर स्वस्तिक की भाँति रखे हुए दोनों बाहुओ से, उन्नत होने के कारण स्तनों के ऊपरी भाग का ही संघर्ष हुआ, अतः वे ही चन्दन-रहित हुए उरःस्थल नही। इसी तरह शीघ्रता मे, अच्छी तरह न धोने के कारण ऊपर के ओठ का रंग पूरा न घुल सका; पर नीचे के ओठ में कुल्लों के जल, दाँत साफ करने की अंगुली आदि की रगड़ अधिक लगने से वह राग-रहित होगया। और भी अच्छी तरह न धोने से केवल जल-स्पर्श से नेत्रो का ऊपरी भाग अंजन-रहित हुआ। शीत और दुर्बलता के कारण तेरा शरीर रोमाञ्चित हुआ।' इस तरह चतुर नायिका की गूढ़ तात्पर्य-रूप उक्ति उचित है, नही तो उसकी चतुरता नष्ट हो जायगी।

इस प्रकार जब इन वाक्यों के अर्थ साधारण होंगे, तो मुख्य अर्थ मे कोई बाधा न होगी, एवं तात्पर्यार्थ की शीघ्र प्रतीति न होने के कारण यहाँ लक्षणा के लिए स्थान ही न रहेगा। वाच्यार्थ-ज्ञान के अनन्तर वक्ता एवं श्रोता नायकादि के वैशिष्ट्य की प्रतीति होने पर, अधम पद के प्रयोग का कारण दुःखदायकत्व-रूपी गुण वाच्य और व्यंग्य मे समान है। वाच्यार्थ दशा मे उसका स्वरूप अन्य अपराधों के कारण दुःख-दायकत्व है। व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा दूती सम्भोग के कारण दुःखदायकत्व रूप मे परिणत होता है। यह आलकारिकों के सिद्धान्त का सार है।

इससे 'अधम' शब्द का अर्थ हीन है, और हीन जाति अथवा कर्म दो प्रकार से हो सकता है। उत्तम नायिका अपने नायक को जाति से हीन तो बता नही सकती। कर्म की हीनता भी दूती के सम्भोग आदि जो अपने (नायिका के) अपराध हो सकते हैं, ऐसे कर्म के अतिरिक्त अन्य तो बता नहीं सकती। दूती-प्रेषण के पूर्व के सब कर्म तो सहन कर ही लिए गए हैं, वे उद्घाटन के योग्य नही; अतः अन्य सब कुछ हटा देने पर अन्ततोगत्वा दूती का सम्भोग ही सिद्ध होता है—पर जो कहा है वह भी खण्डित होगया। क्योकि चतुर और उत्तम नायिका सखियों के सामने, उसी (दूती) से सम्भोग करना, जो अपने नायक का अपराध है, उसे स्पष्ट प्रकट करे, यह सर्वथा अनुचित है। अतः जो पुराने अपराध वह सह चुकी है, वे बडे असह्य थे, इस कारण उसे दूती के सामने उन्ही का प्रतिपादन करना अभीष्ट था।

उत्तम काव्य Def यत्र व्यंग्यार्थमिप्रधानेभ१

② [जहाँ व्यंग्य अप्रधान होते हुए भी चमत्कार-जनक हो वह द्वितीय (उत्तम काव्य) होता है।]

जो व्यंग्य वाच्य-अर्थ की अपेक्षा प्रधान हो और दूसरे किसी व्यंग्य की अपेक्षा गौण हो, उस व्यंग्य मे अतिव्याप्ति के वारण के लिए 'अप्रधान' कहा है। उसके द्वारा वह काव्य ध्वनि-रूप ही माना जायगा। जिन वाच्य-चित्र काव्यों में व्यंग्य लीन हो जाता है उनमे अतिव्याप्ति वारण के लिए 'चमत्कार-जनक' कहा है। काव्य-प्रकाश मे कहे गए लक्षण 'अतादृशि गुणीभूत व्यंग्यं' इत्यादि का विवेचन करते हुए टीकाकारों ने गुणीभूत-व्यंग्य को 'चित्र' से पृथक् माना है—यह उनका कथन ठीक नही, क्योकि पर्यायोक्ति, समासोक्ति आदि अलंकार-प्रधान काव्यों में अव्याप्ति हो जायगी। परन्तु सभी आलंकारिकों ने उनको गुणीभूत-व्यंग्य और चित्र दोनों माना है।

Ex भगवान् रामचन्द्र के विरहानल की ज्वालाओं से सन्तप्त सह्य पर्वत के शिखरों पर शीत में सुख से सोए हुए बानर हनुमान् पर क्रोध कर रहे हैं।]

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जानकी की कुशलता सुनाकर हनुमान् ने रामचन्द्र को शीतल कर दिया यह व्यंग्य, हनुमान् पर वानरों के अकस्मात् उत्पन्न होने वाले क्रोध-रूप वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण होने पर भी अभाग्यवश दासता अनुभव करने वाली किसी राजरानी की भाँति रमणीय प्रतीत होता है।

शङ्का—इस प्रकार पूर्व-कथित आक्षेपगत धीरे-धीरे हटाना भी नव वधू के स्वभाव के विरुद्ध होने के कारण अनुपपन्न होकर व्यंग्य से ही सिद्ध है, अतः उसको उत्तमोत्तम काव्य कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रतिदिन के सखियों के उपदेश आदि जो कि विशेष चमत्कारी नही हैं, उनसे भी 'धीरे-धीरे हटाना' सिद्ध हो सकता है; अतः उसके सिद्ध करने के लिए प्रेम आवश्यक नही है। पर सहृदयो के हृदय मे प्रतीत 'यह वियोग के समय का प्रेम है' उसे ध्वनित किये बिना 'धीरे-धीरे उठाना' स्वतन्त्रता से परम आनन्द के आस्वाद का विषय बनने का सामर्थ्य नही रखता। इसी तरह 'निःशेष च्युत-चन्दन' इत्यादि पद्यों मे भी 'अधमता आदि वाच्य, व्यंग्य के अतिरिक्त अर्थ के द्वारा पूर्णतः निष्पन्न होकर व्यञ्जक हैं। अतः वहाँ भी व्यंग्य के गौण होने की शङ्का नही की जा सकती।

यद्यपि इन दोनो (उत्तमोत्तम और उत्तम) भेदो मे व्यंग्य का चमत्कार प्रकट ही रहता है तथापि एक में व्यंग्य की प्रधानता रहती है और दूसरे मे अप्रधानता;

इस कारण इनमे एक दूसरे की अपेक्षा विशेषता है, जिसे सहृदय पुरुष समझ सकते हैं।

चित्रमीमांसाकार ने जो यह कहा है—

'प्यारे ! क्या आप एक पहर के बाद लौट आवेंगे, या मध्याह्न में अथवा उसके भी बाद ? कि पूरा दिन बीत जाने पर ही लौटेंगे ? अश्रुप्रवाह-पूर्वक इस प्रकार की बातों से बाला सैकड़ों दिनों में प्राप्य देश को जाने के अभिलाषी प्रेमी के जाने का निषेध कर रही है।'

इस पद्य में दिन भर अन्तिम अवधि है, उसके बाद मैं न जी सकूँगी यह व्यंग्य है, जो प्रिय-गमन-निवारण-रूप वाच्यार्थ का अङ्ग है, इस कारण यह काव्य गुणीभूत-व्यंग्य है—यह ठीक नही। क्योकि 'क्या आप एक पहर के बाद लौट आवेंगे ?' इत्यादि अश्रु-प्रवाह-पूर्वक कथन ही से प्रिय का न जाना रूपी वाच्य सिद्ध हो जाता है, इस कारण व्यंग्य गुणीभूत नही। इस कथन में 'आलापैः' यह तृतीया करण-अर्थ में है; अतः स्पष्ट है कि वे प्रकृत अर्थ (गमन) के निवारण की साधक हैं। पर व्यंग्य भी तो वाच्य को सिद्ध कर सकता है, इस कारण उसे गुणीभूत लिखा है—यह भी ठीक नही; क्योंकि यदि ऐसा कहोगे तो 'निःशेष च्युत-चन्दन' इत्यादि में भी 'दूती सम्भोग' आदि व्यंग्य भी नायक की अधमता को सिद्ध करते हैं, इस कारण वे भी गुणीभूत हो जावेंगे। अथवा उसके बाद प्राण धारण करने मे असमर्थ हूँ यह व्यंग्य वाच्यसिध्यङ्ग होने से गुणीभूत है, तथापि नायक आदि विभाव, अश्रु आदि अनुभाव एवं चित्त के आवेश आदि सञ्चारी भावों के संयोग से ध्वनित होने वाले विप्रलम्भ शृंगार के कारण इस काव्य को 'ध्वनि-काव्य' मानने से कौन निषेध कर सकता है !

मध्यम काव्य

जिस काव्य में वाच्य-अर्थ का चमत्कार व्यंग्य अर्थ के चमत्कार के साथ न रहता हो (व्यंग्य के चमत्कार की अपेक्षा वाच्य का चमत्कार स्पष्ट और उत्कृष्ट हो) वह तृतीय (मध्यम काव्य) होता है।

जैसे यमुना-वर्णन मे—

(वह यमुना) उस भगवती भागीरथी की सखी है, जो मानो अपने पुत्र मैनाक को ढूँढने के लिए लम्बी की हुई एवं समुद्र के उदर में घुसी हुई हिमालय पर्वत की भुजा है।

यहाँ उत्प्रेक्षा वाच्य है और चमत्कार—कारण है। श्वेतता, तलचुम्बितत्व आदि का चमत्कार कुछ न कुछ होने पर भी किसी ग्रामीण नायिका द्वारा रचित केसर-रस के अङ्गराग में लीन उसके अङ्ग की गोराई की भाँति, उत्प्रेक्षागत चमत्कार के उदर में समाया हुआ-सा प्रतीत होता है। कोई भी वाच्य-अर्थ ऐसा नही है जो व्यंग्य अर्थ से थोडा भी सम्बन्ध रखे बिना स्वतः रमणीयता उत्पन्न कर सके। सभी अलकार-प्रधान काव्य जागरूक और अजागरूक गुणीभूत-व्यग्य वाले दूसरे और तीसरे भेद के अन्तर्गत है।

अधम काव्य

जिस काव्य में शब्द का चमत्कार प्रधान हो और अर्थ का चमत्कार शब्द के चमत्कार को शोभित करने के लिए हो वह 'अधम काव्य' कहलाता है। जैसे—

सूर्य और चन्द्र जिनके नेत्र हैं, जो वेदो के शत्रुओं (असुरों) के शत्रु हैं और इन्द्र के वंशजों (देवताओं) के रक्षक हैं, उन गोपाल अथवा वृषवाहन (शिव) का आपको बारबार नमस्कार है।

इसमें अर्थ का चमत्कार शब्द के चमत्कार में लीन हो गया है। यद्यपि जिसमें अर्थ के चमत्कार से सर्वथा रहित शब्द का चमत्कार हो, वह काव्य का पाँचवाँ भेद 'अधमाधम' भी इस गणना मे आना उचित है। जैसे—एकाक्षर पद्य, अर्द्धावृत्ति यमक और पद्यबन्ध आदि। तथापि रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्दत्व-रूप काव्य समान-लक्षण के घटित न होने से, वस्तुतः काव्यत्व के अभाव के कारण, महाकवियों के द्वारा प्राचीन परम्परा के अनुरोध से स्थान-स्थान पर काव्यों मे अंकित करने पर भी, वस्तु-स्थिति के ही अनुरोध से हमने उसे काव्यों में परिगणित नही किया है।

कुछ लोग काव्यों के इन चार भेदों को अस्वीकार करते हुए उत्तम, मध्यम एवं अधम-रूप केवल तीन प्रकार का ही काव्य मानते हैं।

उसमें अर्थ-चित्र और शब्द-चित्र दोनों को एक समान अधम बताना अनुचित है, क्योकि उनका तारतम्य स्पष्ट प्रतीत होता है। कौन ऐसा सहृदय होगा कि जो 'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्' 'सच्छिन्न मूल. क्षतजेन रेणुः' इत्यादि काव्यो के साथ 'स्वच्छन्दोच्छलत्' इत्यादि पामरों द्वारा प्रशंसित काव्यों की समानता बता सकता है। यदि तारतम्य के रहते हुए भी एक भेद बताया जाता है, तो जिनमे बहुत ही कम अन्तर है, उन ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य को पृथक्-पृथक् भेद मानने के लिए क्यो दुराग्रह है?

जिस काव्य में शब्द और अर्थ दोनो का चमत्कार एक ही साथ हो, वहाँ यदि शब्द-चमत्कार की प्रधानता हो तो अधम और अर्थ-चमत्कार की प्रधानता हो तो मध्यम कहना चाहिए। पर दोनों की सम प्रधानता में उस काव्य को मध्यम ही कहना चाहिए।

जैसे—एक तेज का पुंज (सूर्य) उदयाचल के छोर से प्रकट हुआ। जो खिले हुए कमलो के समूह पर गिरते हुए मत्त भ्रमरों का उल्लास, शोक-रूपी दावानल से जिनका हृदय विकल हो रहा था, उन चक्र-वाकियों का निस्तार, जिन्होंने तेज को नष्ट कर दिया था उन अन्धकार के समूहों का उत्पात और नेत्रों का पक्षपात है।

इस श्लोक मे शब्दों से वृत्यनुप्रास की अधिकता और ओज गुण के प्रकाशित होने के कारण शब्द का चमत्कार है, एवं प्रसाद गुण-युक्त होने के कारण शब्द सुनने के अनन्तर ही प्रतीत हुए 'रूपक' अथवा 'हेतु' अलकार-रूपी वाच्य का। शब्द और अर्थ दोनो के चमत्कारो के समान होने के कारण दोनो की ही प्रधानता है।

(पृष्ठ ११-२५)

४. ध्वनि-काव्य के भद

काव्य के उत्तमोत्तम भेद ध्वनि के असंख्य भेद होते हुए भी साधारणतया कुछ भेदों का निरूपण किया जाता है—

ध्वनि-काव्य दो प्रकार का होता है—अभिधा-मूलक और लक्षणामूलक। उनमें से पहला अभिधा-मूलक तीन प्रकार का है—रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि। रस-ध्वनि असलक्ष्य-क्रम ध्वनि का उपलक्षण होने से रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भाव-शान्ति, भावोदय, भाव-सन्धि और भाव-शबलता सबका ग्रहण हो जाता है। दूसरा लक्षणा-मूलक दो प्रकार का होता है—अर्थान्तर-सक्रमित-वाच्य और अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य। (पृष्ठ २५)

५. रस-ध्वनि

इस प्रकार ध्वनि-काव्य के पाँच भेदों में परम-रमणीय रस-ध्वनि के होने से उसकी आत्मा रस का वर्णन किया जाता है—

रसोचित ललित शब्दों के सन्निवेश से मनोहर काव्य के द्वारा समुपस्थित होकर सहृदयों के हृदय मे प्रविष्ट हुए उनकी सहृदयता और भावना विशेष के पुनः-पुनः अनुसन्धान के प्रभाव से (साधारणीकरण व्यापार द्वारा) दुष्यन्त रमणी के रूप शकुन्तला की निवृत्ति से अलौकिक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव से व्यवहृत शकुन्तला आदि आलम्बन कारणों, चन्द्रिका आदि उद्दीपन कारणों, अश्रुपात आदि

कार्यों एवं चिन्ता आदि सहकारी कारणों से सम्मिलित रूप से उत्पन्न हुए अलौकिक व्यापार के द्वारा उसी समय आनन्दांश के अज्ञान-रूपी आवरण के हट जाने के कारण अपने वैयक्तिक धर्मों से रहित प्रमाता के द्वारा स्व-प्रकाश-स्वरूप अपने वास्तविक आनन्दमय स्वरूप से प्रत्यक्ष किए जाते हुए, पहले से वासना-रूप से समुपस्थित रत्यादि स्थायी भाव ही रस कहलाते हैं।

(१) अभिनवगुप्त का मत—

ऐसा ही मम्मटाचार्य ने काव्य-प्रकाश मे कहा है—'पूर्वोक्त विभावादिकों से व्यक्त हुए स्थायी भाव ही रस कहलाते हैं।' 'व्यक्त' से व्यञ्जना वृत्ति से प्रतिपादित अर्थ गृहीत होता है। 'व्यञ्जना' से अभिप्राय है—आवरण-रहित चैतन्य। जिस प्रकार सकोरे ढका हुआ दीपक उसके हटा देने पर सन्निहित पदार्थों को प्रकाशित करता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है।' इसी प्रकार आत्मा का चैतन्य विभावादि से मिश्रित रति आदि को प्रकाशित करता और स्वयं भी प्रकाशित होता है। क्योकि रति आदि अन्तःकरण के धर्म हैं, उन सब को 'साक्षिभास्य' माना गया है। स्वप्नावस्था मे अश्व आदि एवं जागृत अवस्था मे रागे में रजत की प्रतीति के समान विभावादिकों का भी साक्षिभास्य (आत्मा के द्वारा भासित) हो जाता है। अतः कोई विरोध नही होता। रस को ध्वनित करने विभावादिक के अथवा उनके संयोग से उत्पन्न किए हुए अज्ञान-रूप आवरण के भङ्ग की उत्पत्ति और विनाश के कारण रस की उत्पत्ति और विनाश मान लिए जाते हैं। जैसे कि वैयाकरण अक्षरो को नित्य मानते हुए भी वर्णों को व्यक्त करने वाले तालु आदि स्थानों की क्रियाओ की उत्पत्ति और विनाश को गकार आदि अक्षरो की उत्पत्ति और विनाश मान लेते हैं। जब तक विभावादिकों का आस्वाद होता है तभी तक आवरण भङ्ग रहता है, आस्वाद के समाप्त हो जाने पर प्रकाश के आवृत हो जाने के कारण विद्यमान होने पर भी स्थायी भाव प्रकाशित नही होता।

अथवा, विभावादिकों के आस्वाद के द्वारा सहृदय पुरुष को उसकी सहृदयतावश उत्पन्न हुए प्रभाव के कारण उन उन रस के स्थायी भाव से युक्त अपने स्वरूपानन्द को विषय बनाकर, समाधिस्थ योगी के समान, उसकी चित्त-वृत्ति तन्मय हो जाती है। यह आनन्द अन्तःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्य स्वरूप न होने के कारण अन्य सासारिक सुखो के समान नही अर्थात् शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है। इस प्रकार अभिनवगुप्ताचार्य और मम्मट भट्ट आदि के ग्रन्थों के वास्तविक तात्पर्य के अनुसार अज्ञान-रूप आवरण से रहित जो चैतन्य है, उससे युक्त रति आदि स्थायी भाव ही 'रस' है यह सिद्ध हुआ। वास्तव में तो आगे चल कर उल्लिखित श्रुति के अनुसार,

रति आदि से युक्त और आवरण रहित चैतन्य का नाम ही रस है। पर दोनों ही पक्षो मे विशेषण अथवा विशेष्य किसी रूप में रहने वाले आत्मा के चैतन्यांश को लेकर रस की नित्यता और स्वतःप्रकाशमानता तथा रति आदि के अंश को लेकर अनित्यता और दूसरे के द्वारा प्रकाशित होना सिद्ध है। चैतन्य के आवरण का निवृत्त हो जाना ही इस रस का आस्वाद कहलाता है जैसा कि पहले कह आए हैं; अथवा अन्तःकरण की वृत्ति के आनन्दमय हो जाने को रस का आस्वाद समझना चाहिए। यह आस्वाद परब्रह्म के आस्वाद-रूप समाधि से विलक्षण है क्योकि इसका आलम्बन विभावादि विषयों से युक्त आत्मानन्द है। और यह आस्वाद काव्य के व्यापार तक ही सीमित है। इस आस्वाद मे सुख का अंश प्रतीत होता है, इसमे क्या प्रमाण है? इसके उत्तर में समाधि में भी सुख का भान होता है, इसमें क्या प्रमाण है? यह प्रश्न दोनों मे समान है। 'समाधि में जो अत्यन्त सुख है उसे बुद्धि जान सकती है इन्द्रियाँ नही' इत्यादि (भगवद्गीता के) शब्द प्रमाण-रूप मे विद्यमान हैं तो इस आनन्द मे भी 'वह आत्मा रस-रूप है' और 'रस को प्राप्त होकर ही यह आनन्द-रूप होता है' ये श्रुतियाँ और सब हृदयों का प्रत्यक्ष; ये दो प्रमाण हैं। जो यह द्वितीय पक्ष में चित्त-वृत्ति के आनन्दमय हो जाने को रस की चर्वणा बताया गया है वह शब्द के व्यापार व्यञ्जना से उत्पन्न होने के कारण शाब्दी है। इसके द्वारा सुख का प्रत्यक्ष अनुभव होता है इस कारण प्रत्यक्ष-रूप है, जैसे कि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यो से उत्पन्न होने वाला ब्रह्म-ज्ञान।

(२) भट्टनायक का मत—

तटस्थ रहने पर यदि रस की प्रतीति मान ली जाय तो रस का आस्वाद नही हो सकता, और 'रस हमारे साथ सम्बन्ध रखता है' ऐसा मानने से प्रतीति नही हो सकती क्योकि शकुन्तला आदि सामाजिकों के विभाव नही हैं। विभाव के बिना निराधार रस की अनुभूति नही हो सकती। यहाँ पर कान्ता-रूप ही साधारण विभाव है, यह नही कहा जा सकता है, क्योंकि जिसे हम विभाव मानते है उसके विषय मे हमें यह ज्ञान अवश्य होना चाहिए कि वह हमारे लिए अगम्या नही और वह ज्ञान भी ऐसा होना चाहिए जिसकी अप्रामाणिकता न हो। अन्यथा स्त्री तो हमारी बहिन आदि भी होती हैं वे भी विभाव होने लगेंगीं। इसी तरह करुण रसादिक में जिसके विषय में हम शोक कर रहे हैं वह अशोच्य अथवा निन्दित पुरुष न होना चाहिए। जिसे हम विभाव मानते हैं उसके विषय में अगम्यात्व ज्ञान की उत्पत्ति का अभाव किसी प्रतिबन्धक के सिद्ध हुए बिना बन नहीं सकता। दुष्यन्तादिक के साथ हमारा अपने को अभिन्न समझ लेना ही उस ज्ञान का प्रतिबन्धक मानें तो वह भी ठीक नही है, क्योंकि शकुन्तला का नायक दुष्यन्त पृथ्वीपति और धीर

पुरुष था और हम इस काल के क्षुद्र मनुष्य हैं, इस विरोध के स्पष्ट प्रतीत होने के कारण उसके साथ अभेद समझना दुर्लभ है।

अब प्रश्न यह होता है कि यह रस की प्रतीति क्या है ? अन्य किसी प्रमाण से असिद्ध होने से शब्द-प्रमाण द्वारा उत्पन्न माने तो सम्भव नही है। क्योकि ऐसा मानने पर, रात दिन व्यवहार मे आने वाले अन्य शब्दो के द्वारा ज्ञात हुए स्त्री-पुरुषो के वृत्तान्तो के ज्ञान के समान आस्वाद-हीनता हो जायगी। यदि इसे मानस-ज्ञान मानें तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि विचार पूर्वक लाए हुए पदार्थों का मन मे जो बोध होता है, उससे इसमें विलक्षणता उपलब्ध होती है। न इसे स्मृति ही कह सकते हैं क्योकि उन पदार्थों का वैसा अनुभव पहले नहीं हुआ। अतएव अभिधा-शक्ति द्वारा प्रतिपादित पदार्थ भावकत्व व्यापार के द्वारा इसके विरोधी अगम्यत्व आदि ज्ञान का प्रतिबन्ध करके इसके अनुकूल रमणीत्व आदि धर्म-पूर्वक उपस्थापित होते हैं। इस प्रकार दुष्यन्त, शकुन्तला, देश, काल, वय, अवस्था आदि का साधारणीकरण हो जाने पर, पहले व्यापार के शान्त हो जाने पर, तीसरे व्यापार भोजकत्व के प्रभाव से रजोगुण और तमोगुण का लय एवं सत्त्व गुण की वृद्धि से उत्पन्न अपने चैतन्य स्वभाव-रूपी आनन्द से युक्त विश्राम-स्थल को प्राप्त साक्षात्कार का विषय भावकत्व व्यापार द्वारा साधारणीकृत रति आदि स्थायी भाव ही रस हैं। इस पक्ष मे भी भोग किए हुए रत्यादि अथवा रत्यादि का भोग इन दोनों का नाम रस है। यह आस्वाद विषय-संयुक्त होने के कारण ब्रह्मानन्द के समान कहा जाता है। इस प्रकार काव्य के तीन अंश हैं— अभिधा, भावना, भोगीकृति, ऐसा कहा है। इस मत मे पहले मत से केवल भावकत्व अथवा भावना नामक अतिरिक्त क्रिया का स्वीकार करना ही विशेषता है; भोग आवरण-रूप से चैतन्य-रहित है और आवरण भंग करने वाला भोगीकृति नामक व्यापार आवरण भंग करने वाली व्यंजना से भिन्न नही। शेष पद्धति सब वही है।

(३) नवीनों का मत—

काव्य और नाटच में नट के द्वारा, विभाव आदिकों के प्रकाशित किए जाने पर, व्यञ्जना-वृत्ति के द्वारा, दुष्यन्त आदिको की शकुन्तला आदि के विषय मे रति ज्ञान के अनन्तर सहृदयता के कारण भावना विशेष की उत्पत्ति रूप-दोष के प्रभाव से हमारा अन्तरात्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाता है। तब जैसे अज्ञान से ढँके हुए, सीप के टुकड़े मे रजत-खण्ड की प्रतीति होने लगती है उसी प्रकार पूर्वोक्त दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित अपनी आत्मा मे, शकुन्तला आदि के विषय में अनिर्वचनीय सत्-असत् से विलक्षण आत्म-चैतन्य के द्वारा प्रकाशित शकुन्तला आदि विषयक रति आदि चित्त-वृत्तियों का नाम रस है। यह रस पूर्वोक्त दोष का

कार्य है और उसका नाश होने पर नष्ट हो जाता है। रस की प्रतीति के अनन्तर उत्पन्न होने वाले अलौकिक आह्लाद के साथ इसकी अभेद प्रतीति के कारण इसका सुख शब्द से व्यवहार होता है। रसोत्पत्ति के पूर्व व्यंजना-वृत्ति के द्वारा शकुन्तला आदि के विषय मे जो दुष्यन्त आदि की रति आदि का ज्ञान होता है, उसका और इस मिथ्या प्रेम आदि का भेद विदित न होने के कारण यह व्यग्य और वर्णनीय कहा है। सहृदयो की आत्मा को आच्छादित करने वाला दुष्यन्तत्व भी अनिर्वचनीय ही है। रत्यादि की विशिष्ट प्रतीति मे अपने आपको दुष्यन्त समझना ही दुष्यन्तत्व का आच्छादित करना है। इस प्रकार "दुष्यन्त आदि के जो रति आदि है उनका आस्वाद न होने से, वे रस नही हैं। अपनी रति आदि की अभिव्यक्ति शकुन्तला आदि से असम्बद्ध होने से कैसे हो सकती है ? यदि दुष्यन्त के साथ अपना अभेद माने तो वह राजा हम साधारण पुरुष आदि बाधक ज्ञान के कारण सम्भव नही"—इनका निराकरण हो गया। जो कि प्राचीन आचार्यो ने विभावादिको का साधारण होना लिखा है उसका भी बिना किसी दोष की कल्पना किए सिद्ध होना कठिन है क्योकि काव्य में तो शकुन्तला आदि का वर्णन है, उसका बोध हमे शकुन्तला आदि के रूप मे ही होता है, केवल स्त्री के रूप मे नही। इसलिए अवश्य ही कल्पित दोष के द्वारा आत्मा मे दुष्यन्त आदि के साथ अभेद समझ लेना भी सहज ही है।

इस प्रकार रति से तो दुष्यन्त के समान सहृदय मे भी सुख विशेष की उत्पत्ति सम्भव है परन्तु करुण-रसादिको के स्थायी भाव शोक आदि जो दुःख के जनक हैं, यह प्रसिद्ध है, उनको सहृदयो के आनन्द का कारण कैसे माना जा सकता है ? प्रत्युत नायक के समान सहृदय पुरुषो को भी उनसे दुःख होना ही उचित है। सच्चे शोक आदि से दुःख उत्पन्न होता है कल्पित से नही अतः नायको को दुःख होता है सहृदयों को नही—यह नही कहा जा सकता, क्योंकि रज्जु मे कल्पित सर्प आदि से भी भय, कम्प आदि की उत्पत्ति न होनी चाहिए।

शङ्का—सहृदय में कल्पित रति से भी सुख उत्पन्न नही होना चाहिए।

समाधान—ठीक है। यदि सहृदयो के हृदय के द्वारा यह प्रमाणित हो चुका है कि जिस तरह शृगार-रस प्रधान काव्यों से आनन्द उत्पन्न होता है उसी प्रकार करुण-रस प्रधान काव्यो से भी केवल आनन्द ही उत्पन्न होता है तो 'कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना कर लेनी चाहिए' इस नियम से जिस तरह काव्य के व्यापार को आनन्द का उत्पन्न करने वाला मानते हो उसी प्रकार उसे दुःख का भी प्रतिबन्धक मान लेना चाहिए। पर यदि आनन्द की तरह दुःख भी प्रमाण-सिद्ध है तो प्रतिबन्धक कल्पना नही करनी चाहिए। अपने-अपने कारण से दोनो ही उत्पन्न हो जायेगे।

प्रश्न—इस प्रकार के काव्य के निर्माण के लिए सहृदय की प्रवृत्ति कैसे होगी ? क्योकि जब ऐसे काव्य अनिष्ट के साधन है तो उनसे विरत होना ही उचित है ।

उत्तर—इष्ट की अधिकता और अनिष्ट की न्यूनता से चन्दन लेप के समान प्रवृत्ति तर्क-सिद्ध है । रस को केवल आह्लाद स्वरूप मानने वालों की प्रवृत्ति तो निर्विघ्न है । करुण आदि मे अश्रुपातादिक भी आनन्द के कारण ही होते हैं न कि दु ख से । इसीलिए भगवान के वर्णन सुनने से भगवद्भक्तों को भी अश्रुपात आदि होने लगते हैं, पर उस अवस्था मे कदापि दुःख का अनुभव नही होता ।

शङ्का— करुण रसादिक मे शोक आदि से युक्त दशरथ आदि से अभेद मान लेने पर यदि आनन्द सम्भव है, तो स्वप्न अथवा सन्निपात आदि मे, अपनी आत्मा में, शोक आदि से युक्त दशरथ आदि के अभेद का आरोप कर लेने पर भी आनन्द ही होना चाहिए, पर अनुभव यह है कि उन अवस्थाओ मे केवल दु:ख ही होता है, इस कारण यहाँ भी केवल दु:ख ही होता है, यही मानना उचित है ।

समाधान—यह ठीक नही । यह काव्य के अलौकिक व्यापार का प्रभाव है कि जिसके प्रयोग मे आए हुए शोक आदि सौन्दर्य-शून्य पदार्थ भी अलौकिक आनन्द को उत्पन्न करने लगते हैं । क्योकि काव्य व्यापार से उत्पन्न होने वाला रुचिर आस्वाद, अन्य प्रमाण से उत्पन्न होने वाले अनुभाव की अपेक्षा विलक्षण है । (पूर्वोक्त वाक्य मे) व्यापार से उत्पन्न का अर्थ है काव्य के व्यापार से उत्पन्न होने वाली भावना से उत्पन्न हुई रति का आस्वाद; अत: इस आस्वाद को काव्य व्यापार से उत्पन्न न मानने पर भी कोई हानि नही । शकुन्तला आदि मे अगम्या होने के ज्ञान की उत्पत्ति अपनी आत्मा मे दुष्यन्त से अभेद समझ लेने के कारण बाधित हो जाती है ।

(४) अन्य मत

व्यंजना नामक व्यापार और अनिर्वचनीय ख्याति को माने बिना भी पूर्वोक्त दोष के प्रभाव से अपनी आत्मा मे दुष्यन्त आदि की तद्रूपता समझ, काव्यगत पदार्थों का बारबार अनुसन्धान करने से विलक्षण विषयता से युक्त शकुन्तला आदि के विषय मे रति आदि से युक्त व्यक्ति के साथ अभेद का मन.कल्पित ज्ञान ही रस है । स्वप्न आदि का मानस ज्ञान काव्य के पुनः पुनः अनुसन्धान से उत्पन्न न होने के कारण रस नही हो सकता । इसलिए उसमे विशिष्ट आनन्द भी असम्भव है ।

प्रश्न—इस प्रकार मानने पर हमारे में न रहने वाली रति आदि का अनुभव कैसे होगा ?

उत्तर—यह ठीक नही। क्योंकि यह रति आदि का अनुभव लौकिक तो है नही कि इसमे जिन वस्तुओ का अनुभव होता है, उनका विद्यमान रहना आवश्यक है। अपितु यह भ्रम है। रत्यादि विषयक आलम्बन मानने पर ही आस्वादन का रस-विषयक व्यवहार सम्भव है। ऐसा भी दूसरों का मत है।

जिसे इस मत के अनुसार रस कहते हैं, वह ज्ञान तीन प्रकार से सम्भव है। एक यह कि शकुन्तला आदि के विषय मे जो रति है, उससे युक्त मैं दुष्यन्त हूँ; दूसरा यह कि शकुन्तला आदि के विषय मे जो रति है, उससे युक्त दुष्यन्त मैं हूँ। और तीसरा यह कि मै शकुन्तला आदि के विषय मे जो रति है, उससे और दुष्यन्तत्व से युक्त हूँ। अतः इन लोगो को तीनों प्रकार के ज्ञान को रस मानना होगा। इन तीनों ज्ञानो मे जो रति विशेषण रूप से प्रविष्ट हो रही है, शब्दो से उसकी प्रतीति न होने के कारण, और उसका बोध कराने वाली व्यञ्जना को अस्वीकृत करने के कारण विशेषण रूप रति आदि के ज्ञान के लिए चेष्टा आदि कारणो से सिद्ध अनुमान स्वीकार करना पड़ेगा।

(५) भट्ट लोल्लट इत्यादि का मत—

'दुष्यन्त आदि मे रहने वाले जो रति आदि हैं, प्रधानतया वे ही रस हैं; उन्ही को नाटक में सुन्दर विभाव आदि का अभिनय दिखाने मे निपुण दुष्यन्त आदि का अभिनय करने वाले नट पर आरोपित करके हम उसकी अनुभूति कर लेते हैं' ऐसा कुछ लोगो का मत है।

इस मत मे भी रस का अनुभव, पूर्वमत की भाँति 'शकुन्तला के विषय मे जो रति है, उससे युक्त यह (नट) दुष्यन्त है' इत्यादि मे धर्मी के विषय मे उसका बोध लौकिक और आरोप्य अश मे अलौकिक है।

(६) श्री शंकुक प्रभृति का मत—

दुष्यन्त आदि मे जो रति आदिक रहते हैं, वे ही नट अथवा काव्य पाठक मे उसे दुष्यन्त समझ कर, अनुमान कर लिए जाते हैं तो उनका नाम रस हो जाता है। नाटक आदि मे जो शकुन्तला आदि विभाव परिज्ञात होते है, वे यद्यपि कृत्रिम होते हैं, तथापि उनको स्वाभाविक मान कर और नट को दुष्यन्त मान कर पूर्वोक्त विभावादिकों से नट आदि मे रति आदि का अनुमान की बलवती सामग्री के कारण अनुमान कर लिया जाता है।

(७) कितने ही कहते हैं कि 'विभाव, अनुभाव और संचारी भाव ये तीनों ही सम्मिलित रूप मे रस कहलाते हैं।'

(८) बहुतों का कथन है कि 'तीनों मे जो चमत्कारी होता है वही रस है, अन्यथा तीनों ही रस नही हैं।

(९) इनके अतिरिक्त कुछ लोग कहते हैं कि 'बार-बार चिन्तन किया हुआ विभाव ही रस है।'

(१०) दूसरे कहते हैं कि 'बार-बार चिन्तन किया हुआ अनुभाव ही रस है।'

(११) कोई कहते हैं कि 'बार-बार चिन्तन किया हुआ व्यभिचारी भाव ही रस-रूप मे परिणत हो जाता है।'

अब भरत मुनि के सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' की पूर्वोक्त मतों के अनुसार व्याख्या की जाती है—

प्रथम मत के अनुसार 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा, संयोग अर्थात् ध्वनित होने से, आत्मानन्द से युक्त स्थायी भाव-रूप अथवा स्थायी भाव से उपाहृत आत्मानन्द-रूप रस की निष्पत्ति होती है अर्थात् वह अपने वास्तव-रूप में प्रकाशित होता है, यह अर्थ है।

द्वितीय मत के अनुसार—'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के सम्यक् अर्थात् साधारण रूप से योग अर्थात् भावकत्व व्यापार के द्वारा भावन करने से, स्थायी भाव-रूप उपाधि से युक्त सत्त्व गुण की वृद्धि से प्रकाशित, अपने आत्मानन्द-रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् भोग नामक साक्षात्कार के द्वारा अनुभव होता है' अर्थ है।

तृतीय मतानुसार—'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग अर्थात् विशेष प्रकार की भावना-रूपी दोष से, दुष्यन्त आदि के अनिर्वचनीय रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है' अर्थ है।

चतुर्थ मतानुसार—'विभावादिकों के संयोग अर्थात् ज्ञान से विशेष प्रकार के ज्ञान-रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है' यह अर्थ है।

पंचम मतानुसार—'विभावादिकों के सम्बन्ध से रस रति आदि की निष्पत्ति होती है अर्थात् वे (नट आदि पर) आरोपित किये जाते हैं' अर्थ है।

षष्ठ मतानुसार—कृत्रिम होने पर भी स्वाभाविक रूप मे समझे हुए विभावादिको के द्वारा संयोग अर्थात् अनुमान के द्वारा, रस अर्थात् रति आदि की निष्पत्ति होती है अर्थात् अनुमान कर लिया जाता है। यह अनुमिति नर आदि के पक्ष मे होती है यह तात्पर्य है।

सप्तम मतानुसार 'विभावादिक तीनो के संयोग अर्थात् सम्मिलित होने से रस की निष्पत्ति होती है अर्थात् रस कहलाने लगता है' अर्थ है ।

अष्टम मतानुसार—'विभावादिको मे से, संयोग अर्थात् चमत्कारी होने से रस कहलाता है' अर्थ है ।

अवशिष्ट तीनो मतो मे सूत्र का अर्थ संगत नही होता है, अत उनका सूत्र से विरोध पर्यवसित होता है ।

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इनमे से केवल एक का किसी नियत रस को ध्वनित करना नही बन सकता, क्योंकि वे जिस तरह एक रस के विभाव आदि होते है उसी तरह दूसरे रस के भी हो सकते हैं । अतः सूत्र मे तीनो का सम्मिलित रूप मे ही ग्रहण किया गया है । जब यह प्रमाणित हो गया कि तीनो के सम्मिलित होने पर ही रस ध्वनित होता है, तब जहाँ कही किसी असाधारण रूप मे वर्णित विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारी भाव मे से किसी एक मे ही रस का उद्बोध हो जाता है, वहाँ अन्य दोनो का आक्षेप कर लिया जाता है । इसलिए अनैकान्तिक दोष नही ।

इस प्रकार इस प्रपच में विद्वानों द्वारा नाना प्रकार की बुद्धियो से विभिन्न रूपो मे गृहीत होने पर भी, परम आह्लाद से व्याप्त होकर प्रतीत रस रमणीयता का प्रतिपादक है इसमें कोई विवाद नही । (पृष्ठ २५-३५)

६. रस-भेद—

पूर्वोक्त रस-शृंगार, करुण, शान्त, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक और वीभत्स-भेद से नौ प्रकार का है । भरतमुनि का वाक्य इसमे प्रमाण है ।

पर कुछ लोग कहते हैं शान्त रस के सिद्ध करने के लिए शम की आवश्यकता है, और नट मे उसका होना असम्भव है, अत नाट्य मे आठ ही रस होते है, उसमे शान्त रस का होना नही बन सकता ।' इस बात को दूसरे विद्वान स्वीकार नही करते हैं । वे कहते हैं—आपने जो यह हेतु दिया है कि नट मे शम का होना असम्भव है, वह असङ्गत है । क्योकि हम लोग नट मे रस की अभिव्यक्ति स्वीकार ही नही करते । यदि सामाजिक शम-युक्त हैं तो रस का आस्वादन होने मे कोई बाधा नही ।

शंका—यदि नट मे शान्ति न होगी तो वह शान्त रस का अभिनय ही प्रकाशित न कर सकेगा ।

उत्तर—यह नही कहा जा सकता, क्योंकि जब नट भयानक अथवा रौद्र रस की अभिव्यक्ति के लिए अभिनय करता है, तब भी उसमें भय और क्रोध तो रहते नही, फिर वह उन रसों का अभिनय भी कैसे कर सकता है ?

यदि नट में क्रोध आदि न होने के कारण, क्रोधादिक के वास्तविक वध, बन्धन आदि के उत्पन्न न होने पर भी शिक्षा और अभ्यास आदि से बनावटी वध-बन्धन आदि के उत्पन्न होने में कोई बाधा नही होती यह देखा ही जाता है, तो इस विषय में भी वैसा ही क्यों नही समझ लेते ? दोनो ही स्थानों पर एक ही बात है ।

प्रश्न—सामाजिकों में भी, नाटकादि के द्वारा, शान्त रस का उदय कैसे हो सकता है ? क्योकि विषयो से विमुख होना ही शान्त रस का स्वरूप है, और नाटक मे उसके विरोधी पदार्थ-गीत, वाद्य आदि-विद्यमान रहते हैं, अतः विरोधियो के द्वारा रस का आविर्भाव सिद्ध होना असम्भव है ।

उत्तर—जो लोग नाटक में शान्त रस को स्वीकार करते हैं, वे गीत, वाद्य आदि को फल के कारण उसका विरोधी नही मानते । यदि आप यावन्मात्र विषयों के चिन्तन को शान्त रस के विरुद्ध माने, तो शान्त रस का आलम्बन—ससार का अनित्य होना एवं उसके उद्दीपन पुराणो आदि का सुनना, सत्सङ्ग, पवित्र वन और तीर्थो के दर्शन—आदि के भी विषय होने से वे भी उसके विरोधी हो जायेगे । इसी कारण संगीत-रत्नाकर के अन्तिम अध्याय मे लिखा है—

'नाटकों मे आठ ही रस हैं, यह जो आशङ्का करते हैं वह ठीक नही है; क्योंकि नट किसी रस का आस्वादन नही करता' इत्यादि लिखकर नाटको मे भी शान्त रस है यह सिद्ध कर दिया । परन्तु जो लोग 'नाटको मे शान्त रस नही है, यह मानते हैं, उन्हे भी किसी प्रकार की बाधा न होने के कारण एव महाभारतादि ग्रन्थों मे शान्त रस ही प्रधान है, यह बात सब लोगो के अनुभव-सिद्ध होने के कारण उसे काव्यों मे अवश्य स्वीकार करना होगा । इसी कारण मम्मट भट्ट ने भी 'नाटक मे आठ रस माने गए हैं' इस प्रकार प्रारम्भ करके 'शान्त भी नवम रस है ।' इस तरह उपसहार किया है । (पृष्ठ ३६-३७)

७. गुण-निरूपण

इन पूर्व-प्रतिपादित रसों में माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों का वर्णन किया गया है । इनके विषय मे कुछ विद्वानो का कथन है कि संयोग-शृंगार में

जितना माधुर्य होता है; उससे अधिक करुण रस में होता है, उन दोनों से अधिक विप्रलम्भ-शृंगार मे होता है, एवं इन सब से अधिक शान्त रस में होता है। क्योंकि पूर्व-पूर्व रस की अपेक्षा उत्तर-उत्तर रस में चित्त का द्रव विशेष होता जाता है। दूसरे विद्वानों का कथन है कि संयोग शृंगार से करुण और शान्त रसों मे अधिक माधुर्य होता है और इन दोनों से अधिक विप्रलम्भ-शृंगार में होता है। अन्य विद्वानों का यह कथन है कि संयोग-शृंगार से करुण, विप्रलम्भ शृंगार और शान्त इन तीनों रसों मे अधिक होता है, फिर इन तीनो मे कुछ भी तारतम्य नही होता। 'करुण विप्रलम्भ और शान्त में माधुर्य अतिशयता युक्त होता है। प्राचीन आचार्यों का यह सूत्र प्रथम और अन्तिम मत के अनुकूल है। क्योकि उसके आगे के सूत्र में जो 'क्रमेण' पद है, उसको पहले सूत्र में लेने और न लेने से उसकी दो व्याख्याएं सम्भव हैं। द्वितीय मत मे करुण और शान्त रसों की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार माधुर्य की अधिकता का यदि सहृदय पुरुषों को अनुभव होता तो वह भी प्रमाण है। वीर, वीभत्स एव रौद्र रसों में पहले की अपेक्षा पिछले में अधिक ओज रहता है, क्योकि इन तीनों मे से प्रत्येक पिछला रस चित्त को अधिक दीप्त करने वाला है। अद्भुत, हास्य और भयानक रसों मे कुछ विद्वान माधुर्य और ओज दोनों गुणों को स्वीकार करते हैं और दूसरे केवल प्रसाद गुण को ही मानते हैं। प्रसाद गुण तो सब रसों और रचनाओं मे साधारण-रूप से रहता है।

इन गुणों के द्वारा, क्रम से द्रुति, दीप्ति और विकास ये तीन चित्त की वृत्तियाँ प्रयुक्त होती है, अर्थात् उन-उन गुणों से विशिष्ट रसास्वाद से उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार इन गुणो के केवल रस के धर्म सिद्ध होने पर रचना मधुर है, बन्ध ओजस्वी है, इत्यादि व्यवहार किसी पुरुष के लिए, इसका आकार शूर-वीर है, इस कथन के समान लाक्षणिक है—यह मम्मट भट्ट आदि का मत है।

जो इन माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों को केवल रस के धर्म ही माना जाता है, इसमे क्या प्रमाण है ? प्रत्यक्ष है—ऐसा नही कहा जा सकता। क्योंकि जैसे अग्नि का कार्य दग्ध करना है और उष्ण स्पर्श उसका गुण है, इन दोनों का हमे पृथक्-पृथक् अनुभव होता है, इस तरह रसों के कार्य जो द्रुति आदि चित्त-वृत्तियाँ हैं, उनके अतिरिक्त रसों मे रहने वाले गुणों का हमे अनुभव नही होता।

प्रश्न—माधुर्य आदि गुणों से युक्त ही रस द्रुति आदि के कारण होते हैं अतः कारण होने से गुणो का अनुमान कर लिया जाता है।

उत्तर—यह भी ठीक नही, क्योंकि प्रत्येक रस जब कि बिना गुणों के ही उन वृत्तियों का कारण हो सकता है तो गुणों की कल्पना करने में गौरव है। शृंगार,

करुण और शान्त रसों में से प्रत्येक को द्रुति का कारण मानने की अपेक्षा तीनो माधुर्य गुण-युक्त हैं—इस कारण तीनो से द्रुति उत्पन्न होती है—यह मानने मे लाघव है। ऐसा नही कहा जा सकता। क्योंकि मम्मट भट्ट आदि कितने ही विद्वानों ने मधुर रस से द्रुति, अत्यन्त मधुर रस से अत्यन्त द्रुति—इत्यादिक जो कार्यों मे तारतम्य माना है, उसके कारण माधुर्य गुण-युक्त होने से रस द्रुति का कारण होता है। यह मानना घेघे (एक प्रकार की गले की गाँठ) की तरह व्यर्थ है। इस प्रकार प्रत्येक रस के माधुर्य आदि का पृथक्-पृथक् कारण मानने मे ही लाघव है। और आत्मा निर्गुण है तथा रस है आत्म-रूप, अत. माधुर्यादिक को रस का गुण मानना असिद्ध है। दूसरो के अनुसार गुण-रूप रसो मे अन्य गुणों का मानना अनुचित होने के कारण एवं प्रमाण न होने से इनको उसके उपाधि-रूप रति आदि स्थायी भावो के ही गुण मानना प्रसिद्ध है।

प्रश्न—'शृंगार रस मधुर होता है' इत्यादि व्यवहार कैसे होगा ?

उत्तर—द्रुति आदि चित्त-वृत्तियो की प्रयोजकता, जो रसों मे रहती है, उसे ही माधुर्य आदि समझिए, और उसी के रहने से रसो को मधुर आदि कहा जाता है अथवा द्रुति आदि चित्त-वृत्तियाँ ही जब किसी रस के साथ प्रयोजकता सम्बन्ध रखती हैं तो उन्हे माधुर्य आदि कहा जाता है इस कारण यह कह देते है कि असगन्ध गरम होती हैं; इसी प्रकार शृगार आदि माधुर्य शब्द, अर्थ, रस, रचना का प्रयोजक अदृष्ट से भिन्न ही ग्रहण किया जाना चाहिए, अतः पूर्वोक्त व्यवहार में अति-व्याप्ति नही। इस प्रकार का माधुर्य आदि शब्द और अर्थ दोनो मे रहने के कारण, शब्द और अर्थ के माधुर्य को कल्पित नही कहना चाहिए—यह मेरे जैसे लोगों का मत है।

(पृष्ठ ६७-६९)

अनुवादक—श्री आयेन्द्र शर्मा एम. ए. साहित्याचार्य

डा० उदयभानुसिंह

जगन्नाथः

[रसगङ्गाधर]*

१. काव्यलक्षणम्

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ॥

रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता । लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः । कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनःपुनरनुसंधानात्मा । 'पुत्रस्ते जातः', 'धनं ते दास्यामि' इति वाक्यार्थधीजन्यस्याह्लादस्य न लोकोत्तरत्वम् । अतो न तस्मिन्वाक्ये काव्यत्वप्रसक्तिः । इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्वम्, यत्प्रतिपादितार्थविषयकभावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्त्वम्, स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम् । यत्तु प्राञ्चः 'अदोषौ सगुणौ सालंकारौ शब्दार्थौ काव्यम्' इत्याहुः, तत्र विचार्यते—शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्, मानाभावात् । काव्यमुच्चैः पठ्यते, काव्यादर्थोऽवगम्यते, काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञातः, इत्यादिविद्वज्जनीनव्यवहारतः प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च । व्यवहारः शब्दमात्रे लक्षणयोपपादनीय इति चेत् स्यादप्येवम्, यदि काव्यपदार्थतया पराभिमते शब्दार्थयुगले काव्यशब्दशक्तेः प्रमापकं दृढतरं किमपि प्रमाणं स्यात् । तदेव तु न पश्यामः । विमतवाक्यं त्वश्रद्धेयमेव । इत्थं चासति काव्यशब्दस्य शब्दार्थयुगलशक्तिग्राहके प्रमाणे प्रागुक्ताद् व्यवहारतः शब्दविशेषे सिद्धयन्तीं शक्तिं को नाम निवारयितुमीष्टे । एतेन विनिगमनाभावादुभयत्र शक्तिरिति प्रत्युक्तम् । तदेवं शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वे सिद्धे तस्यैव लक्षणं वक्तुं युक्तम्, न तु स्वकल्पितस्य काव्यपदार्थस्य । एषैव च वेदपुराणादिविलक्षणेष्वपि गतिः । अन्यथा तत्रापीयं दुरवस्था स्यात् । यत्त्वास्वादोद्बोधकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकं तच्च शब्दे चार्थे चाविशिष्टमित्याहुः, तन्न । रागस्यापि रसव्यञ्जकतायां ध्वनिकारादिसकलालङ्कारिकसंमतत्वेन प्रकृते लक्षणीयत्वापत्तेः । किं बहुना नाट्याङ्गानां सर्वेषामपि प्रायशस्तथात्वेन तत्त्वापत्तिर्दुर्वारैव । एतेन रसोद्बोधसमर्थस्यैवात्र लक्ष्यत्वमित्यपि परास्तम् । अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तम्, प्रत्येकपर्याप्तं वा ? नाद्यः । एको न द्वाविति व्यवहारस्येव श्लोकवाक्यं न

* निर्णयसागर प्रेस, बम्बई द्वारा सन् १९४७ मे प्रकाशित षष्ठ संस्करण ।

काव्यमिति व्यवहारस्यापत्तेः । न द्वितीयः । एकस्मिन्पद्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः । तस्माद्वेदशास्त्रपुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता ।

लक्षणे गुणालङ्कारादिनिवेशोऽपि न युक्तः । 'उदितं मण्डलं विधोः' इति काव्ये दूत्यभिसारिकाविरहिण्यादिसमुदीरितेऽभिसरणविधिनिषेधजीवनाभावादिपरे 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ चाव्याप्त्यापत्तेः । न चेदमकाव्यमिति शक्यं वदितुम् । काव्यतया पराभिमतस्यापि तथा वक्तुं शक्यत्वात् । काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव । गुणत्वालंकारत्वादेरननुगमाच्च । दुष्टं काव्यमिति व्यवहारस्य बाधकं विना लाक्षणिकत्वायोगाच्च । न च संयोगाभाववान्वृक्षः संयोगीतिवदंशभेदेन । दोषरहितं दुष्टमिति व्यवहारे बाधकं नास्तीति वाच्यम् । 'मूले महीरुहो विहंगमसंयोगी, न शाखायाम्' इति प्रतीतेरिवेदं पद्य पूर्वार्धे काव्यमुत्तरार्धे तु न काव्यमिति स्वरसवाहिनो विश्वजनीनानुभवस्य विरहादव्याप्यवृत्तितया अपि तस्यायोगात् । शौर्यादिवदात्मधर्माणां गुणानाम्, हारादिवदुपस्कारकाणामलकाराणां च शरीरघटकत्वानुपपत्तेश्च । यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न । वस्त्वलङ्कारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः । न चेष्टापत्तिः, महाकविसंप्रदायस्याकुलीभावप्रसंगात् । तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि कपिबालादिविलसितानि च । न च तत्रापि यथाकथंचित्परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेति वाच्यम् । ईदृशरसस्पर्शस्य 'गौश्चलति', 'मृगो धावति' इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात् । अर्थमात्रस्य विभावानुभावव्यभिचार्यन्यतमत्वादिति दिक् । (पृष्ठ ४-६)

२. प्रतिभाया एव काव्यकारणता

तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा । सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः । तद्गतं च प्रतिभात्वं काव्यकारणतावच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेष उपाधिरूपं वाखण्डम । तस्याश्च हेतु क्वचिद्देवताभहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम् । क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्तिकाव्यकरणाभ्यासौ । न तु त्रयमेव । बालादेस्तौ विनापि केवलान्महापुरुषप्रसादादपि प्रतिभोत्पत्तेः । न च तत्र तयोर्जन्मान्तरीययोः कल्पनं वाच्यम् । गौरवान्मानाभावात्कार्यस्यान्यथाप्युपपत्तेश्च । लोके हि बलवता प्रमाणेनाऽऽगमादिना सति कारणतानिर्णये पश्चादुपस्थितस्य व्यभिचारस्य वारणाय जन्मान्तरीयमन्यथानुपपत्त्या कारण धर्माधर्मादि कल्प्यते । अन्यथा तु व्यभिचारोपस्थित्या पूर्ववृत्तकारणतानिर्णये भ्रमत्वप्रतिपत्तिरेव जायते । नापि केवलमदृष्टमेव कारणमित्यपि शक्यं वदितुम् । कियन्तंचित्कालं काव्यं कर्तुमशक्नुवतः कथमपि संजातयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोः प्रतिभाया प्रादुर्भावस्य दर्शनात् । तत्राप्यदृष्टस्याङ्गीकारे प्रागपि ताभ्यां तस्याः प्रसक्तेः । न च तत्र प्रतिभायाः प्रतिबन्धकमदृष्टान्तरं कल्प्यमिति वाच्यम् । तादृशा-

ऽनेकस्थलगतावृष्टद्वयकल्पनापेक्षया कल्पितव्युत्पत्त्यभ्यासयोरेव प्रतिभाहेतुत्वकल्पने लाघवात्। अतः प्रागुक्तसरणिरेव ज्यायसी। तादृशादृष्टस्य तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च प्रतिभागतं वैलक्षण्यं कार्यतावच्छेदकम्, अतो न व्यभिचारः। प्रतिभात्वं च कविताया: कारणतावच्छेदकम्, प्रतिभागतवैलक्षण्यमेव वा विलक्षणकाव्यं प्रतीति नात्रापि स:। न च सतोरपि व्युत्पत्त्यभ्यासयोर्यत्र न प्रतिभोत्पत्तिस्तत्रान्वयव्यभिचार इति वाच्यम्। तत्र तयोस्तादृशवैलक्षण्ये मानाभावेन कारणतावच्छेदकानवच्छिन्नत्वात्। पापविशेषस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वकल्पनाद्वा न दोष:। प्रतिबन्धकाभावस्य च कारणता समुदितशक्त्यादित्रयहेतुतावादिनः शक्तिमात्रहेतुतावादिनश्चाविशिष्टा। प्रतिवादिना मन्त्राविभिः कृते कतिपयदिवसव्यापिनि वाक्स्तम्भे विहितानेकप्रबन्धस्यापि कवेः काव्यानुदयस्य दर्शनात्।

(पृष्ठ ९-११)

३. काव्य-भेदाः

तच्चोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा।

शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यंक्तस्तदाद्यम्॥

कमपीति चमत्कृतिभूमिम्। तेनातिगूढस्फुटव्यंग्ययोर्निरासः।

अपरांगवाच्यसिध्यंगव्यंग्यस्यापि चमत्कारितया तद्वारणाय गुणीभावितात्मानाविति स्वापेक्षया व्यंग्यप्राधान्याभिप्रायकम्।

उदाहरणम्—

'शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान्।
दयिता दयिताननाम्बुजं वरमीलन्नयना निरीक्षते॥'

अत्रालम्बनस्य नायकस्य, सविधशयनाक्षिप्तस्य रहःस्थानादेरुद्दीपनस्य च विभावस्य, तादृशनिरीक्षणादेरनुभावस्य, त्रपौत्सुक्यादेश्च व्यभिचारिणः, संयोगाद्रति रभिव्यज्यते। आलम्बनादीनां स्वरूपं वक्ष्यते। न च यद्ययं शयितः स्यात्तदास्याननाम्बुजं चुम्बेयमिति नायिकेच्छाया एव व्यंग्यत्वमत्रेति वाच्यम्। मनोरथान्सफलीकर्तुमसमर्थेत्यनेन मनोरथा. सर्वेऽस्या हृदि तिष्ठन्तीति प्रतीतेः स्वशब्देन मनोरथपदेन सामान्याकारेण सामान्येच्छाया अभिधानेऽपि चुम्बेयमिति विषयविशेषविशिष्टेच्छात्वेन व्यंग्यत्वे किं बाधकमिति वाच्यम्। चमत्कारो न स्यादित्यस्यैव बाधकत्वात्। न हि विशेषाकारेण व्यंग्योऽपि सामान्याकारेणाभिहितोऽर्थः सहृदयानां चमत्कृतिमुत्पादयितुमीष्टे। कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिंगितस्यैव व्यंग्यस्य चमत्कारित्वेनालंकारिकैः स्वीकारात्। चुम्बनेच्छाया रत्यनुभावतयैव सुन्दरत्वेन तदव्यंजने चुम्बामीति शब्दबलाच्चुम्बनेच्छावदचमत्कारि-

त्वाच्च । एवं त्रपाया अपि न प्राधान्येन व्यंग्यत्वम् । अनुवाद्यतावच्छेदकतया प्रतीतायां तस्यां मुख्यवाक्यार्थत्वायोगात् । न च दरमीलन्नयनात्वविशिष्टनिरीक्षणं विधेयमिति नानुवाद्यतावच्छेदकत्वं तस्या इति वाच्यम् । एवमपि नयनगतदरमीलनस्य तत्कार्यत्वेऽपि दरमीलन्नयनात्वविशिष्टनिरीक्षणस्य रतिमात्रकार्यत्वात् । त्रपाया एव मुख्यत्वेन व्यंग्यत्वे निरीक्षणोक्तेरनतिप्रयोजनकत्वापत्तेः । वाच्यवृत्त्या रतेरनुभावे निरीक्षणे त्रपाया अनुभावस्य दरमीलनस्येव व्यंजनया तस्यां तस्या अपि गुणीभावप्रत्ययौचित्यात् ।

यथा वा—

'गुरुमध्यगता मया नतांगी निहता नीरजकोरकेण मन्दम् ।
दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रूलतिकं मामवलोक्य घूर्णितासीत् ॥'

अत्र घूर्णितासीदित्यनेनासमीक्ष्यकारिन्किमिदमनुचितं कृतवानसीत्यर्थसंवलितोऽमर्षश्चर्वणाविश्रान्तिधामत्वात्प्राधान्येन व्यज्यते । तत्र शब्दोऽर्थश्च गुणः ।

यथा वा—

'तल्पगतापि च सुतनुः श्वाससंगं न या सेहे ।
संप्रति सा हृदयगतं प्रियपाणिं मन्दमाक्षिपति ॥'

× × ×

या नववधूः पल्यंकशयिता श्वासस्यासंगमात्रेणापि संकुचदंगलतिकाभूत्सा संप्रति प्रस्थानपूर्वरजन्यां प्रवत्स्यत्पतिका प्रियेण सशंकेन समर्पितं हृदि पाणिं नववधूजातिस्वाभाव्यादाक्षिपति, परं तु मन्दम् । अत्र शनैः स्वस्थानप्रापणात्मना मन्दाक्षेपेण रत्याख्यः स्थायी संलक्ष्यक्रमतया व्यज्यते । उपपादयिष्यते च स्थाय्यादीनामपि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम् । अमुमेव च प्रभेदं ध्वनिमामनन्ति । यत्तु चित्रमीमांसायामप्पय्यदीक्षितैः 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इति पद्यं ध्वन्युदाहरणप्रसंगे व्याख्यातम्—'उत्तरीयकर्षणेन चन्दनच्युतिरित्यन्यथासिद्धिपरिहाराय निःशेषग्रहणम् । ततश्चन्दनच्युतेः स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन संभोगचिह्नोद्घाटनाय तटग्रहणम् । स्नाने हि सर्वत्र चन्दनच्युतिः स्यात्, तव तु स्तनयोस्तट उपरिभाग एव दृश्यते । इयमाश्लेषकृतैव । तथा निर्मृष्टरागोऽधर इत्यत्र ताम्बूलग्रहणविलम्बात्प्राचीनरागस्य किंचिन्मृष्टतेत्यन्यथासिद्धिपरिहाराय निर्मृष्टराग इति रागस्य निःशेषमृष्टतोक्ता । पुनः स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन संभोगचिह्नोद्घाटनायाधर इति विशिष्य ग्रहणम् । उत्तरोष्ठे सरागेऽधरोष्ठमात्रस्य निर्मृष्टरागता चुम्बनकृतैव' इत्यादिना, 'इदमपि ध्वनेरुदाहरणम्' इत्यन्तेन संदर्भेण । 'तटादिघटिता वाक्यार्थाः स्नानव्यावृत्तिद्वारा संभोगाङ्गानामाश्लेषचुम्बनादीनां प्रतिपादनेन प्रधानव्यंग्यव्यंजने साहायकमाचरन्ति' इति, तदेतदलंकारशास्त्रतत्त्वानवबोधनिबन्धनम् । प्राचीनसकलग्रन्थविरुद्धत्वादनुपपत्तिविरोधाच्च । तथा हि पंचमोल्लासशेषे 'निःशेषेत्यादौ गमकतया यानि

चन्वनच्यवनादीन्युपात्तानि तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति । यतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोपात्तानीति नोपभोग एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि' इति काव्यप्रकाशकृतोक्तम् । तथा तत्रैव तेन—

'भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मालिदो तेण ।
गोलाणइकच्छनिकुंडगवासिणा दरिअसीहेण ॥'[1]

इत्यादौ लिंगजलिंगिज्ञानरूपेणानुमानेन व्यक्ति गतार्थयतो व्यक्तिविवेककृतो मतं प्रत्याचक्षाणेन व्यभिचारित्वेनासिद्धत्वेन च संदिह्यमानादपि लिंगाद् व्यंजनमभ्युपगतम् । इ थमेव च ध्वनिकृतापि प्रथमोद्द्योते । एवं च व्यंजकानां साधारण्यं प्रतिपादयतां प्रामाणिकानां ग्रन्थैः सहासाधारण्यं प्रतिपादयतस्तव ग्रन्थस्य विरोधः स्फुटः । किं च यदिदं नि.शेषेत्याद्यवा-तरवाक्यार्थानां वापीस्नानव्यावृत्तिद्वारेण व्यंग्यासाधारण्यं संपाद्यते तत्किमर्थमिति पृच्छामः ? व्यंग्यस्य व्यंजनार्थमिति चेन्न । व्यंजकगतासाधारण्यस्य व्यंजनानुपायत्वात् ।

'ओण्णिद्दं दोब्बल्लं चिंता अलसंतणं सणीससिअम् ।
मह मंदभाइणीए केरं सहि तुह वि परिभवइ ॥'[2]

इत्यादौ साधारणानामेवौन्निद्रत्वादीनां वक्त्रादिवैशिष्ट्यवशादर्थविशेषव्यंजकताया अभ्युपगतेः । प्रत्युतासाधारण्यस्य व्याप्त्यपरपर्यायस्यानुमानानुकूलतया व्यक्तिप्रतिकूलत्वाच्च । अथ तटादिघटितत्वेऽपि न नि.शेषेत्यादिवाक्यार्थानामसाधारण्यम् । सलिलार्द्रवसनकरणकप्रोञ्छनादिनापि तत्संभवादिति चेत्तर्हि वापीस्नानव्यावर्तनेन कः पुरुषार्थ. । एकत्रानैकान्तिकत्वस्येव बहुष्वनैकान्तिकताया अपि ज्ञाताया अनुमितिप्रतिकलत्वाद्व्यक्त्यप्रतिकूलत्वाच्च । अपि चात्र हि तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति व्यंग्यशरीरे तदन्तिकगमनं रमणरूपफलांशश्चेति द्वयं घटकम् । तत्र तावत्तदन्तिकं गतासीत्यंशस्य त्वन्मते व्यंग्यत्वं वुरुपपादम् त्वदुक्तरीत्या विशेषणवाक्यार्थानां नि:शेषेत्यादिप्रतिपाद्यानां वाच्यार्थे वापीस्नाने बाधितत्वाद्वाच्यकक्षागतप्रधानवाक्यार्थीभूतविधिनिषेधप्रतिपादकाभ्यां गता न गतेति शब्दाभ्यां विरोधिलक्षणया निषेधस्य विधेश्च प्रतीतेरुपपत्तेः । नहि मुख्यार्थबाधेनोन्मीलितेऽर्थे व्यक्तिवेद्यतोचिता । यथा 'अहो पूर्णं सरो यत्र लुठन्तः स्नान्ति मानवाः' इत्यत्र कर्तृविशेषणानुपपत्यधीनोल्लासे पूर्णत्वाभावे ।

---

१. भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छनिकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥ इति छाया

२. औन्निद्र्यं दौर्बल्य चिन्तालसत्वं सन्निःश्वसितम् ।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि परिभवति ॥ इति छाया

अथ तदन्तिकगमनस्य लक्षणावेद्यत्वेऽपि रमणस्य फलांशस्य लक्ष्यशक्तिमूलध्वननवेद्यत्वमव्याहतमेवेति चेत्, 'अधमत्वमप्रकृष्टत्वं तच्च जात्या कर्मणा वा भवति । तत्र जात्यापकर्षं नोत्तमनायिका नायकस्य वक्ति' इत्यादिना संदर्भेण भक्तेवार्थापत्तिवेद्यताया: स्फुटं वचनात् । अन्यलभ्यस्य च शब्दार्थतायां अस्वीकृतेः । अन्यच्च यथाकथंचिद्वंगीकुरु वात्र व्यंजनाव्यापारं तथापि न तवेष्टसिद्धिः । वाच्यानां निःशेषच्युतचन्दनस्तनतटत्वादीनामधमत्वस्य च त्वदुक्तरीत्या प्रकारान्तरेणानुपपाद्यमानतया दूतीसंभोगमात्रनिष्पाद्यत्वेन गुणीभूतव्यंग्यत्वप्रसंगात् । एवं चोपपत्तिविरोधोऽपि स्फुटतर एव । तस्माद्वाच्यार्थसाधारण्यमेवोचितमतिविदग्धनायिकानिरूपितानां विशेषणवाक्यार्थानाम् । तथा हि—'अयि बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे स्वार्थपरायणे स्नानकालातिक्रमभयवशेन नदीमदीयप्रिययोरन्तिकमगत्वैव वापीं स्नातुमितो ममान्तिकाद् गतासि, न पुनस्तस्य परवेदनानभिज्ञतया दुःखदातृत्वेनाधमस्यान्तिकम् । यतो निःशेषच्युतचन्दनं स्तनयोस्तटमेव नोरःस्थलम्, वःपीगतबहुलयुवजनत्रपापारवश्यादंसद्वयलग्नाग्रस्वस्तिकीकृतभुजलतायुगलेन तटस्थैवोन्नततया मुहुरामर्शात् । एवं त्वरया सम्यगक्षालनेनोत्तरोष्ठो न निर्मृष्टरागोऽधरस्तु तवपेक्षया गण्डूषजल-रदनशोधनांगुल्यादीनामधिकसंमर्दभावहतीति तथा । किं च सम्यगक्षालनेन नेत्रे जलमात्रसंसर्गाद् रमुपरिभाग एवानञ्जने । शीतवशात्स्नानवाच्च तव तनुः पुलकितेति । एवं तस्या विदग्धाया गूढतात्पर्येवोक्तिरुचिता, अन्यथा वैदग्ध्यभंगापत्तेः । एव साधारणेष्वेषु वाक्यार्थेषु मुख्यार्थे बाधाभावात्तात्पर्यार्थस्य झटित्यनाकलनात्कुतोऽत्र लक्षणावकाशः । अनन्तरं च वाच्यार्थप्रतिपत्तेर्वक्तृबोद्धव्यनायकादीनां वैशिष्ट्यस्य प्रतीतौ सत्यामधमपदेन स्वप्रवृत्तिप्रयोजको दुःखदातृत्वरूपो धर्मः साधारणात्मा वाच्यार्थदशायामपराधान्तरनिमित्तकदुःखदातृत्वरूपेण स्थितो व्यंजनाव्यापारेण दूतीसंभोगनिमित्तकदुःखदातृत्वाकारेण पर्यवस्यतीत्यालंकारिकसिद्धान्तनिष्कर्षः । एतेन 'अधमत्वमकृष्टत्वं तच्च जात्या कर्मणा वा भवति । तत्र जात्याऽपकर्षं नोत्तमनायिका नायकस्य वक्ति । नापि स्वापराधपर्यवसायिदूतीसंभोगादिहीनकर्मातिरिक्तेन कर्मणा । तादृशं च दूतीसंप्रेषणात्प्राचीनं सोढमेवेति नोद्घाटनार्हमिति तरव्यावृत्त्या संभोगरूपमेव पर्यवस्यति' इति यदुक्तम्, तदपि निरस्तम् । विदग्धोत्तमनायिकायाः सखीसमक्षं तदुपभोगरूपस्य स्वनायकापराधस्य स्फुटं प्रकाशयितुमतितमामनौचित्येन प्राचीनानामेव सोढानामप्यपराधानामसह्यतया दूतीं प्रति प्रतिपिपादयिषितत्वादिति दिक् ।

③ यत्र व्यंग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद् द्वितीयम् ॥

वाच्यापेक्षया प्रधानीभूतं व्यंग्यान्तरमादाय गुणीभूतं व्यंग्यमादायातिव्याप्तिवारणायावधारणम् । तेन तस्य ध्वनित्वमेव । लीनव्यंग्यवाच्यचित्रातिप्रसंगवारणाय चमत्कारेत्यादि । यत्तु अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यम्' इत्यविकाव्यप्रकाशगतलक्षणे चित्रान्यत्वं टीकाकारैर्वर्णितम्, तन्न । पर्यायोक्तसमासोक्त्यादिप्रधानकाव्येऽव्याप्त्यापत्तेः । तेषां गुणीभूतव्यंग्यतायाश्चित्रतायाश्च सर्वालंकारिकसंमतत्वात् ।

उदाहरणम्—

'राघवविरहज्वालासंतापितसह्यशैलशिखरेषु ।
शिशिरे सुखं शयानाः कपयः कुप्यन्ति पवनतनयाय ।।' इति ।

अत्र जानकीकुशलावेदनेन राघवः शिशिरीकृत इति व्यंग्यमाकस्मिककपिकर्तृकहनूमद्विषयककोपोपपादकतया गुणीभूतमपि वुर्दैववशतो वास्यमनुभवद्व्रजकलत्रमिव कामपि कमनीयतामावहति । नन्वेवं प्रागुक्तमाक्षेपगतं मान्द्यमपि नववधूप्रकृतिविरोधावनुपपद्यमानं व्यङ्ग्यघेनैवोपपाद्यत इति कथमुत्तमोत्तमता तस्य काव्यस्येति चेत्, न । यतो ह्यनुदिनसख्युपदेशादिभिरनतिचमत्कारिभिरप्युपपद्यमानं मान्द्यमिवं प्रथमचित्तचुम्बिनों विप्रलम्भरतिमप्रकाशयन्न प्रभवति स्वातन्त्र्येण परनिर्वृत्तिचर्वणागोचरतामाधातुम् । इत्थमेव निःशेषच्युतचन्दनमित्यादिपद्येष्वधमत्वादीनि वाच्यानि व्यंग्यातिरिक्तेनार्थेनापाततो निष्पन्नशरीराणि व्यञ्जकानीति न तत्रापि गुणीभावः शंकनीयः । अनयोर्भेदयोरनपह्नवनीयचमत्कारयोरपि प्राधान्याप्राधान्याभ्यामस्ति कश्चित्सहृदयवेद्यो विशेषः । यत्तु चित्रमीमांसाकृतोक्तम्—

'प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेण वा
किमुत सकले याते वाह्नि प्रिय त्वमिहैष्यसि ।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालाऽऽलापैः सबाष्पगलज्जलैः ।।'

इत्यत्र सकलमहः परमावधिस्ततः परं प्राणान्धारयितुं न शक्नोमीति व्यंग्यं प्रियगमननिवारणरूपवाच्यसिद्ध्यंगमतो गुणीभूतव्यंग्यम्' इति । तन्न । सबाष्पगलज्जलानां प्रहरविरतावित्याद्यालापानामेव प्रियगमननिवारणरूपवाच्यसिद्ध्यगतया व्यंग्यस्य गुणीभावाभावात् । आलापैरिति तृतीयया प्रकृत्यर्थस्य हरणक्रियाकरणतायाः स्फुट प्रतिपत्तेः । न च व्यंग्यस्यापि वाच्यसिध्यंगतात्र संभवतीति तथोक्तमिति वाच्यम् । निःशेषच्युतचन्दनमित्यादाविवाधमत्वरूपवाच्यसिद्ध्यंगतायां दूतीसंभोगादौ संभवाद् गुणीभावापत्तेः । अस्तु वा ततः परं प्राणान्धारयितुं न शक्नोमीति व्यंग्यस्य वाच्यसिद्ध्यंगतया गुणीभावस्तथापि नायकादेर्विभावस्य बाष्पादेरनुभावस्य चित्तावेगादेश्च संचारिणः संयोगादभिव्यज्यमानेन विप्रलम्भेन ध्वनित्वं को निवारयेत् ।

यत्र व्यंग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम्।।

यथा यमुनावर्णने—'तनयमनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी' इति । अत्रोत्प्रेक्षा वाच्यैव चमत्कृतिहेतुः । इवैत्यपातालतलचुम्बित्वादीनां चमत्कारो लेशतया सन्नप्युत्प्रेक्षाचमत्कृतिजठरनिलीनो नागरिकेतरनायिकाकल्पितकाश्मीरद्रवाङ्गरागनिगीर्णो निजाङ्गगौरिमेव प्रतीयते । न तादृशोऽस्ति कोऽपि वाच्यार्थो या मनागनामृष्टप्रतीयमान एव स्वतो रमणीयतामाधातुं

प्रभवति । अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकाजागरूकगुणीभूतव्यंग्ययोः प्रविष्टं निखिलमलंकारप्रधानं काव्यम् ।

यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम् ॥

यथा—

'मित्राग्निपुत्रनेत्राय त्रयीशात्रवशत्रवे ।
गोत्रारिगोत्रजत्राय गोत्रात्रे ते नमो नमः ॥' इति ।

अत्रार्थचमत्कृतिः शब्दचमत्कृतौ लीना । यद्यपि यत्रार्थचमत्कृतिसामान्यशून्या शब्दचमत्कृतिस्तत्पंचममधमाधममपि काव्यविधासु गणयितुमुचितम् । यथैकाक्षरपद्यार्धावृत्तियमकपद्यबन्धादि । तथापि रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दतारूपकाव्यसामान्यलक्षणानाक्रान्ततया वस्तुतः काव्यत्वाभावेन महाकविभिः प्राचीनपरम्परामनुरुन्धानैस्तत्र तत्र काव्येषु निबद्धमपि नास्माभिर्गणितम्, वस्तुस्थितेरेवानुरोध्यत्वात् । केचिदिमानपि चतुरो भेदानगणयन्त उत्तममध्यमाधमभावेन त्रिविधमेव काव्यमाचक्षते । तत्रार्थचित्रशब्दचित्रयोरविशेषेणाधमत्वमयुक्तं वक्तुम्, तारतम्यस्य स्फुटमुपलब्धेः । को ह्येवं सहृदयः सन् 'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्', 'स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुः' इत्यादिभिः काव्यैः 'स्वच्छन्दोच्छलद्' इत्यादीनां पामरश्लाघ्यानामविशेषं ब्रूयात् । सत्यपि तारतम्ये यद्येकभेदत्वं कस्तर्हि ध्वनिगुणीभूतव्यंग्ययोरीषदन्तरयोर्विभिन्नभेदत्वे दुराग्रहः । यत्र च शब्दार्थचमत्कृत्योरेकाधिकरण्यं तत्र तयोर्गुणप्रधानभावं पर्यालोच्य यथालक्षणं व्यवहर्तव्यम् । समप्राधान्ये तु मध्यमतैव ।

यथा—

'उल्लासः फुल्लपङ्केरुहपटलपतन्मत्तपुष्पंधयानां
निस्तारः शोकदावानलविकलहृदां कोकसीमन्तिनीनाम् ।
उत्पातस्तामसानामुपहतमहसां चक्षुषां पक्षपातः
संघातः कोऽपि धाम्नामयमुदयगिरिप्रान्ततः प्रादुरासीत् ॥'

अत्र वृत्त्यनुप्रासप्राचुर्यादोजोगुणप्रकाशकत्वाच्च शब्दस्य, प्रसादगुणयोगादनन्तरमेवाधिगतस्य रूपकस्य हेत्वलङ्कारस्य वा वाच्यस्य, चमत्कृत्योस्तुल्यस्कन्धत्वात्सममेव प्राधान्यम् । (पृष्ठ ११-२५)

४. ध्वनिकाव्यभेदाः

तत्र ध्वनेरुत्तमोत्तमस्यासंख्यभेदस्यापि सामान्यतः केऽपि भेदा निरूप्यन्ते—द्विविधो ध्वनिः, अभिधामूलो लक्षणामूलश्च । तत्राद्यस्त्रिविधः । रसवस्त्वलंकारध्वनिभेदात् । रसध्वनिरित्यलक्ष्यक्रमोपलक्षणाद्रसभावतदाभासभावशान्तिभावोदयभावसंधिभावशबलत्वानां ग्रहणम् ।

द्वितीयश्च द्विविधः । अर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च ।
(पृष्ठ २५)

५. रसध्वनिः

एवं पंचात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते—

समुचितललितसंनिवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैस्तदीय-सहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितवेद्यान्तरमणीत्वादिभिरलौकिक-विभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः, चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैः, अश्रुपातादिभिः कार्यैः, चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च, संभूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिर्वर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनैव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः।

(१) तथा चाहुः—'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः' इति। व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृतः। व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्। यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ संनिहितान्पदार्थान्प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादीन्। अन्तःकरणधर्माणां साक्षिभास्यत्वाभ्युपगतेः। विभावादीनामपि स्वप्नतुरगादीनामिव रगरजतादीनामिव साक्षिभास्यत्वमविरुद्धम्। व्यञ्जकविभावादिचर्वणाया आवरणभंगस्य वोत्पत्तिविनाशाभ्यामुत्पत्तिविनाशौ रसे उपचर्येते वर्णनित्यतायामिव व्यञ्जकताल्वादिव्यापारस्य गकारादौ। विभावादिचर्वणावधित्वादावरणभंगस्य, निवृत्तायां तस्यां प्रकाशस्याऽऽवृतत्वाद्विद्यमानोऽपि स्थायी न प्रकाशते।

यद्वा विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहितस्वस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत्। आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः, अनन्तःकरणवृत्तिरूपत्वात्। इत्थं चाभिनवगुप्तमम्मटभट्टविश्वनाथप्रभृतिग्रन्थसंदर्भेण भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम्।

वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिसंदर्भस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः। सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मना विशेषणं विशेष्यं वा चिदंशमादाय नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च सिद्धम्। रत्याद्यंशमादाय त्वनित्यत्वमितरभास्यत्वं च। चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभंग एव प्रागुक्ता, तदाकारान्तःकरणवृत्तिर्वा। इयं च परब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा, विभावादिविषयसंवलितचिदानन्दालम्बनत्वात्। भाव्या च काव्यव्यापारमात्रात्। अथास्यां सुखांशभाने किं मानमिति चेत्समाधावपि तद्भाने किं मानमिति

पर्यनुयोगस्य तुल्यत्वात्। 'सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' इत्यादि शब्दोऽस्ति तत्र मानमिति चेत्, अस्त्यत्रापि 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इति श्रुतिः, सकलसहृदयप्रत्यक्षं चेति प्रमाणद्वयम्। येयं द्वितीयपक्षे तदाकारचित्तवृत्त्यात्मिका रसचर्वणोपन्यस्ता सा शब्दव्यापारभाव्यत्वाच्छाब्दी। अपरोक्षसुखालम्बनत्वाच्चापरोक्षात्मिका। तत्त्वंवाक्यजबुद्धिवत्। इत्याहुरभिनवगुप्ताचार्यपादाः।

(२) भट्टनायकास्तु "ताटस्थ्येन रसप्रतीतावनास्वाद्यत्वम्। आत्मगतत्वेन तु प्रत्ययो दुर्घटः। शकुन्तलादीनां सामाजिकान्प्रत्यविभावत्वात्। विना विभावमनालम्बनस्य रसादेरप्रतिपत्तेः। न च कान्तात्वं साधारणविभावतावच्छेदकमत्राप्यस्तीति वाच्यम्। अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गिताऽगम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य विभावतावच्छेदककोटाववश्यं निवेश्यत्वात्। अन्यथा स्वस्त्रादेरपि कान्तात्वादिना तत्त्वापत्तेः। एवमशोच्यत्वकापुरुषत्वाविज्ञानविरहस्य तथाविधस्य करुणरसादौ। तावृशज्ञानानुत्पादस्तु तत्प्रतिबन्धकान्तरनिर्वचनमन्तरेण दुरुपपादः। स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरेव तयेति चेत्, न। नायके धराधीरेयत्वधीरत्वादेरात्मनि चाधुनिकत्वकापुरुषत्वादेर्वैधर्म्यस्य स्फुटं प्रतिपत्तेरभेदबोधस्यैव दुर्लभत्वात्। किं च केयं प्रतीतिः? प्रमाणान्तरानुपस्थानाच्छाब्दीति चेत्, न। व्यावहारिकशब्दान्तरजन्यनायकमिथुनवृत्तान्तवित्तीनामिवास्या अप्यहृद्यत्वापत्तेः। नापि मानसी। चिन्तोपनीतानां तेषामेव पदार्थानां मानस्याः प्रतीतेरस्या वैलक्षण्योपलम्भात्। न च स्मृतिः। तथा प्राग्ननुभवात्। तस्मादभिधया निवेदिताः पदार्था भावकत्वव्यापारेणाऽगम्यत्वाविरसविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते। एवं साधारणीकृतेषु दुष्यन्तशकुन्तलादेशकालवयोवस्थादिषु, पंगौ पूर्वव्यापारमहिमनि, तृतीयस्य भोगकृत्त्वव्यापारस्य महिम्ना निर्गीर्णयो रजस्तमसोरुद्रिक्तसत्त्वजनितेन निजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणेन साक्षात्कारेण विषयीकृतो भावनोपनीतः साधारणात्मा रत्यादिः स्थायी रसः। तत्र भुज्यमानो रत्यादिः, रत्यादिभोगो वेत्युभयमेव रसः। सोऽयं भोगो विषयसंवलनाद् ब्रह्मास्वादसविधवर्तीत्युच्यते। एवं च त्रयोंऽशाः काव्यस्य—'अभिधा भावना चैव तद्भोगीकृतिरेव च' इत्याहुः। मतस्यैतस्य पूर्वस्मान्मताद्भावकत्वव्यापारान्तरस्वीकार एव विशेषः। भोगस्तु व्यक्तिः। भोगकृत्त्वं तु व्यञ्जनादविशिष्टम्। अन्या तु सैव सरणिः।

(३) नव्यास्तु 'काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यंजनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलाविषयकरत्यादिरेव रसः। अयं च कार्यो दोषविशेषस्य। नाश्यश्च तन्नाशस्य। स्वोत्तरभाविना

लोकोत्तराह्लादेन भेदाऽग्रहात्सुखपदव्यपदेश्यो भवति स्वपूर्वोपस्थितेन रत्यादिना तदग्रहात्तद्रतित्वेनैकत्वाध्यवसानाद्वा व्यंग्यो वर्णनीयश्चोच्यते। अवच्छादकं दुष्यन्तत्वमप्यनिर्वचनीयमेव। अवच्छादकत्वं च रत्यादिविशिष्टबोधे विशेष्यतावच्छेदकत्वम्। एतेन—'दुष्यन्तादिनिष्ठस्य रत्यादेरनास्वाद्यत्वान्न रसत्वम्। स्वनिष्ठस्य तु तस्य शकुन्तलादिभिरतत्संबन्धिभिः कथमभिव्यक्तिः। स्वस्मिन्दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिस्तु बाधबुद्धिपराहता' इत्यादिकमपास्तम्। यद्यपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तं तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादिप्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु दोषविशेषकल्पनं विना दुरुपपादम्। अतोऽवश्यकल्प्ये दोषविशेषे तेनैव स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि सूपपादा।

नन्वेवमपि रतेरस्तु नाम दुष्यन्त इव सहृदयेऽपि सुखविशेषजनकता, करुणरसादिषु तु स्थायिनः शोकादेर्दुःखजनकतया प्रसिद्धस्य कथामिव सहृदयाह्लादहेतुत्वम्। प्रत्युत नायक इव सहृदयेऽपि दुःखजननस्यैवौचित्यात्। न च सत्यस्य शोकादेर्दुःखजनकत्वं कल्पितं न कल्पितस्येति नायकानामेव दुःखम्, न सहृदयस्येति वाच्यम्। रज्जुसर्पादेर्भयकम्पाद्यनुत्पादकतापत्तेः। सहृदये रतेरपि कल्पितत्वेन सुखजनकतानुपपत्तेश्चेति चेत्। सत्यम्। शृंगारप्रधानकाव्येभ्य इव करुणप्रधानकाव्येभ्योऽपि यदि केवलाह्लाद एव सहृदयहृदयप्रमाणकस्तदा कार्यानुरोधेन कारणस्य कल्पनीयत्वाल्लोकोत्तरकाव्यव्यापारस्यैवाह्लादप्रयोजकत्वमिव दुःखप्रतिबन्धकत्वमपि कल्पनीयम्। अथ यद्याह्लाद इव दुःखमपि प्रमाणसिद्धं तदा प्रतिबन्धकत्वं न कल्पनीयम्। स्वस्वकारणवशाच्चोभयमपि भविष्यति। अथ तत्र कवीनां कर्तृम्, सहृदयानां च श्रोतुम्। कथं प्रवृत्तिः? अनिष्टसाधनत्वेन निवृत्तेरुचितत्वात्। इति चेत्। इष्टस्याधिक्यादनिष्टस्य च न्यूनत्वाच्चन्दनद्रवलेपनादाविव प्रवृत्तेरुपपत्तेः। केवलाह्लादवादिनां तु प्रवृत्तिरप्रत्यूहैव। अश्रुपातादयोऽपि तत्तदानन्दानुभवस्वाभाव्यात्, न तु दुःखात्। अत एव भगवद्भक्तानां भगवद्वर्णनाकर्णनादश्रुपातादय उपपद्यन्ते। न हि तत्र जात्वपि दुःखानुभवोऽस्ति। न च करुणरसादौ—स्वात्मनि शोकादिमद्दशरथादितादात्म्यारोपे यद्याह्लादस्तदा स्वप्नादौ संनिपातादौ वा स्वात्मनि तदारोपेऽपि स स्यात्, आनुभविकं च तत्र केवलं दुःखमितीहापि तवैव युक्तमिति वाच्यम्। अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा, यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति। विलक्षणो हि कमनीयः काव्यव्यापारज आस्वादः प्रमाणान्तरजादनुभवात्। जन्यत्वं च स्वजन्यभावनाजन्यरत्यादिविषयकत्वम्। तेन रसास्वादस्य काव्यव्यापाराजन्यत्वेऽपि न क्षतिः। शकुन्तलादावगम्यात्वज्ञानोत्पादस्तु स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्ध्या प्रतिबध्यते' इत्याहुः।

(४) परे तु 'व्यंजनव्यापारस्यानिर्वचनीयस्यातेश्चानभ्युपगमेऽपि प्रागुक्तदोषमहिम्ना स्वात्मनि दुष्यन्तादितादात्म्यावगाहो शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदबोधो

मानसः काव्यार्थभावनाजन्मा विलक्षणविषयताशाली रसः। स्वाप्नादिस्तु तादृशबोधो न काव्यार्थचिन्तनजन्मेति न रसः। तेन तत्र न तादृशाह्लादापत्तिः। एवमपि स्वस्मिन्नविद्यमानस्य रत्यादेरनुभवः कथं नाम स्यात्। मैवम्। न ह्ययं लौकिकसाक्षात्कारो रत्यादे, येनावश्यं विषयसद्भावोऽपेक्षणीयः स्यात्। अपि तु भ्रमः। आस्वादनस्य रसविषयकत्वव्यवहारस्तु रत्यादिविषयकत्वालम्बन.' इत्यपि वदन्ति। एतैश्च स्वात्मनि दुष्यन्तत्वधर्मितावच्छेदकशकुन्तलादिविषयकरतिवैशिष्ट्यावगाही, स्वात्मत्वविशिष्टे शकुन्तलादिविषयकरतिविशिष्टदुष्यन्ततादात्म्यावगाही, स्वात्मत्वविशिष्टे दुष्यन्तत्वशकुन्तलाविषयकरत्योर्वैशिष्ट्यावगाही, वा त्रिविधोऽपि बोधो रसपदार्थतयाभ्युपेयः। तत्र रतेर्विशेषणीभूतायाः शब्दादप्रतीतत्वाद् व्यंजनायाश्च तत्प्रत्यायिकाया अनभ्युपगमाच्चेष्टादिर्लिंगकमादौ विशेषणज्ञानार्थमनुमानमभ्युपेयम्।

(५) मुख्यतया दुष्यन्तादिगत एव रसो रत्यादिः कमनीयविभावाद्यभिनयप्रदर्शनकोविदे दुष्यन्ताद्यनुकर्तरि नटे समारोप्य साक्षात्क्रियते इत्येके। मतेऽस्मिन्साक्षात्कारो दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलादिविषयकरतिमानित्यादिः प्राग्वद्धर्म्यंशे लौकिक आरोप्यांशे त्वलौकिकः।

(६) 'दुष्यन्तादिगतो रत्यादिर्नटे पक्षे दुष्यन्तत्वेन गृहीते विभावादिभिःकृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतैर्भिन्ने विषयेऽनुमितिसामग्र्या बलवत्त्वादनुमीयमानो रसः' इत्यपरे।

(७) 'विभावादयस्त्रयः समुदिता रसाः' इति कतिपये। (८) 'त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसोऽन्यथा तु त्रयोऽपि न' इति बहवः। (९) 'भाव्यमानो विभाव एव रसः' इत्यन्ये। (१०) 'अनुभावस्तथा' इतीतरे। (११) व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमति' इति केचित्।

तत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति सूत्रं तत्तन्मतपरतया व्याख्यायते—'विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयोगाद् व्यञ्जनाद्रसस्य चिदानन्दविशिष्टस्थाय्यात्मनः स्थाय्युपहितचिदानन्दात्मनो वा निष्पत्तिः स्वरूपेण प्रकाशनम्' इत्याद्ये। 'विभावानुभावव्यभिचारिणां सम्यक्साधारणात्मतया योगाद्भावकत्वव्यापारेण भावनाद्रसस्य स्थाय्युपहितसत्त्वोद्रेकप्रकाशितस्वात्मानन्दरूपस्य निष्पत्तिर्भोगाख्येन साक्षात्कारेण विषयीकृतिः' इति द्वितीये। विभावानुभावव्यभिचारिणां संयोगाद्भावनाविशेषरूपाद्दोषाद्रसस्यानिर्वचनीयदुष्यन्तरत्याद्यात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्तिः। इति तृतीये। 'विभावादीनां संयोगाज्ज्ञानाद्रसस्य ज्ञानविशेषात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्तिः' इति चतुर्थे। 'विभावादीनां सम्बन्धाद्रसस्य रत्यादेर्निष्पत्तिरारोपः' इति पंचमे। 'विभावादिभिः कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतैः संयोगादनुमानाद्रसस्य रत्यादेर्निष्पत्तिरनुमितिः, नटादौ पक्ष इति शेषः' इति

षष्ठे। 'विभावादीनां त्रयाणां संयोगात्समुदायाद्रसनिष्पत्ती रसपदव्यवहारः' इति सप्तमे। 'विभावादिष्व सम्यग्योगाच्चमत्कारात्' इत्यष्टमे। तदेवं पर्यवसितस्त्रिषु मतेषु सूत्रविरोधः। विभावानुभावव्यभिचारिणामेकस्य तु रसान्तरसाधारणतया नियतरस-व्यञ्जकतानुपपत्तेः सूत्रे मिलितानामुपादानम्। एवं च प्रामाणिके मिलितानां व्यञ्जकत्वे यत्र क्वचिदेकस्मादेवासाधारणाद्रसोद्बोधस्तत्रेतरद्वयमाक्षेप्यम्। अतो नानैकान्तिकत्वम्। इत्थं नानाजातीयाभिः शेमुषीभिर्नानारूपतयावसितोऽपि मनीषिभिः परमाह्लादाविना-भावितया प्रतीयमानः प्रपञ्चेऽस्मिन्नसौ रमणीयतामावहतीति निर्विवादम्।

(पृठ २५-३५)

६. रस-भेदाः

स च—

'शृङ्गारः करुणः शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा।
हास्यो भयानकश्चैव बीभत्सश्चेति ते नव॥'

इत्युक्तेर्नवधा। मुनिवचनं चात्र मानम्।

केचित्तु—

'शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसंभवात्।
अष्टावेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते॥'

इत्याहुः। तच्चापरे न क्षमन्ते। तथा हि—नटे शमाभावादिति हेतुरसङ्गतः, नटे रसा-भिव्यक्तेरस्वीकारात्। सामाजिकानां शमवत्त्वेन तत्र रसोद्बोधे बाधकाभावात्। न च नटस्य शमाभावात्तदभिनयप्रकाशकत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्। तस्य भयक्रोधादेरप्यभावेन तदभिनयप्रकाशकताया अप्यसंगत्यापत्तेः। यदि च नटस्य क्रोधादेरभावेन वास्तवतत्का-र्याणां वधबन्धादीनामुत्पत्त्यसम्भवेऽपि कृत्रिमतत्कार्याणां शिक्षाभ्यासादित उत्पत्तौ नास्ति बाधकमिति निरीक्ष्यते, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम। अथ नाट्ये गीतवाद्यादीनां विरोधिनां सत्त्वात्सामाजिकेष्वपि विषयवैमुख्यात्मनः शान्तस्य कथमत्रैक इति चेत्, नाट्ये शान्त-रसमभ्युपगच्छद्भिः फलबलात्तद्गीतवाद्यादेस्तस्मिन्विरोधिताया अकल्पनात्। विषय-चिन्तासामान्यस्य तत्र विरोधित्वस्वीकारे तदीयालम्बनस्य संसारानित्यत्वस्य तवृद्दीपनस्य पुराणश्रवण-सत्सङ्ग-पुण्यवन-तीर्थावलोकनादेरपि विषयत्वेन विरोधित्वापत्तेः। अत एव च चरमाध्याये संगीतरत्नाकरे—

'अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुवन्।
तदचारु, यतः कञ्चिन्न रसं स्ववते नटः॥'

इत्याविना नाटयेऽपि शान्तो रसोऽस्तीति व्यवस्थापितम् । यैरपि नाटये शान्तो रसो नास्तीत्यभ्युपगम्यते तैरपि बाधकाभावान्महाभारतादिप्रबन्धानां शान्तरसप्रधानताया अखिललोकानुभवसिद्धत्वाच्च काव्ये सोऽवश्यं स्वीकार्यः । अत एव 'अष्टौ नाटये रसाः स्मृताः' इत्युपक्रम्य 'शान्तोऽपि नवमो रसः' इति मम्मटभट्टा अप्युपसमहार्षुः ।

(पृष्ठ ३६-३७)

७. गुण-निरूपणम्

रसेषु चैतेषु निगदितेषु माधुर्यौजःप्रसादाख्यांस्त्रीन्गुणानाहुः । तत्र 'शृंगारे संयोगाख्ये यन्माधुर्यं ततोऽतिशयितं करुणे, ताभ्यां विप्रलम्भे, तेभ्योऽपि शान्ते । उत्तरोत्तरमतिशयिताया श्चित्तद्रुतेर्जननात्' इति केचित् ।' संयोगशृंगारात्करुणविप्रलम्भशान्तेष्वतिशयितमेव न पुनस्तत्रापि तारतम्यम्' इत्यन्ये । तत्र प्रथमचरमयोर्मतयोः 'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्' इति प्राचां सूत्रमनुकूलम् । तस्योत्तरसूत्रगतस्य क्रमेणेति पदस्यापकर्षानपकर्षाभ्यां व्याख्याद्वयस्य सभवात् । मध्यस्थे तु मते करुणशान्ताभ्यां विप्रलम्भस्य माधुर्यातिशये यदि सहृदयानामनुभवोऽस्ति साक्षी, तदा स प्रमाणम् । वीरबीभत्सरौद्रेष्वोजसो यथोत्तरमतिशयः, उत्तरोत्तरमतिशयिताया श्चित्तदीप्तेर्जननात् । अद्भुतहास्यभयानकानां गुणद्वययोगित्वं केचिदिच्छन्ति, अपरे तु प्रसादमात्रम् । प्रसादस्तु सर्वेषु रसेषु सर्वासु रचनासु च साधारणः ।

गुणानां चैषां द्रुतिदीप्तिविकासाख्यास्तिस्रश्चित्तवृत्तयः क्रमेण प्रयोज्याः । तत्तद्गुणविशिष्टरसत्ववर्णाजन्या इति यावत् । एवमेतेषु गुणेषु रसमात्रधर्मेषु व्यवसितेषु मधुरा रचना, ओजस्वी बन्ध इत्यादयो व्यवहारा आकारोऽस्य शूर इत्यादिव्यवहारवदौपचारिका इति मम्मटभट्टाशयः । येऽमी माधुर्यौजःप्रसादा रसमात्रधर्मतयोक्तास्तेषां रसधर्मत्वे किं मानम् ? प्रत्यक्षमेवेति चेत्, न । दाहादेः कार्यादनलगतस्योष्णस्पर्शस्य यथा भिन्नतयानुभवस्तथा द्रुत्यादिचित्तवृत्तिभ्यो रसकार्येभ्योऽन्येषां रसगतगुणानामननुभवात् । तादृशगुणविशिष्टरसानां द्रुत्यादिकारणत्वात्कारणतावच्छेदकतया गुणानामनुमानमिति चेत्, प्रातिस्विकरूपेणैव रसानां कारणतोपपत्तौ गुणकल्पने गौरवात् । शृंगारकरुणशान्तानां माधुर्यवत्त्वेन द्रुतिकारणत्वं प्रातिस्विकरूपेण कारणत्वकल्पनापेक्षया लघुभूतमिति तु न वाच्यम् । परेण मधुरतरादिगुणानां पृथग्द्रुततरत्वादिकार्यतारतम्यप्रयोजकतयाभ्युपगमेन माधुर्यवत्त्वेन कारणताया गडुभूतत्वात् । इत्थं च प्रातिस्विकरूपेणैव कारणत्वे लाघवम् । किं चात्मनो निर्गुणतयात्मरूपरसगुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम् । एवं तवुपाधिरत्यादिगुणत्वमपि, मानाभावात्, पररीत्या गुणे गुणान्तरस्यानौचित्याच्च । अथ शृंगारो मधुर इत्यादिव्यवहारः कथमिति चेत्, एवं तर्हि द्रुत्यादिचित्तवृत्ति-

प्रयोजकत्वम्, प्रयोजकतासंबन्धेन द्रुत्यादिकमेव वा माधुर्यादिकमस्तु । व्यवहारस्तु वाजिगन्धोष्णेतिव्यवहारवदक्षतः । प्रयोजकत्वं चादृष्टादिविलक्षणं शब्दार्थरसरचनागतमेव ग्राह्यम् । अतो न व्यवहारातिप्रसक्तिः । तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैव कल्प्य इति तु मादृशाः । (पृष्ठ ६७-६९)

२

हिन्दी

केशवदास

(समय—सन् १५५५-१६१७ ई०)

ग्रन्थ—कविप्रिया, रसिकप्रिया

१—सामान्य काव्य-सिद्धान्त

(अ) कवि-कर्म का स्वरूप—

चरण धरत चिंता करत, नींद न भावत सोर।
सुबरण को सोधत फिरत, कवि, व्यभिचारी, चोर॥
(**कविप्रिया, २-४**)

साँची बात न बरनहीं, झूठी बरननि बानि।
एकनि बरनैं नियम कैं, कवि मत त्रिविध बखानि॥
(**कविप्रिया ४-४**)

(ब) कवि-भेद—

उत्तम, मध्यम, अधम कवि, उत्तम हरि-रस लीन।
मध्यम मानत मानुषनि, दोषनि अधम प्रवीन॥
जो अति उत्तम ते पुरुषारथ, जे परमारथ के पथ सोहैं।
केशवदास अनुत्तम ते नर सतत स्वारथ सयुत जो हैं॥
स्वारथ हू परमारथ भोगनि मध्यम लोगनि के मन मोहैं।
भारत पारथ-मीत कहो, परमारथ स्वारथहीन ते को है॥
(**कविप्रिया, ४-१, २, ३**)

(ज) काव्य और दोष—

राजत रंच न दोष युत, कविता बनिता मित्र।
बुंदक हाला परत ज्यो, गगा घट अपवित्र॥
विप्र न नेगी कीजई, मुग्ध न कीजै मित्त।
प्रभु न कृतघ्ना सेइये, दूषण सहित कवित्त॥
अन्ध, बधिर अरु पंगु तजि, नगन, मृतक मतिशुद्ध।
अन्ध विरोधी पन्थ को, बधिर जो शब्द विरुद्ध॥

छन्द विरोधी पंगु मुनि, नगन जो भूषण हीन ।
मृतक कहावै अरथ बिन, केसव सुनहु प्रवीन ।।

(कविप्रिया, ३-५, ६, ७, ८,)

(स) काव्य में अलंकार-प्रयोग—

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषण बिन न बिराजई, कविता बनिता मित्त ।।
कविन कहे कवितानि के अलकार द्वै रूप ।
एक कहे साधारणहि, एक विशिष्ट स्वरूप ।।
सामान्यालकार को, चारि प्रकार प्रकास ।
वर्ण, वर्ण्य भू-राज श्री, भूषण केशवदास ।।

(कविप्रिया, ५ १, २, ३)

(ह) काव्य और रस-तत्व—

तातें रुचि शुचि शोचि पचि कीजै सरस कवित्त ।
केशव श्याम सुजान को, सुनत होइ वश चित्त ।।

(रसिकप्रिया, पृष्ठ १२, १४)

(ङ) कवि-वाणी—

ज्यों बिन डीठ न शोभिये, लोचन लोल विसाल ।
त्यो ही केशव सकल कवि, बिन वाणी न रसाल ।।

(रसिकप्रिया, पृष्ठ ११, १३)

२—रस-प्रसंग

(अ) रसाङ्ग—

(१) भाव—

आनन लोचन बचन मग, प्रकटत मन की बात ।
ताही सों सब कहत हैं, भाव कविन के तात ।।

(रसिकप्रिया पृ० ८९।१)

२. विभाव —

जिनते जगत अनेक रस, प्रकट होत अनयास ।
तिनसो विमति विभाव कहि, वर्णत केशवदास ।।
सो विभाव द्वै भाँति के, केशवदास बखान ।
आलंबन इक दूसरो, उद्दीपन मन आन ।।

जिन्हैं जतन अवलंबई, ते आलबन जान।
जिनते दीपित होत हैं, ते उद्दीप बखान॥
(रसिकप्रिया, पृ० ६०।३, ४, ५)

२. अनुभाव —

आलंबन उद्दीप के जे अनुकरण बखान।
ते कहिये अनुभाव सब, दम्पति प्रीति विधान॥
(रसिकप्रिया, पृ० ६२।८)

४. स्थायी भाव —

रति हासी अरु शोक पुनि, क्रोध उछाह सुजान।
भय निंदा विस्मय सदा, थाई भाव प्रमान॥
(रसिकप्रिया, पृ० ६२।६)

५. सात्त्विक भाव —

स्तंभ स्वेद रोमांच सुर, भग कप वैवर्ण।
अश्रु प्रलाप बखानिये, आठो नाम सुवर्ण॥
(रसिकप्रिया, पृ० ६३।१०)

६. व्यभिचारी भाव —

भाव जु सब ही रसन मे, उपजत केशव राय।
बिना नियम तिन शोक हैं, व्यभिचारी कविराय॥
(रसिकप्रिया, पृ० ६३।११)

(ब) नव रस —

१. शृंगार रस —

इतर रसो का शृंगार रस मे समाहार :—

श्री बृषभानु कुमारि हेतु 'शृंगार' रूप मय।
वास 'हास' रस हरे, मात-बंधन 'करुणामय'॥
केशी प्रति अति 'रौद्र', 'वीर' मारो वत्सासुर।
'भय' दावानल पान, पियो 'बीभत्स' बकी उर॥
अति 'अद्भुत' वच विरंचि मति, 'शात' संतते शोच चित।
कहि केशव सेबहु रसिक जन, नवरस मे ब्रज-राज नित॥

नवहू रस को भाव बह, तिनके भिन्न विचार।
सबको केशवदास हरि, नायक है शृंगार॥
रति मति की अति चातुरी, रति पति मत्र विचार।
ताही सो सब कहत हैं, कवि कोविद शृंगार॥
शुभ सयोग वियोग पुनि, दोउ शृंगार का जाति।
पुनि प्रच्छन्न प्रकाश करि, दोऊ द्वै-द्वै भाँति॥

(रसिकप्रिया, प्र० १२-१३।१६, १७, १८)

२. *हास्य रस* —

नयन बयन कछु करत जहँ जन को मोद उदोत।
चतुर चित्त पहिचानिये, तहाँ हास्य रस होत॥
मन्द हास कलहास पुनि, कहि केशव अतिहास।
कोविद कवि वर्णत सबै, अरु चौथो परिहास॥
विकसहि नयन कपोल कछु, दशन दशन के वास।
मन्दहास तासो कहै, कोविद केशवदास॥
जहँ सुनिये कल ध्वनि कछु, कोमल विमल विलास।
केशव तन मन मोहिये, बर्णहु कवि कलहास॥
जहाँ हँसै निरशङ्क ह्वै, प्रकटै मुख मुख बास।
आधे आधे बरण पद, उपज परत अतिहास॥
जहँ परिजन सब हँसि उठै, तजि दम्पति की कान।
केशव कौनहुँ बुद्धि बल, सो परिहास बखान॥

(रसिकप्रिया, प्रक० १४।१, २, ३, ८, १२, १५)

३. *करुण रस* —

प्रिय के विप्रियकरण ते, आन करुण रस होत।
ऐसो बरण बखानिये, जैसे तरुण कपोत॥

(रसिकप्रिया, प्रक० १४।१८)

४. *रौद्र रस* —

होहि रौद्र रस क्रोध मे, विग्रह उग्र शरीर।
अरुण बरण बरणत सबै, कहि केशव मति धीर॥

(रसिकप्रिया, प्रक० १४।२१)

५. *वीर रस* —

होहि वीर उत्साहमय, गौर बरण द्युति अंग ।
अति उदार गम्भीर कहि, केशव पाय प्रसंग ।।
(रसिकप्रिया, प्रक० १४।२४)

६. *भयानक रस* —

होहि भयानक रस सदा, केशव श्याम शरीर ।
जाको देखत सुनत ही, उपजि परे भय भीर ।।
(रसिकप्रिया, प्रक० १४।२७)

७. *वीभत्स रस* —

निंदामय वीभत्स रस, नील बरण वपु तास ।
केशव देखत सुनत ही, तन मन होइ उदास ।।
(रसिकप्रिया, प्रक० १४।३०)

८. *अद्भुत रस* —

होहि अचंभौ देखि सुनि, सो अद्भुत रस जान ।
केशवदास विलास निधि, पीत बरण वपु मान ।।
(रसिकप्रिया, प्रक० १४।३३)

९. *समरस* —

सब ते होइ उदास मन, बसै एक ही ठौर ।
ताही सो समरस कहै, केशव कवि शिरमौर ।।
(रसिकप्रिया, प्रक०, १४।३८)

(ज) अनरस —

१. *सामान्यभेद* —

प्रत्यनीक नीरस विरस, केशव दुःसधान ।
पात्रादुष्ट कवित्त बहु, करहि न सुकवि बखान ।।

२. *प्रत्यनीक रस* —

जहँ शृंगार बीभत्स भय, विरसहि बरणै कोइ ।
रौद्रसु करुण मिलत ही, प्रत्यनीक रस होइ ।।

३. नीरस रस —

जहाँ दम्पती मुँह मिलै, सदा रहै यह रीति।
कपट रहै लपटाय मन, नीरस रस की प्रीति॥

४. विरस रस —

जहाँ शोक महि भोग को, बरणि कहै कवि कोइ।
केशवदास हुलास सो, तहँ ही बीरस होइ॥

५. दुःसंधान रस —

एक होइ अनुकूल जहं, दूजो है प्रतिकूल।
केशव दुःसंधान रस, शोभित तहाँ समूल॥

६. पात्र-दुष्ट रस —

जैसो जहाँ न बूझिए, तैसो करिए पुष्ट।
बिनु विचार जो बरणियै, सो रस पातर दुष्ट॥

(रसिकप्रिया प्रक०, १६-१, २, ४, ६, ८, १८)

३ काव्य-वृत्तियाँ

प्रथम कैशिकी भारती- आरभटी मनि भाँति।
कहि केशव शुभ सात्त्विकी, चतुर चतुर विधि जाति॥

१. कैशिकी वृत्ति --

कहिए केशवदास जहं, करुण हास शृङ्गार।
सरल बरण शुभ भाव जहं, सो कैशिकी विचार॥

२. भारती --

बरणे जामे वीर रस, अरु अद्भुत रस हास।
कहि केशव शुभ अर्थ जहं, सो भारती प्रकास॥

३. आरभटी —

केशव जामे रुद्र रस, भय वीभत्सक जान।
आरभटी आरम्भ यह, पद-पद जमक बखान॥

४. सात्त्विकी --

अद्भुत वीर शृंगार रस, समरस वरणि समान।
सुनतहि समुझत भाव जिहि, सो सात्त्विकी सुजान॥

(रसिकप्रिया प्रक० १५-१, २, ४, ६, ८)

चिन्तामणि

[समय-- सन् १६०९—]

ग्रन्थ :—कविकुलकल्पतरु

१—सामान्य काव्य-सिद्धान्त

(अ) काव्य का स्वरूप --

छन्द निबद्ध सुपद्य कहि गद्य होत बिन छंद।
भाषा छंद निबद्ध सुनि सुकवि होत सानंद॥
सगुनालंकारन सहित दोष रहित जो होइ।
शब्द अर्थ ताको कवित कहत विबुध सब कोई॥

(प्रक० १।५-७)

(ब) काव्य के भेद --

उत्तम मध्यम अधम ए त्रिविध कविन पहिचानि।
तिनके लक्षण उदाहरन देत लेहु मन आनि॥
वाक अर्थ ते कहत मनि व्यंग अधिक जहँ होइ।
सो जन उत्तम कवित है? यह जानत कवि कोइ॥
उत्तम व्यंग प्रधान गन अप्रधान गन व्यंग।
सो मध्यम पुनि अधम गन त्रिविध चित्र अव्यंग॥
वाच्या लक्ष ते भिन्न जे कवित सुनौ ते अर्थ।
भासे ते सब व्यंग कहि बरनत सुकवि समर्थ॥

(प्रक० ५, श्री राधा वर्णन-भाग, ।१, २, ३, ४)

(ज) काव्य में गुण-स्थिति —

प्रथम कहत माधुर्य पुनि ओज प्रसाद बखानि।
त्रिविधै गुन तिन मै सबै सुकवि लेत मनमानि॥

१. माधुर्य गुण —

जो सयोग सिगार मे सुखद दबावै चित्त
सो माधुर्य बखानियै यहई तत्त्व कवित्त ॥
सो सयोग सिगार ते करुण मध्य अधिकाइ ।
विप्रलम्भ अरु सात रस तामे अधिक बनाइ ॥
अनुस्वार जुत वरन जिति सवै वर्ग अ-टवर्ग ।
मृदु समास माधुर्य की घटना मे जु निसर्ग ॥

२. ओज गुण —

दीप्त चित्त विस्तार को हेतु ओज गुन जानि ।
सु तौ वीर वीभत्स अरु रौद्र क्रमाधिक मानि ॥
वरगन मे जो आदि अरु तीजो आखर कोइ ।
तिन सो योग दुतीय अरु चौथे कौ जो होइ ॥
रेफ जोग सब ठौर जो तुल्य वरन जुग जोग ।
सपट वरग दीरघ करत जे समास कवि लोग ॥
ऐसी घटना ओज की व्यञ्जक मन मैं आनि ।
सकल सुकवि जन कौ मतौ सुजन लेहु मन जानि ॥
सजोगी उद्धत वरन जो पुनि दिग्ध समास ।
ऐसी रचना करत है सुनतहि बीज प्रकास ॥

३. प्रसाद गुण —

सूखे ईधन आग ज्यौं स्वच्छ (स्वच्छ) नीर की रीति ।
झलकै अक्षर अर्थ जो सो प्रसाद गुन नीति ॥
जामहि सुनतहि पदन के अर्थ बोध मन होइ ।
सो प्रसाद बरनादि इति साधारण सब जोइ ॥
(**प्रक० १।१३, १४, १५, २०, १६, २२, २३, २४, २५, १७,२८**)

(स) काव्य-पुरुष —

सबे अर्थ तवु (नु) वर्गिये जीवित रस जिय जानि ।
अलकार हारादि पे उपमादिक मन आनि ॥

श्लेषादि गन सूरतादिक से मानौ चित्त ?
बरनौ रीति सुभाव, ज्यौ वृत्ति वृत्ति सी मित्त ॥
पद अनगुन विश्राम मो सज्जा सज्जा जाँनि ।
रस आस्वादन भेद जे पाक पाँक से मानि ॥
कवित पुरुष की साजु सब समुझ लोक का रीति ।
(प्रक० १।६, १२)

२—रस-प्रसंग

अ) रसाङ्ग —

१. हाव-भाव —

भू नेत्रादि विकार जो कछु उपजै मन माँहि ।
कछू सलक्ष्य विकार वह भाव हाव ह्वै जाहि ॥
(प्रक० ७।१५)

मन विकार कहि भाव सो करन वासना रूप ।
विविध ग्रथ करता कहत ताको रूप अनूप ॥
जो नहि जाति विजाति सौ होइ तिरस्कृत रूप ।
जब लग रहु तब लग सुथिर थाई भाव अनूप ॥
(प्रक० ५, श्री राधा-वर्णन भाग, । ५०, ५२)

२. अनुभाव —

इति कारज अनुभाव गनि कटाक्ष दै आदि ।
मधुर अग ईहा कहै सुहृदय सुखद अनादि ॥
जे पुनि थाई भाव को प्रकट करै अनयास ।
ताहि कहत अनुभाव हैं सब कवि बुद्धि विलास ॥
(प्रक० ६।१, २)

३. संचारी भाव —

जे विषेशते थाइ को अभिमुख रहे बनाइ ।
ते संचारी वर्गिये कहत बडे कविराइ ॥
रहत सदा थिर भाव मै प्रगट होत इहि भाँति ।
ज्यौ कल्लोल समुद्र मे यौ सचारी जाति ॥
(प्रक० ६।८, ९)

४. रसाभास-भावाभास —

अनुचित विषय करति जुहै सोई त रस आभास ।
अनुचित विषय के भाव जो सो पुनि भावाभास ।।

(प्रक० ८।१६२)

(ब) शृंगार रस —

जामैं थाई रति सु तौ मन की लगन अनूप ।
चितामनि कवि कहत हैं सो शृंगार सरूप ।।
सु तौ एक संजोग है विप्रलंभ कहि और ।
द्विविधि होत शृंगार यो वरनत कवि सिर मौर ।।
जहाँ दम्पती प्रीति सो बिलसत रचत बिहार ।
चितामनि कवि कहत यो तहँ संजोग सिगार ।।
जहाँ मिलै नहि नारि अरु पुरुष सुबरन वियोग ।
विप्रलंभ यह नाम कहि वरनत सब कवि लोग ।।

(प्रक० ८।१, २, ३, ६)

३—शब्दार्थ-निरूपण

पद वाच्यक अरु लाक्षणिक व्यंजक विविध बखान ।
वाच्य लक्ष्य अरु व्यंग्य पुनि अर्थों तीनि प्रमान ।।
बिन अंतर ना शब्द कर जाकौ होत बखान ।
सो वाचक पद होत है कहत सुकवि परमान ।।
लक्षक ताकौ कहत जो होत लक्षणा जुक्त ।
चितामनि कवि कहत है यह प्रमान है उक्त ।।
जहँ अभिधा अरु लक्षणा अति कछु भिन्न प्रकार ।
होइ अर्थ कौ बोध तहँ कवि व्यंजक व्यापार ।।

(प्रक० ५ शब्दार्थ ।१, २, ३, ७)

४—अलंकार का स्वरूप

अलंकार ज्यौं पुरुष को हारादिक मन आनि ।
प्रासोपम आदिक कवित अलंकार ज्यौं जानि ।।

(प्रक० २।१)

५—काव्य-दोष

१. दोष का स्वरूप —

शब्द अर्थ रस को जु इत देखि परै अपकर्ष ।
दोष कहत हैं ताहि कौ सुने घटतु है हर्ष ॥

(प्रक० ४।१)

२. दोष-परिहार —

जहाँ हेत परसिद्ध है तहँ न रहे तन दोख ।
सब अदुष्ट अनुकरन मै इनतो नही अतोख ॥
चितामनि गोपाल को बर्नन करै बनाइ ।
वक्तादिक औचित्य ते दोषौ गुन ह्वै जाइ ॥

(प्रक० ४।९६, ९७)

कुलपति

[समय—सन् १६६७-१६८६ ई० (कविता-काल)]

ग्रन्थ—रस-रहस्य

१. सामान्य काव्य-सिद्धान्त

(अ) काव्य का लक्षण —

जग ते अद्‌भुत सुख सदन शब्दरु अर्थ कवित्त ।
यह लच्छन मैंने कियो समुझि ग्रन्थ बहु चित्त ॥

(प्रक० १, २०)

(ब) काव्य का प्रयोजन —

जस संपति आनन्द अति दुरितन डारै खोइ ।
होत कबित ते चतुरई जगत राम बस होइ ॥

(प्रक० छन्द ३२)

(ज) काव्य की सामग्री और भेद —

व्यग जीव ताको कहत शब्द अर्थ है देह ।
गुण गुण भूषण भूषणै दूषण दूषण एह ॥
सो कवित्त है तीन विधि उत्तम मध्यम और ।
जीव मरम पुनि देह सम दैहै बलि जेहि ठौर ॥
व्यग अर्थ सम सुखद जहँ मध्यम कहिये सोइ ।
शब्द अर्थ हैं चित्र जहँ व्यंग न अवर सु होइ ॥

(प्रक० १, ३४, ३५, ३८, ४०,)

२ शब्दार्थ-निरूपण

१. सामान्य अंग —

वाचक लक्षक व्यजकौ शब्द तीन विधि सोइ ।
वाच्य-लक्ष्य अरु व्यग पुनि अर्थ तीन विधि होइ ॥

२. *वाचक-वाच्य* --

वाचक सो जु सहाय बिन आप अर्थ करि देइ।
वाच्य अर्थ पद सुनत ही जाहि चित्त गहि लेइ॥

३. *लक्ष्यक-लक्षण* —

लक्ष्यक सो अर्थ न बनै तब ढिग ते गहि लेइ।
मुख्य अर्थ के बाध ते पुनि ताही के पास।
और अर्थ जाते लखै कहैं लक्षणा तास॥

४ *व्यंजक, व्यंग्य, व्यजना* —

अर्थ बनाइ अधिक कहै व्यजक कहिये सोइ।
शब्द सुने समझै अरथ होय जु अधिक प्रकारा॥
सोई व्यग जु लक्षणा अविधा मूल विलास।
व्यग हि कहे सुव्यजना वृत्ति सबन सुख देइ॥
(प्रक० १, ३, ४, ७, ८, १६, १७, १८)

३. रस-प्रसंग

(अ) रसांग--

विभाव —

जिन ते जिनको जगत मे प्रगटत है थिर भाव।
तेई नित्त कवित्त मे पावहि नाम विभाव॥
अरु सब रस मे सचरै तहँ विभाव द्वै भाँति।
जै निवास थिर भाव के ते आलबन जानि।
सुधि आवे जिनके लखे ते उद्दीप बखानि॥

२. *अनुभाव* —

थिर भावनि को और कौ प्रगटे ते अनुभाव।
संचारी जेहि साथ ह्वै बहुत बढ़ावे दाव॥

३. *सात्त्विक भाव* —

बधि रहिवी सुरभङ्ग पुनि, कम्प स्वेद असुआनि।
रोम विवर्न रू अन्त तनु, सात्त्विक भाव बखानि॥
(तृतीय प्रकरण, छन्द ११, १३, १४, १२,१७)

४. रसभाव-भावाभास—

अनुचित है रसभाव जहाँ ते कहिये आभास।
रस,भाव तामें कहत सुनिये सहित हुलास॥

(तृतीय प्रकरण, छन्द ६८)

(ब) रस का स्वरूप

मिलि विभाव, अनुभाव अरु संचारी सु अनूप।
व्यंग कियोथिर भाव जो, सोई रस सुख भूप॥

(तृतीय प्रकरण छन्द ३४)

(ज) नवरस —

१. शृंगार रस

पति तिय रति प्रगटै जहाँ सोई रस शृंगार।
इक संयोग वियोग करि ताके द्वय परकार॥
जेहि ठा नायक नायका, रमे सु है संयोश।
जहाँ अटक है मिलन की ताही कहत वियोग॥

२. हास्य रस —

जहाँ अजोग की जोग पुनि, उलटे लखिये साज।
बुरौ रूप चितवनि चलनि, ह्वास विभाव समाज॥
मन्द, मध्य अरु उच्च स्वर, हँसिबो है अनुभाव।
हर्ष, उदेग अरु चपलता, यह सञ्चारी भाव॥
इन ते नृत्य कवित्त में, हास व्यंग जहाँ होय।
कवि सहृदय कौं सुखद है, कह्यो हास रस सोय॥

३. करुण रस —

दुखी देखिये मित्र पुनि, मृतक श्राप अरु बन्धु।
इनते उपजत शोक जग, दारिद्र जुत अरु अन्धु॥
रुदन कम्प अरु रोम तन, ये कहिये अनुबाव।
ग्लानि दीनता मूर्छा यह संचारी भाव॥
समुझत नृत्य कवित्त मे, शोक व्यंग जहां होय।
कवि सहृदय सब रसन मे, करुण भखानों सोय॥

४. रौद्र रस—

गर्व वचन रण रिपु लखत और कढ़ै हथियार।
इनतें उपजत क्रोध जग ये विभाव सिरदार॥
भ्रकुटि कुटिल अरु अरुण दृग,अधर फरक अनुभाव।
गर्व चपलता विकलता, यह संचारी भाव॥
इनते नृत्य कवित्त मे क्रोध व्यंग जहँ होय।
कवि सहृदय सब कहत हैं, रौद्र सुरस है सोय॥

५. वीर रस—

मिलि विभाव अनुभाव अरु संचारिन की भीर।
व्यङ्ग कियो उत्साह जहँ सोई रस है वीर॥
युद्ध, दान अरु दया पुनि, धर्म सु चारि प्रकार।
अरि बल समर विभाव यह, युद्ध वीर विस्तार॥
बचन अरुणता बदन की, अरु फूलै सब अङ्ग।
यह अनुभाव बखानिये, सब वीरन के सङ्ग॥

६. रौद्र और युद्ध-वीर का अन्तर—

समता की सुधि है जहाँ सु है युद्ध उत्साह।
जहँ भूलै सुधि सम असम सो है क्रोध प्रवाह॥

७. भयानक रस—

बाघ व्याल विकराल रण, सूनो बन गृह देख।
जे रावर अपराध पुनि, भय विभाव यह लेख॥
कंप रोम प्रस्वेद पुनि, यह अनुभाव बखानि।
मोह मूर्छा दीनता, यह संचारी जानि॥
इनते नृत्य कवित्त मे, अति भय परगट होय।
कवि सहृदय को मन गमन, कहै भयानक सोय॥

८. वीभत्स रस—

अनि भावनि को देखिबो, सुनिबो सुमिरनि जानि।
और निषिद्ध कदर्थ थे, ग्लानि विभाव बखानि॥
निंदा करिबो कंप तनु, रोम जु है अनुभाव।
दुःख असूया जानियो, यह सञ्चारी भाव॥

कवित नृत्य मे ग्लानि जहँ, इनते परगट होय ।
नव रस मे वीभत्स रस, ताहि कहै सब कोय ॥

९ *अद्भुत रस—*

जहँ अनहोने देखिये. बचन रचन अनुरूप ।
अद्भुत रस के जानिये, ये विभाव सु अनूप ॥
बचन कप अरु रोम तनु, यह कहिये अनुभाव ।
हर्ष शंक चित मोह पुनि, यह सचारी भाव ॥
जेहि ठा नृत्य कवित्त मे, व्यग आचरज होय ।
नौऊ रस मे जानियो, अद्भुत रस है सोय ॥

१० *शान्त रस—*

सिद्धि मडली तपोवन, कथा जगत सम सान ।
ए विभाव अनुभाव पुनि, सब मे समता ज्ञान ॥
तत्त्व ज्ञान ते कवित मे, जहँ प्रगटै निर्वेद ।
कहै शात रस तासु को, सोहै नौमो भेद ॥

टीका—यह रस ही कहाता है, भाव ध्वनि नहीं इस कारण तत्त्व-ज्ञान से जो निर्वेद उपजता है सो स्थायी है। और जहाँ स्थायी प्रधानता करके व्यंग होवे सो वही रस है। और यह रस काव्य में ही होता है, नाट्य में नहीं होता सो इसके न होने का कारण कहते हे। निर्वेद वासनावंत सहृदय की नाट्य देखने की इच्छा नहीं होती, इस डर से कि नृत्य में बहुतेरे विषय है कदाचित् किसी से विकार उपजै। और काव्य में एक विषय ही है, इससे इसके श्रवण करने में कुछ अटक नहीं, इस कारण कवित्त में इसको कहा।

(तृतीय प्रकरण, छन्द ३९, ४०, ५७, ५८, ५९, ६२, ६३, ६४, ६६, ६७, ६८, ७०, ७१, ७२, ७३, ७९, ८०, ८१, ८३, ८४, ८५, ८७, ८८, ८९, ९१, ९२, टीका)

४—काव्य-वृत्तियाँ

उपनागरिका मधुर गुन, व्यंजक वरनन होय ।
ओज प्रकाशक वरन ते पूरुप कहिये सोय ॥

वरन प्रकाश प्रसाद को, करे कोमला सोय।
हीन वृत्ति गुण भेद तें, कहैं बड़े कवि लोय॥
वैदरभी गौरी कहत, मुनि पाचाली जानि।
इनही सो कोऊ कवी, वरनत रीति बखानि॥
(सप्तम प्रकरण, छन्द १०, ११, १२)

५—काव्य-गुण

(१) गुण-लक्षण—

जो प्रधान रस को धरम, निपट बड़ाई हेत।
सो गुण कहिये अचल तिथि, सुर को परम निकेत।
तीनि भाँति सो मधुरता, ओज प्रसादहि जानि।
शान्त करुण शृंगार रस, सुखद मधुरता मानि॥

(२) माधुर्य गुण—

द्रव्य चित्त जाके सुनत, अति आनद प्रधान।
सुहै मधुरता रसनु क्रम प्रथम सरस ही आन॥
सो रचना माधुर्य जहँ, योग मधुरता जानि।
बिन्दु सहित ट ठ ड ढ रहित रण लघुवरण प्रमान॥

(४) ओज गुण—

चितहि बढावै तेज करि, ओज वीर रस वास।
बहुत रुद्र वीभत्स मै जाको बनै निवास॥
संजोगी ट ठ ड ढ ण जुत, उद्धत चरना रूप।
रेफ जोग सरव पद बड़े बरनहुँ ओज अनूप॥

(४) प्रसाद गुण—

नव रस में उज्जल सलिल, स्वच्छ अग्नि के रूप।
सो प्रसाद रचना बरन इनके कहो अनूप॥
अर्थ सुनत ही पाइये यह प्रसाद को रूप॥
(षष्ठ प्रकरण, छन्द २, ३, ४, ७, ५, ६, ६, ११)

६—अलंकार का स्वरूप

रसहि बढ़ावे होय जहँ, कबहुक अङ्ग निवास।
अनुप्रास उपमादि है, अलङ्कार सुप्रकाश॥

(षष्ठ प्रकरण, छन्द १३)

उक्ति भेद ते होत है, अलकार यह जानि।
वक्र उक्ति याते कही, द्वै विधि प्रथम बखानि॥

(सप्तम प्रकरण, छन्द ३)

७—काव्य-दोष

परिभाषा—

शब्द अर्थ मे प्रगट ह्वै, रस समुझन नहि देइ।
सो दूषण तन मन विथा, जो जिय को हर लेइ॥
जाहि रहत ही जोर है, जेहि फेरो फिरि जाय।
शब्द अर्थ रस सबन मे, सोई दोप कहाय॥

(पंचम प्रकरण, छन्द २, ३)

देव

[समय—सन् १६९०–१७३४ ई० (कविता-काल)]

ग्रन्थ—शब्द-रसायन, भाव-विलास, भवानी-विलास

सामान्य काव्य-सिद्धान्त

(अ) समर्थ काव्य—

शब्द सुमति मुख ते कढै, लै पद बचननि अर्थ ।
छन्द, भाव, भूषण सरस, सो कहि काव्य समर्थ ॥

(शब्द-रसायन, प्रथम प्रकाश)

(ब) काव्य का माहात्म्य—

ऊंच नीच तरु कर्म बस, चलो जात संसार ।
रहत भव्य भगवत जस, नव्य काव्य सुखसार ॥
रहत न घर बर, धाम, धन, तरुवर, सरवर, कूप ।
जस शरीर जग में अमर, भव्य काव्य रस-रूप ॥

(शब्द-रसायन, प्रथम प्रकाश)

(ज) कवि का आदर्श—

जाके न काम न क्रोध विरोध न लोभ छुवै नहीं छोभ को छाँहौ ।
मोह न जाहि रहै जग बाहिर, मोल जवाहर ना अति चाहौ ॥
बानी पुनीत ज्यों 'देव' धुनी, रस-आरद सारद के गुन गाहौ ।
सीलससी सविता छविता कवि ताहि रचै कवि ताहि सराहौ ॥

(स) काव्य की आत्मा—

काव्य सार शब्दार्थ को रस तेहि काव्य सुसार

(शब्द-रसायन)

ताते काव्य (हि ?) मुख्य रस, जामे दरसत भाव
अलंकार भूषण, सुरस जीव, छन्द तन भाख ।
तन भूषण हू बिन जिये, बिन जीवन तम राख ॥

(शब्द-रसायन)

२—रस-प्रसंग

(अ) रसांग—छल संचारी-भाव—

अपमानादिक करन को, कीजै क्रिया छिपाव।
वक्र उक्ति अन्तर-कपट, सो बरनै छल-भाव ॥

(भाव-विलास)

(ब) रस का स्वरूप—

जो विभाव अनुभाव अरु, विभिचारिनु करि होइ।
थिति की पूरन वासना, सुकवि कहत रस सोइ ॥

(भाव-विलास)

अरथ धर्म ते होइ अरु काम अरथ ते जानु।
ताते सुख, सुख, को सदा, रस शृंगार निदानु ॥

(भाव-विलास)

कहत लहत उमहत हियो, सुनत चुनत चित प्रीति।
शब्द अर्थ भाषा सुरस, सरस काव्य दस रीति ॥

(शब्द-रसायन)

हरिजस-रस की रसिकता, सकल रसायन सार।
जहाँ न करत कदर्थना यह असार संसार ॥

(शब्द-रसायन)

(ज) रस-परिपाक—

चित थापित थिर बीज विधि, होत अंकुरित भाव।
चित बदलित, दस फूल फलि, बरसत सुरस सुभाव ॥
खेत पात्र, प्रारब्ध विधि, बीज सुअंकुर जोग।
सलिल नेह, भाव सुविटप, छन्द पत्र परिभोग ॥

(शब्द-रसायन)

रस अंकुर थाई, विभाव-रस के उपजावन।
रस अनुभव अनुभाव, सात्त्विकी रस झलकावन ॥

(शब्द-रसायन)

(स) शृंगार और उसका रस-राजत्व—

१ शृंगार रस का स्वरूप —

नव रस के थिति भाव हैं, तिनको बहु बिस्तारु ।
तिनमे रति थिति भाव ते, उपजत रस शृंगारू ॥
नेकु जु प्रियजन देखि मुनि, आन भाव चित होइ ।
अति कोबिद पति कविन के, सुमति कहत रति सोइ ॥

(भाव-विलास)

नायकादि आलम्बन होई, उपवन सुरभि उदीपन सोई ॥

(शब्द-रसायन)

आनन नैन प्रसन्नता, चलि चितौनि मुसकानि ।
ये अनुभाव शृंगार के, अग भंग जिय जानि ॥

(भाव-विलास)

कहि 'देव' देव तैंतीस हू, सचारी तिय सचरति ।

(शब्द-रसायन)

देव कहै प्रच्छन्न सो, जाको दुरो विलास ।
जानहि जाको सकल जन, बरनै नाहि प्रकास ॥

(भाव-विलास)

शृंगार का रस-राजत्व —

प्रकृति पुरुष शृंगार मे नौ रस को सचार ।
जैसे मठ आकाश मे घटत अकास- प्रकास ॥

(शब्द-रसायन)

निर्मल स्याम सिगार हरि देव अकास अनंत,
उडि उडि खग ज्यो और रस बिवस न पावत अत ।
भाव सहित सिगार मै नव रस झलक अजत्न,
ज्यो ककन-मणि कनक को ताही मे नवरत्न ॥

\+ \+ \+

भूमि कहत नव रस सुकवि सकल मूल सिगार ।

तेहि उछाह निर्वेद लै, वीर, शान्त, सचार ॥

(भवानी-विलास, प्रथम विलास)

तीन मुख्य नौ हू रसनि द्वै द्वै प्रथम विलीन ।
प्रथम मुख्य तिन तिनहुँ मैं, दोऊ तेहि आधीन ।
हास्य भयरु सिगार संग रौद्र करुन सँग वीर ।
अद्‌भुत अरु वीभत्स सँग शातहि बरनत धीर ।

(भवानी-विलास)

सो सँजोग वियोग भेद, शृगार दुविध कहु,
हास्य, वीर, अद्‌भुत सयोग के, सङ्ग अङ्ग लहु,
अरु करुना, रौद्र भयान भये, तीनो वियोग अग,
रस बीभत्स डरु सात होत, दोऊ दुहून सँग,
यह सूक्ष्म रीति जानत रसिक, जिनके अनुभव सब रसनि,
नवहू सुभाव भावनि सहित, रहत मध्य शृ गार तनि ।

(शब्द-रसायन)

(ह) वीभत्स रस—

(१) वस्तु घिनौनी देखि सुनि घिन उपजै जिय माहि ।
छिन बाढै वीभत्स रस, चित की रुचि मिटि जाहि ॥

(२) निद्य कर्म करि निद्य गति, सुनै कि देखै कोय ।
तन सँकोच मन सम्भ्रमरु, द्विविध जुगुप्सा होय ॥

(शब्द-रसायन)

३—काव्य-गुण

गुण के दो भेद—

नागर सुनि आगर, दुतिय रस सागर रुचि हीन ।

(शब्द-रसायन)

४—अलंकार-प्रयोग

(अ) अलंकार का महत्व—

सो रस बरसन भाव बस, अलकार अधिकार ।

\+ \+ \+

कविता कामिनि सुखद पद, सुबरण सरस सुजाति।
अलकार पहिरे अधिक अद्‌भुत रूप लखाति॥

(शब्द-रसायन)

(ब) शब्दालकार—

अनुप्रास अरु यमक ये, चित्र काव्य के मूल।
इनही के अनुसार सो सकल चित्र अनुकूल॥

+ + +

मृतक काव्य बिनु अर्थ के कठिन अर्थ को प्रेत।

+ + +

सरस वाक्य पद, अरथ तजि, शब्द चित्र समुहात।
दधि, घृत, मधु, पायस तजि, वायसु चाम चबात॥

(शब्द-रसायन)

(ज) अर्थालंकार—

अलकार मे मुख्य है, उपमा और सुभाव।
सकल, अलकारनि विषै, परसत प्रगट प्रभाव॥

× + +

सकल अलकारनि विषै, उपमा अंग उपग।

× + +

सकल अलकारनि विषै, उपमा अग लखाहि।

(शब्द-रसायन)

५—शब्द-शक्तियाँ

तिहूँ शब्द के अर्थ मे, तीनिउ ओत प्रोत।
पै प्रवीन ताही कहत, जाको अधिक उदोत॥

+ + +

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन।
अधम व्यजना रस-कुटिल उलटी कहत नवीन॥

(शब्द-रसायन)

श्रीपति

[समय—सन् १७२० ई० (कविता काल)]

ग्रन्थ—काव्य-सरोज

१—काव्य की परिभाषा

शब्द अर्थ बिन दोष गुन अलंकार रसवान।
ताको काव्य बखानिये श्रीपति परम सुजान॥

२—काव्य की परिभाषा

शक्ति निपुणता लोकमत वितपति अरु अभ्यास।
अरु प्रतिभा ते होत है ताको ललित प्रकास॥
शक्ति सुपुण्य विशेष है जा बिन कवित न होय।
जो कोऊ हठ सो रचै, हँसी करै कवि लोइ॥
पद पदार्थ पावै तुरत ताहि निपुनता जानु।
जो जग को व्यवहार है वही लोकमत मान॥
परिज्ञान बहु शास्त्र मे सो वित्पत्ति बषान।
रचै कवित नित कवि सुकवि ढिग सो अभ्यास प्रमान॥
नूतन तर्क प्रसन्न पद युक्ति बोध करतार।
प्रतिभा ताहि बखानिये श्रीपति सुमति आगार॥

३—काव्य-दोष

जा पदार्थ के दोष ते आछे कवित नसाइ।
दूषन तासो कहत हैं श्रीपति पडित राइ॥

४—काव्य में अलंकार-प्रयोग

जदपि दोष बिनु गुन सहित, सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिनु लसै बनिता कविता रूप॥

५—काव्य और रस

यदपि दोष बिनु गुन सहित, अलकार सो लीन।
कविता बनिता छवि नही, रस बिन तदपि प्रवीन॥

सोमनाथ

[समय—सन् १७३३—१७५३ ई० (कविता-काल)]

ग्रन्थ—रस-पीयूष-निधि[1]

१—सामान्य काव्य-सिद्धान्त

(अ) काव्य-लक्षण—

सगुन पदारथ दोष बिनु पिगल मत अविरुद्ध ।
भूषन जुत कवि कर्म जो सो कवित्त कहि सुद्ध ॥
(षष्ठ तरंग, छन्द २)

(ब) काव्य-प्रयोजन—

कीरति बित्त विनोद अरु अति मंगल को देति ।
करै भलो उपदेस नित वह कवित्त चित चेति ॥
(षष्ठ तरंग, छन्द ३)

(ज) काव्य-रचना—

कवि सो सुनि—वो बहुत पुनि करिबो अति अभ्यास ।
तासौं कविता होति है कारन हिये हुलास ॥
बिना सुने अभ्यास के कविता होत अनत ।
सो प्रसाद गुरुदेव को बरनत सब गुनवत ॥
(षष्ठ तरंग, छन्द ४ तथा ५)

(स) काव्य की शरीर-सामग्री—

व्यंग्य प्राण अरु अंग सब शब्द अर्थ पहिचान ।
दोष और गुन अलंकृति दूषनादि उर आनि ॥
(षष्ठ तरंग, छन्द ६)

---

१. पाण्डुलिपि [हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली]

(ह) काव्य के भेद—

उत्तम मध्यम अधम अरु त्रिविध कवित्त सुमानि।
व्यग्य सरस जहँ कवित में सो उत्तम उर जानि॥
शब्द अरथ सम व्यगि जहँ सो मध्यम ठहराय।
शब्द अरथ की सरसई व्यग्य न अधम बताय॥
(षष्ठ तरंग, छन्द ७, १० तथा १२)

२—शब्द-शक्तियाँ

(अ) शब्दार्थ-निरूपण—

सुनिये श्रवनि शब्द सयानो।
समुझै चित्त अर्थ वह जानो॥
वरन शब्द है तीनि विधि वाचक प्रथम अनूप।
लक्षण अरु व्यजक बहुरि, त्रिविध अर्थ को रूप॥
वाच्य अरथ लक्ष्यार्थ पुनि व्यंगारथ अभिराम।
बिना शब्द को अर्थ को तात परम सुख धाम॥
(षष्ठ तरंग, छन्द, १४, १६ तथा १७)

(ब) वाचक शब्द, वाच्यार्थ और अभिधा-शक्ति—

बिनु सहाय अर्थहि कहै सो वाचक सुख कद।
चित्त वाच्य अरथहि लहै जातै अभिधा होय।
मुख्य अर्थ सक्यार्थ पुनि याहि कहत सब कोय॥
या अक्षर को यह अरथ ठीकहि ये ठहराय।
जानि परै जातै सु वह अभिधा वृत्ति कहाय॥
यही रीति सामर्थ्य अरु यही शक्ति व्यौपार।
याही कौ व्यौहार कहि वरनत बुद्धि उदार॥
(षष्ठ तरंग, छन्द १८, १९, २० तथा २१)

(ज) लक्षक शब्द, लक्ष्यार्थ तथा लक्षणा-शक्ति—

मुख्य अर्थ नहि बनि सकै तब समीप तै लेय।
अक्षर शब्द सु जानिये पढत महा सुख देय॥

मुख्यारथ परिहरि लख्यौ और जु अर्थ अनूप ।
निपट हरषि परगट कियो यह लक्ष्यारथ रूप ।।
मुख्यारथ कों छोड़ि कै पुनि तिहि के ढिग और ।
कहै जु अर्थ सुलक्षणा वृत्ति कहत कवि और ।।

(षष्ठ तरंग, छन्द २२, २३, तथा २४)

(स) व्यंजक शब्द, व्यंग्यार्थ तथा व्यंजना-शक्ति—

अधिक कहै कहि अर्थ कों व्यंजक शब्द सु जानि ।
समुझि लीजिये अर्थ पुनि और चीज हू होय ।।
रसिकन कौ सुखदानि अति व्यंग्य कहावत सोय ।
कहै व्यंग्य सो व्यंजना वृत्ति बढ़ावै फूल ।।

(षष्ठ तरंग, छन्द ३७, ३८)

३—ध्वनि-प्रसङ्ग

(अ) ध्वनि का स्वरूप—

ध्वनि भेद तें होत कवित्त अनूप ।
बखानत सो ध्वनि को अब रूप ।।
होय लक्षना मूल जहँ गूढ व्यंग्य परकास ।
वाच्य अर्थ है वृथा जहँ सो ध्वनि कह सविलास ।।

(सप्तम तरंग, छन्द १ तथा २)

(ब) ध्वनि के भेद—

कवि की इच्छा है न जहँ वाच्य अर्थ पै मित्र ।
सो अविवक्षित वाच्य ध्वनि कहि बरनत सु विचित्र ।।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि दो प्रकार की। एक अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य ध्वनि। वाच्य अर्थ को मिलाय अन्यत्र वहू होइ सो अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य ध्वनि। और जहां वाच्य अर्थ वृथा है सो अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि। और वाच्यार्थ व्यंग्य के लायक होय जहां सो विवक्षित वाच्य ध्वनि।

(सप्तम तरंग, छन्द ३, ४ तथा ६)

४—रस-प्रसङ्ग

(अ) रसाङ्ग—

१. भाव—

रस को मूल भाव पहिचानो। ताको यह लक्षण उर आनौ॥
चित्तवृत्ति ही लौं ठहराय। भाव वासना रूप बताय॥
चारि प्रकार सु भाव है प्रथम विभाव बखानि।
फिरि अनुभाव सु जानिये संचारी पुनि आनि॥
तातें पुनि थाई समुझि चौविधि इमि उर आनि।
सातुक भाव जु है सु वह अनुभावनि मे जानि॥

(सप्तम तरंग, छन्द ६, ११ तथा १२)

२. विभाव—

जिहि ते उपजतु है जहाँ जिहि के थाई भाव।
तासो कहत विभाव सब समुझि रसिक कविराव॥
थाई भावन को जु वसेरो। सो विभाव आलबन हेरौ।
अति सरसे पुनि जहँ दरसाने। सो उद्दीपनि समुझि सयाने॥

(सप्तम तरंग, छन्द १३ तथा १४)

३. अनुभाव—

दरसावै परकास रस सो अनुभाव बखानि।

(सप्तम तरंग छन्द १७)

४. स्थायी भाव—

नायक सब ही भाव को टारै हरै न रूप।
तासों थाई रूप कहि बरनत है कवि भूप॥
रति अरु हाँसी सोक पुनि क्रोध उछाह अनूप।
भय गिलानि विसमय बहुरि गनि निरवेद सरूप॥

(सप्तम तरंग, छन्द ३३)

(ब) रस का लक्षण—

जहँ विभाव अनुभाव अरु सहित सँचारी भाव ।
व्यंग्य कियो थिर भाव इहि सो रस रूप बताव ॥

(सप्तम तरंग, छन्द ४४)

(ज) नवरस—

सो रस नौ विधि उर मे आनौ सबके न्यारे नाम बखानो ।
प्रथम सिगार सु हास पुनि करुना रुद्रहि जानि ।
वीर भयानक रस बहुरि वीभतसक पहिचानि ॥
अद्भुत शांत सु नवरस होत वरनत सुकवि सुबुद्धि उदोत ॥

(सप्तम तरंग, छन्द ४४)

१. शृंगार रस—

नवरस को पति सरस अति रस सिगार पहिचानि ।
एक सयोग वियोग पुनि सो द्वै विधि उर आनि ॥
दंपति मिलि विधुर न जहाँ मनमथ कला प्रबीन ।
ताहि सँजोग सिगार कहि वरनत सुकवि कुलीन ॥
पीतम के बिछुरनि विषै जो रस उपजतु आइ ।
विप्रलंभ सिगार सो कहत सकल कविराइ ॥

(अष्टम तरंग, छन्द १, २ तथा पंचदश तरंग, छन्द १)

२. हास्य रस—

सुनि कै सरस कवित्त कों होत व्यग्य जब हास ।
तब ही ताको हास्य रस कहियतु है सविलास ॥

३. करुण रस—

सुनतहि जहाँ कवित्त में व्यगि होय जब सोक ।
करुणा रस तासों कहै सकल सुकवि रस ओक ॥

४. रौद्र रस—

जब कवित्त में आनि कै क्रोध व्यंगि ठहराइ ।
ताहि रुद्र रस कहत हैं सबै सुकवि सुख पाइ ॥

५. *वीर रस—*

जब कवित्त मे सुनत ही व्यंग्य होय उत्साह।
तहाँ वीर रस समझियो चौविधि के कविनाह ॥

६. *भयानक रस—*

सुनि कवित्त मे व्यगि भय जब ही परगट होय।
तही भयानक रस बरनि कहैं सबै कवि लोय।

७. *वीभत्स रस—*

जहँ कवित्त को सुनत ही हिय मे सरसे ग्लानि।
ताहि कहैं वीभत्स रस कवि कोविद पहिचानि ॥

८. *अद्भुत रस—*

जहँ कवित्त में सुनि महा अचिरज वेगि सु होइ।
तहाँ प्रकट उर आनिये अद्भुत रस है सोइ ॥

९. *शान्त रस—*

प्रकट होय निरवेद जह ब्रह्म ज्ञान तें आय।
सुनि कवित्त तासो कहैं सांत सु रस सुख पाय ॥
(सप्तदश तरंग, छन्द १, ३, ६, ८, १५, १६, १८, तथा २०)

(स) नव रस का रंग—

स्याम वरन सिगार रस स्वेत हास्य रस जानि।
पारावत के रग सम करुना रस पहिचानि ॥
अरुन वरन पुनि रुद्र रस वीर पीत रंग होत।
मिलन भयानक नील अति रस वीभत्स उदोत।
गौर वरन अदभुत रस भाखौ। अति ही सेत सांत अभिलाखौ।
(सप्तम तरंग, छन्द ४८, ४९ तथा ५०)

(ह) हाव-वर्णन—

होति संयोग सिगार में जे चेष्टा सु अनुप।
तिनही को सब हाव कहि बरनत हैं कवि भूप ॥
(चतुर्दश तरंग, छन्द १७)

५—अलंकार का स्वरूप

अलंकार जो होत सो उक्ति भेद सों होत ।

(एकविंश तरंग, छन्द १७)

६—काव्य-दोष

रस कौ सुख मन .... है जिहिं सब्दारथ जोर ।
ता सों दूष-न कहत है कवि रसिकनि के जोर ॥
जाके राखे तें रहैं दूरि करै मिटि जाय ।
शब्दारथ अरू वृत्त कौ रस कौ दोष बताय ॥

(विंशति तरंग, छन्द १ तथा २)

७—काव्य-गुण

(अ) गुण-लक्षण—

कविता दोष विहीन हू बिन गुण लसै न मित्र ।
ताते गुण बरनत प्रकट रीझै सुनत विचित्र ॥
त्रिविधि सु गुण उर में पहिचानौ ।
मधुरता सु पुनि ओज बखानौ ॥
तातें बहुरि प्रसाद बनावौ ।
पढ़ि सुनि अति अनंद बरसावौ ॥

(एकविंश तरंग, छन्द १ तथा २)

(ब) माधुर्य गुण—

रस सिंगार अरु करुन में पुनि सु शांत में आनि ।
मधुराई की सरसई तो दरसै सुख दानि ॥
श्रवन सुनत ही हिय श्रवै अंग-अंग सुख होइ ।
ताहि मधुरता गुन कहैं कवि कोविद सब कोइ ॥
ट, ठ, ड, ढ, वरजित, विंदु जुत र, ण, लघु वरन अनूप ।
रचना सो माधुर्य की सुनि रीझै कवि भूप ॥

(एकविंश तरंग, छन्द ३, ४, तथा ५)

(ज) ओज गुण—

बढ़ै तेज उद्धत महा जाहि सुनत ही चित्त।
ताहि कहत है ओज गुण जे कविता के मित्त ॥
वरनि ओज गुण वीर मे ताते अधिक सु रुद्र।
तातें बढ़ि वीभत्स मे भाखत बुद्धि समुद्र ॥
दुत्त बरन अरु टवर्ग जुत रचना उग्र अपार।
जुक्त रेफ सों ओज गुन बरणै रसिक उदार ॥

(एकविंश तरंग, छन्द ७, ८ तथा ९)

(स) प्रसाद गुण—

नवहू रस मे अर्थ जहँ गंग तीर के तूल।
ताकौ कहत प्रसाद गुन सुनत बढै हिय फूल ॥

(एकविंश तरंग, छन्द ११)

(ह) गुण और अलंकार का भेद—

दोऊ रस दायक प्रकट गुन औ भूषन जानि।
भेद दुहुँन मे होय क्यो कहिये सो हित ठानि ॥

याको उत्तर--गुण सदा एक रस है। और अलंकार कहूँ रस को पोषत है कहूँ उदास कहूँ दूषक होय है। यह भेद।

(एकविंश तरंग, छन्द १३ तथा १४)

भिखारीदास

[समय—सन् १७२८-१७५० ई० (कविता-काल)]

ग्रन्थ—शृङ्गार-निर्णय,* रस-सारांश,* काव्य-निर्णय

१—सामान्य काव्य-सिद्धान्त

(अ) काव्य का स्वरूप—

बानी लता अनूप, काव्य अमृत फल नु फल्यो।
प्रगट करै कवि भूप, स्वाद बेदता रसिक जन॥

(रस-सारांश)

(ब) काव्य का प्रयोजन—

एक लहैं तप-पुञ्जन्ह के फल
ज्यो तुलसी अरु सूर गोसाँई।
एक लहैं बहु सम्पति केशव
भूषन ज्यो बरवीर बड़ाई॥
एकन्ह को जसही सों प्रयोजन
है रसखानि रहीम की नाँई।
दास कवित्तन्ह की चरचा
बुधिवन्तन को सुखदै सब ठाँई॥

(काव्य-निर्णय, पृष्ठ ४ छंद १०)

(अ) काव्य की रचना-विधि—

सक्ति कवित्त बनाइवे की जेहि जन्म नक्षत्र में दीन्हि बिधातै।
काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सो देखी-सुनी बहुलोक की बातै॥
दास है जामे इकत्र ये तीनि बनै कविता मनरोचक तातै।
एक बिना न चलै रथ जैसे धुरन्धर सूत की चक्र निपातै॥

(काव्य-निर्णय, पृष्ठ ५, छन्द १२)

---

*टंकित प्रति [हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली]

जानै पदारथ भूषनमूल रसाङ्गपराङ्गन्ह मे मति छाकी।
सो धुनि अर्थन्ह वाक्यन्ह लै गुन शब्द अलकृत सो रति पाकी॥
चित्र कवित्त करै तुक जानै न दोपन्ह पन्थ कहूँ गति जाकी।
उत्तम ताको कवित्त बनै करै कीरति भारती यो अति ताकी॥

(काव्य-निर्णय, पृष्ठ ५ छन्द १२)

(स) काव्य की आत्मा—

रस कविता को अङ्ग, भूषन हैं भूषन सकल।
गुन सरूप औ रङ्ग, दूषन करै कुरूपता॥

(काव्य-निर्णय, पृष्ठ ५, छन्द १३)

२—रस-प्रसंग

(अ) रसाङ्ग—

१. विभाव—

जासो रस उत्पन्न है, सो विभाव उर आनि।
आलम्बन उद्दीपनो, सो द्वै विधि पहिचानि॥

(रस-सारांश)

२. अनुभाव—

कहूँ कृपा कहुँ बचन ते, कहुँ चेष्टा ते देखि।
जी की गति जानी परै, सो अनुभाव विशेषि॥

(रस-सारांश)

तदपि हाव हेला सकल, अनुभावहि की रीति।
साधारण अनुभाव जहँ, प्रगटि चेष्टनि प्रीति॥

(रस-सारांश)

३. स्थायी भाव—

एक एक प्रति रसन में, उपजे हिये विकार।
ताको थाई नाम है, बरनत बुद्धि उदार॥

(रस-सारांश)

४. *हाव*—

क्रिया बचनु अरु चेष्टै जहँ, बरनत है कवि कोइ।
ताहू को हावै कहै, अनुभाव होइ न होइ॥

(रस-सारांश,)

५. *सात्त्विक भाव*—

उपजत जे अनुभाव ते, आठ रीति परतच्छ।
तासो सात्त्विक कहत हैं, जिनकी मति अति स्वच्छ॥
स्तम्भ स्वेद रोमांच अरु, स्वर-भंगहि करि पाठ।
बहुरि कम्प वैवर्न्य है, अस्तु प्रलय जुत आठ॥

(रस-सारांश,)

६. *संचारी भाव*—

बिना नियम सब रसिक मे, उपजै न थाई ठाउ।
चर बिभचारी कहत है, अरु सचारी नाउ॥

(रस-सारांश)

जे न विमुख हैं थाय के, अभिमुख रहैं बनाय।
ते व्यभिचारी बरनिये, कहत सकल कविराय॥
रहत सदा थिर भाव में, प्रगट होत एहि भाँति।
ज्यों कल्लोल समुद्र में, त्यों सचारी जाति॥

(काव्य-निर्णय, पृ० ४० छन्द ३९-४०)

७. *भावोदय-भावसन्धि*—

उचित बात तच्छन लखे, उदै भाव की होइ।
बीचहि मे द्वै भाव के, भाव-सन्धि है सोइ।

(काव्य-निर्णय, पृ० ४१, छन्द ४७)

८. *भाव-शबलता*—

बहुत भाव मिलि कै जहाँ, प्रगट करै इक रंग।
सबल भाव तासों कहैं, जिनकी बुद्धि उतग॥

(काव्य-निर्णय, पृ० ४२, छन्द ५०)

९. *भावशान्ति-भावाभास—*

भाव साति सोहै जहाँ, मिटत भाव अनयास ।
भाव जु अनुचित ठौर है, सोई भावाभास ॥

(काव्य-निर्णय, पृ० ४२, छन्द ५२)

१०. *रसाभास-भावाभास —*

रस सोभासितु होतु है, जहाँ न रस की बात ।
रसाभास तासो कहै जे हैं मति अवदात ॥
भ्रम ते उपजत भाव है, सो है भावाभास ।

(रस-सारांश)

(ब) नव-रस—

१. *शृंगार रस—*

जिहि कहियत शृगार रस ताको जुगल विभाव ।
आलम्बन इक दूसरो, उद्दीपन कवि राव ॥
बरनत नायक नायिका, आलम्बन के काज ।
उद्दीपन सखि दूतिका, सुख-समयो सुखसाज ॥

(शृंगार-निर्णय, छन्द ६, ७)

जहँ दंपति के मिलन बिन, होत विथा विस्तार ।
उपजत अतर भाव बहु, सो वियोग शृ गार ॥
है वियोग विधि चारि को, पहिले मानु विचारु ।
पूरब राग प्रवास पुनि, करुना उर मे धारु ॥

(रस-सारांश)

२. *हास्य रस—*

व्यगि बचन भ्रम आदि दै, बहु विभाव है जासु ।
स्याल स्वांग अनुभव तरक, हँसिवो थाई हासु ॥

(रस-सारांश)

३. करुण रस—

हित दुःख बिपति विभाव, करुना बरनै लोक।
भूमि लिखन विलपन स्वसन, अनुभव थाई शोक॥

(रस-सारांश)

४. वीर रस—

जानो वीर विभाव पे, सत्य दया रन दानु।
अनुभव टेक अरु सूरता, उत्सह थाई जानु॥

(रस-सारांश)

५. अद्भुत रस—

नई बात को पाइबो, अति बिभाव छवि चित्र।
अद्भुत अनुभव थाकियो, बिस्मै थाई मित्र॥

(रस-सारांश)

६. रौद्र रस—

असह न बैर विभाव जहँ, थाई कोप समुद्र।
अरुन अधरन दरन? अनुभव ये रस रुद्र॥

(रस-सारांश)

७. वीभत्स रस—

थाई घिनै विभाव जहँ, छिनमै वस्तु अस्वच्छ।
बिरचि निंद मुख मूँदिबो, अनुभव रस बीभत्स॥

(रस-सारांश)

८. भयानक रस—

बात विभाव भयावनी, मौहै थाई भाव।
सुखि जैबो अनुभाव ते, सुरस भयानक ठाव॥

(रस-सारांश)

६. *शान्त रस*—

देव कृपा सज्जन मिलन, तत्त्व ज्ञान उपदेश।
तीर्थ विभाव सम, थाई सात सुदेश॥
क्षमा सत्य वैराग्य थिति, धर्म कथा मैं चाउ।
देव प्रणति स्तुति विनय, गुनो संत अनुभाव॥

(रस-सारांश,)

३ काव्य-वृत्तियाँ

बृत्ति कौसकी भारती, सात्विकादि उर आनि।
आरभटी युत चारि बिधि, रस को सबल बखानि॥
सुभावनि युत कौसिकी, करुना हास सिगार।
वीर हास शृंगार मिलि, सात्विकीहि निरधारि॥
भय बिभत्स अरु रुद्र ते, आरभटी उर आनि।
अदभुत वीर शृंगार युत, सात सात्विकी जानि।

(रस-सारांश,)

४—काव्य-गुण

१. *गुण का स्वरूप*—

रस के भूषित करन ते, गुन बरने सुखदानि।

(काव्य-निर्णय, १९७, छन्द ३४)

२. *माधुर्य गुण*—

अनुस्वारजुत बर्ण जुत, सबै बर्ग अटवर्ग।
अक्षर जामे मृदु परै, सो माधुर्ज निसर्ग॥
श्लेपोमय्य समास को, समता कान्ति बिचार।
लीन्हे गुन माधुर्य जुत, करुना हास सिगार॥

३. *ओज गुण*—

उद्धत अक्षर जहँ परै, सकटवर्ग मिलि जाय।
ताहि ओज गुण कहत हैं, जे प्रवीन कविराय॥
श्लेष समाधि उदारता, सिथिल ओज गुन रीति।
रुद्र भयानक बीर अरु रस विभत्स सों प्रीति॥

४. प्रसाद गुण—

मनरोचक अक्षर परै, सोहै सिथिल सरीर।
गुण प्रसाद जल-सुक्ति ज्यो, प्रगटै अर्थ गँभीर॥
अल्प समास समास-बिन, अर्थ व्यक्त गुन मूल।
सो प्रसाद गुन बर्न सब, सब गुन सब रस तूल॥

(उन्नीसवाँ प्रकरण, छन्द ५, ३१, ७, ३२, ९, ३३)

५—काव्य-दोष

(अ) दोष के प्रकार—

दोष शब्द हूँ वाक्य हूँ, अर्थ रसहु में होइ।
तेहि तजि कविताई करै, सज्जन सुमती जोइ॥

(काव्य-निर्णय पृष्ठ २४९ छन्द १)

(ब) रस-दोष—

(१) रस अरु चर थिर भाव की, सब्दवाच्यता होइ।
ताहि कहत रस दोष है, कहूँ अदोषिल सोइ॥

(काव्य-निर्णय पृष्ठ २७२, छन्द १)

(२) जहँ विभाव अनुभाव की, कष्ट कल्पना व्यक्ति।
रस दूषन ताहू कहैं, जिन्है काव्य की सक्ति।

(काव्य-निर्णय, पृष्ठ २७४ छन्द ६)

(३) भावरसनि प्रतिकूलता, पुनि-पुनि दीपति उक्ति।
येऊ है रस दोप जहँ असतै उक्ति अनुक्ति॥

(काव्य-निर्णय, पृष्ठ २७५, छन्द १०)

(४) अगहि को बरनन करै, अगी देइ भुलाइ।
येऊ है रस दोप मे, सुनो सकल कविराइ॥

(काव्य-निर्णय, पृष्ठ २७८, छन्द २४)

(ज) दोष-परिहार—

कहुँ सब्दालंकार कहुँ, छन्द कहूँ तुक हेतु।
कहुँ प्रकरन बस दोषहू, गनै अदोष सचेतु॥
कहूँ अदोषौ दौष कहुँ, दोष होत गुनखानि।
उदाहरन कछु कछु कहौ, सरल सुमति दृढ़ जानि॥

(काव्य-निर्णय, पृष्ठ २६८, छन्द १, २)

६—शब्द-शक्तियाँ

अनेकार्थ हू सब्द मे, एक अर्थ की व्यक्ति।
तेहि वाच्यारथ को कहैं, सज्जन अविधा सक्ति॥
मुख्य अर्थ के बाध ते, सब्द लाच्छनिक होत।
रूढ़ि औ' प्रयोजनवती, द्वै लच्छना उदोत॥
व्यञ्जन व्यञ्जक जुक्त पद, व्यङ्ग्य तासु जो अर्थ।
ताहि बुझैबे की सकति, है व्यञ्जना समर्थ॥
सूधो अर्थ जु वचन को, तेहि तजि औरै बैन।
समुझि परै तेहि कहत हैं, सक्ति व्यञ्जना ऐन॥

(काव्य-निर्णय, द्वितीय प्रकरण, छन्द ६, २२, ४२, ४३)

७—तुक-विचार

भाषा बरनन मे प्रथम, तुक चाहिये बिसेखि।
उत्तम मध्यम अधम सो, तीनि भाँति को लेखि॥
समसरि कहुँ कहुँ बिषमसरि कहूँ कष्टसरि राज।
उत्तम तुक के होत है, तीनि भाँति के साज॥
असयोग मिलि स्वर मिलित, दुमिल तीनि प्रकार।
मध्यम तुक ठहरावते, जिनके बुद्धि अपार॥
अमिल छुमिल मत्ता अमिल, आदि अन्त को होइ।
ताहि अधम तुक कहत हैं, सकल सयाने लोइ॥

(काव्य-निर्णय, बाईसवाँ प्रकरण, छन्द १, २, ६, १०)

प्रतापसाहि

[समय—सन् १८२३-१८४३ ई० (कविता काल)]

ग्रन्थ—काव्य-विलास*

१—सामान्य काव्य-सिद्धान्त

(अ) काव्य का स्वरूप और भेद —

व्यंग्य जीवन कहि कवित को हृदय सु धुनि पहिचानि ।
शब्द अर्थ कहि देह पुनि भूषण भूषण जानि ॥
सो कवित्त गनि तीनि विधि उत्तम मध्यम नाम ।
अवर सु अधम बषानिये वरनत कवि परिनाम ॥
वाच्य अर्थ ते जह गनत सुंदर व्यंग्य प्रधान ।
अर्थ चमत्कृत पद ललित उत्तम काव्य सुजान ॥
वरणत काव्य प्रसग ते व्यग्य न अति सै होइ ।
व्यग्य वाच्य सम लखि परै मध्यम कहिये सोइ ॥
जहाँ व्यग्य नहि वर्णिये शब्द अर्थ बलवान ।
शब्द चित्र यक अर्थ वित्र अधम काव्य सो जान ॥
ठकी शब्द सो व्यग्य जो शब्द चित्र सो जानि ॥
समुझि परै नहि अर्थ सो अर्थ चित्र पहिचानि ॥

(प्रथम प्रकाश, छन्द १९, २०, २१, २३, २५, २६)

(ब) कवित्व की शक्ति —

बीज मूल है कवित को सोई शक्ति गनाय ।
वाच्य चमत्कृत रूप जहँ जामे उपजत जाय ॥
सुहै शक्ति द्वै भाँति की कानिष्ठा यक जानि ।
श्रोत्र-विद्ध दूजी कहत कवि कोविद पहिचानि ॥

---

*टंकित, हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली विश्व विद्यालय, दिल्ली ।

बिना शक्ति की काव्य जो छंद प्रबध बनाइ ।
सुहृदै मन रंजन अनहि उपहसनीय कहाइ ।।
कोस व्याकरण काव्य पुनि शास्त्र कला अवगाहि ।
यह गवषंड प्रमाण लहि कहत निपुनता ताहि ।।
जे विचार निसदिन करत करत काव्य अभिराम ।
लहि सिक्षा उपदेश नित कहि अभ्यास सुनाम ।।
कवित होत है शक्ति सो बढत भ्यास सजोग ।
वितपतिजे अति चाहना कहत सयाने लोग ।।

(प्रथम प्रकाश, छन्द १३, १४, १५, १६, १७, १८)

(ज) काव्यार्थ —

श्रवण सुने ते शब्द है समुझै चित्त सु अर्थ ।
वर्णात्मक धुन्यात्मक दुवै विधि कहत समर्थ ।।
वेद पुराण विभक्ति युत वर्णात्मक सो जानि ।
रूढ सु जौगिक दूसरो जोग रूढ गै मानि ।।
प्रभु सम्मित वेदादि गनि सुहृद पुराण प्रमान ।
काता सम्मत काव्य मै वरणत सुकवि सुजान ।।

२—रस-प्रसंग

(अ) रसांग —

१. विभाव —

जिनते प्रगटत जगत मे रति आदिक थिर भाव ।
पावत है सुकवित मे तेई नाम विभाव ।।

२. अनुभाव —

जे प्रतीति रस की करत ते अनुभाव प्रमाण ।
भुज उच्छेप कटाछ वच आलिगन ये जान ।।

३. संचारी भाव —

सकल रसन में सचरै ते सचारी भाव ।
पुष्ट करत रस को सदा कहत सुकवि मन भाव ।।

४. स्थायी भाव —

हृदै कध ते उठत जहँ आनंद अंकुर जोय।
गनि विरुद्ध अविरुद्ध ते थाई कहियत सोय ॥

५. भाव-ध्वनि —

सबै रसन मे होत है भाव व्यंग्य परधान।
रस-ध्वनि भाव-ध्वनिहि को भेद कहावत जान ॥

६. रसाभास —

जहँ अनुचित रसभाव को रसाभास तहँ जानि।
रस ग्रंथन अवगाहि कै कविजन कहत बखानि ॥

(तृतीय प्रकाश, छन्द २५ से २८ तक तथा ७३, ७८)

(ब) रस का स्वरूप —

चारि पद्य कहि रसहि के काव्य प्रकार वपानि।
यह विभाव के ज्ञान ते रसही जानत जानि ॥

यक अनुचित ते जानिये यक भोगहि ते जानि।
एक व्यजना हेत है चारि भाँति कै मानि ॥
जहाँ परस्पर होत है विवाद सम्बन्ध ?
सो विभाव के ज्ञान ते जानो रस सम्बन्ध ॥
जहँ विभाव परमर्ष ते जो रस कहियत होइ।
सो अनमित रस जानिये कहत सुकवि सब कोइ ॥

(द्वितीय प्रकाश, छन्द १५ से १८ तक)

३—ध्वनि-प्रसंग

(अ) ध्वनि का स्वरूप—

वाच्य उपेक्षा अरथ की व्यंग्य चमत्कृत होइ।
शब्द अरथ में प्रगट जो धुनि कहियत है सोइ ॥

(ब) ध्वनि के भेद—

सो धुनि द्वै विधि की कहत अविवक्षित है एक।
अपर विवक्षित कहत है कवि जन सदन विवेक॥
अर्थ विगि के काम को जहाँ नही ठहराय।
अविवक्षित कहि वाच्य धुनि द्वै विधि की कविराय॥
वाच्य तिरस्कृत एक पुनि अर्थ तिरस्कृत और।
अविवक्षित के भेद ये वरनत कवि सिरमौर॥
विगि योपहित वाच्य जहँ छोड़ि देइ निज अर्थ।
वाच्य तिरस्कृत धुनि तहाँ बरनत सुकवि समर्थ॥
अर्थ और सो मिलि रहै अर्थहि गहै न कोइ।
अर्थ संक्रमित ध्वनि तहाँ बरनत सब कवि लोइ॥
अर्थ व्यंग्य के काम को क्रम विन क्रम जहाँ होइ।
द्वै विधि वरणन करत ध्वनि सुविवक्षित है सोइ॥
जेहि ठा क्रम कहु व्यग्य को जानि परत नहि होइ।
असंलक्षक्रम व्यंग्य सो बरनत सब कवि लोइ॥
जहाँ शब्द ते अर्थ मे झाई सी पहिचानि।
सलक्षक्रम जानिये घटी रूप परमान॥

(तृतीय प्रकाश, छन्द १ से ६ तक, ८, १०, ११, ८६)

४—शब्द-शक्तियाँ

वाचक लक्षक व्यंजकौ कवित वृत्ति मे तीनि।
समुझि ग्रंथ प्राचीन मत वरणत सुकवि प्रवीन॥
जहाँ शब्द में रचित है निज अर्थहि को बोध।
शक्ति लक्षणा व्यंजना वृत्य तीनि विधि सोध॥
मुख्यार्थ प्रतिपाद्य शब्दस्य व्यापारो अभिधा अर्थ।
वाचक तासो कहत हैं जे कवि सुमति समर्थ॥
वाचक ते वाच्यार्थ कहि लक्षक ते लक्ष्यार्थ।
तीनि भाँति सो जानिये विजक ते विग्यार्थ॥
अर्थ न लक्षक सो वनत गहि समीप ते जोइ।
होइ लक्षणा ते प्रगट लक्ष्यारथ कहि सोइ॥
मुख्य अर्थ को बाध करि बहुरि शक्ति सनबंध।
और अर्थ ढिग तै बनै सो लक्षणा प्रबंध॥

(द्वितीय प्रकाश, छन्द ५ से ७, ११ से १३)

५—काव्य-गुण

ज्यों शरीर के धर्म में सौर्य अधिक पहिचान।
त्यों रस में उत्कर्ष गुण अचल स्थित जिय जान॥
शब्द अर्थ में गनत है गुन इमि सरस विसेषि।
शब्द अर्थ भूषण मिले न्यारे चल चित लेखि॥
प्रथम गनत माधुर्ज गुण ओज प्रसाद बखानि।
अश्लेषादिक दश गनै इनके अन्तर जानि॥
द्रवत चित्त जाके सुनत आनन्द बढ़त अथाह।
रस सिंगार माधुर्ज गुण करुण शांत रस माह॥
उतवर्ग्गन नहि रेफयुत टवर्गादि नहिं वर्ण।
लघु समास पद वर्ण जहँ गुण माधुर्ज सुकर्ण॥
महत तेज को ग्रहत चित उद्धत वरन प्रसिद्धि।
तहाँ ओजगुण गनत है वीर रौद्र रस सिद्धि॥
उद्धत वर्ण उदंड पद दीर्घ समास विचारि।
वीरहि ते पुनि रौद्र ते अरु वीभत्स निहारि॥
साधारन सब आषरन विमल वसन जिमि नीर।
जानि परत तुरतहि अरथ गहि प्रताप गुन धीर॥

(पंचम प्रकाश, छन्द १ से ५ तथा ११, १२, १५)

६—काव्य-दोष

अर्थ बोध के मुख्य में घात करत जो होइ।
ताको दूषण कहत है शब्द अर्थ रस सोइ॥
शब्द फिरे जो फिरत है अर्थ फिरे शिर होइ।
शब्द अर्थ दूषण तहाँ मानत सब कवि लोइ॥
पदगत अरु पुनि वाक्यगत शब्द दोष द्वै भाँति।
कहूँ सुपद के अन्त में नित्य अनित्य विसाति॥

(षष्ठ प्रकाश, छन्द १ से ३ तक)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

[समय—सन् १८५०-१८८५]

ग्रन्थ—नाटक

१. नाटक का स्वरूप

नाटक शब्द का अर्थ है नट लोगो की क्रिया। नट कहते हैं विद्या के प्रभाव से अपने वा किसी वस्तु के स्वरूप के फेर कर देने वाले को, वा स्वय दृष्टि-रोचन के अर्थ फिरने को। नाटक मे पात्रगण अपना स्वरूप परिवर्तन करके राजादिक का स्वरूप धारण करते हैं वा वेश-विन्यास के पश्चात् रगभूमि मे स्वकीय कार्य साधन के हेतु फिरते हैं। काव्य दो प्रकार के हैं। दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य वह है जो कवि की वाणी को उसके हृदयगत आशय और हाव-भाव सहित प्रत्यक्ष दिखला दे। जैसा कालिदास ने शाकुन्तल मे भ्रमर के आने पर शकुन्तला की सूधी चितवन से कटाक्षो का फेरना जो लिखा है, उस को प्रथम चित्रपटी द्वारा उस स्थान का, शकुन्तला वेश-सज्जित स्त्री द्वारा उसके रूप-यौवन और वनोचित शृगार का, उसके नेत्र, सिर, हस्तचालनादि द्वारा उसके अंगभगी और हाव-भाव का, तथा कवि-कथित वाणी के मुख से कथन द्वारा काव्य का, दर्शकों के चित्त पर खचित कर देना ही दृश्य-काव्यत्व है। यदि श्रव्य-काव्य द्वारा ऐसी चितवन का वर्णन किसी से सुनिए या ग्रन्थ मे पढिए तो जो काव्य-जनित आनन्द होगा, यदि कोई प्रत्यक्ष अनुभव करा दे तो उससे चतुर्गुणित आनन्द होता है। दृश्य-काव्य की संज्ञा रूपक है। रूपको मे नाटक ही सबसे मुख्य है इससे रूपक मात्र को नाटक कहते हैं। इसी विद्या का नाम कुशीलव-शास्त्र भी है। ब्रह्मा, शिव, भरत,नारद, हनुमान्, व्यास, वाल्मीकि, लव-कुश, श्रीकृष्ण, अर्जुन, पार्वती, सरस्वती और तुंबुरु आदि इसके आचार्य हैं। इनमे भरत मुनि इस शास्त्र के मुख्य प्रवर्त्तक हैं।

(पृष्ठ ५—६)

२. नाटक-रचना की नवीन पद्धति

आजकल योरोप के नाटकों की छाया पर जो नाटक लिखे जाते हैं और बंग देश में जिस चाल के बहुत से नाटक बन भी चुके हैं वह सब नवीन भेद में परिगणित हैं। प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारंबार दृश्यों के बदलने मे है और इसी हेतु एक-एक अक में अनेक-अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है क्योकि इस समय मे

नाटक के लेखों के साथ विविध दृश्यों का दिखलाना भी आवश्यक समझा गया है। इन अंक और गर्भांको की कल्पना यो होनी चाहिए, यथा पाँच वर्ष के आख्यान का एक नाटक है तो उसमे वर्ष-वर्ष के इतिहास के एक-एक अंक और उस अंक के अंतःपाती विशेष-विशेष समयो के वर्णन का एक-एक गर्भांक। अथवा पाँच मुख्य घटना-विशिष्ट कोई नाटक है तो प्रत्येक घटना के सम्पूर्ण वर्णन का एक-एक अंक और भिन्न-भिन्न स्थानो मे विशेष घटनांतःपाती छोटी-छोटी घटनाओं के वर्णन में एक-एक गर्भांक। ये नवीन नाटक मुख्य दो भेदों में बँटे हैं—एक नाटक, दूसरा गीति-रूपक। जिनमें कथा-भाग विशेष और गीति न्यून हों वह नाटक और जिसमें गीति विशेष हों वह गीति-रूपक। यह दोनों कथाओ के स्वभाव से अनेक प्रकार के हो जाते है किन्तु उनके मुख्य भेद इतने किये जा सकते हैं यथा—(१) सयोगांत—अर्थात् प्राचीन नाटकों की भाँति जिसकी कथा संयोग पर समाप्त हो। (२) वियोगांत—जिसकी कथा अंत में नायिका वा नायक के मरण वा और किसी आपद घटना पर समाप्त हो। (उदाहरण "रणधीर प्रेम-मोहिनी")। (३) मिश्र—अर्थात् जिसके अंत में कुछ लोगों का तो प्राण-वियोग हो और कुछ सुख पावे।

इन नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य ये होते हैं यथा—(१) शृंगार (२) हास्य (३) कौतुक (४) समाज-संस्कार (५) देश-वत्सलता। शृंगार और हास्य के उदाहरण देने की आवश्यकता नही, जगत् मे प्रसिद्ध है। कौतुक-विशिष्ट वह है जिसमें लोगों के चित्त-विनोदार्थ किसी यंत्र विशेष द्वा राया और किसी प्रकार अद्भुत घटना दिखाई जाय। समाज-संस्कारक नाटको में देश की कुरीतियों का दिखलाना मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। यथा शिक्षा की उन्नति, विवाह-सम्बन्धी कुरीति-निवारण, अथवा धर्म-सम्बन्धी अन्यान्य विषयों मे संशोधन इत्यादि। किसी प्राचीन कथा-भाग का इस बुद्धि से संगठन कि देश की उससे कुछ उन्नति हो इसी प्रकार के अंतर्गत है। (इसके उदाहरण, सावित्री-चरित्र, दुःखिनी बाला, बाल्यविवाह-विदूषक, जैसा काम वैसा ही परिणाम,जय-नर्सिह की, चक्षुदान इत्यादि।) देश-वत्सल नाटकों का उद्देश्य पढ़ने वालों व देखने वालो के हृदय मे स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है और ये प्रायः करुण और वीर रस के होते हैं। (उदाहरण—भारत-जननी, नीलदेवी, भारत-दुर्दशा इत्यादि)। इन पाँच उद्देश्यों को छोड़कर वीर, सख्य इत्यादि अन्य रसों में भी नाटक बनते हैं।

प्राचीन समय में संस्कृत भाषा मे महाभारत आदि का कोई प्रख्यात वृत्तान्त अथवा कवि-प्रौढ़ोक्ति-संभूत, किंवा लोकाचार-संघटित, कोई कल्पित आख्यायिका अवलम्बन करके, नाटक प्रभृति दशविध रूपक और नाटिका प्रभृति अष्टादश प्रकार उपरूपक लिपिबद्ध होकर, सहृदय सभासद लोगों की तात्कालिक रुचि अनुसार, उक्त नाटक

नाटिका प्रभृति दृश्य-काव्य किसी राजा की अथवा राजकीय उच्चपदाभिषिक्त लोगो की नाटचशाला मे अभिनीत होते थे ।

प्राचीन काल के अभिनयादि के सम्बन्ध में तात्कालिक कवि लोगो की और दर्शक-मंडली की जिस प्रकार रुचि थी, वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्य-काव्य रचना करके सामाजिक लोगो का चित्त-विनोदन कर गये हैं । किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश मे विलक्षण है, इससे संप्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटक आदि दृश्य-काव्य लिखना युक्ति-संगत नही बोध होता ।

जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करे और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे, उस समय मे उक्त सहृदयगण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति इन दोनो विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना योग्य है ।

नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे यह आवश्यक नही है, क्योकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगो की मतपोषिका होंगी वह सब अवश्य ग्रहण होगी । नाट्यकला-कौशल दिखलाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्वकाल मे लोकातीत असम्भव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदय-हारिणी होती थी, वर्तमान काल मे नही होती ।

अब नाटकादि दृश्य-काव्य मे अस्वाभाविक सामग्री-परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य-मण्डली को नितान्त अरुचिकर है, इसलिये स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदय-ग्राहिणी है, इसमे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना उचित नही है अब नाटक मे कही 'आशी.' प्रभृति नाटचालंकार, कही 'प्रकरी', कही 'विलोभन', कही 'सफेट', 'पचसन्धि', वा ऐसे ही अन्य विषयो की कोई आवश्यकता नही बाकी रही। सस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसन्धान करना, वा किसी नाटकाग मे इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा सम्पादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है । संस्कृत नाटकादि रचना के निमित्त महामुनि भरतजी जो सब नियम लिख गये हैं उनमें जो हिन्दी नाटक-रचना के नितान्त उपयोगी हैं और इस काल के सहृदय सामाजिक लोगों की रुचि के अनुयायी हैं वे ही नियम यहाँ प्रकाशित होते हैं ।

(पृष्ठ १०—१४)

३. नाटक-रचना की प्रणाली

रचना-प्रणाली

(क) नाटक लिखना आरम्भ करके, जो लोग उद्देश्य, वस्तु परम्परा से चमत्कारजनक और अति मधुर वस्तु निर्वाचन करके भी स्वाभाविक सामग्री परिपोष के प्रति दृष्टिपात नही करते उनका नाटक नाटिकादि दृश्य-काव्य लिखने का प्रयास व्यर्थ है क्योंकि नाटक आख्यायिका की भाँति श्रव्य-काव्य नही है।

ग्रन्थकर्त्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रगण की बातचीत रचना करे कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी ही उसकी बात भी विरचित हो। नाटक मे वाचाल पात्र की मितभाषिता, मितभाषी की वाचालता, मूर्ख की वाक्पटुता और पण्डित का मौनीभाव विडम्बन-मात्र है। पात्र की बात सुनकर उसके स्वभाव का परिचय ही नाटक का प्रधान अंग है। नाटक मे वाक्-प्रपच एक प्रधान दोष है। रसविशेष द्वारा दर्शको के अन्त:करण को उन्नत अथवा एकबारगी शोकावनत करने को समधिक वागाडम्बर करने से कभी उद्देश्य सिद्ध नही होता। नाटक मे वाचालता की अपेक्षा मितभाषिता के साथ, वाग्मिता का ही सम्यक् आदर होता है। नाटक में प्रपंच रूप से किसी भाव को व्यक्त करने का नाम गौण उपाय है और कौशल विशेष द्वारा थोड़ी बात में गुरुतर भाव व्यक्त करने का नाम मुख्योपाय है। थोड़ी-सी बात में अधिक भाव की अवतारणा ही नाटक जीवन का महौषध है। जैसा 'उत्तर रामचरित' में महात्मा जनकजी आकर पूछते हैं—'क्वास्ते प्रजावत्सलो राम:' ? यहाँ प्रजावत्सल शब्द से महाराज जनक के हृदय के कितने विकार बोध होते हैं, केवल सहृदय ही इसका अनुभव करेंगे। चित्रकार्य के निमित्त जिन-जिन उपकरणों का प्रयोजन और स्थान-विशेष की उच्चता-नीचता दिखलाने की जैसी आवश्यकता होती है वैसे ही वही उपकरण और उच्चता-नीचता-प्रदानपूर्वक अति सुन्दर रूप से मनुष्य के बाह्य-भाव और कार्य-प्रणाली के चित्रण द्वारा सहज भाव से उनका मानसिक भाव और कार्य-प्रणाली दिखलाना प्रशसा का विषय है। जो इस भाँति दूसरे का अन्तर्भाव व्यक्त करने को समर्थ हैं, उन्ही को नाटककार सम्बोधन दिया जा सकता है और उन्ही के प्रणीत ग्रन्थ नाटक मे परिगणित होते हैं। (पृष्ठ २८-३०)

(ख) नाटक रचना में शैथिल्य दोष कभी न होना चाहिये। नायक-नायिका द्वारा किसी कार्य विशेष की अवतारणा करके अपरिसमाप्त रखना अथवा अन्य व्यापार की अवतारणा करके उसका मूलच्छेद करना नाटक-रचना का उद्देश्य नहीं है। जिस नाटक की उत्तरोत्तर कार्य-प्रणाली सदर्शन करके दर्शक लोग पूर्व-पूर्व कार्य विस्मृत होते जाते हैं वह नाटक कभी प्रशंसा-भाजन नही हो सकता। जिन लोगो ने केवल

उत्तम-उत्तम वस्तु चुनकर एकत्र किया है उनकी गुम्फित वस्तु की अपेक्षा जो उत्कृष्ट, मध्यम और अधम तीनों का यथा-स्थान निर्वाचन करके प्रकृति की भावभगी उत्तम रूप से चित्रित करने में समर्थ है वही काव्यामोदी रसज्ञ-मण्डली को अपूर्व आनन्द वितरण कर सकते हैं। कालिदास, भवभूति और शेक्सपियर प्रभृति नाटककार इसी हेतु पृथ्वी मे अमर हो रहे हैं। कोई सामग्री सग्रह नही है, अथच नाटक लिखना होगा यह अलीक संकल्प करके जो लोग नाटक लिखने को लेखनी धारण करते हैं उनका परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। यदि किसी को नाटक लिखने की वासना हो तो नाटक किसको कहते हैं इसका तात्पर्य हृदयगम करके, नाटक-रचयिता को सूक्ष्म-रूप से ओत-प्रोत भाव मे मनुष्य की प्रकृति आलोचना करनी चाहिये। जो अनालोचित-मानव प्रकृति हैं उनके द्वारा मानवजाति के अन्तर्भाव सब विशुद्ध रूप से चित्रित होगे, यह कभी सम्भव नही है। इसी कारण से कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल और शेक्सपियर के मैकबेथ और हेमलेट इतने विख्यात हो के पृथ्वी के सर्व स्थान मे एकादर से परिभ्रमण करते हैं। मानव प्रकृति की समालोचना करनी हो तो नाना देशो मे भ्रमण करके नाना प्रकार के लोगों के साथ कुछ दिन वास करे, तथा नाना प्र ार के समाज में गमन करके विविध लोगो का आलाप सुने तथा नाना प्रकार के ग्रन्थ अध्ययन करे, वरच समय मे अश्व-रक्षक, गो-रक्षक, दास, दासी, ग्रामीण, दस्यु प्रभृति नीच प्रकृति और सामान्य लोगो के साथ कथोपकथन करे। यह न करने से मानव-प्रकृति समालोचित नही होती। मनुष्यों की मानसिक वृत्ति परस्पर जिस प्रकार अदृश्य है उन लोगो के हृदयस्थ भाव भी उसी रूप अप्रत्यक्ष हैं। केवल बुद्धि-वृत्ति की परिचालना द्वारा तथा जगत् के कतिपय बाह्य कार्यों पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उसके अनुशीलन में प्रवृत्त होना होता है। और किसी उपकरण द्वारा नाटक लिखना झख मारना है। (पृष्ठ ३३-३४)

अभिनेय नाटक के गुण

नाटक की कथा—नाटक की कथा की रचना ऐसी विचित्र और पूर्वापरबद्ध होनी चाहिए कि जब तक अन्तिम अक न पढ़े किंवा न देखे, यह न प्रगट हो कि खेल कैसे समाप्त होगा। यह नही कि 'सीधा एक को बेटा हुआ, उसने यह किया वह किया' प्रारम्भ ही मे कहानी का मध्य बोध हो।

पात्रों के स्वर-शोक, हर्ष, हास, क्रोधादि के समय मे पात्रो को स्वर भी घटाना-बढ़ाना उचित है। जैसे स्वाभाविक स्वर बदलते हैं, वैसे ही कृत्रिम भी बदले। 'आप ही आप' ऐसे स्वर मे कहना चाहिए कि बोध हो धीरे-धीरे कहना है, किन्तु तब भी इतना उच्च हो, कि श्रोतागण निष्कटक सुन ले।

पात्रों की दृष्टि—यद्यपि परस्पर वार्त्ता करने में पात्रो की दृष्टि परस्पर रहेगी

किन्तु बहुत से विषय पात्रो को दर्शकों की ओर देखकर कहने पड़ेगे। इस अवसर पर अभिनय-चातुर्य यह है कि यद्यपि पात्र दर्शको की ओर देखे किन्तु यह न बोध हो कि वह बाते वे दर्शको से कहते हैं।

पात्रों के भाव—नृत्य की भाँति रगस्थल पर पात्रों को हस्तक भाव वा मुख, नेत्र, भू के सूक्ष्मतर भाव दिखलाने की आवश्यकता नही, स्वर भाव और यथायोग्य स्थान पर अगभगी भाव ही दिखलाने चाहिएँ।

पात्रों का फिरना—यह एक साधारण नियम भी माननीय है कि फिरने वा जाने के समय जहाँ तक हो सके पात्रगण अपनी पीठ दर्शको को बहुत कम दिखलावें। किन्तु इस नियम-पालन का इतना आग्रह न करे कि जहाँ पीठ दिखलाने की आवश्यकता हो वहाँ भी न दिखलावे।

पात्रों का परस्पर कथोपकथन—पात्रगण आपस मे जो वार्त्ता करें उसको कवि निरे काव्य की भाँति न ग्रथित करे। यथा नायिका से नायक साधारण काव्य की भाँति 'तुम्हारे नेत्र कमल हैं, कुच कलश हैं इत्यादि न कहे।' परस्पर वार्ता में हृदय के भाव-बोधक वाक्य ही कहने योग्य हैं। किसी मनुष्य वा स्थानादि के वर्णन में लम्बी-चौड़ी काव्य-रचना नाटक के उपयोगी नही होती। **(पृष्ठ ३७३८)**

नाटक में रस-विरोध

नाटक-रचना मे विरोधी रसों को बहुत बचाना चाहिए। जैसे शृंगार के हास्य, वीर विरोधी नही किन्तु अति करुण, वीभत्स, रौद्र, भयानक और शान्त विरोधी हैं, तो जिस नाटक मे शृंगार रस प्रधान अगीभाव से हो उसमे ये न आने चाहिये। अति करुण लिखने का तात्पर्य यह है कि सामान्य करुण तो वियोग मे भी वर्णित होगा किन्तु पुत्र शोकादिवत् अति करुण का वर्णन शृंगार का विरोधी है। हाँ नवीन (ट्रेजेडी) वियोगान्त नाटक-लेखक तो यह रस-विरोध करने को बाधित हैं। नाटकों की सौन्दर्य-रक्षा के हेतु विरोधी रसों को बचाना भी बहुत आवश्यक कार्य है, अन्यथा होने से कवि का मुख्य उद्देश्य नाश हो जाता है। **(पृष्ठ ३६)**

महावीरप्रसाद द्विवेदी

[समय— सन् १८६४-१९३८ ई०]

ग्रंथ—रसज्ञ-रंजन

१—कविता और छन्द

गद्य और पद्य दोनों ही में कविता हो सकती है। यह समझना अज्ञानता की पराकाष्ठा है कि जो कुछ छन्दोबद्ध है सभी काव्य है। कविता का लक्षण जहाँ कही पाया जाय, चाहे वह गद्य में हो चाहे पद्य में, वही काव्य है। लक्षण-हीन होने से कोई भी छन्दोबद्ध लेख काव्य नही कहलाये जा सकते और लक्षण-युक्त होने से सभी गद्य-बन्ध काव्य-कक्षा में सन्निविष्ट किये जा सकते है। गद्य के विषय में कोई विशेष नियम निर्दिष्ट करने की उतनी आवश्यकता नही जितनी पद्य के विषय मे है। इसलिए हम, यहाँ पर, पद्य ही का विचार करेगे। भाषा, अर्थ और विषय के सम्बन्ध मे जो कुछ हम कहेगे वह गद्य के सम्बन्ध मे भी, प्रायः समान-भाव से प्रयुक्त हो सकेगा।

जिन पंक्तियों मे वर्णों या मात्राओं की सख्या नियमित होती है, वे छन्द कहाती हैं, और छन्द मे जो कुछ कहा जाता है, वह पद्य कहलाता है। कोई-कोई छन्द और पद्य दोनों को एक ही अर्थ का वाचक मानते है।

जो सिद्ध कवि हैं वे चाहे जिस छन्द का प्रयोग करे उनका पद्य अच्छा ही होता है; परन्तु सामान्य कवियो को विषय के अनुकूल छन्द-योजना करनी चाहिए। जैसे समय-विशेष में राग विशेष के गाये जाने से चित्त अधिक चमत्कृत होता है, वैसे ही वर्णन के अनुकूल वृत्त-प्रयोग करने से कविता का आस्वादन करने वालो को अधिक आनन्द मिलता है। गले में डाली हुई मेखला के समान वृत्त-रूपिणी हार-लता को अनुचित स्थान में विनिवेशित करने से कवि की अज्ञानता दर्शित होती है। इस लेख में हम इस बात का विवेचन नही करना चाहते कि किस विषय के लिए कौन-सा छन्द प्रयोग में लाना चाहिए। काव्य के मर्मज्ञ निपुण कवि स्वयमेव जान सकते हैं कि कौन छन्द कहाँ विशेष शोभा-वर्धक होगा। प्राचीन संस्कृत-कवि इसका पूरा-पूरा विचार रखते थे। उन्होंने ऋतुओं का वर्णन प्रायः उपजातिछन्द में किया है, नीति का वंशस्थ में किया है, चन्द्रोदयादि का रथोद्धता मे किया है, वर्षा और प्रवास का मन्दाक्रान्ता में किया है, और स्तुति, शौर्य आदि का शार्दूल-विक्रीड़ित और शिखरिणी मे किया है।

यही नहीं; किन्तु वृत्त-रचना मे छन्द-शास्त्र के नियमो के अतिरिक्त वे लोग और-और विषयो का भी ध्यान रखते थे। दोधक-वृत्त का लक्षण तीन भगण और दो गुरू हैं। इस नियम का प्रतिपालन करते हुए वे तीन ही तीन अक्षर वाले शब्द-प्रयोग करते थे, जिससे छन्द की शोभा विशेष बढ जाती थी। तोटक मे वे रूखे अक्षर वाले ही शब्द रखते थे, क्योंकि ऐसे अक्षर वाले शब्दो से संगठित हुआ तोटक, ताल की द्रुतगति के समान, मन को सविशेष आनन्दित करता है। हिंदी के कवियो को भी इन बातों का विचार करना चाहिए।

दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय और सवैया आदि का प्रयोग हिन्दी में बहुत हो चुका। कवियों को चाहिए कि यदि वे लिख सकते हैं, तो इनके अतिरिक्त और और छन्द भी लिखा करे। हम यह नहीं कहते कि ये छन्द नितान्त परित्यक्त ही कर दिये जायँ। हमारा अभिप्राय यह है कि इनके साथ-साथ संस्कृत काव्यो मे प्रयोग किये गये वृत्तो मे से दो-चार उत्तमोत्तम वृत्तो का भी प्रचार हिन्दी मे किया जाय। इन वृत्तों मे से द्रुतविलम्बित, वंशस्थ और वसन्ततिलका आदि वृत्त ऐसे है जिनका प्रचार हिंदी मे होने से हिन्दी-काव्य की विशेष शोभा बढ़ेगी। किसी-किसी ने इन वृत्तो का प्रयोग भी आरम्भ कर दिया है। यह सूचना उन्ही लोगों के लिए है जो सब प्रकार के छन्द लिखने में समर्थ हैं, जो घनाक्षरी और दोहे अथवा चौपाई की सीमा उल्लघन करने मे असमर्थ है, उनके लिए नहीं।

आजकल के बोलचाल की हिन्दी की कविता उर्दू के विशेष प्रकार के छन्दो मे अधिक खुलती है, अतः ऐसी कविता लिखने मे तदनुकूल छन्द प्रयुक्त होने चाहिएँ।

कुछ-कुछ कवियो को एक ही प्रकार का छन्द सध जाता है; उसे ही वे अच्छा लिख सकते है। उनको दूसरे प्रकार के छन्द लिखने का प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए। यदि कविता सरस और मनोहारिणी है, तो चाहे वह एक ही अथवा बुरे से बुरे छन्द मे क्यो न हो, उससे आनन्द अवश्य ही मिलता है। तुलसीदास ने चौपाई और बिहारी-लाल ने दोहा लिखकर ही इतनी कीर्ति सम्पादन की है। प्राचीन कवियो को भी किसी-किसी वृत्त से समधिक स्नेह था, वे अपने आहृत वृत्त ही को अधिक काम मे लाते थे और उसमे उनकी कविता खुलती भी अधिक थी। भारवि का वंशस्थ, रत्नाकर की वसन्ततिलका, भवभूति और जगन्नाथराय की शिखरिणी, कालिदास की मन्दाक्रान्ता और राजशेखर का शार्दूल-विक्रीडित इस विषय मे प्रमाण है।

पादान्त मे अनुप्रास-हीन छन्द भी हिन्दी मे लिखे जाने चाहिए। इस प्रकार के छन्द जब संस्कृत, अँग्रेजी और बँगला मे विद्यमान हैं तब, कोई कारण नहीं, कि हमारी भाषा में वे न लिखे जायँ। संस्कृत ही हिन्दी की माता है। संस्कृत का सारा कविता-

साहित्य इस तुकबन्दी के बखेड़े से बहिर्गत-सा है। अतएव इस विषय में यदि हम संस्कृत का अनुकरण करें, तो सफलता की पूरी-पूरी आशा है। अनुप्रास-युक्त पादान्त सुनते-सुनते हमारे कान उस प्रकार की पंक्तियों के पक्षपाती हो गये हैं। इसलिए अनुप्रास-हीन रचना अच्छी नहीं लगती। बिना तुक वाली कविता के लिखने अथवा सुनने का अभ्यास होते ही वह भी अच्छी लगने लगेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। अनुप्रास और यमक आदि शब्दाडम्बर कविता के आधार नहीं, जो उनके न होने से कविता निर्जीव हो जाय, या उसमें कोई अपरिमेय हानि पहुँचे। कविता का अच्छा और बुरा होना विशेषतः अच्छे अर्थ और रस-बाहुल्य पर अवलम्बित है। परन्तु अनुप्रासों के ढूँढने का प्रयास उठाने में समुचित शब्द न मिलने से अर्थांश की हानि हो जाया करती है, इससे कविता की चारुता नष्ट हो जाती है। अनुप्रासों का विचार न करने से कविता लिखने में सुगमता भी होती है और मनोभिलषित अर्थ व्यक्त करने में विशेष कठिनाई भी नहीं पड़ती। अतएव पादान्त में अनुप्रास-हीन छन्द हिन्दी में लिखे जाने की बड़ी आवश्यकता है। संस्कृत में प्रयोग किये गये शिखरिणी, वंशस्थ और वसन्ततिलका आदि वृत्त ऐसे हैं, जिनमें अनुप्रास का होना काव्य-रसिकों को बहुत ही कम खटकेगा। पहले-पहल इन्हीं वृत्तों का प्रयोग होना चाहिए।

किसी भी प्रचलित परिपाटी का क्रम-भंग होता देख प्राचीनता के पक्षपाती बिगड़ खड़े होते हैं और नई चाल के विषय में नाना प्रकार की कुचेष्टाएँ और दोषोद्भावनाएँ करने लगते हैं, यह स्वाभाविक बात है। परन्तु यदि इस प्रकार की टीकाओं से लोग डरते, तो संसार से नवीनता का लोप ही हो जाता। हमारा यह मतलब नहीं कि पादान्त में अनुप्रास वाले छन्द लिखे ही न जाया करें। हमारा कथन इतना ही है कि इस प्रकार के छन्दों के साथ अनुप्रास-हीन छन्द भी लिखे जायँ, बस।

(पृष्ठ १३-१७)

२. कविता की भाषा

कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिये जिसे सब कोई सहज में समझ ले और अर्थ को हृदयंगम कर सके। पद्य पढ़ते ही उसका अर्थ बुद्धिस्थ हो जाने से विशेष आनन्द प्राप्त होता है और पढ़ने में जी लगता है। परन्तु जिस काव्य का भावार्थ कठिनता से समझ में आता है, उसके अवलोकन में जी नहीं लगता और बराबर अर्थ का विचार करते-करते उससे विरक्ति हो जाती है। जो कुछ लिखा जाता है, वह इसी अभिप्राय से लिखा जाता है कि लेखक का हृद्गत भाव दूसरे समझ जायँ। यदि इस उद्देश्य ही की सफलता न हुई, तो लिखना ही व्यर्थ हुआ। अतएव क्लिष्ट की अपेक्षा सरल लिखना ही सब प्रकार वांछनीय है। कालिदास, भवभूति और तुलसीदास के

काव्य सरलता के आकार हैं, परम विद्वान् होकर भी उन्होने सरलता ही को विशेष मान दिया है। इसीलिए उनके काव्यों का इतना आदर है। जो काव्य सर्व-साधारण की समझ के बाहर होता है, वह बहुत कम लोकमान्य होता है। कवियों को इसका सदैव ध्यान रखना चाहिये।

कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना न करनी चाहिए। शुद्ध भाषा का जितना मान होता है अशुद्ध का उतना नही होता। व्याकरण का विचार न करना कवि की तद्विषयक अज्ञानता का सूचक है। कोई-कोई कवि व्याकरण के नियमों की ओर दृक्पात तक नही करते। यह बड़े खेद और लज्जा की बात है। ब्रजभाषा की कविता में कविजन मनमानी निरंकुशता दिखलाते हैं। यह उचित नही। जहाँ तक सम्भव हो शब्दों का मूल रूप न बिगड़ना चाहिये।

मुहाविरे का भी विचार रखना चाहिए। बे-मुहाविरा भाषा अच्छी नही लगती। "क्रोध क्षमा कीजिए" इत्यादि वाक्य कान को अतिशय पीड़ा पहुँचाते हैं। मुहाविरा ही भाषा का प्राण है, उसे जिसने नहीं जाना, उसने कुछ नही जाना। उसकी भाषा कदापि आदरणीय नहीं हो सकती।

विषय के अनुकूल शब्द-स्थापना करनी चाहिए। कविता एक अपूर्व रसायन है। उसके रस की सिद्धि के लिए बड़ी सावधानी, बडी मनोयोगिता और बड़ी चतुराई आवश्यक होती है। रसायन सिद्ध करने मे आँच के न्यूनाधिक होने से जैसे रस बिगड़ जाता है, वैसे ही यथोचित शब्दों का उपयोग न करने से काव्य-रूपी रस भी बिगड़ जाता है। किसी-किसी स्थल-विशेष पर रूक्षाक्षर वाले शब्द अच्छे लगते हैं, परन्तु और सर्वत्र ललित और मधुर शब्दो ही का प्रयोग करना उचित है। शब्द चुनने मे अक्षर-मैत्री का विशेष विचार रखना चाहिए। अच्छे अर्थ का द्योतक न होकर भी कोई-कोई पद्य केवल अपनी मधुरता ही से पढ़नेवालो के अन्त.करण को द्रवीभूत कर देता है। "टुटत अडु बठे तरु जाई" इत्यादि वाक्य लिखना हिन्दी की कविता को कलकित करना है।

शब्दों को यथा-स्थान रखना चाहिए। शब्द-स्थापना ठीक न होने से कविता की दुर्दशा होती है और अर्थांश में जो क्लिष्टता आ जाती है, उसके उदाहरण "हिन्दी कालिदास की समालोचना" में दिये जा चुके हैं।

गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् न होनी चाहिए। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जिसके गद्य में एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है। सभ्य समाज की जो भाषा हो उसी भाषा में गद्य-पद्यात्मक साहित्य होना चाहिए। गद्य का प्रचार हिन्दी में थोड़े दिनों से हुआ है। पहले गद्य प्रायः न था; हमारा

साहित्य केवल पद्यमय था। गद्य-साहित्य की उत्पत्ति के पहले पद्य मे ब्रजभाषा ही का सार्वदेशिक प्रयोग होता था। अब कुछ अन्तर होने लगा है। गद्य की इस समय, उन्नति हो रही है। अतएव अब यह सम्भव नही कि गद्य की भाषा का प्रभाव पद्य पर न पड़े। जो प्रबल होता है वह निर्बल को अवश्य अपने वशीभूत कर लेता है। यह बात भाषा के सम्बन्ध में भी तद्वत् पाई जाती है। पचास वर्ष पहले के कवियों की भाषा इस समय के कवियों मी भाषा से मिला कर देखिए। देखने से तत्काल विदित हो जायगा कि आधुनिक कवियो पर बोल-चाल की हिन्दीभाषा ने अपना प्रभाव डालना आरम्भ कर दिया है, उनकी लिखी ब्रजभाषा की कविता में बोल-चाल (खड़ी-बोली) के जितने शब्द और मुहाविरे मिलेगे उतने ५० वर्ष पहले के कवियो की कविता मे कदापि न मिलेगे। यह निश्चित है किसी समय बोलचाल की हिन्दी-भाषा, ब्रजभाषा की कविता के स्थान को अवश्य छीन लेगी। इसलिए कवियो को चाहिए कि वे क्रम-क्रम से गद्य की भाषा में भी कविता करना आरम्भ करे। बोलना एक भाषा और कविता मे प्रयोग करना दूसरी भाषा, प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है। जो लोग हिन्दी बोलते हैं और हिन्दी ही के गद्य-साहित्य की सेवा करते हैं, उनके पद्य मे ब्रज की भाषा का आधिपत्य बहुत दिनो तक नही रह सकता। (पृष्ठ १७-२०)

३—कविता में अर्थ का गौरव

अर्थ-सौरस्य ही कविता का प्राण है। जिस पद्य मे अर्थ का चमत्कार नही, वह कविता नही। कवि जिस विषय का वर्णन करे उस विषय से उसका तादात्म्य हो जाना चाहिए। ऐसा न होने से अर्थ-सौरस्य नही आ सकता। विलाप-वर्णन करने में कवि के मन में यह भावना होनी चाहिए कि वह स्वय विलाप कर रहा है और वर्णित दुःख का स्वयं अनुभव कर रहा है। प्राकृतिक वर्णन लिखने के समय उसके अन्तःकरण में यह दृढ़ संस्कार होना चाहिए कि वर्ण्यमान नदी, पर्वत अथवा वन के सम्मुख वह स्वयं उपस्थित होकर उनकी शोभा देख रहा है। जब कवि की आत्मा का वर्ण्य-विषयों से इस प्रकार निकट सम्बन्ध हो जाता है, तभी उसका किया हुआ वर्णन यथार्थ होता है और तभी उसकी कविता पढ कर पढ़ने वालो के हृदय पर तद्वत् भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। कविता करने मे, हमारी समझ में, अलंकारो को बलात् लाने का प्रयत्न न करना चाहिए। विषय-वर्णन के झोके में जो कुछ मुख से निकले उसे ही रहने देना चहिए। बलात् किसी अर्थ के लाने की चेष्टा करने की अपेक्षा प्रकृत भाव से जो कुछ आ जाय उसे ही पद्य-बद्ध कर देना अधिक सरल और आह्लादकारक होता है। अपने मनोनीत अर्थ को इस प्रकार व्यक्त करना चाहिए कि पद्य पढते ही पढ़ने वाले उसे तत्क्षण हृदयंगम कर सकें, क्लिष्ट कल्पना अथवा सोच-विचार करने की आवश्यकता न पडे।

बहुत से शब्द ऐसे हैं जो सामान्य रीति से सब एक ही अर्थ के व्यंजक हैं, परन्तु विशेष ध्यानपूर्वक देखने अथवा धातु के अर्थ का विचार करने से पृथक्-पृथक् शब्दों में पृथक्-पृथक् शक्तियों का गर्भित रहना प्रकट होता है। 'तन्वी' शब्द का सामान्य अर्थ स्थल-विशेष मे स्त्री होता है परन्तु 'तनु' शब्द का अर्थ कृश होने के कारण 'तन्वी' का विशेष अर्थ दुर्बल है। यदि कहें कि 'यह तन्वी अपने पति के साथ सुख से अपने घर में रहती है, तो यहाँ 'तन्वी' शब्द उस अर्थ का व्यंजक नही हो सकता जो अर्थ रामा' इत्यादि शब्दो का होता है। परन्तु यदि कहे कि "तन्वी अपने प्रियतम का वियोग बड़े धैर्य्य से सहन कर रही है" तो यहाँ 'तन्वी' शब्द की गर्भित शक्ति से वियोग-उद्योत अर्थ को सहायता पहुँचती है। अतः ऐसे स्थल पर इस शब्द का प्रयोग बहुत प्रशस्त है। अर्थ-सौरस्य के लिए, जहाँ तक सभव हो, ऐसे ही ऐसे शक्तिमान् शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।

घनाक्षरी और सवैया आदि लिखने वाले कुछ कवियो की कविता मे कभी-कभी अनेक निरर्थक शब्द आ जाते हैं। कभी-कभी शब्दो के ऐसे विकृत रूप प्रयुक्त हो जाते है कि उनका अर्थ ही समझ में नही आता। कभी-कभी पादान्त मे समान अक्षर लाने ही के लिए निरर्थक अथवा अपभ्रंश शब्द लाये जाते हैं। ब्रजभाषा की कविता, अथवा घनाक्षरी या सवैया के हम प्रतिकूल नही, परन्तु हमारा मत यह है कि अर्थ के सौरस्य ही की ओर कवियो का ध्यान अधिक होना चाहिए, शब्दों के आडम्बर की ओर नही। अर्थ-हीन अथवा अनुपयोगी शब्द न लिखे जाने चाहिए और न शब्दों के प्रकृत रूप को बिगाड़ना ही चाहिए। शब्दो के बिगाडने से उनके बिगड़े हुए रूप पढने वालों के कान को खटकते है और जिस अर्थ मे वे प्रयुक्त होते है, उस अर्थ की वे कभी-कभी पोषकता भी नही करते।

अश्लीलता और ग्राम्यता-गर्भित अर्थों से कविता को कभी न दूषित करना चाहिए और न देश-काल तथा लोक आदि के विरुद्ध कोई बात कहनी चाहिए। कविता को सरस बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। नीरस पद्यो का कभी आदर नही होता। जिसे पढते ही पढ़ने वाले के मुख से 'वाह' न निकले, अथवा उसका मस्तक न हिलने लगे, अथवा उसकी दन्त-पंक्ति न दिखलाई देने लगे, अथवा जिस रस की कविता है, उस रस के अनुकूल वह व्यापार न करने लगे, तो वह कविता कविता ही नहीं, वह तुकबन्दी मात्र है। कविता के सरस होने ही से ये उपर्युक्त बातें हो सकती हैं, अन्यथा नही। रस ही कविता का सब से बड़ा गुण है। श्रीकण्ठचरित के कर्ता ने ठीक कहा है—

तैस्तैरलंकृतिशतैरवंतसितोपि
रूढ़ो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि ।
नूनं विना घनरसप्रसराभिषेकं
काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबन्धः ॥

अर्थात् सैकडों अलंकारों से अलंकृत होकर भी, शब्द-शास्त्र के उच्चासन पर अधिरूढ़ होकर भी और सब प्रकार सौष्ठव को धारण करके भी, रस-रूपी अभिषेक के बिना, कोई भी प्रबन्ध काव्याधिराज पदवी को नही पहुँचता ।

(पृष्ठ २०-२२)

४. काव्य का विषय

कविता का विषय मनोरजक और उपदेश-जनक होना चाहिए । यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अद्‌भुत-अद्‌भुत वर्णन बहुत हो चुका । न परकीयाओ पर प्रबन्ध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओ के 'गतागत' की पहेली बुझाने की । चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत—सभी पर कविता हो सकती है, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है । फिर क्या कारण है कि इन विषयो को छोडकर कोई-कोई कवि स्त्रियो की चेष्टाओ का वर्णन करना ही कविता की चरम सीमा समझते है ? केवल अविचार और अन्ध-परम्परा । यदि 'मेघनाद वध' अथवा 'यशवन्तराव महाकाव्य' वे नही लिख सकते, तो उनको ईश्वर की निःसीम सृष्टि मे से छोटे-छोटे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों को चुन कर उन्ही पर छोटी-छोटी कविताएँ करनी चाहिए । अभ्यास करते-करते शायद, कभी, किसी समय, वे इससे अधिक योग्यता दिखलाने मे समर्थ हो और दण्डी कवि के कथनानुसार शायद कभी वाग्देवी उन पर सचमुच ही प्रसन्न हो जायं । नायिका के हाव-भावादि के वर्णन का अभ्यास करने वालो पर भी सरस्वती की कृपा हो सकती है, परन्तु तदर्थ उसकी उपासना न करना ही अच्छा है ।

सस्कृत मे सहस्रश. उत्तमोत्तम काव्य विद्यमान है । अतः उस भाषा मे काव्य-प्रकाश, ध्वन्यालोक, कुवलयानन्द, रसतरगिणी आदि साहित्य के अनेक लक्षण-ग्रन्थो का होना अनुचित नही । परन्तु हिन्दी-भाषा मे सत्काव्य का प्रायः अभाव है । इस कारण अलकार और रस-विवेचन के झगडों से जटिल ग्रन्थो के बनने की हम कोई आवश्यकता नही देखते । 'हेला' हाव का लक्षण और उसका चित्र देखने से क्या लाभ ? अथवा दीपक अलकार के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म भेदों को जानने का क्या उपयोग ? हिन्दी में ऐसे कितने काव्य हैं जिनमें ये सब भेद पाये जाते है ? हमारी अल्प-बुद्धि के अनुसार रस

कुसुमाकर और जसवन्तजसो (१) भूषण के समान ग्रन्थों की, इस समय आवश्यकता नही। इनके स्थान मे यदि कोई कवि किसी आदर्श-पुरुष के चरित्र का अवलम्बन करके एक अच्छा काव्य लिखता तो उससे हिन्दी-साहित्य को अलभ्य लाभ होता। कनिष्ठा और ज्येष्ठा का भेद और उनके चित्र देखे तो क्या और न देखे तो क्या? और उत्प्रेक्षा अलंकार का लक्षण नामानुसार सिद्ध हो गया तो क्या और न सिद्ध हुआ तो क्या? नायिकाओं के भी झगड़े में उलझने से हानि के अतिरिक्त लाभ की कोई सम्भावना नही। हिन्दी काव्य की हीन दशा को देख कर कवियो को चाहिए कि वे अपनी विद्या, अपनी बुद्धि और अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग इस प्रकार से ग्रन्थ लिखने में न करें। अच्छे काव्य लिखने का उन्हे प्रयत्न करना चाहिए। अलंकार, रस और नायिका-निरूपण बहुत हो चुका।

इस समय, कवियो का एक दल कवि-समाजों और कवि-मण्डलों में बद्ध होकर समस्या-पूर्ति करने में व्यग्र हो रहा है। इन पूर्तिकारो मे से कुछ को छोड़ कर शेष, कविता के नाम की भी बड़ी ही अवहेलना कर रहे हैं। इनको चाहिए कि बिना योग्यता सम्पादन किये समस्या-पूर्ति करने के झगड़े में न पडें। अच्छी समस्या-पूर्ति करना असाधारण प्रतिभावान का काम है। एक साधारण कवि अपने मनोनुकूल विषय पर एक घड़ी में चाहे ५० पद्य लिख डाले और वे सब चाहे अच्छे भी हों, परन्तु किसी समस्या के टुकड़े पर अच्छी कविता करने में वह शायद ही सफल-मनोरथ होगा। समस्या-पूर्ति के लिए असामान्य कौशल और प्रबल प्रतिभा की आवश्यकता है। इस समय प्रतिभा का पूरा-पूरा विकास बहुत कम देखा जाता है, इसलिए समस्याओं की पूर्तियाँ भी प्रायः अच्छी नही होती। हमारी यह सम्मति है कि समस्या-पूर्ति के विषय को छोड़ कर अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार विषयो को चुन कर, कवि को यदि बड़ी न हो सके, तो छोटी ही छोटी स्वतन्त्र कविता करनी चाहिए, क्योकि इस प्रकार की कविताओं का हिन्दी में प्रायः अभाव है।

संस्कृत और अँग्रेजी काव्यो का अनुवाद हिन्दी मे करने की ओर भी कवियों की रुचि बढने लगी है। परन्तु स्वतन्त्र कविता करने की अपेक्षा दूसरे की कविता का अनुवाद अन्य भाषा में करना बडा कठिन काम है। एक शीशी में भरे हुए इत्र को जब दूसरी शीशी मे डालने लगते हैं तब डालने ही में पहले कठिनता उपस्थित होती है; और यदि बिना दो चार बूद इधर-उधर टपके वह दूसरी शीशी मे चला भी गया, तो इस उलट फेर में उसके सुवास का विशेषांश अवश्य उड़ जाता है। एक भाषा की कविता का दूसरी भाषा मे अनुवाद करने वालों को यह बात स्मरण रखनी चाहिए। बुरा अनुवाद करना मूल कवि का अपमान करना है; क्योंकि अनुवाद के द्वारा उनके गुणों का ठीक-ठीक परिचय न होने के कारण पढने वालो की दृष्टि में वह हीन हो जाता

है। इसलिए किसी पुस्तक का अनुवाद आरम्भ करने के पहले अनुवादक को अपनी योग्यता का विचार कर लेना नितांत आवश्यक है। सच तो यह है कि जो अच्छा कवि है वही अच्छा अनुवाद करने में समर्थ हो सकता है; दूसरा नही। पर अच्छा कवि होना भी दुर्लभ है।

(पृष्ठ २३-२६)

संसार मे ईश्वर या देवताओं का अवतार कई प्रकार का और कई कामों के लिए होता है। अलौकिक कार्य करने वाले प्रतिभाशाली मनुष्य ही अवतार हैं। स्वाभाविक कवि भी एक प्रकार के अवतार है। इस पर कदाचित कोई प्रश्न करे कि अकेले कवि ही क्यों अवतार माने गये, और लेखक इस पद पर क्यों न बिठाये गये ? तो यह कहा जा सकता है कि लेखक का समावेश कवि मे है, पर कवियो मे कुछ ऐसी विशेष शक्ति होती है, जिसके कारण उनका प्रभाव लोगों पर बहुत पड़ता है। अब मुख्य प्रश्न यह है कि कवि का अवतार होता ही क्यों है ? पहुँचे हुए पण्डितो का कथन है कि कवि भी "धर्म्म-सस्थापनार्थाय" उत्पन्न होते हैं। उनका काम केवल तुक मिलाना या "पावस-पचासा" लिखना ही नही। तुलसीदास ने कवि होकर वैष्णव धर्म की स्थापना की है, मत-मतान्तरों का भेद मिटाया है और "ज्ञान के पन्थ को कृपाण की धार" बताया है। प्रायः उसी प्रकार का काम, दूसरे रूप में, सूरदास, कबीर और लल्लूलाल ने किया है। हरिश्चन्द्र ने शूरता, स्वदेश-भक्ति और सत्य-प्रेम का धर्म चलाया है। जिन कवियो ने केवल संस्कृत भाषा ही का भण्डारा भरा है वे भी, किसी न किसी रूप मे, लोगो के उपदेशक थे। हिन्दी के जितने कवि प्रसिद्ध है उन्होने देश, काल, अवस्था और पात्र के अनुसार ही कविता की है। दूसरे देशों और दूसरी भाषाओ के कवियो का नाम लेने की यहाँ आवश्यकता नही, क्योकि हिन्दी के पूर्ववर्ती कवियो ने, समय-समय पर अपने कर्तव्य को समझा है और उसका पालन भी किया है। राजा शिवप्रसाद सदृश इतिहासकारो ने भी अवतार का काम किया है, यद्यपि उनके विचारो को लोग मानते नही। सारांश यह कि कवियों को ऐसा काम करना पडता है। वह स्वभाव ही से ऐसा करते हैं—कि संसार का कल्याण हो और इस प्रकार उनका नाम आप ही अमर हो जाय। भूषण के समान कवियों ने तो राजनीतिक आंदोलन तक उपस्थित कर दिया है। 'पूर्ण' कवि ने हमें यह उपदेश दिया है कि जो लोग बोलचाल की भाषा से किसी प्रकार अप्रसन्न हैं वे भी अपनी पुरानी ब्रज (कविता) की बोली को बिना तोडे-मरोड़े काम में ला सकते हैं, और यदि वे चाहें तो बोलचाल की भाषा में भी कविता कर सकते हैं। सारांश यह कि कविता लिखते समय कवि के सामने एक ऊँचा उद्देश्य अवश्य रहना चाहिए। केवल कविता ही के लिए कविता करना एक तमाशा है।

(पृष्ठ २६-२८)

५. काव्य में नायिका-भेद

जहा तक हम देखते हैं स्त्रियों के भेद-वर्णन से कोई लाभ नही, हानि अवश्य है, और बहुत भारी हानि है। फिर हम नही जानते, क्या समझ कर लोग इस विषय के इतना पीछे पड़े हुए हैं। आश्चर्य इस बात का है कि इस भेद-भक्ति के प्रतिकूल आज तक किसी ने चकार तक मुख से नही निकाला। प्रतिकूल कहना तो दूर रहा, नायिकाओं की नई-नई चेष्टाओ का वर्णन करने वालो को प्रोत्साहन और पुरस्कार तक दिया गया है। इस प्रोत्साहन का फल यह हुआ कि नवोढ़ा आदि नायिकाओ के सम्बन्ध में कवियों को अनन्त स्वप्न देखने पड़े हैं। हिन्दी के समान बँगला, मराठी, गुजराती भाषाएँ भी संस्कृत से निकली हैं, परन्तु इन भाषाओं मे नायिकाओं का कही भी उतना साम्राज्य नही जितना हिन्दी मे है। हिन्दी मे इनका आधिक्य क्यो ? जान पड़ता है, और कही भी ठहरने के लिए सुखदाई स्थान न पाकर बेचारे नायिका-भेद ने विवश होकर, हिन्दी का आश्रय लिया है। इस विस्तृत विश्व मे ईश्वर ने इतने प्रकार के मनुष्य, पशु, पक्षी, वन, निर्झर; नदी, तड़ाग आदि निर्माण किये हैं कि यदि सैकड़ों कालिदास उत्पन्न होकर अनन्त काल तक उन सबका वर्णन करते रहें तो भी उनका अन्त न हो। फिर हम नहीं जानते और विषयो को छोड़ कर नायिका-भेद सदृश अनुचित वर्णन क्यों करना चाहिए ? इस प्रकार की कविता करनी वाणी की विगर्हणा है।

(पृष्ठ ७२-७३)

× × ×

जिस प्रकार नायिकाओ के अनेक भेद कहे गये हैं और भेदानुसार उनकी अनेक चेष्टाएँ वर्णन की गई है, उसी प्रकार पुरुषो के भी भेद और चेष्टा-वैलक्षण्य का वर्णन किया जा सकता है। जब नवोढ़ा और विश्रब्ध नवोढ़ा नायिका होती हैं तब नवोढ़ और विश्रब्ध नवोढ नायक भी हो सकते हैं। वासकसज्जा, विप्रलब्धा और कलहान्तरिता नायक होने में क्या आपत्ति हो सकती हैं ? कोई नही। क्या स्त्री ही अज्ञात-यौवना होती है ? पुरुष अज्ञात-यौवन नहीं होता ? 'रसमंजरी' वाले कहते हैं कि स्वभाव भेद से पुरुषों के चार ही भेद होते हैं—अर्थात् अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ, परन्तु व्यवस्था-भेद से स्त्रियों के अनेक भेद होते है। यह बात हमारी समझ में नही आती। मनोविकार दोनों मे प्रायः एक ही से होते हैं। जिस प्रकार के लक्षण और उदाहरण नायिकाओं के विषय में लिखे गये हैं, उसी प्रकार के लक्षण और उदाहरण प्रायः पुरुषों के विषय में भी लिखे जा सकते हैं। परन्तु हमारी भाषा के कवियों ने नायकों के ऊपर इस प्रकार की पुस्तकें नही लिखी। इसलिए हम उनको अनेक धन्यवाद देते हैं। यदि कही वे इस ओर भी अपनी कवित्व-शक्ति की योजना करते, तो हमारा कविता-साहित्य और भी अधिक चौपट हो जाता। (पृष्ठ ७४-७५)

मिश्रबन्धु

ग्रन्थ—मिश्रबन्धु-विनोद, हिन्दी-नवरत्न

१—काव्योत्कर्ष

काव्योत्कर्ष क्या है ? इस ग्रन्थ में स्थानाभाव एवं अन्य कारणों से कवियों के वर्णन पूरे नही हो सके हैं। हमने स्थान-स्थान पर काव्योत्कर्ष एवं साहित्य-गरिमा आदि के कथन किए हैं। यदि कोई पूछे कि किन गुणो के होने से हम काव्य को गौरवान्वित मानते है, तो हमे विवशत: कहना पड़ेगा कि इन गुणों एवं कारणों का कथन हर एक छन्द के लिए पृथक् है। इसका कोई छोटा-सा नियम नही बताया जा सकता। आचार्यो ने दशाग-कविता पर अनेकानेक ग्रंथ रचे हैं। उनमे गुण-दोषों के सांगोपांग वर्णन हैं। ऐसे ग्रंथ हिन्दी साहित्य मे भरे पड़े हैं, जैसा अन्यत्र कहा गया है। इन गुणों के अतिरिक्त स्वभाव-कथन एव भारी वर्णनो के सम्मिलित प्रभावों पर भी ध्यान देना पड़ता है। शब्द-प्रयोग का भी सम्मलित प्रभाव छन्द-लालित्य-प्रवर्द्धक होता है। इन सब बातों पर समालोचक की रुचि प्रधान है। कोई किसी गुण को श्रेष्ठ मानता है, और कोई किसी को। (मिश्रबन्धु-विनोद, पृष्ठ १२)

२—समालोचक के गुण

समालोचना से हर एक ग्रन्थ का असली स्वरूप साधारण पाठक के सम्मुख, बिना उस ग्रथ के पढ़े ही, उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार समालोचना से उचित, उपयोगी पुस्तकों के चुनाव में भी लोगो को बड़ी सहायता मिलती है। इस प्रकार से सत्य समालोचना मान्य ग्रंथ को जीवन और बल देती है। ऐसे ग्रथों की संख्या बढाने में भी समालोचना परम पटु या समर्थ है, क्योकि जब उसके द्वारा निकृष्ट ग्रन्थो का मान न होने पावेगा, तब श्रेष्ठ ग्रंथ आप ही अधिक बनेगे। भविष्य के लेखकों और कवियों के लिए समालोचना गुरु का काम करती है, क्योंकि उन्हें वह यह सिखलाती है कि किस प्रकार की रचना अच्छी है, और सभ्य समाज मे आदर पा सकती है। यदि कपूर और कपास श्वेत वर्ण होने के कारण ही एक मूल्य के आँके जाने लगें, तो संसार में उपयोगी पदार्थों का बहुत शीघ्र अभाव हो जाय।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि किसी भी भाषा की उन्नति के लिए समालोचना-विभाग का पूर्ण होना परमावश्यक है, और जितना ही जिस समाज में समा-

लोचना का ज़ार होगा, उतने ही उपयोगी, उत्कृष्ट ग्रंथ उस समाज में बनेंगे। अंग्रेजी की भारी उन्नति का एक बड़ा कारण समालोचनाओं का बाहुल्य है। आज हम देख रहे हैं कि हिन्दी में साधारण से साधारण ग्रन्थ तो प्रकाशित होकर धडल्ले से बिकते है, पर उत्कृष्ट ग्रंथ बहुधा जहाँ के तहाँ पड़े रहते हैं। उनका नाम तक कोई नही जानता। इसका कारण समालोचना का अभाव ही है।

यही सब सोच-विचार कर हम समझते हैं कि इन एक सहस्र वर्ष के कवियो की रचनाओ को जीवन-दान करने के लिए प्रत्येक लेखक का कर्त्तव्य है कि वह पक्ष-पात-रहित मान्य समालोचनाओं द्वारा हिन्दी का भंडार भरे। लेकिन समालोचना का लिखना भी कोई साधारण काम नही है। वही मनुष्य समालोचना लिख सकता है, जो ग्रंथों को भली भाँति समझ सके, और उनके विषयों की अच्छी जानकारी तथा सहृद-यता रखता हो। इस योग्यता और सहृदयता के अतिरिक्त समालोचक को मूल ग्रंथ का भली भाँति अध्ययन तथा मनन करने मे यथेष्ट समय भी देना पड़ेगा। अतः प्रकट है कि अच्छे विद्वान् के सिवा कोई साधारण मनुष्य समालोचक नही हो सकता।

(हिन्दी-नवरत्न, पृष्ठ २८-२९)

३—काव्य का सत्य

प्रत्येक मनुष्य का काव्य उत्कृष्ट तभी होता है, जब वह सच्चा होता है। सच्ची कविता तभी बनती है, जब कवि जो उस पर बीते, अथवा जो उमंगे उसके चित्त में उठें, या जो भाव उसके चित्त में भरे हों, उन्ही का वर्णन करे। यदि कोई लंपट मनुष्य वैराग्य-कथन करने बैठेगा, तो वह सिवा चोरी के और क्या करेगा? उसके चित्त में वैराग्य का अभाव है। उसके चित्त-सागर को वैराग्य की तरंगों ने कभी चचल नही किया। तब वह बेचारा अनुभव न होने पर भी वैराग्य के सच्चे भाव कहाँ से लाकर वर्णन करे? यदि वह हठात् लिखने बैठ ही जायगा, तो वैराग्य के विषय में उसने इधर-उधर से जो कुछ सुन लिया होगा, वही कह चलेगा। ऐसी दशा मे उसकी कविता मे सिवा नकल के कोई असली भाव न आवेगा। ऐसे ही काव्य को निर्जीव कहना पड़ता है।

इसके विपरीत जो मनुष्य सचमुच विरक्त है, उसके चित्त मे वैराग्य-सम्बन्धी असली भाव उठेंगे, और जब उनका वर्णन होगा तभी कविता असली और सजीव होगी इसी कारण उर्दू के कवियो में यह कहावत प्रचलित है कि जब कोई शिष्य किसी खास उस्ताद से शायरी सिखलाने को कहता था, तो उस्ताद पहले यही कहता था कि जाओ, आशिक हो जाओ। असली भावों की ही कविता ऐसी बनती है कि श्रोता को बरबस कहना पड़ता है—"थारी कविता मे सूल्यो लग्यो।"

(हिन्दी नवरत्न, २३१-३२)

कन्हैयालाल पोद्दार

[जन्म—सन् १८७१]

ग्रन्थ—साहित्य-समीक्षा, रसमंजरी

भक्ति रस है या भाव ?

यो तो स्थायी भाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव, 'भाव' ही कहे जाते हैं। किन्तु रस के साथ जिस 'भाव' शब्द का प्रयोग होता है, वह भाव संज्ञा, स्थायी एवं व्यभिचारिभावों की एक विशेष संज्ञा है। और स्थायी और व्यभिचारिभावों को यह विशेष 'भाव' संज्ञा किस अवस्था मे प्राप्त होती है, इसके विषय मे आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में लिखा है—

"रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः
भावः प्रोक्तः।"

अर्थात् (१) देवता, गुरु, मुनि, राजा और पुत्र आदि जहाँ रति (प्रेम) के आलम्बन होते हैं या यों कहिये कि जहाँ उनके विषय मे यथायोग्य भक्ति, प्रेम, अनुराग, श्रद्धा, पूज्य भाव, वात्सल्य और स्नेह होता है, वहाँ उस रति को, चाहे वह विभावादि से पुष्ट हो अथवा अपुष्ट, 'भाव' संज्ञा है। और—

(२) जहाँ रति आदि भाव उद्‌बुद्ध हो अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों से वह परिपुष्ट न किये गये हों, वहाँ भी रति आदि स्थायी भावों की 'भाव' संज्ञा है। तथा—

(३) निर्वेद आदि व्यभिचारि भाव जहाँ प्रधानता से व्यञ्जित (प्रतीत) होते हैं, वहाँ व्यभिचारि भावों की भी भाव संज्ञा है।

जब 'रति' स्थायी भाव की अवस्था मे, विभावादि से परिपुष्ट होकर रस में परिणत हो जाती है तब उसे शृङ्गार रस माना है। निष्कर्ष यह है कि रति की जो अवस्था-भेद से रस और भाव दो संज्ञाएँ हैं, उसका कारण आलम्बन-भेद है। अर्थात् जहाँ 'रति' (प्रेम) के आलम्बन परस्पर में अनुरक्त स्त्री पुरुष होते हैं, उस विभावादि से परिपुष्ट रति को शृङ्गार रस की संज्ञा दी गई है। और जहाँ 'रति' देवता, गुरु और पुत्रादि के विषय मे होती है अर्थात् देव, गुरु, आदि प्रेम के आलम्बन होते हैं, वहाँ उसी 'रति' को 'भाव' सज्ञा दी गई है और 'देव'-विषयक जो 'रति' (प्रेम) भाव है उसे भक्ति कह सकते हैं।

यह विचारणीय है कि देव-विषयक रति को (अर्थात् भक्ति को) सर्व प्रथम 'भाव' संज्ञा कब और किसके द्वारा दी गई है? जहाँ तक हमने अनुसंधान किया है,

साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों में सबसे प्रथम आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में 'देवादि-विषयक-रति भाव' के अन्तर्गत भक्ति को 'भाव' संज्ञा दी है। मम्मट के पूर्ववर्ती रस सम्प्रदाय के प्राचीनतम आचार्य श्री भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में 'देव-विषयक रति' के अर्थात् भक्ति के विषय में कुछ भी उल्लेख नही है। सम्भवतः भरत मुनि ने भक्ति को शान्त रस के अन्तर्गत माना हो क्योंकि उन्होंने शान्त रस से ही रति आदि अन्य भावों की अथवा शृङ्गार आदि सभी रसों की उत्पत्ति और अन्त में 'शान्त' रस में ही सब रसों का विलीन होना माना है—

'स्वं स्वं निमित्तमादाय शान्ताद्भावः प्रवर्तते,
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते।"

—नाट्य-शास्त्र ६, १०८।

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी नाट्य-शास्त्र की व्याख्या 'अभिनव भारती' में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

'तत्त्वज्ञानं तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानीयं सर्वस्थायिभ्यः स्थायितममिति।'

—पृ० ३३७

अर्थात् तत्त्वज्ञान तो सम्पूर्ण भावों की भित्तिस्थान रूप है, अतः सभी स्थायी भावों में स्थायतिम है। भरत मुनि द्वारा भक्ति रस को पृथक् न मानने के विषय में आचार्य अभिनवगुप्त का कहना है कि संसार से वैराग्य उत्पन्न होना आदि शान्त रस के जो विभाव, मोक्ष, शास्त्र का चिंतन आदि अनुभाव और निर्वेद, मति, स्मृति, धृति आदि व्यभिचारिभाव हैं, वे ही स्मृति, मति, धृति एवं उत्साह आदि भक्ति-रस के भी व्यभिचारी होते हैं, और ये शान्त रस के अन्तर्गत हैं यही कारण है कि भरतमुनि ने भक्ति को पृथक् रस नही माना है।[1]

किन्तु, आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार की—

'रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।

—ध्वन्यालोक २।३

इस कारिका को अविकल उद्धृत कर उसमें 'भाव' शब्द की व्याख्या में भक्ति को देव-विषयक-रतिभाव के अन्तर्गत मान लिया है—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः॥
भावः प्रोक्तः।

काव्यप्रकाश ४।३५

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में श्री अभिनवगुप्ताचार्य के लिये बड़े आदर के साथ—'श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यपादाः' का

१. देखो अभिनवभारती व्याख्या, गायकवाड़ सीरीज, प० ३३४–३४०

प्रयोग किया है और उनके मत का सिद्धान्त-रूप से रस-प्रकरण में उल्लेख किया है। अतएव प्रश्न होता है कि जब आचार्य अभिनवगुप्त ने भरत मुनि के मतानुसार भक्ति को शान्तरस के अन्तर्गत बताया है, फिर आचार्य मम्मट ने उनके इस मत को स्वीकार न करके 'भक्ति' को 'भाव' संज्ञा क्यो प्रदान की है ? प्रश्न वस्तुतः बड़ा मार्मिक और जटिल है। सम्भवत: इसका यह कारण था कि आचार्य मम्मट अपना स्वतन्त्र सिद्धान्त रखते थे। वे केवल साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् ही नही थे, किन्तु उत्कट समालोचक भी थे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि उन्होंने अपने काव्य-प्रकाश के, काव्य के दोष-प्रकरण में, अपने पूर्ववर्ती कालिदास आदि सुप्रसिद्ध महाकवियों के काव्यों के दूषणों का निस्संकोच उद्‌घाटन किया है। आचार्य मम्मट ध्वनिकार को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे और उनके मतानुयायी भी थे। तथापि आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार का दासवत् अनुसरण नही किया। रसों के विरोधाविरोध प्रकरण में ध्वनिकार ने लिखा है—

'विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदंगानां न दुष्यति ॥'

—ध्वन्यालोक ३।८६

अर्थात् सुकुमार-मति राजकुमार आदि को मधुरता-पूर्वक शिक्षा देने के लिये यदि शृङ्गार रस में उसके विरोधी रस का समावेश किया जाय तो दोष नहीं होता है। इसके उदाहरण-रूप में ध्वनिकार द्वारा दिये गये—

'सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः,
किन्तु मत्तांगनापांगभंगलोलं हि जीवितम्।'

इसी पद्य को उद्‌धृत कर आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार की इस प्रकार आलोचना की है—

'न तु विनेयोन्मुखीकरणमात्रपरिहारः।'

निष्कर्ष यह है कि आचार्य मम्मट ने भक्ति का शान्त रस के अन्तर्गत समावेश होना उचित नही समझा और इसीलिये उन्होंने आचार्य अभिनवगुप्त का अनुसरण नहीं किया।

भरत मुनि महाभारत के पूर्व-कालीन थे। वह औपनिषद् काल था। उस समय सम्भवतः भक्तिवाद प्रधान नहीं था अतएव भरत मुनि ने भक्तिरस को कोई महत्त्व नही दिया। परन्तु आचार्य मम्मट के समय में भक्तिवाद का प्रचुर प्रचार हो चुका था और संभवतः यही कारण था कि आचार्य मम्मट को साहित्य दृष्टि से भक्ति को पृथक् रस मानना आवश्यक प्रतीत हुआ। और उन्होंने शान्त रस के स्थायी भाव 'शम' या "वैराग्य" आदि को भक्ति के अनुकूल न समझकर 'भक्ति' को शान्त रस के अन्तर्गत

माना जाना भी उचित नही समझा और साथ ही उन्होंने भरत मुनि द्वारा निर्धारित रसों की नौ संख्या की मर्यादा को भी उलङ्घन करना उचित नही समझा। इसीलिए उन्होंने 'देव-विषयक रति' (भक्ति) को भावों के अन्तर्गत मानना उचित समझा। परिणाम यह हुआ कि गतानुगतिक-न्याय के अनुसार आचार्य मम्मट के आदर्श पर उनके परवर्ती सभी साहित्याचार्य भक्ति को भाव ही मानते चले आये हैं।

इस विषय पर रसगंगाधर में पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा किये गये विवेचन से भी यही सिद्ध होता है। उन्होंने पहले तो यह पूर्वपक्ष उठाया कि भक्ति को स्वतंत्र रस क्यों नही माना जाय ? यदि भरतमुनि द्वारा निर्दिष्ट नौ रसो की संख्या में परिवर्तन किया जाना उचित न समझा जाय तो कामिनी-विषयक रति के स्थान पर भक्ति को नौ रसों में और कामिनी-विषयक रति को भावों में स्थान क्यों न दिया जाय ? फिर इसके उत्तर में पण्डितराज ने यही कहा है कि ऐसा परिवर्तन करने में भरतमुनि द्वारा निर्धारित रस और भावों की व्यवस्था का उल्लङ्घन किया जाना उचित नहीं—

"भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावादिव्यवस्थास्थापकत्वेन स्वातंत्र्यायोगात्। .....रसानां नवत्वगणनाच्च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत।" —रसगंगाधर पृष्ठ ५०

इस विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि भक्ति को पृथक् रस न मानने का और उसे भाव के अन्तर्गत मानने का एकमात्र कारण साहित्यिक परिपाटी अथवा रूढ़ि मात्र है। वास्तव में शृङ्गारादि रसों की अपेक्षा—

'भक्ति' सर्वोपरि प्रधान रस है।

"रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। आनन्दाद् ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देदेव जातानि जीवन्ति॥"

इत्यादि श्रुति-प्रमाणों द्वारा और भगवान् वेदव्यास के

'अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्। वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दस्सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन। व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥

इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्मानन्द को ही रस के रसत्व का मूल आधार सभी साहित्याचार्यों ने स्वीकार किया है। साहित्याचार्यो ने रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर अर्थात् ब्रह्मानन्द के समान माना है। उनका मत है कि अज्ञान रूप आवरण से रहित जो चैतन्य है, उससे युक्त रति आदि स्थायी भाव ही 'रस' है। अथवा उपर्युक्त श्रुतियों के अनुसार रति आदि से युक्त और आवरण से रहित चैतन्य का नाम ही रस है—

"इत्थमभिनवमम्मटभट्टादिग्रंथस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिस्थायिभावो रस इति स्थितम्। वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः।"

विचारणीय यह है कि क्या शान्त रस के समान भक्ति-रस ब्रह्मानन्द-सहोदर नहीं है ? इस विषय में अद्वैत सिद्धि (वेदान्त-ग्रंथ) के प्रणेता परमहंस परिव्राजक श्री मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—

समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वात् ·····तस्मात्·····भक्ति-योगः पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वादिति निर्विवादम् । —भक्ति रसायन ।

अर्थात् समाधिजन्य ब्रह्मानन्द और भक्तिरसानन्द समान है । यह तो हुआ, अद्वैत वीथी के पथिक अव्यक्तोपासकों का मत । और इस रसानन्द के अनुभवी ध्रुव कहते हैं—

"या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म—
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किंत्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥"

—श्रीमद्भागवत, ४।९।१०

अर्थात् हे नाथ, शरीरधारियों को आपके पादारविन्द के ध्यान द्वारा जो परमानन्द उपलब्ध होता है, अथवा आपके भक्तों से आपके कथा-श्रवण द्वारा प्राप्त होता है, वह परमानन्द समाधि-जन्य ब्रह्मानन्द में भी प्राप्त नही हो सकता है, फिर काल-रूपी खड्ग से कटकर गिरते हुए विमान से गिरने वाले स्वर्ग-वासियों को तो उपलब्ध ही कहाँ हो सकता है । इसी प्रकार वृत्रासुर के प्रति स्वर्गाधिप इन्द्र कहते हैं—

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे ।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः ॥

—श्रीमद्भागवत, ६।१२।२२

श्रीमद्भागवत के अनेक प्रसङ्गों में भक्ति-रसानन्द को ब्रह्मानन्द से बढ़कर कहा गया है । अविद्याग्रन्थियों से निर्मुक्त आत्माराम मुनिजनों को भी भक्ति-रसानन्द बलात् अपनी तरफ़ आकर्षित कर लेता है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे,
कुर्वन्त्यहेतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥ १।७।१०

अतएव निर्विवाद सिद्ध होता है कि भक्ति-रसानन्द सर्वोपरि है । इसके अतिरिक्त शृङ्गारादि अन्य रसों के स्थायी भाव और विभावादि लौकिक होते हैं, किन्तु भक्ति रस के स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी सभी अलौकिक होते हैं । भक्ति रस के—

स्थायी भाव—भगवद्-विषयक अनुराग (रति) अलौकिक हैं।

आलम्बन विभाव—भगवान राम, कृष्ण आदि के अखिल विश्व-सौन्दर्य-निधि दिव्य विग्रह अलौकिक हैं।

अनुभाव—भगवान के अन्य प्रेम-जन्य अश्रु, रोमाञ्च आदि अलौकिक हैं।

व्यभिचारि-भाव—हर्ष, सुख, आवेग, चपलता, उन्माद, चिन्ता, दैन्य, धृति, स्मृति और मति आदि अलौकिक हैं। कहा है—

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥

श्रीमद्भागवत १।३।३२

दुःख और आश्चर्य है कि जिन साक्ष्याभास शृङ्गारादि रसों मे चिदानन्द के अंशांश के स्फुरण मात्र से रसानुभूति होती है, उनको 'रस' सज्ञा दी गई है और जो साक्षात् चिदानन्दात्मक भक्ति-रस है, उसे 'रस' न मान कर 'भाव' माना गया है। यही क्यों, क्रोध, भय और जुगुप्सा आदि स्थायी भावो को (जो प्रत्यक्षतः सुख-विरोधी हैं) रौद्र, करुण, भयानक और बीभत्स 'रस' की संज्ञा दी गई है।

यदि यह कहा जाय कि भगवद्-विषयक प्रेम मे आनन्द होने का क्या प्रमाण ? इसका यही उत्तर है कि (जिस प्रकार) शृङ्गारादि रसों के आस्वादन के प्रमाण के लिये साहित्याचार्य अनुभवी सहृदय जनों की ओर सकेत करते हैं, उसी प्रकार हमारा अनुरोध है कि यदि आपको शास्त्र-प्रमाण से सन्तोष नही होता है, तो भक्ति-रसास्वाद के लिए आप तदीय भक्तजनों से पूछिये और उन महानुभावों के सत्सङ्ग द्वारा आप स्वयं भी प्रत्यक्ष अनुभव करिये।

साहित्य-समीक्षा पृष्ठ ६६–७३

व्यंजना-शक्ति का प्रतिपादन

ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि काव्य में व्यंग्यार्थ ही सर्वोपरि पदार्थ है। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि व्यंग्यार्थ का बोध होना व्यंजना-शक्ति के ही आश्रित है। किन्तु मीमांसक आदि व्यंजना का मानना अनावश्यक बताते हैं—वे अभिधा और लक्षणा ही मानते हैं। इस गम्भीर विषय पर ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश में विस्तृत विवेचना की गई है। व्यंजना-शक्ति के विरोधियों की सारी दलीलों का आचार्य मम्मट ने बड़ा ही मार्मिक खण्डन किया है। उसी को यहाँ संक्षेप में लिखा जाता है।

व्यंजना-शक्ति की आवश्यकता का अनुभव करने के लिए सर्वप्रथम ध्वनि के भेदों पर विचार करना चाहिए।

ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—अविवक्षित-वाच्य और विवक्षितान्यपर-वाच्य। अविवक्षित-वाच्य के नाम से ही स्पष्ट है कि जिस अभिधा के बल पर व्यंजना को निर्मूल करने का साहस किया जाता है, उस अभिधा के अभिधेयार्थ (वाच्यार्थ) का अविवक्षित-वाच्य ध्वनि मे कुछ उपयोग ही नही होता। अविवक्षित-वाच्य के अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य में अभिधा का वाच्यार्थ, अनुपयोगी होने के कारण, दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाता है; जैसे 'कदली-कदली ही जु है' इत्यादि में[1]। और अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य में वाच्यार्थ सर्वदा ही छोड़ दिया जाता है, जैसे 'सुवरन फूलन की धरा' इत्यादि में[2]।

यदि यह कहा जाय कि अविवक्षित वाच्य ध्वनि में अभिधा का तो उपयोग नहीं होता है, परन्तु जब लक्षणा द्वारा ध्वन्यर्थ का प्रतिपादन हो सकता है, तब व्यंजना का आविष्कार करने की क्या आवश्यकता है? हाँ, यह ध्वनि लक्षणा-मूला अवश्य है और इसमें प्रयोजनवती लक्षणा रहती है, किन्तु लक्षणा तो केवल लक्ष्यार्थ का ही बोध करा सकती है। लक्षणा में जो प्रयोजन-रूप व्यंग्यार्थ होता है, जिसके लिए लक्षणा की जाती है, उसका लक्षणा कदापि बोध नही करा सकती। जैसे—

'गंगा पर घर' उदाहरण में अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है। इसमें लक्षणा केवल 'गंगा' शब्द का लक्ष्यार्थ 'तट' बोध करा सकती है। जिस प्रयोजन के लिए (अपने निवास-स्थान में शीतलता और पवित्रता का आधिक्य सूचित करने के लिए) इस वाक्य का प्रयोग किया है, वह लक्षणा द्वारा बोध नहीं हो सकता। अर्थात् लक्षणा में जिसे प्रयोजन कहा जाता है वह व्यंग्यार्थ ही है और वह व्यंजना का

---

१. रसमंजरी पृष्ठ ८५। २. वही पृष्ठ ८६।

व्यापार है। उस (प्रयोजन) का बोध केवल व्यंजना-शक्ति ही करा सकती है[1]। यदि 'गंगा पर घर' वाक्य में उक्त प्रयोजन न माना जायगा, तो वक्ता के ऐसे वाक्य कहने का अर्थ ही कुछ नहीं होगा। अतएव यह सिद्ध होता है कि व्यंग्यार्थ के बिना प्रयोजनवती लक्षणा नहीं हो सकती। और अविवक्षित वाच्य ध्वनि के व्यग्यार्थ का चमत्कार व्यंजना पर ही निर्भर है।

'विवक्षितान्यपर-वाच्य' ध्वनि में तो लक्षणा को कोई स्थान ही नही, क्योकि इसमें वाच्यार्थ का बोध नही होता, और वाच्यार्थ के बोध के बिना लक्षणा हो नहीं सकती। हाँ, अभिधा का उपयोग इस ध्वनि में होता है, क्योकि वाच्यार्थ विवक्षित रहता है, किन्तु वाच्यार्थ व्यंग्य-निष्ठ होता है। अर्थात् विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि के जो दो मुख्य भेद हैं, असलक्ष्य-क्रम व्यग्य और संलक्ष्य-क्रम व्यग्य, इनमें असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य तो रसभावादि हैं, वे न तो अभिधा के वाच्यार्थ ही हैं, और न लक्षणा के लक्ष्यार्थ। यदि वे वाच्यार्थ होते, तो रस अथवा शृगार आदि शब्दों के कह देने मात्र से ही उनका आनन्दानुभव होना चाहिए था। पर ऐसा होता नही है। शृगार-रस, शृंगार-रस कहने से ही कुछ आनन्द प्राप्त नही हो सकता, प्रत्युत रस या शृंगार आदि शब्दों का प्रयोग किए बिना ही विभावादिकों के व्यंजन-व्यापार द्वारा रस का आनन्दानुभव होने लगता है।

यदि यह कहा जाय कि विभावादिकों के वाचक जो दुष्यन्त आदि शब्द हैं, उनके बिना उन विभावादिको की प्रतीति नही होती, इसलिए रसादिकों को लक्षणा का लक्ष्यार्थ समझना चाहिए—व्यजना की व्यर्थ ही कल्पना क्यो की जाय ? इसका उत्तर यह है कि लक्षणा तो वही होती है, जहाँ मुख्यार्थ का बाध आदि तीन कारण होते हैं। किंतु जहाँ रसादि व्यक्त होते हैं, वहाँ मुख्यार्थ का बाध आदि नही होते।

संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य के शब्द-शक्ति-मूलक भेदों में अनेकार्थी शब्दों का प्रयोग होता है, अर्थात् जहाँ अनेकार्थी शब्द होते हैं, वही शब्द-शक्ति-मूलक संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य होता है। 'संयोग' आदि कारणों से अभिधा की शक्ति रुक जाने पर ही अनेकार्थ शब्दों का व्यंग्यार्थ व्यंजना द्वारा बोध होता है। अर्थ-शक्ति-मूलक भेदो में भी अभिधा वाच्यार्थ का बोध कराके हट जाती है। अतः वाच्यार्थ के पश्चात् जो वस्तु या अलंकार-रूप व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है, उसे अभिधा तो बोध करा ही नही सकती, और मुख्यार्थ का बोध न होने के कारण न वहाँ लक्षणा को ही स्थान मिल सकता है। ऐसी परिस्थिति में अर्थ-शक्ति-मूलक व्यग्यार्थ का बोध कराने के लिए एक तीसरी शक्ति की अपेक्षा रहती है, और वह शक्ति व्यंजना के सिवा और कौन हो सकती है?

व्यंग्यार्थ के ज्ञान के लिए व्यजना के माने जाने मे और भी बहुत से कारण हैं—

१. रसमंजरी पृष्ठ ६०-६१।

पर्याय शब्द—समान अर्थ के बोधक शब्दों का अभिधेयार्थ सर्वत्र एक ही रहता है, किन्तु व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

जैसे—

सोचनीय अब दो भए मिलन कपाली हेत;
कांतिमती वह सशिकला अरु तू कांति-निकेत।
(कुमारसंभव से अनुवादित)

तपश्चर्या-रत पार्वतीजी के प्रति ब्रह्मचारी का कपट-वेष धारण किए हुए श्रीशंकर की यह उक्ति है—'हे पार्वती, कपाली के (मुण्डमाला धारण करने वाले शिव के) समागम की इच्छा के कारण अब दो—एक तो चन्द्रमा की वह कान्तिमयी कला, और दूसरी नेत्रानन्द-दायिनी तू—शोचनीय दशा को प्राप्त हो गए हैं, अर्थात् पहले चन्द्रमा की कला ही शोचनीय थी, अब तू भी हो गई है, क्योंकि तू भी उसी मार्ग की पथिक होकर कपाली के समागम की इच्छा कर रही है'। यहाँ 'कपाली' के स्थान पर यदि 'पिनाकी' आदि उसी अर्थ के बोधक शब्द रख दिए जाएँ, तो भी वाच्यार्थ तो वही रहेगा—शंकर का बोधक ही होगा—पर 'कपाली' शब्द के प्रयोग में जो 'अशुद्ध नरकपाल धारण करने वाला' कहकर श्रीशंकर का अपने को अस्पृश्य सूचित करना है, वह व्यंग्यार्थ व्यजनावृत्ति द्वारा प्रतीत होता है, वह पर्याय शब्द से सूचित नही हो सकेगा। यदि व्यंजना न मानी जायगी, तो ऐसे पदों के प्रयोग में जो काव्य का महत्व है, वह सर्वथा लुप्त हो जाता है

प्रकरण, वक्ता, बोधव्य, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य, संख्या और विषय आदि की वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की भिन्नता के कारण भी व्यजना का माना जाना आवश्यक है। देखिए—

'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ तो सभी को एक यही बोध होगा कि 'सूर्य अस्त हो गया'—इसके सिवा दूसरा कोई वाच्यार्थ बोध नही हो सकता। किन्तु व्यग्यार्थ प्रकरणादि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होता है। यदि शत्रु पर आक्रमण करने के प्रकरण में सेनापति अपनी सेना के प्रति यह वाक्य कहेगा तो इसका व्यंग्यार्थ होग 'शीघ्र धावा करो, यह मौका अच्छा है'। यदि अभिसार के प्रकरण में दूती यह वाक्य नायिका से कहेगी तो इसका व्यंग्यार्थ होगा कि अभिसार के लिए प्रस्तुत हो। वासकसज्जा नायिका के प्रकरण में सखी के इस वाक्य में व्यंग्य होगा कि 'तेरा पति आना ही चाहता है।' भृत्य के प्रति स्वामी के इस वाक्य में 'अब हमे काम करने से निवृत्त होना चाहिए' यह व्यंग्य होगा। शिष्य के प्रति गुरु के इस वाक्य में 'सन्ध्यादि कर्म करने चाहिएं' यह व्यंग्य होगा। गोपालक के प्रति

गृहस्थ के इस वाक्य में 'गौओं को घर में ले आओ' यह व्यंग्य होगा। मृत्यों के प्रति दुकानदार के इस वाक्य में 'बिक्री की वस्तुओं को समेट कर रखो' यह व्यंग्य होगा। अपने साथियों के प्रति पथिक के इस वाक्य में 'अब कहीं विश्राम करना चाहिए' यह व्यंग्य होगा—इत्यादि इत्यादि। निष्कर्ष यह कि प्रकरण और वक्ता तथा बोद्धाओं की भिन्नता से एक ही वाक्य के भिन्न-भिन्न व्यंग्यार्थ होते हैं।

'अहो भगत निधरक विचर ···'[1] इस पद्य में उस भक्त को निश्शंक आने को कहा गया है, अतः वाच्यार्थ विधि-रूप है। पर व्यंग्यार्थ में आने का निषेध है, अतः व्यंग्यार्थ निषेध-रूप है। 'कुच के तट चन्दन छूटचो सबै ····'[2] इस पद्य में वाच्यार्थ निषेध-रूप है, पर व्यंग्यार्थ विधि-रूप है। इसी प्रकार—

पूछत हैं मतिमानन सों जन जे मति मत्सरता तें विहीन के।
सेवन जोग बताओ नितंब गिरीन के हैं अथवा तरुनीन के ?
त्यों चित ध्याइबे जोग है जोग वा भोग-विलास कहो रमनीन के?
औ तन लाइबे जोग बभूत है के मृदु अंग हैं चन्द-मुखीन के ?

ऐसे पद्यों में वाच्यार्थ संशयात्मक होता है। अर्थात् वाच्यार्थ द्वारा यह नहीं जाना जा सकता है कि यह किसी विरक्त की उक्ति है या किसी विलासी पुरुष की, किन्तु व्यंग्यार्थ द्वारा विरक्त वक्ता में शान्त-रस की और शृंगारी वक्ता में शृंगार-रस की व्यंजना निश्चयात्मक होती है।

और—

दूती तू उपकारिनी तो सम हितू न और।
अति सुकुमार सरीर में सहे जु छत हित-मोर॥

यहाँ वाच्यार्थ स्तुति-रूप है, और व्यंग्यार्थ निन्दा-रूप। ऐसे स्थलों में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में स्वरूप-भेद होने के कारण व्यंजना को मानना पड़ता है।

वाच्यार्थ प्रथम बोध हो जाता है, और व्यंग्यार्थ उसके पीछे प्रतीत होता है, अतः काल-भेद के कारण भी व्यंजना का मानना आवश्यक है।

वाच्यार्थ केवल शब्द ही में रहता है, किन्तु व्यंग्यार्थ शब्द, शब्द के एक अंश, शब्द के अर्थ और वर्णों की स्थापना विशेष में भी रहता है, जैसा 'ध्वनि' प्रकरण से स्पष्ट है। अतः आश्रय-भेद के कारण भी व्यंजना की आवश्यकता सिद्ध होती है।

वाच्यार्थ केवल व्याकरण आदि के ज्ञान-मात्र से ही हो सकता है, पर व्यंग्यार्थ केवल विशुद्ध प्रतिभा द्वारा काव्य-मार्मिकों को ही भासित हो सकता है—

---

१. रसमंजरी पृष्ठ २. वही—पृष्ठ

'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ;
वेद्यते स हि काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ।'

(ध्वन्यालोक उ०, १-७)

अतः यह निमित्त-भेद भी व्यंजना का प्रतिपादन करता है ।

वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ज्ञान होता है, पर व्यंग्यार्थ से चमत्कार (आस्वादन का आनन्द) उत्पन्न होता है, अतः यह कार्य-भेद भी व्यंजना के मानने का एक कारण है ।

और—

प्रिया-अधर छत-युत निरखि किहिके होइ न रोष ।
बरजत हू स-मधुप कमल सूँघत भई स-दोष ॥[1]

इसमें वाच्यार्थ का विषय वह नायिका है, जिसके अधर पर क्षत दीख पड़ता था, और जिसे यह वाक्य कहा गया है । 'अधर को भ्रमर ने काटा है, उपपति ने नहीं' इस व्यंग्य का विषय नायिका का पति है—उसी को सूचन करने के लिए यह व्यंग्योक्ति है । 'मैं अपने चातुर्य से इसका अपराध छिपा रही हूँ' यह जो दूसरा व्यंग्य है, उसका विषय पड़ोसिन है, क्योंकि यह बात पास में खड़ी हुई पड़ोसिन को व्यंग्योक्ति से सूचन की गई है । और 'मैंने इसके अपराध का समाधान कर दिया' इस तीसरे व्यंग्य का विषय नायिका की सपत्नी है । इस प्रकार वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में विषय-भेद होने के कारण भी व्यंजना का मानना परमावश्यक है । इसी प्रकार—

"मायके तें कब हौं कित ही निकसी न सदा घर ही महँ खेली;
'वृंद' कहैं अब हौं मनभावती आइकै खेलि हैं संग सहेली ।
कालि ही कंटक वृक्षन के लगि कंटक अंग कहा गति मेली ;
हौं बरजौं चित के हित तें वन-कुंजन में जिन जाय अकेली ।"

ये नायिका की सखी के वाक्य हैं । यहाँ वाच्यार्थ का विषय वह नायिका है, जिसके अंगों पर उपनायक द्वारा किए गए नख-क्षत दीख पड़ते हैं । 'इसके अंगों में,

---

१. उपपति द्वारा अपनी कान्ता के अधर को दष्ट देखकर, विदेश से आए हुए नायक के कुपित होने पर नायिका की चतुर सखी का, उसे निरपराध सिद्ध करने के लिये, नायक को सुनाते हुए, यह चातुर्य-गर्भित वाक्य है । हे सखि ! दंतक्षत-युक्त अपनी प्रिया के अधर को देखकर किसे रोष नहीं होता ? यह तेरा ही दोष है, जो मेरे रोकने पर भी तूने उस कमल को सूँघ ही तो लिया जिसके भीतर भौंरा बैठा हुआ था, और उसने तेरे अधर पर व्रण कर दिया । अब अपने पति के कोप को सहन कर ।

वन की कुंजों में, काँटे लग गए हैं (अर्थात् नख-क्षत नहीं है)'। इस व्यंग्यार्थ का विषय समीप में बैठा हुआ नायिका का पति है।

लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की विलक्षणता भी देखिए—

जिस लक्षणा-वृत्ति द्वारा लक्ष्यार्थ लक्षित होता है, वह लक्षणा मुख्यार्थ के बाध और मुख्यार्थ के सम्बन्ध आदि की अपेक्षा रखती है, किन्तु अभिधा-मूला व्यंजना में—विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में—मुख्यार्थ के बाध आदि की अपेक्षा नहीं रहती। क्योंकि ध्वनि में वाच्य-अर्थ विवक्षित रहता है और उसके द्वारा ही व्यंग्य-अर्थ प्रतीत होता है।

जिस प्रकार व्यंग्य-अर्थ अनेक प्रकार के होते हैं, उसी प्रकार लक्ष्यार्थ भी अनेक होते हैं, जैसे—'राम हौ कठोर हिय भुवन प्रसिद्ध में तो ·"[1] में 'राम हौं' का 'अनेक दुःखो को सहन करने वाला' लक्ष्यार्थ है।

और—

क्रूर निसाचर रावन ने निज बारुनता ही के जोग कियो वहि ;
उच्च कुलोचित तेरे हू जोग प्रिये ! रहिबो उत दुःखन को सहि।
पै रघुबंस लजाइ कै बीर कहाइ वृथा धनुबानन को गहि ;
प्रानन सों रखि मोह या राम ने हा ! कछु प्रेम के जोग कियो नहिं।

इसमें वियोगी श्रीरामचन्द्र जी जनकनन्दिनी को उद्देश्य करके कहते हैं—'रावण ने तेरा हरण करके अपनी क्रूरता और नीचता के योग्य ही कार्य किया, और तू अपने धर्म-पालन के कारण असह्य दुःख सहन कर रही है, वह भी उच्च कुलोत्पन्न तेरे योग्य ही है। किन्तु अपने प्राणों से मोह रखने वाले इस राम ने प्रेम का पालन नही किया'। वक्ता स्वयं राम है। अतः 'या राम ने' इस वाक्य में राम का अर्थ उपादान लक्षणा द्वारा 'कायर' होता है। इसी प्रकार—

दसहु बिसिन जाको सुजस मरुत सात-सुर गातु;
तात वही यह राम है त्रिभुवन-बल-विख्यातु।

(राघवानन्द-नाटक से अनूदित)

रावण के प्रति विभीषण की इस उक्ति में 'राम' पद का लक्ष्यार्थ है 'खर-दूषणादिकों का वध करने वाला'।

जिस प्रकार 'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य में अनेक व्यंग्य सूचित होते हैं, उसी प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों में 'राम' पद के लक्ष्यार्थ भी अनेक होते हैं। जैसे व्यंग्य के अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य आदि अनेक भेद होते हैं, वैसे ही लक्ष्यार्थ के भी अनेक भेद होते हैं। फिर लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद ही

१. रसमंजरी पृष्ठ ३२४

क्या है ? अतएव व्यंजना को लक्ष्यार्थ से पृथक् मानना अनावश्यक है। इसका समाधान यह है कि यद्यपि लक्ष्यार्थ भी अनेक अवश्य हो सकते हैं, पर लक्ष्यार्थ, एक या एक से अधिक, वाच्यार्थ की तरह नियत (मर्यादित) रहता है। क्योंकि जिस अर्थ का वाच्य-अर्थ के साथ नियत सम्बन्ध नहीं होता, उसकी लक्षणा नही हो सकती। अर्थात् जिस प्रकार अनेकार्थी शब्द का अभिधा द्वारा एक ही वाच्य-अर्थ हो सकता है, उसी प्रकार लाक्षणिक शब्द भी उसी एक अर्थ को लक्ष्य करा सकता है, जो वाच्य-अर्थ का नियत सम्बन्धी होता है। जैसे 'गंगा पर घर' में गंगा शब्द के प्रवाह-रूप वाच्य-अर्थ का नियत (नित्य)[1] सम्बन्धी 'तट' है, अतः तट ही में गंगा शब्द की लक्षणा हो सकती है, अन्य किसी अर्थ में नहीं। इस प्रकार लक्ष्य-अर्थ भी वाच्य-अर्थ की तरह नियत-सम्बन्ध में होता है, पर व्यंग्य-अर्थ प्रकरण आदि के द्वारा (१) नियत-सम्बन्ध मे, (२) अनियत-सम्बन्ध मे, और (३) सम्बन्ध-सम्बन्ध में होता है। जैसे—'हौ इत सोवत सास उत' में 'इच्छानुकूल विहार' रूप एक ही व्यग्य है, दूसरा कोई व्यंग्य नही, इसलिए यहाँ व्यग्यार्थ का वाक्य के साथ नियत सम्बन्ध है। 'प्रिया अधर-छत-युत निरखि····' मे विषय-भेद से अनेक व्यंग्य-अर्थ हैं। इन व्यंग्यो का एक ही ज्ञाप्य या बोध्य नही है, पर भिन्न-भिन्न हैं, अतएव अनियत सम्बन्ध है। और—

नाभि-कमल-थित विधिहि लखि रति-विपरीत लजाय।
ढकि दहिनो हरि-दृग कियो कमला तुरत उपाय।[2]

'हरि' पद से दक्षिण नेत्र की सूर्यरूपता व्यंग्य से सूचित होती है, क्योंकि पुराणो में विष्णु भगवान का दक्षिण नेत्र सूर्य-रूप और वाम नेत्र चन्द्र-रूप कहा गया है। दक्षिण नेत्र को ढक देने से सूर्य का अस्त होना दूसरा व्यंग्य सूचित होता है। सूर्यास्त पर कमल का संकुचित हो जाना तीसरा व्यंग्य है। कमल के संकुचित हो जाने पर ब्रह्मा का अदृश्य हो जाना यह चौथा व्यग्य है। और ब्रह्मा के अदृश्य हो जाने पर लज्जा का कारण न रहने से प्रतिबन्ध-रहित विलास-रूप पाँचवाँ व्यंग्य है। यहाँ उत्तरोत्तर सम्बन्ध से व्यंग्य की प्रतीति होती है, अर्थात एक व्यंग्य की प्रतीति हो जाने पर दूसरे व्यंग्य-अर्थ की प्रतीति होती जाती है, यही सम्बन्ध-सम्बन्धिता है। इस विवेचना से स्पष्ट है कि वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ विलक्षण है, और

---

१. प्रवाह के साथ तट का नित्य सम्बन्ध इसलिए है कि जल के प्रवाह का तट के साथ सदैव सम्बन्ध रहता है।

२. विपरीत रति के समय विष्णु भगवान के नाभि-कमल पर ब्रह्मा जी को देखकर लक्ष्मीजी ने लज्जित होकर उनका (विष्णु का) दाहिना नेत्र अपने हाथ से ढककर अपने रहस्य-दर्शन-जन्य लज्जा की रक्षा कर ली।

व्यंग्यार्थ का बोध अभिधा और लक्षणा द्वारा नहीं हो सकता है। अतएव व्यंजना-शक्ति का मानना अनिवार्यतः आवश्यक है।

महिम भट्ट के मत का खण्डन

महिम भट्ट व्यंजना और ध्वनि-सिद्धान्त के कट्टर विरोधी हैं। इन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त के खण्डन पर 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ लिखा है। इनका कहना है कि जिस व्यंजना-वृत्ति के आधार पर ध्वनि सिद्धान्त का विशाल भवन निर्माण किया गया है, वह व्यंजना पूर्व-सिद्ध अनुमान के अतिरिक्त कोई पृथक् पदार्थ नही है।

यहाँ यह समझ लेना उचित होगा कि 'अनुमान' किसे कहते हैं। अनुमान में साधन द्वारा साध्य सिद्ध किया जाता है। साधन कहते हैं हेतु या लिंग को—अनुमान किए जाने के कारण को, अर्थात् जिसके द्वारा अनुमान किया जाता है। साध्य या लिंगी उसे कहते हैं, जो अनुमान के ज्ञान का विषय हो, अर्थात् जिसका अनुमान किया जाय। जैसे धुएँ से अग्नि का अनुमान किया जाता है—'धुआँ' साधन (हेतु) है, और 'अग्नि' साध्य। क्योंकि धुएँ से यह अनुमान हो जाता है कि यहाँ धुआँ है, अतः यहाँ अग्नि भी है। अनुमान में व्याप्ति-सम्बन्ध रहता है, अर्थात् जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ वहाँ अग्नि भी अवश्य है। और यह व्याप्ति-सम्बन्ध ही अनुमान है।

महिम भट्ट कहते हैं कि जिसे तुम व्यंजक कहते हो—जिसके द्वारा व्यंग्यार्थ का ज्ञान होना बतलाते हो—वह अनुमान का साधन (हेतु) है। अर्थात् जिस प्रकार धुएँ से अग्नि का अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे माने हुए व्यंजक शब्द या अर्थ से उस अर्थ का, जिसे तुम व्यंग्यार्थ मानते हो, अनुमान हो जाता है।

अपने मत की पुष्टि में महिम भट्ट ने वे ही अनेक पद्य, जो ध्वनिकार ने ध्वनि के उदाहरणों में दिखाए हैं, उद्धृत करके उनमें 'अनुमान' होना सिद्ध किया है।

जैसे—

अहो भगत निधरक बिचर वह न स्वान इत आज।
हत्यो ताहि जो रहत हीं गोदा-तट मृगराज।

यह पद्य किसी कुलटा स्त्री द्वारा उस धार्मिक व्यक्ति से कहा हुआ है, जो उस कुलटा के एकान्तस्थल में पुष्प लेने के लिए प्रतिदिन आया करता था। ध्वनिकार ने कहा है—'इस पद्य के वाच्यार्थ में कुत्ते से डरने वाले उस धार्मिक को, सिंह द्वारा कुत्ते के मारे जाने से, निश्शंक आने के लिए कुलटा कह रही है। किन्तु व्यंग्यार्थ में उस कुलटा ने उसे, सिंह का भय दिखाकर, आने का निषेध किया है। क्योंकि

जो व्यक्ति कुत्ते से भयभीत होता था, वह उसी स्थान पर सिंह के रहने की बात सुनकर वहाँ जाने का किस प्रकार साहस कर सकता है। और यह निषेध व्यंग्यार्थ है।'

महिम भट्ट कहते हैं—'जिस वाच्यार्थ में निश्शंक आने के लिए कहा गया है, वह वाच्यार्थ ही न आने को कहने का साधन (हेतु) है, अर्थात् जिसको व्यंग्यार्थ बताया जाता है, वह व्यंजना का व्यापार नहीं, किन्तु वाच्यार्थ द्वारा ही उसका अनुमान हो जाता है। जैसे, अग्नि का अनुमान करने के लिए धुएँ का होना हेतु है, उसी प्रकार सिंह के होने की सूचना देना आने के निषेध का हेतु है। इसी प्रकार की दलीलों से उन्होने व्यंजना का खंडन किया है।

आचार्य मम्मट ने इन दलीलों का बड़ी सारगर्भित युक्तियों द्वारा खंडन किया है। श्री मम्मट कहते हैं—"सिंह का होना जो तुम अनुमान का हेतु बताते हो, वह अनैकान्तिक है—निश्चयात्मक नही। अनुमान वही हो सकता है, जहाँ हेतु निश्चयात्मक होता है। जैसे, अग्नि का अनुमान वही हो सकता है, जहाँ धुएँ का होना निश्चित है। यदि धुएँ के अस्तित्व में संशय है, तो अग्नि का अनुमान भी नही किया जा सकता। कुलटा द्वारा सिंह का होना बताए जाने में उस भक्त के वहाँ न आने का हेतु निश्चयात्मक नहीं है। क्योकि गुरु या स्वामी की आज्ञा से या अपने किसी प्रेमी के अनुराग से अथवा ऐसे ही किसी विशेष कारण से डरपोक व्यक्ति का भी भय वाले स्थान पर जाना हो सकता है। अतएव यहाँ हेतु नही—हेतु का आभास है। फिर वहाँ पर सिंह का होना, न तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है, और न अनुमान-सिद्ध ही। सिंह को बतलाने वाली एक कुलटा है, जिसका कथन आप्तवाक्य (सत्यवादी ऋषियों का वाक्य) नहीं हो सकता, प्रत्युत ऐसी स्त्रियों का झूठ बोलना तो स्वभाव-सिद्ध है। अतएव वहाँ सिंह है या नही ? यह भी सन्देहास्पद है। इस प्रकार व्याप्ति-सम्बन्ध, जिसका होना अनुमान के लिए परमावश्यक है, सन्दिग्ध है। ऐसी अवस्था में अनुमान सिद्ध नही होता। इसी प्रकार महिम भट्ट के सभी आक्षेपों का समुचित उत्तर देकर श्रीमम्मटाचार्य ने यह भली भाँति सिद्ध कर दिया है कि व्यंजना अवश्य है, और उसका व्यापार व्यंग्यार्थ, अनुमान का विषय किसी भी प्रकार नही हो सकता।

———

रामचन्द्र शुक्ल

[समय—सन् १८८४-१९४० ई०]

ग्रन्थ—चिन्तामणि (भाग प्रथम तथा द्वितीय), रस मीमांसा, जायसी ग्रन्थावली, भ्रमर-गीत-सार, गोस्वामी तुलसीदास

१—अलंकार-अलंकार्य का भेद

अलंकार-अलंकार्य का भेद मिट नहीं सकता। शब्द-शक्ति के प्रसंग मे हम दिखा आए हैं कि उक्ति चाहे कितनी ही कल्पनामयी हो उसकी तह मे कोई 'प्रस्तुत अर्थ' अवश्य ही होना चाहिए। इस अर्थ से या तो किसी तथ्य की या भाव की व्यंजना होगी। इस 'अर्थ' का पता लगाकर इस बात का निर्णय होगा कि व्यंजना ठीक हुई है या नही। अलंकारों (अर्थालंकारो) के भीतर भी कोई-न-कोई अर्थ व्यग्य रहता है, चाहे उसे गौण ही कहिए। उदाहरण के लिए पन्तजी की ये पक्तियाँ लीजिए—

"बाल्य-सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग-सी नित
इसी में था असीम अवसित।"

इसका प्रस्तुत अर्थ इस प्रकार कहा जा सकता है—'वह बालिका अपने बाल्य-जीवन के प्रवाह की सीमा के भीतर उछलती-कूदती थी। उसके उस बाल्य-जीवन में अत्यन्त अधिक और अनिर्वचनीय आनन्द प्रकट होता था।'

बिना इस प्रस्तुत अर्थ को सामने रखे, न तो कवि की उक्ति की समीचीनता की परीक्षा हो सकती है, न उसकी रमणीयता के स्थल ही सूचित किए जा सकते हैं। अब यह देखिए कि उक्त प्रस्तुत अर्थ को कवि की उक्ति सुन्दरता के साथ अच्छी तरह व्यंजित कर सकी है या नहीं। पहले 'बाल्य-सरिता' यह रूपक लीजिए। कोई अवस्था स्थिर नही होती, प्रवाह-रूप में बहती चली जाती है, इससे साम्य ठीक है। अब नदी की मूर्त्त भावना का प्रभाव लीजिये। नदी की धारा देखने से स्वच्छन्दता, द्रुतगति, चपलता, उल्लास आदि की स्वभावतः भावना होती है, अतः प्रभाव भी वैसा ही रम्य है जैसा भोली-भाली स्वच्छ-हृदय प्रफुल्ल और चंचल बालिका को देखने से पड़ता है। अतः कह सकते हैं कि यह रूपक समीचीन और रम्य है। बाल्यावस्था या कोई अवस्था हो उसकी दो सीमाएँ होती हैं—एक सीमा के पार व्यतीत अवस्था होती है दूसरी के पार आने वाली अवस्था। अतः 'दो कूलो' भी बहुत ठीक है। तरग नदी की सीमा के भीतर ही उछलती है, बालिका भी बाल्यावस्था के बीच स्वच्छन्द क्रीड़ा करती है। अतः 'तरग-सी' उपमा भी अच्छी है। असीम अर्थात् ब्रह्म अनन्त-आनन्द-स्वरूप है और उस बालिका में भी अपरिमित आनन्द का आभास मिलता है अतः यह कहना ठीक ही है कि मानो उस ससीम बाल्य-जीवन के भीतर असीम आनन्द-स्वरूप ब्रह्म ही आ बैठा

है। इसलिए यह प्रतीयमान उत्प्रेक्षा भी अनूठी है क्योंकि इसके भीतर 'अधिक' अलंकार के वैचित्र्य की भी झलक है।

यह सब समीक्षा प्रस्तुत-अप्रस्तुत का भेद समझ कर प्रस्तुत अर्थ को सामने रखने से ही सम्भव है।

(चिन्तामणि भाग २, पृष्ठ १८९-९१)

२—साधारणीकरण

जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप मे नही लाया जाता कि वह सामान्यत. सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमे रसोद्‌बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है। यह सिद्धान्त यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओ के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय मे हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।

(चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ २२७)

'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन मे जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है वह जैसे काव्य मे वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठको या श्रोताओ के भाव का आलम्बन हो जाती है। जिस व्यक्ति-विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना मे वह व्यक्ति-विशेष ही उपस्थित रहता है। हाँ, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या सस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति-विशेष के स्थान पर कल्पना मे उसी के समान धर्म वाली कोई मूर्त्ति-विशेष आ जाती है। जैसे, यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो शृगार-रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलम्बन-रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्त्ति ही उसकी कल्पना मे आएगी। यदि किसी से प्रेम न हुआ तो सुन्दरी की कोई कल्पित मूर्त्ति उसके मन में आएगी। कहने की आवश्यकता नही कि यह कल्पित मूर्त्ति भी विशेष ही होगी—व्यक्ति की ही होगी।

कल्पना में मूर्त्ति तो विशेष ही की होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाए जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओ या पाठको के मन में

एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। तात्पर्य यह कि आलम्बन-रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है। विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं—इसका तात्पर्य यही है कि रस-मग्न पाठक के मन मे यह भेद-भाव नही रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोडी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना अलग हृदय नही रहता।

(चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ २२९-३०)

३—रसात्मकता की दो कोटियाँ

'साधारणीकरण' के प्रतिपादन मे पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव-व्यंजना करने वाला पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है जिसमें आश्रय किसी काव्य या नाटक के पात्र के रूप में आलम्बन-रूप किसी दूसरे पात्र के प्रति किसी भाव की व्यंजना करता है। और श्रोता (या पाठक) उसी भाव का रस-रूप में अनुभव करता है। पर रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य-ग्रन्थों में विवेचन नही हुआ है। उसका भी विचार करना चाहिए। किसी भाव की व्यंजना करने वाला, कोई क्रिया व्यापार करने वाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता (या दर्शक) के किसी भाव का—जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का आलम्बन होता है। इस दशा मे श्रोता या दर्शक का हृदय उस पात्र के हृदय से अलग रहता है—अर्थात् श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नही करता जिसकी व्यंजना पात्र अपने आलम्बन के प्रति करता है, बल्कि व्यंजना करने वाले उस पात्र के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है। यह दशा भी एक प्रकार की रस-दशा ही है—यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उनके आलम्बन का साधारणीकरण नही रहता। जैसे, कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जगेगा। ऐसी दशा मे आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील-द्रष्टा या प्रकृति-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।

(चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ २३०-३१)

४—प्रत्यक्ष रसानुभूति

हमारा कहना यह है कि जिस प्रकार काव्य मे वर्णित आलम्बनों के कल्पना मे उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है उसी प्रकार हमारे भावो के कुछ आलम्बनो के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलम्बनो के सम्बन्ध मे लोक के साथ या कम से कम सहृदयो के साथ हमारा तादात्म्य रहता है। ऐसे विषयो या आलम्बनो के प्रति हमारा जो भाव रहता है वही भाव और भी बहुत से उपस्थित मनुष्यो का रहता है। वे हमारे और लोक के सामान्य आलम्बन रहते है। साधारणीकरण के प्रभाव से काव्य श्रवण के समय व्यक्तित्व का जैसा परिहार हो जाता है वैसा ही प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति के समय भी कुछ दशाओ मे होता है। अतः इस प्रकार की प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूतियो को रसानुभूति के अन्तर्गत मानने मे कोई बाधा नही। मनुष्य-जाति के सामान्य आलम्बनो के आँखो के सामने उपस्थित होने पर यदि हम उनके प्रति अपना भाव व्यक्त करेगे तो दूसरो के हृदय भी उस भाव की अनुभूति मे योग देगे और यदि दूसरे लोग भाव-व्यक्त करेगे तो हमारा हृदय योग देगा। इसके लिए आवश्यक इतना ही है कि हमारी आँखों के सामने जो विषय उपस्थित हो वे मनुष्य मात्र—सहृदय-मात्र—के भावात्मक सत्त्व पर प्रभाव डालने वाले हो। रस मे पूर्णतया मग्न करने के लिए काव्य मे भी यह आवश्यक होता है। जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप मे नही लाया जाता कि वह सामान्यत सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक रस मे पूर्णतया लीन करने की शक्ति उसमे नही होती। किसी काव्य मे वर्णित किसी पात्र का किसी अत्यन्त कुरूप और दु.शील स्त्री पर प्रेम हो सकता है, पर उस स्त्री के वर्णन द्वारा शृगार रस का आलम्बन नही खड़ा हो सकता। अत वह काव्य भाव-व्यजक मात्र होगा, विभाव का प्रतिष्ठापक कभी नही होगा। उसमे विभावन व्यापार हो ही न सकेगा। इसी प्रकार रौद्र रस के वर्णन मे जब तक आलम्बन का चित्रण इस रूप मे न होगा कि वह मनुष्य मात्र के क्रोध का पात्र हो सके तब तक वह वर्णन भाव-व्यजक मात्र रहेगा, उसका विभाव-पक्ष या तो शून्य होगा अथवा अशक्त। पर भाव और विभाव दोनो पक्षो के सामजस्य के बिना रस मे पूर्ण मग्नता हो नही सकती। अतः केवल भाव-व्यंजक काव्यो मे होता यह है कि पाठक या श्रोता अपनी ओर से अपनी कल्पना और रुचि के अनुसार आलम्बन का आरोप या आक्षेप किए रहता है।

जैसा कि ऊपर कह आए है रसात्मक अनुभूति के दो लक्षण ठहराए गए हैं :

(१) अनुभूति-काल मे अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार और

(२) किसी भाव के आलम्बन का सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात्

उस आलम्बन के प्रति सारे सहृदयो के हृदय में उसी भाव का उदय।

यदि हम इन दोनो बातों को प्रत्यक्ष उपस्थित आलम्बनों के प्रति जगने वाले भावों की अनुभूतियों पर घटा कर देखते हैं तो पता चलता है कि कुछ भावों में तो ये बाते कुछ ही दशाओं में या कुछ अंशों तक घटित होती है और कुछ में बहुत दूर तक या बराबर।

(चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ २४७-४६)

\+ \+ \+

अब प्रकृति के नाना रूपों पर आइए। अनेक प्रकार के प्राकृतिक दृश्यों को सामने प्रत्यक्ष देख हम जिस मधुर भावना का अनुभव करते हैं क्या उसे रसात्मक न मानना चाहिए? जिस समय दूर तक फैले हरे-भरे टीलो के बीच से घूम-घूम कर बहते हुए स्वच्छ नालो, इधर-उधर उभरी हुई बेडौल चट्टानो और रंग-बिरगे फूलों से गुथी हुई झाडियो की रमणीयता मे हमारा मन रमा रहता है, उस समय स्वार्थमय जीवन की शुष्कता और विरसता से हमारा मन कितनी दूर रहता है! यह रस दशा नही तो और क्या है? उस समय हम विश्व-काव्य के एक पृष्ठ के पाठक के रूप में रहते हैं। इस अनन्त दृश्य-काव्य के हम सदा कठपुतली की तरह काम करने वाले अभिनेता ही नही बने रहते, कभी-कभी सहृदय दर्शक की हैसियत को भी पहुँच जाते हैं। जो इस दशा को नही पहुँचते उनका हृदय बहुत सकुचित या निम्न कोटि का होता है। कविता उनसे बहुत दूर की वस्तु होती है, कवि वे भले ही समझे जाते हों। शब्द-काव्य की सिद्धि के लिए वस्तु-काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अतर्वृत्ति नही है बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है। हमारे यहाँ के आचार्यों ने स्पष्ट सूचित कर दिया है कि वासनारूप मे स्थित भाव ही रस-रूप में जगा करते हैं। यह वासना या सस्कार वंशानुक्रम से चली आती हुई दीर्घ भाव-परपरा का मनुष्य-जाति की अन्तः प्रकृति में निहित संचय है।

(चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ २५२-५३)

५—काव्य के विभाग

कुछ कवि और भक्त तो जिस प्रकार आनंद-मंगल के सिद्ध या आविर्भूत स्वरूप को लेकर सुख-सौंदर्यमय माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेम-व्यापार इत्यादि उपभोग-पक्ष की ओर आकर्षित होते हैं उसी प्रकार आनंद-मंगल की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर पीडा, बाधा, अत्याचार आदि के दमन मे तत्पर शक्ति के संचरण में भी उत्साह

क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गति-विधि में भी पूरी रमणीयता देखते हैं। जिस प्रकार प्रकाश को फैला हुआ देख कर मुग्ध होते हैं उसी प्रकार फैलने के पूर्व उसका अंधकार को हटाना देखकर भी। ये ही पूर्ण कवि हैं, क्योंकि जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर ये सौंदर्य का साक्षात्कार करते हैं। साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को ग्रहण करने वाले कुछ ऐसे कवि भी होते हैं जिनका मन सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष की ओर नही जाता, जैसे, भूषण। इसी प्रकार कुछ कवि या भावुक आनन्द के केवल सिद्ध स्वरूप या उपभोग-पक्ष में ही अपनी वृत्ति रमा सकते हैं। उनका मन सदा सुख-सौंदर्यमय माधुर्य, दीप्ति, उल्लास, प्रेम, क्रीड़ा इत्यादि के प्राचुर्य ही की भावना मे लगता है। इसी प्रकार की भावना या कल्पना उन्हें कला-क्षेत्र के भीतर समझ पड़ती है।

उपर्युक्त दृष्टि से हम काव्यों के दो विभाग कर सकते हैं—

(१) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले।

(२) आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले।

डंटन (थिओडर वाट्स-डंटन) ने जिसे शक्ति-काव्य (पोयेट्री एज एन एनर्जी) कहा है वह हमारे प्रथम प्रकार के अन्तर्गत आ जाता है जिसमें लोक-प्रवृत्ति को परिचालित करने वाला प्रभाव होता है, जो पाठको या श्रोताओं के हृदय मे भावों की स्थायी प्रेरणा उत्पन्न कर सकता है। पर डंटन ने शक्ति-काव्य से भिन्न को जो कला-काव्य (पोयेट्री एज एन आर्ट) कहा है वह कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन मान कर। वास्तव में कला की दृष्टि दोनों प्रकार के काव्यों में भी अपेक्षित है। साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों में भी यदि कला में चूक हुई तो लोक-गति को परिचालित करने वाला स्थायी प्रभाव न उत्पन्न हो सकेगा। यही तक नही, व्यजित भावों के साथ पाठकों की सहानुभूति या साधारणीकरण तक, जो रस की पूर्ण अनुभूति के लिये आवश्यक है, न हो सकेगा। यदि 'कला' का वही अर्थ लेना है जो कामशास्त्र की चौसठ कलाओ मे है—अर्थात् मनोरंजन या उपभोग मात्र का विधायक—तो काव्य के सम्बन्ध में दूर ही से इस शब्द को नमस्कार करना चाहिए।

(रस-मीमांसा, पृष्ठ ५६-५८)

\+ \+ \+

जैसा ऊपर कह आए हैं, मंगल-अमंगल के द्वन्द्व मे कवि लोग अन्त मे मंगल-शक्ति की जो सफलता दिखा दिया करते हैं उसमें सदा शिक्षावाद (डिडेक्टिज्म) या अस्वाभाविकता की गन्ध समझ कर नाक-भौं सिकोड़ना ठीक नही। अस्वाभाविकता तभी आएगी जब बीच का विधान ठीक न होगा अर्थात् जब प्रत्येक अवसर पर सत्पात्र

सफल और दुष्ट पात्र विफल या ध्वस्त दिखाए जायँगे। पर सच्चे कवि ऐसा कभी नही करते। इस जगत् मे अधर्म प्रायः दुर्दमनीय शक्ति प्राप्त करता है जिसके सामने धर्म की शक्ति बार-बार उठकर व्यर्थ होती रहती है। कवि जहाँ मगल-शक्ति की सफलता दिखाता है वहाँ कला की दृष्टि से सौदर्य का प्रभाव डालने के लिये; धर्म-शासक की हैसियत से डराने के लिये नही कि यदि ऐसा करोगे तो ऐसा फल पाओगे। कवि कर्म-सौदर्य के प्रभाव द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति अन्तःप्रकृति मे उत्पन्न करता है, उसका उपदेश नही देता।

कवि सौन्दर्य से प्रभावित रहता है और दूसरो को भी प्रभावित करना चाहता है। किसी रहस्यमयी प्रेरणा से उसकी कल्पना मे कई प्रकार के सौन्दर्यों का जो मेल आप से आप हो जाया करता है उसे पाठक के सामने भी वह प्रायः रख देता है जिस पर कुछ लोग कह सकते है कि ऐसा मेल क्या ससार मे बराबर देखा जाता है ? मंगल-शक्ति के अधिष्ठान राम और कृष्ण जैसे पराक्रमशाली और धीर हैं वैसा ही उनका रूप-माधुर्य और उनका शील भी लोकोत्तर है। लोक-हृदय आकृति और गुण, सौन्दर्य और सुशीलता, एक ही अधिष्ठान मे देखना चाहता है। इसीसे 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' सामुद्रिक की यह उक्ति लोकोक्ति के रूप मे चल पड़ी। 'नैषध' मे नल हंस से कहते हैं—

न तुला-विषये तवाकृतिर्न वचो वर्त्मनि ते सुशीलता।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रिक-सार-मुद्रणा॥

(नैषधीय चरित, द्वितीय सर्ग, ५)

भीतरी और बाहरी सौदर्य, रूप-सौदर्य और कर्म-सौदर्य के मेल की यह आदत धीरोदात्त आदि भेद-निरूपण से बहुत पुरानी है और बिलकुल छूट भी नही सकती। यह हृदय की एक भीतरी वासना की तुष्टि के हेतु कला की रहस्यमयी प्रेरणा है।

(रस-मीमांसा, पृष्ठ ६१-६२)

\+ \+ \+

कर्म-सौन्दर्य के जिस स्वरूप पर मुग्ध होना मनुष्य के लिये स्वाभाविक है और जिसका विधान कवि-परम्परा बराबर करती चली आ रही है, उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करने और कर्म-सौन्दर्य के एक दूसरे पक्ष मे ही—केवल प्रेम और भ्रातृ-भाव के प्रदर्शन और आचरण मे ही—काव्य का उत्कर्ष मानने का जो एक नया फैशन टालस्टाय के समय से चला है वह एकदेशीय है। दीन और असहाय जनता को निरन्तर पीड़ा पहुँचाते चले जाने वाले क्रूर आततायियो को उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा माँगने और

प्रेम जताने तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा करने में ही कर्तव्य की सीमा नही मानी जा सकती, कर्म-क्षेत्र का एकमात्र सौन्दर्य नही कहा जा सकता। मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेगे। काव्य-कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विकास मे दिखाई पड़ती है।

(रस-मीमांसा, पृष्ठ ६४-६५)

६—काव्य का लक्ष्य

काव्य या कवि-कर्म के लक्ष्य को हम क्रम से तीन भागों मे बाँट सकते हैं—

(१) शब्द-विन्यास द्वारा श्रोता का ध्यान आकर्षित करना।

(२) भावो का स्वरूप प्रत्यक्ष करना।

(३) नाना पदार्थों के साथ उनका प्रकृत सम्बन्ध प्रत्यक्ष करना। मेरी समझ में काव्य का अन्तिम लक्ष्य तीसरा है। यह दूसरी बात है कि अपनी शक्ति के अनुसार कोई पहली सीढी पर रह जाता है, कोई दूसरी ही तक पहुँच पाता है। श्रोता के सम्बन्ध मे यदि हम पहले दो विभागो का ही विचार करते है तो कविता केवल आनन्द या मनोरंजन की वस्तु प्रतीत होती है।

(रस-मीमांसा, पृष्ठ ८८)

× × ×

सच्चे काव्य मे सहज भाव प्रधान होता है, आरोपित नही। उसमे कवि, पात्र और श्रोता तीनो के हृदय का समन्वय होता है जिससे काव्य का जो प्रकृत लक्ष्य है, पदार्थों के साथ भावो के प्रकृत सम्बन्ध का प्रत्यक्षीकरण-जगत् के साथ हमारी रागात्मिकता वृत्ति का सामजस्य--वह सिद्ध हो जाता है। ऐसे ही काव्य अमर या चिरस्थायी होते हैं जिनमे मनुष्य मात्र अपने भावों के आलबन पाते हैं।

जो काव्य न कवि की अनुभूति से सम्बन्ध रखते है न श्रोता की, उनमें केवल कल्पना और बुद्धि के सहारे भावों के स्वरूप का प्रदर्शन होता है। यदि हम किसी भाव के स्वरूप-प्रदर्शन मात्र का विचार करते हैं श्रोता के हृदय मे उसके संचार का नही, तो कविता केवल ऊपरी दिल-बहलाव या मनोरंजन की वस्तु प्रतीत होती है और कवि का कार्य चित्रकार के कार्य से अधिक महत्त्व का नही जान पडता। जैसे चित्रकार नाना रंगों के मेल से पहले लोगों का ध्यान चित्र की ओर ले जाता है फिर आकार और भाव प्रदर्शित करके उनका मनोरंजन करता है वैसे ही कवि भी अपने सुन्दर और चटकीले शब्दों द्वारा श्रोता या पाठक को आकर्षित करता है, फिर किसी भाव का स्वरूप

दिखाकर बैठे-ठाले लोगो को एक प्रकार के आनन्द का अनुभव करा देता है।

(रस-मीमांसा, पृष्ठ ९७-९८)

७—प्रकृति-वर्णन और रस

मै समझता हूँ, अब यह दिखाने के लिये और अधिक प्रयास की आवश्यकता नही है कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रति-भाव के स्वतन्त्र आलम्बन हैं, उनमें सहृदयों के लिये सहज आकर्षण वर्तमान है। इन दृश्यों के अन्तर्गत जो वस्तुएँ और व्यापार होगे उनमें जीवन के मूल स्वरूप और मूल परिस्थिति का आभास पाकर हमारी वृत्तियाँ तल्लीन होती हैं। जो व्यापार केवल मनुष्य की अधिक समुन्नत बुद्धि के परिणाम होगे, जो उसके आदिम जीवन से बहुत इधर के होगे, उनमे प्राकृतिक या पुरातन व्यापारो की-सी तल्लीन करने की शक्ति न होगी। जैसे, 'सीतल गुलाब-जल भरि चहबच्चन मे' बैठे हुए कविजी की अपेक्षा तलैया के कीचड़ मे बैठकर जीभ निकाल-निकाल हाँफते हुए कुत्ते का अधिक प्राकृतिक व्यापार कहा जायगा। इसी प्रकार शिशिर में दुशाला ओढ़े 'गुल-गुली गिलमें, गलीचा' बिछाकर बैठे हुए स्वाँग से धूप मे खपरैल पर बैठी बदन चाटती हुई बिल्ली में अधिक प्राकृतिक भाव है। पुतलीघर मे एंजिन चलाते हुए देशी साहब की अपेक्षा खेत में हल चलाते हुए किसान मे अधिक स्वाभाविक आकर्षण है। विश्वास न हो तो भवभूति और कालिदास से पूछ लीजिए।

जब कि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावों के आलम्बन हैं तब इस शंका के लिये कोई स्थान ही नही रहा कि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कौन-सा रस है? जो-जो पदार्थ हमारे किसी-न-किसी भाव के विषय हो सकते हैं उन सबका वर्णन रस के अन्तर्गत है, क्योकि 'भाव' का ग्रहण भी रस के समान ही होता है। यदि रति-भाव के रस-दशा तक पहुँचने की योग्यता 'दाम्पत्य रति' मे ही मानिए तो पूर्ण भाव के रूप मे भी दृश्यों का वर्णन कवियो की रचनाओ मे बराबर मिलता है। जैसे काव्य के किसी पात्र का यह कहना कि 'जब मै इस पुराने आम के पेड़ को देखता हूँ तब इस बात का स्मरण हो आता है कि यह वही है जिसके नीचे मैं लडकपन मे बैठा करता था, और सारा शरीर पुलकित हो जाता है, मन एक अपूर्व भाव में मग्न हो जाता है।' विभाव, अनुभाव और संचारी से पुष्ट भाव-व्यंजना का उदाहरण होगा।

(रस-मीमांसा, पृष्ठ १४२-४३)

८—भाव

भाव उस विशेष रूप के चित्त-विकार को कहते हैं जिसके अन्तर्गत विषय के स्वरूप की धारणा, सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति का बोध और प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा पूर्वापर सम्बद्ध संघटित हों। संक्षेप में—

प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ संश्लेष का नाम 'भाव' है।

मन के प्रत्येक वेग को भाव नही कह सकते, मन का वही वेग 'भाव' कहला सकता है जिसमे चेतना के भीतर आलम्बन आदि प्रत्यय रूप से प्रतिष्ठित होगे।

मनोविज्ञानियो के अनुसार प्रधान भाव हैं—क्रोध, भय, हर्ष, शोक घृणा, आश्चर्य और जिज्ञासा। भाव-विधान के भीतर जिस प्रकार प्रवृत्तियाँ है उसी प्रकार मनोवेग मात्र भी हैं जिन्हे आलम्बन-प्रधान न होने के कारण हम 'भाव' नही कह सकते, जैसे चकपकाहट, घबराहट, सोने या टहलने को जी करना इत्यादि। इच्छा भी एक प्रकार का मनोवेग ही है, पर 'भाव' तक पहुँचता हुआ स्वतन्त्र विधान नही। उसका अपना कोई लक्ष्य नही होता, दूसरे भावो के लक्ष्य को लेकर वह चलता है। उसमे निश्चयात्मिका बुद्धि का योग अधिक होता है। उसमे दूरस्थ लक्ष्य या परिणाम की धारणा अधिक स्फुट होती है इससे वेग की मात्रा कम होती है। पर इस 'इच्छा' से स्थिति-भेद के अनुसार कुछ संचारी भावों की उत्पत्ति होती है, जैसे इच्छा की पूर्ति के अच्छे लक्षण दिखाई देने पर आशा, पूर्ति में विलम्ब होने से व्याकुलता, पूर्ति न होने से नैराश्य, पूर्ति की ओर अथेष्ट अवसर न हो सकने पर विषाद इत्यादि।

(रस-मीमासा, पृष्ठ १६८-१६९)

९—भारतीय काव्य में प्रेम-पद्धति

(१) सबसे पहले उस प्रेम को लीजिए जो आदि-काव्य रामायण में दिखाया गया है। उसका विकास विवाह-सम्बन्ध हो जाने के पीछे और पूर्ण उत्कर्ष जीवन की विकट स्थितियों मे दिखाई पड़ता है। राम के वन जाने की तैयारी के साथ ही सीता के प्रेम का स्फुरण होता है, सीता-हरण होने पर राम के प्रेम की कांति सहसा फूटती हुई दिखाई पड़ती है। वन के जीवन में इस पारस्परिक प्रेम की आनन्द-विधायिनी शक्ति लक्षित होती है और लंका की चढ़ाई मे इसका तेज, साहस और पौरुष। यह प्रेम अत्यन्त स्वाभाविक, शुद्ध और निर्मल है। यह विलासिता या कामुकता के रूप में हमारे सामने नहीं आता बल्कि मनुष्य-जीवन के बीच एक मानसिक शक्ति के रूप में दिखाई पड़ता है। उभय पक्ष मे सम होने पर भी नायक-पक्ष मे यह कर्त्तव्य-बुद्धि द्वारा कुछ संयत-सा दिखाई पड़ता है।

(२) दूसरे प्रकार का प्रेम विवाह के पूर्व का होता है, विवाह जिसका फल-स्वरूप होता है। इसमे नायक-नायिका संसार-क्षेत्र मे घूमते-फिरते हुए कही—जैसे उपवन, नदी तट, वीथी इत्यादि में—एक दूसरे को देख मोहित होते हैं और दोनो में प्रीति हो जाती है। अधिकतर नायक की ओर से नायिका का प्रयत्न होता है। इसी प्रयत्न-काल मे सयोग और विप्रलभ दोनो के अवसरो का सन्निवेश रहता है और विवाह हो जाने पर प्रायः कथा की समाप्ति हो जाती है। इसमें कही बाहर घूमते-फिरते साक्षात्कार होता है इससे मनुष्य के आदिम प्राकृतिक जीवन की स्वाभाविकता बनी रहती है। अभिज्ञान-शाकुन्तल, विक्रमोर्वशी आदि की कथा इसी प्रकार की हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने सीता और राम के प्रेम का आरम्भ विवाह से पूर्व दिखाने के लिए ही उनका जनक की वाटिका मे परस्पर साक्षात्कार कराया है। पर साक्षात्कार और विवाह के बीच के थोड़े से अवकाश में परशुराम वाले झमेले को छोड़ प्रयत्न का कोई विस्तार दिखाई नही पड़ता। अतः रामकथा को इस दूसरे प्रकार की प्रेम-कथा का स्वरूप न प्राप्त हो सका।

(३) तीसरे प्रकार के प्रेम का उदय प्रायः राजाओं के अन्तःपुर, उद्यान आदि के भीतर भोग-विलास या रंग-रहस्य के रूप मे दिखाया जाता है, जिसमें सपत्नियों के द्वेष, विदूषक आदि के हास-परिहास और राजाओ की स्त्रैणता आदि का दृश्य होता है। उत्तर काल के संस्कृत नाटकों में इसी प्रकार के पौरुषहीन, निःसार और विलासमय प्रेम का प्रायः वर्णन हुआ है, जैसे रत्नावली, प्रियदर्शिका, कर्पूरमंजरी इत्यादि में। इसमें नायक को कही बाहर वन, पर्वत आदि के बीच नही जाना पड़ा है; वह घर के भीतर ही लुकता-छिपता, चौकड़ी भरता दिखाया गया है।

(४) चौथे प्रकार का वह प्रेम है जो गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन आदि से बैठे बिठाए उत्पन्न होता है और नायक या नायिका को सयोग के लिये प्रयत्नवान करता है। ऊषा और अनिरुद्ध का प्रेम इसी प्रकार का समझिये जिसमे प्रयत्न स्त्री-जाति की ओर से होने के कारण कुछ अधिक विस्तार या उत्कर्ष नही प्राप्त कर सकता है। पर स्त्रियों का प्रयत्न भी यह विस्तार या उत्कर्ष प्राप्त कर सकता है इसकी सूचना भारतेंदु ने 'पगन मे छाले पर, नांघिबे को नाले परे, तऊ लाल, लाले परे रावरे दरस को' द्वारा दिया है।

इन चार प्रकार के प्रेमों का वर्णन नए और पुराने भारतीय साहित्य में है। ध्यान देने की बात यह है कि विरह की व्याकुलता और असह्य वेदना स्त्रियों के मत्थे अधिक मढी गई है। प्रेम के वेग की मात्रा स्त्रियों मे अधिक दिखाई गई है। नायक के दिन-

दिन क्षीण होने, विरह-ताप मे भस्म होने, सूख कर ठठरी होने के वर्णन मे कवियों का जी उतना नही लगा है। बात यह है कि स्त्रियों की शृगार-चेष्टा वर्णन करने मे पुरुषो को जो आनन्द आता है, वह पुरुषों की दशा वर्णन करने में नही। इसी से स्त्रियों का विरह-वर्णन तो हिन्दी काव्य का एक प्रधान अंग ही बन गया। ऋतु-वर्णन केवल इसी की बदौलत रह गया।

(जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ २६-२७)

१०—प्रबन्ध-कल्पना

किसी प्रबन्ध-कल्पना पर और कुछ विचार करने के पहले यह देखना चाहिए कि कवि घटनाओं को किसी आदर्श परिणाम पर ले जाकर तोड़ना चाहता है अथवा यो ही स्वाभाविक गति पर छोड़ना चाहता है। यदि कवि का उद्देश्य सत् और असत् के परिणाम दिखाकर शिक्षा देना होगा तो वह प्रत्येक पात्र का परिणाम वैसा ही दिखाएगा जैसा न्याय-नीति की दृष्टि से उसे उचित प्रतीत होगा। ऐसे नपे-तुले परिणाम काव्य-कला की दृष्टि से कुछ कृत्रिम जान पड़ते हैं।

"छार उठाइ लीन्ह एक मूठी। दीन्ह उठाइ पिरिथिवी झूठी।"

प्रबन्ध-काव्य मे मानव-जीवन का एक पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटनाओं की संबद्ध शृखला और स्वाभाविक क्रम के ठीक-ठीक निर्वाह के साथ-साथ हृदय को स्पर्श करने वाले, उसे नाना भावो का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसगो का समावेश होना चाहिए। इतिवृत्त मात्र के निर्वाह से रसानुभव नही कराया जा सकता। उसके लिए घटना-चक्र के अन्तर्गत ऐसी वस्तुओ और व्यापारो का प्रतिबिबवत् चित्रण होना चाहिए जो श्रोता के हृदय मे रसात्मक तरगे उठाने में समर्थ हो। अतः कवि को कही तो घटना का संकोच करना पड़ता है और कही विस्तार।

घटना का संकुचित उल्लेख तो केवल इतिवृत्त मात्र होता है। उसमे एक-एक ब्यौरे पर ध्यान नही दिया जाता और न पात्रों के हृदय की झलक दिखाई जाती है प्रबन्ध-काव्य के भीतर ऐसे स्थल रस-पूर्ण स्थलो की केवल परिस्थिति की सूचना देते हैं। इतिवृत्त-रूप इन वर्णनो के बिना उन परिस्थितियो का ठीक परिज्ञान नही हो सकता जिनके बीच पात्रो को देख कर श्रोता उनके हृदय की अवस्था का अपनी सहृदयता के अनुसार अनुमान करते हैं। यदि परिस्थिति के अनुकूल पात्र के भाव नही हैं तो विभाव, अनुभाव और सचारी द्वारा उनकी अत्यन्त विशद व्यजना भी फीकी लगती है। प्रबन्ध और मुक्तक मे यही बडा भारी भेद होता है। मुक्तक मे किसी भाव की रस-पद्धति के अनुसार अच्छी व्यंजना हो गई, बस। पर प्रबन्ध में इस बात पर भी ध्यान रहता है

कि वह भाव परिस्थिति के अनुरूप है या नही। पात्र की परिस्थिति भी सहृदय श्रोता के हृदय मे भाव का उद्‌बोधन करती है। उसके ऊपर से जब श्रोता के भाव के अनुकूल उसकी पूर्ण व्यंजना भी पात्र द्वारा हो जाती है तब रस की गहरी अनुभूति उत्पन्न होती है। "वनवासी राम स्वर्ण मृग को मार जब कुटी पर लौटे तब देखा कि सीता नही है" यह इतिवृत्त मात्र है, पर यह सहृदयों के हृदय को उस दुःखानुभव की ओर प्रवृत्त कर देता है जिसकी व्यंजना राम ने अपने विरह-वाक्यों में की। इसी बात को ध्यान में रखकर विश्वनाथ ने कहा है कि प्रबन्ध के रस से नीरस पद्यों में भी रसवत्ता मानी जाती है—रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्तांगीकारात्।

जिनके प्रभाव से सारी कथा में रसात्मकता आ जाती है वे मनुष्य-जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल हैं जो कथा-प्रवाह के बीच-बीच मे आते रहते हैं। यह समझिये कि काव्य मे कथा-वस्तु की गति इन्ही स्थलो तक पहुँचने के लिये होती है।

(जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ ६६-६७)

११—सम्बन्ध-निर्वाह

हमारे आचार्यों ने कथा-वस्तु दो प्रकार की कही है—आधिकारिक और प्रासंगिक। अतः सम्बन्ध-निर्वाह पर विचार करते समय सबसे पहले तो यह देखना चाहिये कि प्रासंगिक कथाओ का जोड़ आधिकारिक वस्तु के साथ अच्छी तरह मिला हुआ है या नही अर्थात् उनका आधिकारिक वस्तु के साथ ऐसा सम्बन्ध है या नही जिससे उसकी गति में कुछ सहायता पहुँचती हो। जो वृत्तान्त इस प्रकार सम्बद्ध न होगे वे ऊपर से व्यर्थ ठूँसे हुए मालूम होगे चाहे उनमें कितनी ही अधिक रसात्मकता हो। हितोपदेश में एक कथा के भीतर कोई जो दूसरी कथा कहने लगता है या अलिफलैला में एक कहानी के भीतर का कोई पात्र जो दूसरी कहानी छेड़ बैठता है वह मुख्य कथा-प्रवाह से सम्बद्ध नही की जा सकती।

यह तो हुई प्रासंगिक कथा की बात जिसमे प्रधान नायक के अतिरिक्त किसी अन्य का वृत्त रहता है। अब आधिकारिक वस्तु की योजना पर आइए। सबसे पहले तो यह प्रश्न उठता है कि प्रबन्ध-काव्य में क्या जीवनचरित के समान उन बातों का विवरण होना चाहिए जो नायक के जीवन में हुई हो। संस्कृत के प्रबन्ध-काव्यों को देखने से पता चलता है कि कुछ में तो इस प्रकार का विवरण होता है और कुछ में नहीं, कुछ की दृष्टि तो व्यक्ति पर होती है और कुछ की किसी प्रधान घटना पर। जिनकी दृष्टि व्यक्ति पर होती है उनमें नायक के जीवन की सारी मुख्य घटनाओं का वर्णन—

गौरव-वृद्धि या गौरव-रक्षा के ध्यान से अवश्य कही-कहीं कुछ उलट-फेर के साथ होता है। जिनकी दृष्टि किसी मुख्य घटना पर होती है उनका सारा वस्तु-विन्यास उस घटना के उपक्रम के रूप में होता है। प्रथम प्रकार के प्रबन्धों को हम व्यक्ति-प्रधान कह सकते हैं जिसके अन्तर्गत रघुवंश, बुद्धचरित, विक्रमांकदेवचरित आदि हैं। दूसरे प्रकार के घटना-प्रधान प्रबन्धो के अन्तर्गत कुमारसंभव, किरातार्जुनीय, शिशुपाल-वध आदि हैं। पद्मावत को इसी दूसरे प्रकार के अन्तर्गत समझना चाहिए।

कहने की आवश्यकता नही कि दृश्य-काव्य का स्वरूप भी घटना-प्रधान ही होता है। अतः इस प्रकार के प्रबन्ध के वस्तु-विन्यास की समीक्षा बहुत-कुछ दृश्य-काव्य के वस्तु-विन्यास के समान ही होनी चाहिए। जैसे दृश्य-काव्य का वैसे ही प्रत्येक घटना-प्रधान प्रबन्ध-काव्य का एक 'कार्य' होता है जिसके लिये घटनाओ का सारा आयोजन होता है, जैसे, रामचरित में रावण का वध। अतः घटना-प्रधान प्रबन्ध-काव्य में उन्ही वृत्तान्तो का सन्निवेश अपेक्षित होता है जो उस साध्य 'कार्य्य' के साधन-मार्ग मे पड़ते हैं अर्थात् जिनका उस कार्य्य से सम्बन्ध होता है। प्राचीन यवन आचार्य अरस्तू ने इसका विचार अपने 'काव्य-सिद्धान्त' के आठवे प्रकरण मे किया है और यह अब भी पाश्चात्य समालोचको में 'कार्यान्वय' (यूनिटि आफ एक्शन) के नाम से प्रसिद्ध है।

(जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ ७०-७१)

१२—चमत्कार-पद्धति और रस-पद्धति

यहाँ पर चमत्कार-पद्धति और रस-पद्धति मे जो भेद है उसे स्पष्ट करने का थोड़ा प्रयत्न करना चाहिए। किसी वस्तु के वर्णन या किसी तथ्य के कथन मे बुद्धि को दौड़ाकर यदि ऐसी वस्तु या प्रसग की योजना की जाय जिसकी ओर प्रस्तुत वस्तु या प्रसंग के सम्बन्ध मे श्रोता का ध्यान पहले कभी न गया हो और जो इस कारण बिलकुल नया या विलक्षण लगे तो एक प्रकार का कुतूहल उत्पन्न होगा। यही कुतूहल उत्पन्न करना चमत्कार का उद्देश्य है। रस-सचार के निमित्त जो कथन किया जाता है उसमें भी कभी-कभी साधारण से कुछ और ढग पकड़ना पड़ता है (क्या ढंग पकड़ना पड़ता है इस पर और कभी विचार किया जायगा) पर उसमे यह उद्देश्य मुख्य नही होता कि जिस वस्तु या प्रसग की योजना की जाय वह श्रोता को नया, विलक्षण या अनूठा लगे बल्कि अपने मर्मस्पर्शी स्वरूप के कारण भाव की गहरी व्यंजना करे या श्रोता के हृदय में वासना-रूप में स्थित किसी भाव को जाग्रत करे। इस प्रकार विचार करने से कवि की उक्ति तीन प्रकार की हो सकती है—(१) जिसमे केवल चमत्कार या वैलक्षण्य हो, (२) जिसमें केवल रस या भावुकता हो, (३) जिसमें रस और चमत्कार दोनों हों।

इनमे से प्रकृत काव्य हम केवल पिछली दो उक्तियो में ही मान सकते हैं, प्रथम में केवल काव्याभास मानेगे। यहाँ पर हमे प्रयोजन प्रथम और द्वितीय प्रकार की उक्ति से है। ऊपर बिहारी और रहीम के जिन दोहों का उल्लेख हुआ है वे जनसमाज मे स्वीकृत साधारण तथ्यों को एक अनूठे ढग से सामने रखते हैं। अब यह देखिए कि इनमें काव्य का प्रकृत स्वरूप किसमें है, किसमे नही। किसी तथ्य का कथन जब काव्य-पद्धति द्वारा किया जाता है तब उसकी सत्यता का निश्चय कराना विवक्षित नही रहता, बल्कि उस तथ्य के प्रति किसी स्वाभाविक भाव के अनुभव को तीव्र करना—जैसे, 'कनक, कनक ते सौगुनी' वाले दोहे में कवि धन के बुरे प्रभाव के कारण उसके प्रति श्रोता की तिरस्कार-बुद्धि जाग्रत करना चाहता है, इसलिये धतूरे का उल्लेख करता है। इसी प्रकार 'बड़े पेट के भरन में' वाले दोहे मे असन्तोष-जन्य दीनता के प्रति जो जुगुत्सा विवक्षित है वह हाथी ऐसे बड़े जानवर का दाँत निकालना लेकर उत्पन्न हो सकती है। इन दोनो उक्तियो की तह मे कुछ भाव निहित हैं अतः हम इन्हे चमत्कार-प्रधान काव्य कह सकते हैं। इस प्रकार का काव्य रस-प्रधान काव्य की कोटि तक तो नही पहुँच सकता पर काव्य कहला सकता है।

जिसमे भाव का पता देने वाला अथवा भाव जाग्रत करने वाला कोई शब्द या वाक्य अथवा प्रस्तुत प्रसंग के प्रति किसी प्रकार का भाव उत्पन्न कराने मे समर्थ अप्रस्तुत वस्तु या व्यापार न हो, केवल दूर की सूझ या शब्द-साम्य मूलक विलक्षणता हो वह उक्ति काव्याभास होगी। जैसे, मिस्सी लगे काले दाँतों को देखकर यह कहना कि 'मनो खेलत हैं लरिका हबसी के', दूर की सूझ या अनूठापन चाहे सूचित करे पर सौन्दर्य का भाव उत्पन्न करने मे समर्थ नही है। दूर की सूझ दिखाने के लिये लोगो ने 'भानु मनो सनि अंक लिए' तक कह डाला है पर उनकी यह सूझ वास्तव में दूर की नही है—उन पोथियो तक की है जिनमे ग्रहो का रंग लिखा रहता है। ऐसी भद्दी उक्तियाँ भी सूक्ति कहलाती है। सूक्ति कहलाएँ, पर इनका उत्तम काव्य कहा जाना तो रोकना चाहिए।

तथ्य-वर्णन में अब रहीम का 'ज्यों रहीम गति दीप की' वाला दूसरा दोहा लीजिए। इसमे कही हुई बात यह है कि कुपुत्र जब तक बच्चा रहता है तभी तक अच्छा लगता है, जब बढ़ता है तब दुःखदायी हो जाता है। 'बारे' और 'बाढ़े' शब्दो के श्लेष के आधार पर ही कवि ने दीपक का उल्लेख किया है। पर इस दीपक के व्यापार की योजना कपूत के प्रति विरक्ति आदि के अनुभव मे कुछ जोर नही पहुँचाती। अतः इन दोहों में कोरा चमत्कार ही कहा जा सकता है। इसी चमत्कार के कारण हम इस

उक्ति को कोरा तथ्य-कथन न कहकर काव्याभास कहेगे। काव्य का बाहरी रूप-रंग इसमें पूरा है, पर प्राण नही है। रहीम के कुछ ही दोहे ऐसे मिलेगे। उनके दोहे भावुकता से भरे हुए हैं। पर नीति के अधिकांश दोहे (जैसे वृन्द के) काव्याभास ही के अन्तर्गत आ सकते हैं। (जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ १६२-६४)

१३—काव्य में कल्पना का प्रयोग

काव्य-जगत् की रचना करने वाली कल्पना इसी को कहते हैं। किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप गढ़कर या काट-छाँट कर सामने रखने लगती है तब हम उसे सच्ची कवि-कल्पना कह सकते हैं। यो ही सिरपच्ची करके बिना किसी भाव मे मग्न हुए—कुछ अनोखे रूप खड़े करना या कुछ को कुछ कहने लगना या तो बावलापन है, या दिमागी कसरत, सच्चे कवि की कल्पना नही। वास्तव के अतिरिक्त या वास्तव के स्थान पर जो रूप सामने लाए गए हो उनके सबंध में यह देखना चाहिए कि वे किसी भाव की उमग मे उस भाव को संभालने वाले या बढ़ाने वाले होकर आ खड़े हुए हैं या यो ही तमाशा दिखाने के लिये – कुतूहल उत्पन्न करने के लिए—जबरदस्ती पकड कर लाए गए हैं। यदि ऐसे रूपो की तह मे उनके प्रवर्त्तक या प्रेषक भाव का पता लग जाय तो समझिए कि कवि के हृदय का पता लग गया और वे रूप हृदय-प्रेरित हुए। अंग्रेज कवि कालरिज ने, जिसने कवि-कल्पना पर अच्छा विवेचन किया है, अपनी एक कविता मे ऐसे रूपावरण को आनन्द-स्वरूप आत्मा से निकला हुआ कहा है, जिसके प्रभाव से जीवन में रोचकता रहती है। जब तक यह रूपावरण (कल्पना का) जीवन मे साथ लगा चलता है तब तक दुःख की परिस्थिति मे भी आनन्द-स्वप्न नही टूटता। पर धीरे-धीरे यह दिव्य आवरण हट जाता है और मन गिरने लगता है। भावोद्रेक और कल्पना मे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक काव्य-मीमांसक ने दोनो को एक ही कहना ठीक समझ कर कह दिया—"कल्पना आनन्द है" (इमेजिनेशन इज जॉय)।

(भ्रमर-गीत-सार, पृष्ठ २८-२९)

१४—काव्य का स्वरूप

काव्य के दो स्वरूप हमे देखने में आते हैं—अनुकृत या प्रकृत (इमिटेटिव और रियलिस्टिक) तथा अतिरजित या प्रगीत (एक्सेजैरेटिव और लिरिकल) कवि की भावुकता की सच्ची झलक वास्तव में प्रथम स्वरूप में ही मिलती है। जीवन के अनेक मर्म पक्षों की वास्तविक सहानुभूति जिसके हृदय मे समय-समय पर जगती रहती है उसी से ऐसे रूप-व्यापार हमारे सामने लाते बनेगा जो हमें किसी भाव में मग्न करते हैं और

उसी से उस भाव की ऐसे स्वाभाविक रूप मे व्यंजना भी हो सकती है जिसको सामान्यतः सबका हृदय अपना सकता है। अपनी व्यक्तिगत सत्ता को अलग भावना से हटाकर, निज के योग-क्षेम के सम्बन्ध से मुक्त करके, जगत् के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं में जो हृदय समय-समय पर रमता रहता है, वही सच्चा कवि-हृदय है। सच्चे कवि वस्तु-व्यापार का चित्रण बहुत बढ़ा-चढा और चटकीला कर सकते हैं, भावों की व्यंजना अत्यत उत्कर्ष पर पहुँचा सकते हे, पर वास्तविकता का आधार नही छोड़ते। उनके द्वारा अकित वस्तु-व्यापार योजना इसी जगत् की होती है, उनके द्वारा भाव उसी रूप मे व्यजित होते हैं जिस रूप में उनकी अनुभूति जीवन मे होती है या हो सकती है। भारतीय कवियों की मूल प्रवृत्ति वास्तविकता की ओर ही रही है। यहाँ काव्य जीवन-क्षेत्र मे अलग खड़ा किया गया केवल तमाशा ही नही रहा है।

काव्य का दूसरा स्वरूप—अतिरंजित या प्रगीत—वस्तु-वर्णन तथा भाव-व्यंजना दोनों मे पाया जाता है। कुछ कवियों की प्रवृत्ति रूपों और व्यापारों की ऐसी योजना की ओर होती है जैसी सृष्टि के भीतर नही दिखाई पड़ा करती। उनकी कल्पना कभी स्वर्ण-कमलो से कलित सुधा-सरोवर के कूलों पर मलयानिल-स्पंदित पाटलों के बीच विचरती है, कभी मरकत-भूमि पर खड़े मुक्ता-खचित प्रवाल-भवनो में पुष्पराग और नीलमणि के स्तभों के बीच हीरे के सिंहासनो पर जा टिकती है, कभी सायं-प्रभात के कनक-मेखला-मण्डित विविध वर्णमय घन-पटलो के परदे डालकर विकीर्ण तारक-सिकता कणों के बीच बहती आकाश-गंगा में अवगाहन करती है। इस प्रकार की कुछ रूप-योजनाएँ प्राचीन आख्यानों मे रूढ़ होकर पौराणिक (माइथोलोजिकल) हो गई हैं और मनुष्य की नाना जातियों के विश्वास से सम्बन्ध रखती हैं, जैसे, सुमेरु पर्वत, सूर्य्य-चन्द्र के पहिया वाला रथ, समुद्र-मन्थन, समुद्र-लघन, सिर पर पहाड़ लादकर आकाश मार्ग से उड़ना इत्यादि। इन्हें काव्यगत अत्युक्ति या कल्पना की उड़ान के अन्तर्गत हम नही लेगे।

काव्य में उपर्युक्त ढंग की रूप-व्यापार-योजना प्रस्तुत (उपमेय) और अप्रस्तुत (उपमान) दोनों पक्षो मे पाई जाती है। कुछ कवियों का झुकाव दोनों पक्षो मे अलौकिक या अतिरंजित की ओर रहता है और कुछ का केवल अप्रस्तुत पक्ष मे, जैसे—'मखतूल के झूल झुलावत केशव भानु मनो शनि अंक लिए।"

भाव-व्यंजना के क्षेत्र में काव्य का अतिरंजित या प्रगीत स्वरूप अधिकतर मुक्तक पद्यों मे—विशेषतः शृंगार या प्रेम-संबन्धी—पाया जाता है। कही विरह-ताप से सुलगते हुए शरीर से उठे धुएँ के कारण ही आकाश नीला दिखाई पड़ता है, कौवे काले हो

जाते हैं। कहीं रक्त के आँसुओं की बूँदें टेसू के फूलों, नई कोपलों और गुंजा के दानों के रूप में बिखरी दिखाई पड़ती हैं। कहीं जगत् को डुबाने वाले अश्रु-प्रवाह के खारेपन से समुद्र खारे हो जाते हैं। कही भस्मीभूत शरीर की राख का एक एक कण हवा के साथ उड़ता हुआ प्रिय के चरणों में लिपटना चाहता है। इसी प्रकार कही प्रिय का श्वास मलयानिल होकर लगता है, कहीं उसके अंग का स्पर्श कपूर के कर्दम या कमल-दलों की खाड़ी मे ढकेल देता है।

(गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ५७-५६)

१५--अलंकार-विधान

भावों का उत्कर्ष दिलाने और वस्तुओ के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने मे कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है। अतः अलंकारो की परीक्षा हम इसी दृष्टि से करेगे कि वे कहां तक उक्त प्रकार से सहायक हैं। यदि किसी वर्णन मे उनसे इस प्रकार की कोई सहायता नही पहुँचती है, तो वे काव्यालंकार नहीं, भार मात्र हैं। यह ठीक है कि वाक्य की कुछ विलक्षणता--जैसे श्लेष और यमक--द्वारा श्रोता या पाठक का ध्यान आकर्षित करने के लिये भी अलंकार की थोड़ी-बहुत योजना होती है, पर उसे बहुत ही गौण समझना चाहिए। काव्य की प्रक्रिया के भीतर ऊपर कही बातो मे से किसी एक में भी जिस अलकार से सहायता पहुँचती है, उसे हम अच्छा कहेगे और जिससे कई एक मे एक साथ सहायता पहुँचती है, उसे बहुत उत्तम कहेगे।

अलंकार के स्वरूप की ओर ध्यान देते ही इस बात का पता चल जाता है कि वह कथन की एक युक्ति या वर्णन-शैली मात्र है। यह शैली सर्वत्र काव्यालंकार नही कहला सकती। उपमा को ही लीजिए जिसका आधार होता है सादृश्य। यदि कही सादृश्य-योजना का उद्देश्य बोध कराना मात्र है तो काव्यालंकार नही। "नीलगाय गाय के सदृश होती है" इसे कोई अलंकार नही कहेगा। इसी प्रकार "एकरूप तुम भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम तें नहि मारेउँ सोऊ।" मे भ्रम अलंकार नही है। केवल "वस्तुत्व" या "प्रमेयत्व" जिसमें हो, वह अलंकार नही। अलंकार में रमणीयता होनी चाहिए। चमत्कार न कहकर रमणीयता हम इसलिये कहते हैं कि चमत्कार के अन्तर्गत केवल भाव, रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष ही नही, शब्द-कौतुक और अलंकार-सामग्री की विलक्षणता भी ली जाती है। जैसे, बादल के स्तूपाकार टुकड़े के ऊपर निकले हुए चन्द्रमा को देख यदि कोई कहे कि "मानो ऊँट की पीठ पर घण्टा रखा हुआ है" तो कुछ लोग अलंकार-सामग्री की इस विलक्षणता पर--कवि की इस दूर की सूझ पर--ही वाह-

वाह करने लगेंगे। पर इस उत्प्रेक्षा से ऊपर लिखे प्रयोजनों में से एक भी सिद्ध नहीं होता बादल के ऊपर निकलते हुए चन्द्रमा को देख हृदय में स्वभावतः-सौंदर्य की भावना उठती है। पर ऊँट पर रखा हुआ घण्टा कोई ऐसा सुन्दर दृश्य नहीं जिसकी योजना से सौन्दर्य के अनुभव में कुछ और वृद्धि हो। भावानुभव में वृद्धि करने के गुण का नाम ही अलंकार की रमणीयता है।

अब गोस्वामीजी के कुछ अलंकारों को हम इस क्रम से लेते हैं—

(१) भावों की उत्कर्ष-व्यंजना में सहायक, (२) वस्तुओं के रूप (सौन्दर्य, भीषणत्व आदि) का अनुभव तीव्र करने में सहायक, (४) क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक।

गोस्वामी तुलसीदास (पृष्ठ १२७-२८)

श्यामसुन्दर दास

[समय—सन् १८७५-१९४५]

ग्रन्थ—साहित्यालोचन

१—साहित्य का स्वरूप

अँगरेज़ी के 'लिटरेचर' शब्द की भाँति हिन्दी का 'साहित्य' शब्द भी अब दो विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने लगा है। बोलचाल की भाषा में हम किसी भी छपी हुई पुस्तक को साहित्य की संज्ञा देते हैं, यहाँ तक कि दवाइयों के साथ आने वाले छपे हुए पर्चे भी साहित्य कहलाते हैं। किन्तु, दूसरे और अधिक उपयुक्त अर्थ में साहित्य से उन्हीं पुस्तकों का बोध होता है जिनमें कला का समावेश है।

अधिकतर पुस्तकें पाठकों की ज्ञान-वृद्धि के लिये लिखी जाती है। इन पुस्तकों के लेखक का उद्देश्य पढ़ने वालों की जानकारी बढ़ाने का होता है। इतिहास लिखने वाले का आशय होता है कि लोग विगत काल की घटनाओं और महापुरुषों के विषय में कुछ जान जाएँ, भूगोल-सम्बन्धी पुस्तकों का लेखक पाठकों को संसार के विविध देशों का परिचय कराना चाहता है, और ज्योतिष-शास्त्र की पुस्तकें हमें ग्रहों और नक्षत्रों की अवस्था का ज्ञान कराती हैं। इसी प्रकार विज्ञान की जितनी पुस्तकें हैं सभी मनुष्य की जानकारी से सम्बन्ध रखती हैं और उसके ज्ञान की सीमा अधिक विस्तृत करती हैं। ये पुस्तकें, जिनका सम्बन्ध मनुष्य के ज्ञान मात्र से है, साहित्य की गणना में नहीं आतीं। साहित्य का उद्देश्य केवल मनुष्य के मस्तिष्क को सन्तुष्ट करना नहीं है, वह तो मनुष्य-जीवन को अधिक सुखी और अधिक सुन्दर बनाने की चेष्टा करता है। साहित्य के सहारे मनुष्य जीवन के दुःख और संकटों को क्षण भर के लिये भूल सकता है, वह आपदाओं से भरे हुए वास्तविक संसार को छोड़कर कल्पना और भावना के सुन्दर लोक में भ्रमण कर सकता है। वास्तव में साहित्य की सीमा के अंतर्गत उन्हीं पुस्तकों की गणना हो सकती है जो इस महान् उद्देश्य की पूर्ति करती हैं या इस पूर्ति के आदर्श को सामने रख कर लिखी गई हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे बेकारी के क्षण काटने के लिये जो कुछ भी लिख दिया जाय वह साहित्य हो जायगा। साहित्य और सुरुचि का अभेद्य सम्बन्ध है और 'साहित्य को हमारी उस रुचि को तृप्त करने में

समर्थ होना चाहिए जिसको हम अपने या किसी दूसरे के सामने प्रकट करने में लज्जित न हों।'

'काव्य' शब्द का वही अर्थ है जो साहित्य शब्द का वास्तविक अर्थ है। साहित्य-दर्पणकार ने काव्य को 'रसात्मक वाक्य' बताया है अर्थात् काव्य के द्वारा पाठक अथवा श्रोता के चित्त में रस की उत्पत्ति होती है। रस की उत्पत्ति का अर्थ है आनन्दपूर्ण एक विशेष मानसिक अवस्था का उत्पन्न हो जाना। 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है' यह परिभाषा 'रस गंगाधर' नामक ग्रंथ की है। 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादन' का आशय है सौन्दर्य की सृष्टि करके पाठक तथा श्रोता के मन में आनन्द उत्पन्न करना। काव्य के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी प्रकार के ज्ञान की अवगति करावे। उसके लिये सबसे आवश्यक और विशेष बात यही है कि वह अपने विषय तथा वर्णन-शैली से पढ़ने वालों के हृदय में उस आनन्द का प्रवाह बहाए जो रसानुभव या रस-परिपाक से उत्पन्न है। अथवा दूसरे शब्दों में इस तरह कह सकते हैं कि काव्य वह है जो हृदय में अलौकिक आनन्द या चमत्कार की सृष्टि करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य कला है और 'काव्य' शब्द साहित्य का समानार्थक है। बहुत से लोग काव्य को कविता के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि कविता काव्य का एक अंग मात्र है। कविता के अतिरिक्त अनेक प्रकार की रचनाएँ काव्य अथवा साहित्य की श्रेणी में आती हैं। किसी पुस्तक को हम साहित्य या काव्य की उपाधि तभी दे सकते हैं जब जो कुछ उसमें लिखा गया है वह कला के उद्देश्यों की पूर्ति करता है। यही एक मात्र उचित कसौटी है। साहित्य के अंतर्गत कविता, नाटक, चम्पू, उपन्यास, आख्यायिकाएँ आदि सभी आ जाते हैं। ज्योतिष, गणित, व्याकरण, इतिहास, भूगोल, अर्थ-शास्त्र, राजनीति, आदि के ग्रंथ साहित्य में परिगणित नहीं हो सकते।

मनुष्य स्वभाव से ही क्रियाशील प्राणी है, उसके लिये चुपचाप बैठा रहना असम्भव है। वह कुछ करने और कुछ उत्पन्न करने के लिये व्याकुल रहता है। मनुष्य-स्वभाव की एक और विशेषता यह है कि वह अपने को प्रकट किए बिना नहीं रह सकता। असभ्य से असभ्य जंगली लोगों से लेकर संसार के अत्यन्त सभ्य लोगों तक में अपने विचारों और मनोभावों को प्रकट करने की प्रबल इच्छा प्रस्तुत रहती है। मानव-स्वभाव की इन्हीं दोनों विशेषताओं की प्रेरणा से साहित्य का निर्माण होता है। साहित्य मन और स्वभाव की उपज है। इसलिये, जिन बातों का प्रभाव मनुष्य के स्वभाव और मनुष्य के जीवन पर पड़ता है उनका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता है।

(साहित्यालोचन, पृष्ठ ४२-४५)

२—कला और आचार-शास्त्र

सृष्टि के आदि में चाहे जो अवस्था रही हो, पर सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य के भले-बुरे का ज्ञान दृढ हुआ और इस प्रकार आचार मानव-प्रकृति का एक अभिन्न अंग बन गया। सम्पूर्ण कला और साहित्य में मनुष्य के आचार की छाप पड़ी हुई है। मनुष्य की विवेक-बुद्धि उसकी इच्छाओं को संयमित रखती है, जिससे उसकी भावनाएँ परिमार्जित होती जाती हैं। इन परिमार्जित भावनाओं से सम्पन्न कलाएँ भी सदैव मनुष्य-समाज की सद्वृत्तियों की प्रतिकृति होती हैं। जो देश अथवा जाति जितनी अधिक परिष्कृत तथा सभ्य होगी उसकी कला-कृतियाँ भी उतनी ही अधिक सुन्दर और सुष्ठु होगी। इससे स्पष्ट है कि कला-निर्माण में आचार का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने इस सम्बन्ध में कुछ ऐसे प्रवादों की सृष्टि की है जिससे भ्रम बढ रहा है। एक प्रवाद तो उस विद्वद्वर्ग का खड़ा किया हुआ है जो मनोविज्ञान-शास्त्र की जानकारी का गर्व रखता है और यह घोषणा करता है कि कविता और कलाएँ मनुष्य की कल्पना से निस्सृत होती हैं। कल्पना का विश्लेषण करते हुए इस सम्प्रदाय के विद्वान् बतलाते हैं कि वास्तविक जगत् में सभ्यता और समाज-व्यवस्था के कारण हमारी जो इच्छाएँ दबी रहती हैं वे ही कल्पना में आती हैं और कल्पना द्वारा कलाओं में व्यक्त होती हैं। कलाओं में शृंगार-रस का आधिक्य इस बात का प्रमाण बतलाया जाता है। मनोविश्लेषण करने वाले पाश्चात्य विद्वानों ने शेली की कविताओं, माइकेल एंजिलो की कला-सृष्टि और शेक्सपियर के काव्य में भी इन्हीं दबी हुई इच्छाओं का उद्रेक दिखाया है। इस वर्ग के आचार्य फ्रायड नामक विद्वान् हैं जिन्होंने स्वप्न-विज्ञान के निर्माण करने की चेष्टा की है और यह सिद्धान्त उपस्थित किया है कि स्वप्न में मनुष्य की कल्पना और भावना उन दिशाओं की ओर जाती हैं जिन दिशाओं में वे समाज की दृष्टि के सामने नही जा पाती। फ्रायड महोदय के इसी स्वप्न-सिद्धान्त को कुछ विद्वान् कविता तथा कलाओं में भी चरितार्थ करते हैं। परन्तु इस प्रकार के अनोखे सिद्धान्त अधिकांश मे अर्द्ध-सत्य ही होते हैं और कलाओं का अनिष्ट करने में सहायक बन सकते हैं। यदि यह स्वप्न-सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाय और काव्य तथा अन्य कलाओं में भी इसका अधिकार हो जाय तब तो कलाओं से आचार का बहिष्कार ही समझना चाहिए। परन्तु इस सिद्धान्त के अपवाद इतने प्रत्यक्ष हैं कि यह किसी प्रकार निर्भ्रान्त नहीं माना जा सकता। यदि कोई कवि या कलाकार किसी सुन्दर रमणी का चित्र अंकित करता है तो इसका यही आशय नही होता कि वह कल्पना-जगत् में अपनी विलास-वासना की पूर्ति करता है। अथवा वह किसी साधु-सन्त का चित्र अंकित करता है तो उसका सर्वथा यही तात्पर्य नही है कि वह स्वयं साधु-प्रकृति का और सदाचारी

है। संसार के श्रेष्ठ कलाकारों ने अनेक प्रकार की कला-सृष्टियाँ की हैं। स्वप्न-सिद्धान्त के अनुसार उनकी मनोवृत्ति की छानबीन करना फल-प्रद नही हो सकता। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि संसार की अब तक की श्रेष्ठ कला-कृतियाँ अधिकांश में विवेकवान् और आचारनिष्ठ पुरुषों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं।

विद्वानों का एक दूसरा दल यथार्थवाद के नाम पर भी बहुत-कुछ ऐसी ही बात करता है। मनुष्य के शरीर-सघटन का विश्लेषण करके ये विद्वान् यह आभास देते हैं कि उसकी मूल-वृत्तियाँ आहार, निद्रा आदि शारीरिक आवश्यकताओं की तृप्ति के लिये ही होती हैं। इनके अतिरिक्त मनुष्यों की जो अन्य उदात्त वृत्तियाँ होती हैं वे दृढ़मूल नही हैं, केवल सभ्यता के निर्वाह के लिये हैं। हमारे भारतीय मनीषियों ने इस सिद्धान्त का सर्वदा विरोध किया है। उन्होंने मनुष्य और पशु का अन्तर समझा है और वे उच्च धार्मिक वृत्तियों के उन्नतिशील विकास का सदैव प्रयास करते रहे हैं। यदि पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार मनुष्य की मूल मनोवृत्तियाँ केवल शरीरजन्य हैं और उसकी अन्य उदात्त वृत्तियाँ मौलिक नही है तो भी वे यह स्वीकार करते हैं कि सभ्यता की आवश्यकताओं के अनुसार इनकी सृष्टि हुई है। यदि उनका कथन स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी सभ्यता की आवश्यकताएँ क्या कुछ कम महत्त्वपूर्ण हैं ? चिर विकासशील सभ्यता के पालन की आवश्यकता समझकर मनुष्य सदाचार का अभ्यास करता है और अभ्यास-परम्परा से वह आचार उसके शारीरिक तथा मानसिक संघटन का अविच्छेद्य अंग बन जाता है। फिर तो जिस प्रकार पंक से पंकज की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार शारीरिक वृत्तियों से मनुष्य की उदात्त वृत्तियों का उन्मेष होता है और कालान्तर में वे परम शोभन रूप धारण करती हैं।

विद्वानों का एक तीसरा वर्ग 'कला के लिये कला' का सिद्धान्त उपस्थित करता है और आचार को कला के बाहर की वस्तु ठहराता है। 'कला के लिये कला' के सिद्धान्त का अर्थ स्पष्ट न होने के कारण इस सम्बन्ध में बहुत-सी भ्रान्ति फैली हुई है। कला के विवेचन में तो हम भिन्न-भिन्न कला-वस्तुओ का एक-एक करके विवेचन कर सकते हैं, अथवा दो या अधिक कला-सृष्टियों की अलग-अलग तुलना कर सकते हैं। उन कला-सृष्टियों के स्रष्टा भिन्न मनुष्य होते हैं और सब मनुष्यों के विकास की परिस्थितियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। मनुष्य स्वयं एक अज्ञेय प्राणी है। वह अपनी परिस्थिति, देश-काल की परिस्थिति, सभ्यता, आचार, मनःशक्ति आदि का एक जटिल संग्रथित रूप है। जब वही मनुष्य कला-सृष्टि करता है तब उसके द्वारा उत्पन्न कला का विवेचन करने में इन सम्पूर्ण जटिलताओं पर ध्यान रखना पड़ता है। जब एक व्यक्ति की एक कला-सृष्टि में इतनी जटिलताएँ हैं तब तो संसार की सम्पूर्ण कला-कृतियों को लेकर

उसकी और उनका सृजन करने वालों की अपार भाव-भिन्नता की कोई सीमा ही नही मिल सकती। उस अवस्था में 'कला के लिये कला' का हमारे लिए केवल इतना ही अर्थ रह जाता है कि कला एक स्वतन्त्र सृष्टि है। कला-सौन्दर्य और कला-अभिव्यंजना के कुछ अपने नियम हैं। उन नियमों का पालन ही 'कला के लिये कला' कहला सकता है। कला के विवेचन में उन नियमों के पालन-अपालन के सम्बन्ध की चर्चा की जाती है और कला तथा साहित्य-सम्बन्धी शास्त्रों मे उन्हीं नियमों का कोटि-क्रम उपस्थित किया जाता है। इसे कलाओं की विन्यास-पद्धति कहना चाहिए। इन नियमों का निरूपण कला के व्यक्तित्व को स्पष्ट करता है और मनुष्य के अन्य क्रिया-कलापों से उसकी पृथक्ता दिखाता है। कलाकार की ओर से आँखें हटाकर केवल उसकी कला-वस्तु की परीक्षा की जाती है और इस परीक्षा में व्यापक कला-तत्त्व ही सामने आते हैं। आचार, सभ्यता और संसार के प्रश्न कला के लिये तात्त्विक नही हैं। वे तो एक-एक कला-कृति की अलग-अलग विवेचना करने पर उपस्थित होते हैं। हमारे देश के साहित्य-शास्त्रियों ने 'कला के लिये कला' की समस्या को व्यापक रूप में देखा था और उनकी शास्त्रीय समीक्षा की पुस्तकों में ऐसा ही व्यापक विचार है। पश्चिम में इसे लेकर बहुत-सी व्यर्थ की खीच-तान हुई है। किन्तु तथ्य इतना ही है कि वस्तु-रूप में कलाओं का प्रत्यक्षीकरण करते हुए आचार आदि के प्रश्न वास्तव में अन्तर्हित हो जाते हैं। इसका यह आशय कदापि नही है कि कला का आचार से कोई सम्बन्ध ही नही। आशय यही है कि कला-सम्बन्धी शास्त्र आचार-सम्बन्धी शास्त्र से भिन्न है।

(साहित्यालोचन, पृष्ठ ६-१२)

३—आलोचना के प्रकार

आधुनिक समालोचना चार प्रकार की मानी जाती है।

(१) सैद्धान्तिक (स्पेकुलेटिव) समालोचना जिसमें साहित्यक के विभिन्न रूपों के विवेचन के द्वारा साहित्यिक सिद्धान्तों की स्थापना होती है।

(२) व्याख्यात्मक (इन्डक्टिव) समालोचना जिसमें साहित्यिक रचनाओं का विश्लेषण और व्याख्या की जाती है। इससे रचनात्मक साहित्य की विभिन्न कृतियों के वर्गीकरण और विकास में सहायता पहुँचती है।

(३) निर्णयात्मक (जुडिशियल) समालोचना जिसमें सामान्य सिद्धांतों के आधार पर साहित्यिक रचनाओं के महत्त्व का निर्माण किया जाता है।

(४) स्वतंत्र अथवा आत्म-प्रधान (फ्री आर सबजेक्टिव) आलोचना जिसमें आलोचक आलोच्य विषय की विवेचना करता हुआ उसमें इतना तल्लीन या उसके इतना विमुख हो जाता है कि विवेचन को छोड़कर भाव-लहरी में बह चलता है। आलोच्य रचना या विषय उसके भावों का आलम्बन बन जाती है। ऐसी आलोचनाएँ रचनात्मक साहित्य की कृतियाँ हो जाती हैं।

यद्यपि समालोचना में इन चारों अथवा एक से अधिक का मिश्रण पाया जाता है फिर भी तिल-तंडुलवत् इनका स्वरूप-भेद स्पष्ट है। आधुनिक समालोचना की यह विशेषता है कि वह विस्तृत अथवा सार्वदेशिक और सर्वकालीन साहित्य को अपना आधार बनाती है। यह बात प्राचीन अथवा परम्परामुक्त समालोचना में नहीं मिलती है। फलतः साहित्य के विस्तार के साथ ही साथ साहित्याभिरुचि भी व्यापक और प्रगतिशील होगई है।

इस विभाजन में से समालोचना का एक और स्थूल विभाजन हो सकता है—(१) शुद्ध सिद्धान्त, (२) उसका प्रयोग। काव्य-मीमांसा, काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि ग्रंथ पहली प्रकार की समालोचना के उदाहरण हैं और सूर, तुलसी, जायसी, कबीर आदि पर विद्वानों की लिखी हुई समालोचनाएँ दूसरे वर्ग के अंतर्गत हैं।

हम पहले शुद्ध सैद्धांतिक समालोचना पर ही विचार करते हैं, क्योंकि यही समालोचना का सामान्य—विशेष नही—और चिरंतन स्वरूप है, और सर्वदा ही साहित्य के विषय में तो सिद्धान्त स्थापन होता ही रहेगा। यह साहित्य और उसकी समालोचना के लिये एक प्रकार से सामान्य मापदंड उपस्थित करती है। प्रमेय वस्तुओं पर विचार करने के लिये पहले मापदण्ड चाहिए। अतः पहले इसी का विचार करना उचित है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस प्रकार की समालोचना सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना करती है। इसका विषय है साहित्य या काव्य के स्वरूप का विश्लेषण। साहित्य क्या है ? उसका लक्ष्य क्या है ? प्रत्यक्ष सामग्री को कला किस रूप में और किन माध्यमो से ग्रहण करती है ? इन प्रश्नों पर विचार करके कला के विषय में कुछ सम्मति निर्धारित करना इस प्रकार की समालोचना का विषय है। रचनात्मक साहित्य के दो पक्ष होते हैं। एक कवि का पक्ष और दूसरा श्रोता या पाठक का पक्ष। अतः काव्य क्या है, केवल इसी पक्ष पर नही बल्कि काव्य का अनुशीलन किस दृष्टि से और कैसा होना चाहिए, पाठक की साहित्याभिरुचि कैसी होनी चाहिए, परम्परामुक्त साहित्याभिरुचि से काव्य का अनुशीलन करने मे क्या त्रुटियाँ होती हैं, कैसे प्रगतिशील

या विकासमयी साहित्याभिरुचि ही काव्यानुशीलन के लिये आवश्यक है और काव्य के साथ पूर्ण न्याय कर सकती है, क्योंकि काव्य स्वयं प्रगतिशील है; नित्य नूतन सामग्री और साधनों की ओर उसकी प्रगति होती है, इस प्रकार के प्रश्नों को हल करना और फिर कुछ निष्कर्ष पर पहुँचना सैद्धांतिक समीक्षा की गवेषणा के विषय हैं। यह आलोचना एक प्रकार से आलोचना का शास्त्रीय पक्ष है, और शेष प्रकार की आलोचनाएँ भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोणों से उसके प्रयोग। हाँ, इतना अपवाद अवश्य है कि व्याख्यात्मक आलोचना उतना ही सैद्धांतिक आलोचना का आधार भी है जितना प्रयोग। सैद्धांतिक आलोचना के इतिहास से भी विभिन्न युगों के इतिहास को समझने में सहायता मिलती है। सिद्धान्त का विचार करते समय केवल परम्परा-प्राप्त रूढ़ि, कवि-समय और तर्क-पूर्ण नियमों के ही फेर मे न पड़ जाना चाहिए। समालोचक को यह स्मरण रखना चाहिए कि इन सिद्धान्तों का आधार साहित्य है, साहित्य का अध्ययन करने के उपरांत ही सिद्धान्त निश्चित होते हैं। अतः जब सिद्धान्तों में कोई दोष अथवा कमी खटके तो तुरन्त मूल आधार अर्थात् साहित्य की ओर दृष्टि दौड़ानी चाहिए। ऐसे स्वतन्त्र अध्ययन से सिद्धान्त कसौटी पर कस जाते हैं। सच बात तो यह है कि कवि ही भाषा और भाव के शासक होते हैं और समालोचक तो उन्हीं कवियों, अपने पाठको तथा अपनी सहायता के लिये अनुशासन करते हैं। अतः जब कहीं सन्देह हो तब अपने बड़ों से (कवि-कर्म करने वालों से) बात समझ लेनी चाहिए। ऐसा विद्या-विनय-सम्पन्न आलोचक वही हो सकता है जो स्वयं भी कवि-हृदय हो, साहित्यिक रुचि का हो।

व्याख्यात्मक समालोचना

वास्तव में व्याख्या या विश्लेषण ही ऐसी प्रधान वस्तु है कि जिस पर चारों प्रकार की समालोचना अवलम्बित है। इसी व्याख्या से हम सामान्य सिद्धान्तो तक पहुँचते हैं। इसी व्याख्या के बल पर हम किसी कृति के महत्व का निर्णय कर सकते हैं। भावमयी समालोचना करने के लिये भी प्रस्तुत रचना का स्वरूप-ज्ञान वांछनीय है, जो कि व्याख्या ही से प्राप्त होता है। इसी प्रकार की समालोचना व्यापक, समीचीन और श्रेष्ठ ठहराई जाती है। समालोचक किसी भी रचना का अध्ययन एक अन्वेषक के रूप में करता है, न्यायाधीश के रूप मे नही। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों तक पहुँचता है तथा इस बात का पता लगाता है कि इसका विषय क्या है। रचयिता के ढंग, दृष्टि-कोण और मत से उदारतापूर्ण अपने मस्तिष्क का सामंजस्य स्थापित करके वह अपनी साहित्यिक अभिरुचि को अनुदारता से उदारता की ओर ले जाता है। तात्पर्य यह है कि वह पूर्ण व्याख्या करके उस रचना के प्रति एक सामान्य धारणा बना लेता

है। परन्तु साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि उसकी वह धारणा भी आप्त वाक्य का रूप धारण नहीं करती, वरन् उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पर्यवेक्षण के अनुसार वह भी अपने रूप में सुधार करती रहती है। अतः यह स्पष्ट है कि ऐसी आलोचना उदारता-पूर्ण तथा प्रस्तुत रचना के पूर्ण पर्यवेक्षण पर अवलम्बित होती है। अतः वह न्याय-पूर्ण और बुद्धिसंगत होती है। इसीलिये ऐसी समालोचना ही आजकल श्रेष्ठ और उपयुक्त मानी जाती है। इसका सबसे सरल और आरम्भिक स्वरूप टिप्पणियाँ और भाष्यों में मिलता है।

कुछ लोग आपत्ति कर सकते हैं कि व्याख्या की यह पद्धति निर्जीव कल की तरह चलती है। वह आलोच्य रचना के सौन्दर्य का संहार तथा कला की चीर-फाड़ करती है और उसको ऐसा सामान्य रूप देती है कि वह साहित्याभिरुचि-रहित प्राकृत मनुष्य की कोटि तक उतर आती है। परन्तु ऐसा विचार भ्रममूलक है। व्याख्या के लिये सूक्ष्म बुद्धि और पर्यवेक्षण की कुशलता तथा पूर्णता की आवश्यकता है। चलती कला कहकर उसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता। व्याख्या करते समय कुछ बातों का ध्यान रखना पड़ता है। एक तो रचना के अंग-प्रत्यंग को व्यष्टि रूप से न देखकर समष्टि रूप से देखना चाहिए, क्योंकि कला का रूप सदा संश्लेषात्मक ही होता है। पर साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि समष्टि का आधार व्यष्टि ही है। इसलिये यह आलोचना भी आलोच्य रचना के भिन्न-भिन्न अंगों के शुद्ध और पूर्ण अध्ययन की अवहेलना नहीं कर सकती। दूसरी बात यह है कि व्याख्या का तात्पर्य किसी रचना में केवल उपदेशों को ही ढूँढना नहीं है, अथवा किसी पात्र के चरित्र-चित्रण अथवा कथानक को आद्योपांत न देखकर किसी एक कथन अथवा घटना के बल पर व्याख्या करते हुए काव्यकार पर सहसा असंगति का दोषारोपण कर देना नहीं है। कभी-कभी असंगति के मिलने का यह अर्थ हो सकता है कि आलोचक की गवेषणा अपूर्ण है। तीसरी बात यह है कि व्याख्या प्रस्तुत रचना में आए हुए साक्ष्य पर ही अधिकतर अवलम्बित होनी चाहिए, ऊहा के द्वारा बाहर से लाए हुए बेमेल या कृत्रिम साक्ष्य पर नहीं। ऊपर के दोष तो ऐसे हैं जो व्याख्याओं में बहुधा आ जाते हैं। पर कुछ अन्य दोष ऐसे भी हैं जो कि व्याख्याओं में साहित्य-सम्बन्धी अशुद्ध धारणाओं के कारण आते हैं, व्याख्या करते समय उनसे भी बचना चाहिए।

कवि के स्वभाव और प्रवृत्ति के ज्ञान से भी उसकी रचनाओं को समझने में सहायता मिल सकती है परन्तु इसको बहुत दूर नहीं ले जाना चाहिए। किसी भी रचना में रचना के बाह्य आशयों को नहीं ढूँढना चाहिए। कवि अपनी रचना का स्रष्टा है। उसे असमर्थ स्रष्टा नहीं समझना चाहिए। अपनी कृति को उसने जो रूप दिया है

वही उसका वास्तविक रूप है। उसके अतिरिक्त उसे दूसरा रूप देना अनुचित होगा। किसी कवि को जीवन में अधिक शृंगार-प्रिय देखकर उसकी स्पष्टतया निर्वेदमयी उक्तियों को भी वस्तुतः शृंगार ही की कृतियाँ समझना अनधिकार चेष्टा है। सम्भवतः अपने जीवन की विरल अनुभूतियों ने उसे साहित्य-सृजन में प्रवृत्त किया हो, सामान्य अनुभूतियों ने नहीं। बहुधा विरल अनुभूतियों की तीव्रता सामान्य अनुभूतियों को नहीं मिलती। हमे रचना से चलकर रचयिता के आशय तक पहुँचना चाहिए। बाह्य साक्ष्य के आधार पर कल्पित अभिप्राय को ढूँढ निकालने के लिये रचना की व्याख्या नहीं करनी चाहिए।

समालोचना अन्तर या भेद को दिखाकर अपने उद्देश की ओर अग्रसर होती है। अतः व्याख्या करते समय कुछ लोग सब अन्तरों को मात्रा का ही अन्तर समझते हैं और तुलना करते समय जब कोई भेद देखते हैं तो एक रचना को उच्च कोटि की और दूसरी को निम्न कोटि की कह देते हैं, या एक को शुद्ध और दूसरी को अशुद्ध बता देते है। परन्तु अन्तर प्रकार का भी हो सकता है और व्याख्यात्मक आलोचना का विषय प्रकार के भी भेदों को देखना है। उदाहरणार्थ यदि एक कवि ने बालकृष्ण को लिया है और दूसरे ने प्रौढ कृष्ण को तो हम इन दोनो के कृष्ण-काव्यों में एक को उच्च और दूसरे को निम्न नही कह सकते, उनमें मात्रा का अन्तर नही है, वरन् प्रकार का अन्तर है। बाल-कृष्ण काव्य उतना ही उत्तम हो सकता है जितना प्रौढ़ कृष्ण-काव्य।

अतः व्याख्या करते समय हमारे लिये यह कहना ही ठीक है कि इनके काव्यों मे प्रकार का अन्तर है। दोनों के अपने-अपने दृष्टिकोण हैं और दोनो प्रकार आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हैं। दोनों की निजी विशेषताएँ हैं। विशेष रूप से तुलनात्मक समालोचना में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है। बाल्मीकि के राम और तुलसी के राम अपने-अपने प्रकार के हैं, एक में वे मनुष्य के रूप में गृहीत हैं, दूसरे में अवतार के रूप में। अतः एक के राम-चरित्र-चित्रण को श्रेष्ठ और दूसरे के राम-चरित्र-चित्रण को साधारण कहना भूल है। ऐसे समय मे दोनो प्रकार के चरित्र-चित्रणों में प्रकार का भेद है। इतना दिखाना ही व्याख्यात्मक समालोचना का विषय है, उच्चकोटि, निम्न कोटि का फैसला देना नही।

किसी कवि की कृति की व्याख्या करते समय एक बात और ध्यान देने योग्य है। किसी कवि पर यह दोषारोपण नही किया जा सकता है कि उसने क़ानून या नियम का उल्लंघन किया है। साहित्य के क़ानून या नियम राजनीतिक क़ानून की तरह किसी बाहरी प्रभु-शक्ति के बनाए हुए नही हैं जिनका उल्लंघन अपराध ठहराया जाय।

साहित्य के ये नियम तो स्वयं विकसित होते हैं। अतः जब कोई कवि किसी गृहीत सिद्धान्त के विपरीत चलता है तो उसका सामान्यतया यह अर्थ लेना चाहिए कि वह किसी नए नियम का विकास कर रहा है। वह दोषी नही वरन् स्रष्टा है। नियमों के उल्लंघन के द्वारा कला का विकास होता है और वह सजीवन बनी रहती है। अतः साहित्य के नियमों के पालन-उल्लंघन और किसी राज्य के नियमों के पालन-उल्लंघन में क्या अन्तर है इस पर भी ध्यान देना व्याख्यात्मक समालोचना के अस्तित्व के लिये आवश्यक है।

एक और बात पर ध्यान देना आवश्यक है। कुछ लोग कहते हैं कि समालोचक किसी कृति पर विचार करते समय ऐसी बातें कह देते हैं या ऐसा अर्थ निकालते हैं जो उस रचना मे शायद अभिप्रेत भी न हों वरन् जो केवल समालोचक के मस्तिष्क की उपज या खीचातानी मात्र है। वास्तव में यह दोषारोपण कुछ अंश तक सत्य भी है। व्याख्यात्मक समालोचक को इस प्रकार अपनी ओर से ऊहापोह करने में सयम से काम लेना चाहिए और किसी कृति में आए हुए साक्ष्य पर ही अवलम्बित रहना चाहिए। परन्तु उक्त दोषारोपण का तात्पर्य यह नहीं है कि इस प्रकार की समालोचना सर्वथा अग्राह्य या भ्रामक है, क्योंकि इस प्रकार की समालोचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस पद्धति के द्वारा निश्चित व्याख्या या सम्मति की अधिकाधिक गवेषणा और जाँच के अनुसार साहित्य में परिवर्धन, परिवर्तन तथा सुधार की ओर प्रवृत्ति होती है और उसे उदार दृष्टि मिलती है।

निर्णयात्मक समालोचना

इस प्रकार की समालोचना व्याख्यात्मक समालोचना के ठीक विपरीत होती है। व्याख्यात्मक समालोचना में समालोचक अन्वेषक के रूप में दिखाई भी देता है, उसका विषय व्याख्या करना है, उसकी जिज्ञासा होती है "इस काव्य मे क्या है ?" वह उसके द्वारा अपनी साहित्याभिरुचि को विकसित करने का अवसर पाता है, नवीन-नवीन साहित्यिक शैलियो का अस्तित्व मानने की उदारता रखता है और अपने समालोचक स्वरूप को उस कृति के मेल में रखता है। परन्तु निर्णयात्मक समालोचना में समालोचक न्यायाधीश के रूप में आता है, फ़ैसला देना उसका काम है, उसकी जिज्ञासा "यह काव्य कैसा होना चाहिए था" के रूप में होती है। वह देखता है कि काव्य एक निश्चित आदर्श के अनुरूप है या नही। अपनी निश्चित साहित्याभिरुचि के मापदंड से वह उस कृति को देखता है, नवीनता पर नियंत्रण रखता है। कभी-कभी उसका उनसे

विरोध भी हो जाता है। वह साहित्यिक कृतियों को अपनी विचार-पद्धति के मेल में रखने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार की समालोचना आजकल अधिक प्रचलित है। ऐसी समालोचना भले-बुरे का फैसला देने के कारण साहित्य की प्रगति को रोकने वाली होती है।

यह समालोचना एक भ्रम से पूर्ण है। अँगरेज़ी शब्दों का अनुकरण करते हुए हम इसको "मूल्य का भ्रम" कह सकते हैं। समालोचक कला के सम्पूर्ण स्वरूप—उपादान, उपकरण, माध्यम—का मूल्यनिर्धारित करना चाहता है, जो असंगत है, क्योंकि कला का एक ही अंग मूल्य-निर्धारण का विषय बन सकता है, सब नहीं। जैसे किसी चित्रकार के द्वारा किया गया प्रकाश का प्रयोग विश्लेषण और मूल्य-निर्धारण का विषय हो सकता है, परन्तु स्वय प्रकाश नही, अतः कला को जो रूप और अंश—(उदाहरणार्थ शैली)—इस प्रकार की समालोचना के लिये उपयुक्त है उतना ही इसका विषय होना चाहिए, सम्पूर्ण को एक ही मापदण्ड से नापना भ्रामक है। एक बात और विचारणीय है। फ़ैसला देने के लिये किसी प्रामाणिक माप-दण्ड की आवश्यकता है जिससे परख कर कोई फैसला किया जा सकता है। अतः समालोचना के क्षेत्र में साहित्यिक अभिरुचि का प्रामाणिक स्वरूप क्या हो सकता है यह देखना चाहिए। इसमें दो भिन्न मत हैं। एक तो किसी समालोचना संस्था की सम्मति को प्रामाणिक मानते हैं, जैसे फ्रांस की एकेडमी। आर्नल्ड ऐसी संस्था का समर्थन करते हैं। परन्तु इसको मान लेने पर भी यह देखना आवश्यक है कि कोई भी संस्था किसी कलाकार की मौलिकता और प्रतिभा को रोक नहीं सकती। अतः ऐसी संस्थाओं की सम्मति को आवश्यक परिवर्तनों के साथ स्वीकार करना चाहिए। दूसरा मत समालोचक कोर्टहोप का है। उसका कहना है कि ऐसी संस्था पर विश्वास करना भ्रम-रहित नही है। समालोचना में भी अन्तःकरण का ही अनुसरण करना चाहिए। ऐसा साहित्यिक अन्तःकरण, कलाकार की आत्मा और स्वयं अपनी आत्मा दोनों को विचार में रखकर साहित्याभिरुचि का ऐसा प्रामाणिक रूप बना लेता है जो निर्णय करने में सहायक होता है।

अन्त में इस प्रकार की समालोचना के विषय मे दो बाते और कहनी हैं। पहले ऐसी समालोचना व्याख्या के बिना न्यायपूर्ण और उचित नही हो सकती। ऐसी समालोचनाओं मे हम समालोच्य रचना के विषय मे उतना अधिक परिचय नही पाते जितना कि फ़ैसला देने वाले समालोचक की आत्मा का। शेक्सपियर और मिल्टन पर फ़ैसले देने वालों राइमर, एडिसन, जानसन, वाल्टियर—के भिन्न-भिन्न और कभी बिलकुल विपरीत निर्णयों को देखकर इन निर्णायको की विचार-धारा का ही पता लगता है,

शेक्सपियर और मिल्टन की कला का नहीं। शेक्सपियर तो शेक्सपियर ही है और रहेगा, परन्तु इन समालोचकों ने उसे और का और बना दिया है। और कदाचित् आगे भी समालोचक ऐसा ही करते जायें। निर्णय देने वाले आलोचक तीन प्रकार के होते हैं। पहले वे जो अपनी रुचि और भावानुभूति के अनुसार निर्णय करते हैं, वे नियम नहीं जानते। दूसरे वे जो केवल नियमों को मिलाकर सम्मति स्थिर करते हैं। तीसरे वे बड़े निर्णायक होते है जो नियमों के विशेषज्ञ तो होते हैं, पर रहते हैं नियमों के परे। ये तीसरे प्रकार के निर्णायक सबसे बड़े माने जाते हैं। दूसरी श्रेणी में आते हैं स्वभावानुगामी आलोचक, पर केवल नियम के पीछे मरने वालों का कोई आदर नही होता। इन्हीं अन्य नियम-प्रेमियों की हँसी उड़ाते हुए लोकमान्य तिलक ने लिखा था कि कालिदास के जिन ग्रन्थों के आधार पर ही लक्षण ग्रन्थों की रचना हुई है उन ग्रन्थों में लक्षण ग्रन्थों के अनुसार दोष देखना कैसी विचित्र बात है !

आत्म-प्रधान अथवा स्वतन्त्र आलोचना

जैसा कहा जा कुका है, इस प्रकार की आलोचना में भावावेश अधिक होता है, विवेचन की मात्रा इसमे कम रहती है। जब आलोचक विवेचन-पद्धति को छोड़कर केवल अपनी व्यक्तिगत रुचि या अरुचि को अपनी आलोचना का आधार बनाता है तब इस प्रकार की समालोचना का जन्म होता है। मनुष्य मनुष्य है, वह अपनी रुचि अथवा अरुचि को साहित्यिक आलोचना में से सर्वदा अलग नही कर सकता। इसी कारण उस समालोचना का उदय होता है जिसमें आलोच्य ग्रन्थ या ग्रन्थकार को प्रधानता नहीं प्राप्त होती, आलोचक के दृष्टि-कोण को प्रधानता मिलती है। जितनी एकपक्षी साहित्यिक निंदाएँ या प्रशंसाएँ हुआ करती हैं उन सबको भावात्मक आलोचना के अन्तर्गत समझना चाहिए। ऐसी आलोचनाओं को इसलिए नही पढ़ना चाहिए कि आलोच्य ग्रंथ कैसा है, उसमें क्या है, किन्तु इसलिये कि आलोच्य ग्रन्थ को वह आलोचक क्या और कैसा समझता है। उन आलोचनाओं से आलोच्य ग्रन्थ के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान-वर्धन होता है। ऐसी आलोचना चाहे आलोचना की दृष्टि से उपयुक्त न हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसका रचनात्मक साहित्य में स्थान है। ज्यों-ज्यों साहित्य में व्यक्ति-प्रधानता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों इस प्रकार की आलोचना का भी आधिक्य होता जायगा।

आलोचना की इतनी सामान्य चर्चा कर लेने पर अब मुख्य बातें केवल तीन रह जाती हैं—(१) आलोचना की वैज्ञानिक प्रक्रिया, (२) आलोचना की ऐतिहासिक समीक्षा और (३) उसकी वर्तमान गतिविधि (अर्थात् उसका अपने साहित्य में पयोग)। स्वरूप-निर्णय के बाद सहज ही प्रक्रिया का प्रश्न आता है और किसी भी

विषय की वैज्ञानिक प्रक्रिया का विवेचन बिना इतिहास के सहारे नहीं हो सकता। इन सब के अन्त में वाग्योगविद् अध्यापक और व्यवहार-चतुर विद्यार्थी के लिये यह भी आवश्यक हो जाता है कि कुछ तथ्यों को स्थिर करके उनका व्यवहार और प्रयोग जाना जाय। इस प्रकार यह किसी भी विषय की आलोचना की साधारण विधि है। यही आलोचना के आलोचन की भी विधि होनी चाहिए।

(साहित्यालोचन, पृष्ठ ३३९-३४९)

पद्मसिंह शर्मा

[समय—सन् १८७६-१९५२ ई०]

ग्रन्थ—बिहारी की सतसई

१—काव्य में शृंगार रस

बहुत से महापुरुष कविता की उपयोगिता को स्वीकार तो किसी प्रकार करते है, पर शृंगार रस उनके निर्मल नेत्रों में कुछ खार-सा या तेज तेज़ाब सा खटकता है, वह शृंगार की रसीली लता को विषैली समझकर कविता-वाटिका से एकदम जड़ से उखाड़ फेंकने पर तुले खड़े हैं। उनकी शुभ सम्मति में शृंगार ही सब अनर्थों की जड़ है, शृंगार रस के 'अश्लील' काव्यों ने ही संसार में अनाचार और दुराचार का प्रचार किया है, शृंगार के साहित्य का संसार से यदि आज संहार कर दिया जाय तो सदाचार का संचार सर्वत्र अनायास हो जाय, फिर संसार के सदाचारी और ब्रह्मचारी बनने में कुछ भी देर न लगे !

कई महानुभाव तो भारतवर्ष की इस वर्तमान अधोगति के श्रेय का सेहरा भी शृंगार के सिर पर ही बाँधते हैं। उनकी समझ मे शृंगार रस ही की मूसलाधार अतिवृष्टि ने देश को डुबो कर रसातल पहुँचाया है।

ठीक है, अपनी अपनी समझ ही तो है, इस विचार के लोग भी तो हैं जो कहते हैं कि वेदान्त के विचार, उपनिषदों में वर्णित अध्यात्म भावों के प्रचार ने ही देश को अकर्मण्य, पुंसत्वविहीन और जाति को हीन-दीन बनाकर वर्त्तमान दशा में पहुँचाया है। फिर वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के विरोधियों की भी कुछ कमी नही है, वह इस शिक्षा को ही सब अनर्थों की जननी जानकर धिक्कार रहे हैं, यदि यह पिछले मत ठीक हैं तो पहला भी ठीक हो सकता है। जब अन्तिम रस (शान्त) संसार की अशान्ति का कारण हो सकता है तो आदिम (शृंगार) भी अनर्थ का मूल सही ! पर तनिक ध्यान देकर देखा जाय तो अपनी-अपनी जगह सब ठीक है—

'गुलहाय रंगारंग से है ज़ीनते-चमन ।
ऐ 'ज़ौक़' इस जहाँ को है ज़ेब इख़्तलाफ़ से ।'

पदार्थ-वैचित्र्य के साथ रुचि-वैचित्र्य भी सदा से है और सदा रहेगा। यह विवाद कुछ आज का नहीं, बहुत पुराना है, पहले यहाँ शृंगाररस-प्राधान्य-वादियों का एक पक्ष था। उसका मत था कि शृंगार ही एक रस है, वीर, अद्भुत आदि में रस की प्रसिद्धि गतानुगतिकता की अन्ध परम्परा से यों ही हो गयी है। इस मत के समर्थन में सुप्रसिद्ध भोजदेव ने 'शृंगार प्रकाश' नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसका उल्लेख विद्याधर ने अपनी 'एकावली' के रस-प्रकरण में इस प्रकार किया है—

'राजा तु शृंगारमेकमेव 'शृंगारप्रकाशे' रसमुररीचकार।

(पृष्ठ ३-५)

इसी प्रकार एक दूसरा पक्ष था जो शृंगार रस को एकदम अव्यवहार्य समझता था, वह केवल शृंगार ही का नहीं, शृंगार-वर्णन के कारण काव्य-रचना ही का विरोधी था। उसकी आज्ञा थी—

'असभ्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्।'

अर्थात्—असभ्य-अश्लील अर्थ का प्रतिपादक होने के कारण काव्य का उपदेश (काव्य-रचना) नहीं करना चाहिये।

इसके उत्तर मे काव्य-मीमांसा के आचार्य कवि-कुल-शेखर 'राजशेखर' कहते हैं कि—

'प्रक्रमापन्नो निबन्धनीय एवायमर्थः।'

अर्थात् प्रक्रम-प्राप्त ऐसे विषय-विशेष का वर्णन अपरिहार्य है, वह होना ही चाहिए, वह काव्य का एक अंग है, प्रकरण में पडी बात कैसे छोड़ी जा सकती है ? जो बात जैसी है कवि उसका वैसा वर्णन करने के लिये विवश है। शृंगार की सामग्री—तत्सम्बन्धी नाना प्रकार के दृश्य--जब जगत् में प्रचुर परिमाण में सर्वत्र प्रस्तुत हैं, तब कवि उनकी ओर से आँखें कैसे बंद कर लें ? तद्विषयक वर्णन क्यों न करे ? कवि ही ऐसा करते हों, केवल वही इस 'असभ्याभिधान' अपराध के अपराधी हों, यह बात भी तो नहीं, राजशेखर कहते हैं—

'तदिदं श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते।'

इस प्रकार का वर्णन—जिसे तुम असभ्य और अश्लील कहते हो—श्रुतियों में और शास्त्रों में भी तो पाया जाता है।

इसके आगे कुछ श्रुतियाँ और शास्त्र-वचन उद्धृत करके राजशेखर ने अपने उक्त मत की पुष्टि की है। उनके उद्धृत वचनों के आगे कवियों के 'अश्लील' वर्णन भी लज्जा से मुँह छिपाते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो कवियों पर सभ्यता या अश्लीलता के प्रचार का दोषारोपण करना उनके साथ अन्याय करना है,कवियों ने अश्लीलता को स्वयं दोष मान कर उससे बचे रहने का उपदेश दिया है, काव्य-दोषों में 'अश्लीलता' एक मुख्य दोष माना गया है। फिर कवि अश्लीलता का उपदेश देने के लिये काव्य-रचना करें यह कैसे माना जा सकता है ?

शृंगार रस के काव्यों में परकीयादिका प्रसंग कुरुचि का उत्पादक होने से नितान्त निन्दनीय कहा जाता है; यह किसी अंश में ठीक हो सकता है, पर ऐसे वर्णनों से कवि का अभिप्राय समाज को नीति भ्रष्ट और कुरुचि-सम्पन्न बनाना नहीं होता, ऐसे प्रसंग पढ़ कर धूर्त विटों की गूढ लीलाओं के दाव-घात से परिचय प्राप्त करके सभ्य समाज अपनी रक्षा कर सके—इस विषय में सतर्क रहे—यही ऐसे प्रसंग-वर्णन का प्रयोजन है। काव्यालंकार के निर्माता रुद्रट ने भी यही बात दूसरे ढंग से कही है—

'न हि कविना परदारा, एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः।
कर्त्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः॥
किन्तु तदीयं वृत्तं, काव्यांगतया स केवलं वक्ति।
आराधयितुं विदुषस्तेन न दोषः कवेरत्र॥'

रुचि-भेद और अवस्था-भेद से काव्यों के कुछ वर्णन किन्हीं विशेष व्यक्तियों को अनुचित प्रतीत हों, यह और बात है, इससे ऐसे काव्य की अनुपयोगिता सिद्ध नहीं होती। अधिकार-भेद की व्यवस्था सब जगह समान है, काव्य-शास्त्र भी इसका अपवाद नहीं है। कौन कहता है कि वृद्ध जिज्ञासु, बाल ब्रह्मचारी, मुमुक्षु यति और जीवन्मुक्त संन्यासी भी काव्य के ऐसे प्रसंगों को अवश्य पढ़ें। ऐसे पुरुष काव्य के अधिकारी नहीं हैं। फिर यह भी कोई बात नहीं है कि जो चीज़ इनके लिये अच्छी न हो वह औरों के लिए भी अच्छी न हो, इनकी रुचि को सबकी रुचि का आदर्श मानकर संसार का काम कैसे चल सकता है !

काव्यों के विषय की आप लाख निन्दा कीजिये, अश्लील और गन्दे बतलाकर उनके विरुद्ध कितना ही आन्दोलन कीजिये, पर जब तक चटपटी भाषा का चटखारा सहृदय समाज से नहीं छूटता—जिसका छूटना असम्भव नही तो अत्यन्त कठिन अवश्य

है—सहृदयता के साथ इसका बड़ा गहरा अटूट सम्बन्ध है—तब तक काव्यों का प्रचार रुक नहीं सकता। बड़े-बड़े सुरुचि-संचारक प्रचारकों और धार्मिक उपदेशकों तक को देखा गया है कि श्रोताओं पर अपनी वक्तृता का रंग जमाने के लिये उन्हें भी काव्यों की लच्छेदार भाषा और सुन्दर सूक्तियों, अनोखी अन्योक्तियों का बीच-बीच में सहारा लेना ही पड़ता है। अच्छी भाषा पढ़ने-सुनने का लोगों का 'दुर्व्यसन' भी हमारे सुधारकों के काव्य-विरोध-विषयक प्रयत्नों को अधिकांश में निष्फल कर देता है। ईश्वर करे यह 'दुर्व्यसन' बना रहे।

यह समझना एक भारी भ्रम है कि काव्यों के पढ़ने वाले अवश्य ही कुरुचि-सम्पन्न लोग होते हैं। शृंगार रस की चाशनी चखने की स्वाभाविक रुचि ही काव्यों की ओर पाठकों को नही खीचती, भाषा के माधुर्य की चाट भी कुछ कम नही होती।

चाहे अपने मत से इसे देश का 'दुर्भाग्य' ही समझिये कि हमारे कवियों ने 'प्रकाश के देवता से अन्धकार का काम' क्यों लिया, ऐसी सुन्दर भाषा का 'दुरुपयोग' ऐसे 'भ्रष्ट' विषय के वर्णन में क्यों कर गये? पर जो कर गये सो कर गये, जो हो गया सो हो गया, वह समय ही कुछ ऐसा था, समाज की रुचि ही कुछ वैसी थी और अब दुबारा ऐसे कवि यहाँ पैदा होने से रहे जो वर्त्तमान सभ्य समाज की सुरुचि के अनुसार सामयिक विषयों का ऐसी ललित, मधुर, परिष्कृत और फड़कती हुई, जानदार भावमयी भाषा में वर्णन करके मुर्दा-दिलों में जान डाल जायें, सोते को जगा जायें और जागतों को किसी काम में लगा जायें! हमारी भाषा की बहार बीत गयी, अब कभी खत्म न होने वाली 'खिजाँ के दिन हैं, भाषा के रसिक भौरे कान देकर सुने और आँख खोल कर देखें, कोई पुकार कर कह रहा है—

"जिन दिन देखे वे कुसुम, गयो सु बीत बहार।
अब अलि! रही गुलाब में अपत कटीली डार॥"

जिस भावहीन निर्जीव भाषा में नीरस कर्णकटु काव्यों की आज दिन सृष्टि हो रही है इससे सुरुचि का संचार हो चुका। यह सहृदय समाज के हृदयों मे घर कर चुकी। यह सूखी टहनी साहित्य-क्षेत्र से बहुत दिन खड़ी न रह सकेगी। कोरे काम-चलाऊपन के साथ भाषा में सरसता और टिकाऊपन भी अभीष्ट है तो इसके निस्सार शरीर में प्राचीन साहित्य के रस का संचार होना अत्यावश्यक है। विषय की दृष्टि से न सही, भाषा के महत्त्व की दृष्टि से भी देखिये तो शृंगार रस के प्राचीन काव्यों की उपयोगिता कुछ कम नहीं है। यदि अपनी भाषा को अलंकृत करना है तो इसी पुरानी काव्य-

वाटिका से—जिसे हजारों चतुर मालियों ने सैकड़ों वर्ष तक दिल के खून से सींचा है—सदाबहार फूल चुनने ही पड़ेंगे। काँटों के डर से रसिक भौंरा पुष्पों का प्रेम नहीं छोड़ बैठता। मकरन्द के लिये मधुमक्षिकाओं को इस चमन में आना ही होगा, यदि वह इधर से मुँह मोड़कर 'सुरुचि' के ख्याल में स्वच्छ आकाश-पुष्पों की तलाश में भटकेगी तो मधु की एक बूँद से भी भेंट न हो सकेगी! हमारे सुशिक्षित समाज की 'सुरुचि' जब भाषा-विज्ञान के लिये उसी प्रकार का विदेशी साहित्य पढ़ने की आज्ञा खुशी से दे देती है तो मालूम नहीं अपने ही साहित्य से उसे ऐसा द्वेष क्यों है? परमात्मा इस 'सुरुचि' से साहित्य की रक्षा करे!

(पृष्ठ ५-६)

२. काव्य में भाव-वक्रता

आजकल का सम्भ्रान्त शिक्षित समाज कोरी "स्वभावोक्ति" पर फिदा है, अन्य अलंकारों की सत्ता उसकी परिष्कृत रुचि की आँख में काँटा-सी खटकती है, और विशेषकर "अतिशयोक्ति" से तो उसे कुछ चिढ़-सी है। प्राचीन साहित्य-विधाताओं के मत में जो चीज कविता-कामिनी के लिये नितान्त उपादेय थी, वही इसके मत में सर्वथा हेय है। यह भी एक रुचि-वैचित्र्य का "दौरात्म्य" है। जो कुछ भी हो, प्राचीन काव्य वर्तमान "परिष्कृत सुरुचि" के आदर्श पर नहीं रचे गये, उन्हें इस नये गज से नहीं नापना चाहिये, प्राचीनता की दृष्टि से परखने पर ही उनकी खूबी समझ में आ सकती है। 'सतसई' भी एक ऐसा ही काव्य है, बिहारी उस प्राचीन मत के अनुयायी थे जिसमें अतिशयोक्ति-शून्य अलंकार चमत्कार-रहित माना गया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, पर्याय, और निदर्शना आदि अलंकार अतिशयोक्ति से अनुप्राणित होकर ही जीवन-लाभ करते हैं। अतिशोक्ति ही उन्हे जिला देकर चमकाती है, मनोमोहक बनाती है, उनमें चारुत्व लाती है—यह न हो तो वे कुछ भी नहीं, बिना नमक का भोजन, तार-रहित सितार और लावण्यहीन रूप है।

"अतिशयोक्ति" के विषय में आचार्य 'भामह' की यह शुभ सम्मति है—

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारस्तया विना॥"

अर्थात् काव्य में सर्वत्र 'वक्रोक्ति' (अतिशयोक्ति) ही का चमत्कार है, यही अर्थ को चमका कर दिखाती है, कवि को इसमें प्रयत्न करना चाहिये, सब अलंकारों में एक इसी की करामात तो काम कर रही है।

भामहाचार्य की इस सम्मति के सामने सबने सिर झुकाया है। आचार्य दण्डी, आनन्दवर्धनाचार्य और श्री मम्मट भट्ट ने एक स्वर से 'अतिशयोक्ति' की उपादेयता स्वीकार की है—भामह की उपर्युक्त उक्ति को इन आचार्यों ने उद्धृत करके इसका औचित्य स्वीकार किया है—भामह के मत की पुष्टि की है—साहित्य के सूक्ष्म परीक्षक 'रस-गंगाधरकार' पण्डितराज जगन्नाथ भी अतिशयोक्ति के परम प्रशंसक थे।

पुराने काव्यों मे 'नेचुरल सादगी'—(जिसे कुछ लोग 'स्वभावोक्ति' भी कहते हैं) के उदाहरण कुछ कम नही हैं। पर उनमें भी कुछ निराला चमत्कार है। 'तेरे चेहरे पर भौंह के नीचे आँखें हैं, और मुंह के भीतर दाँत हैं'—इस किस्म की सादगी कविता की शोभा नहीं बढ़ा सकती—कविता का सिंगार या अलंकार नहीं कहला सकती, यह आँख और दाँत वाली बात साफ, सीधी और सच हो सकती है, कोई सादगी-पसन्द सज्जन अपनी परिभाषा में इसे 'स्वभावोक्ति' भी कह सकते हैं, पर यह साहित्य-सम्मत 'स्वभावोक्ति' नही है।

नवीन आदर्श के अनुयायी काव्य-विवेचक प्राचीन काव्यों का विवेचन करते समय इसे न भूलें, और यह भी याद रक्खें कि सब जगह 'सादगी' ही आदर नही पाती, 'कविता' की तरह और भी कुछ चीजें ऐसी हैं जहाँ 'वक्रता' (बाँकपन, बंकई) ही क़दर और क़ीमत पाती है।

(पृष्ठ २१७-१९)

कृष्णबिहारी मिश्र

[जन्म—सन् १८९०]

ग्रन्थ—देव और बिहारी

१. भाषा का माधुर्य

'मधुर' शब्द लाक्षणिक है। मधुरता-गुण की पहचान जिह्वा से होती है। शक्कर का एक कण जीभ पर पहुँचा नही कि उसने बतला दिया, यह मीठा है। पर शब्द तो चक्खा जा नही सकता, फिर उसकी मिठाई से क्या मतलब? यहाँ पर मधुरता गुण का आरोप शब्द में करने के कारण 'सारोपा लक्षणा' है। कहने का मतलब यह कि जिस प्रकार कोई वस्तु जीभ को एक विशेष आनन्द पहुँचाने के कारण मीठी कहलाती है, उसी प्रकार कोई ऐसा शब्द, जो कान में पड़ने पर आनन्दप्रद होता है, 'मधुर शब्द' कहा जायगा।

शब्द-मधुरता का एकमात्र साक्षी कान है। कान के बिना शब्द-मधुरता का निर्णय हो ही नही सकता। अतएव कौन शब्द मधुर है और कौन नही, यह जानने के लिये हमे कानों की शरण लेनी चाहिए। ईश्वर का यह अपूर्व नियम है कि इस इन्द्रिय-ज्ञान और विवेचन मे उसने सब मनुष्यो मे एकता स्थापित कर रक्खी है। अपवादों की बात जाने दीजिए, तो यह मानना पड़ेगा कि मीठी वस्तु संसार के सभी मनुष्यों को अच्छी लगती है। उसी प्रकार सुगन्ध-दुर्गन्ध आदि का हाल है। कानो से सुने जाने वाले शब्दों का भी यही हाल है। अफ्रीका के एक हबशी को जिस प्रकार शहद मीठा लगेगा, उसी प्रकार आयर्लैंड के एक आइरिश को भी। ठीक यही दशा शब्दों की है। कैसा ही क्यो न हो, बालक का तोतला बोल मनुष्य-मात्र के कानो को भला लगता है। पुरुष की अपेक्षा स्त्री का स्वर विशेष रमणीय है। कोयल का शब्द क्यों अच्छा है, और कौवे का क्यों बुरा, इसका कारण तो कान ही बतला सकते हैं। जंगल में जो वायु पोले बाँसों में भर कर अद्‌भुत शब्द उत्पन्न करती है, उसी वायु से प्रकम्पायमान वृक्ष भी हहर-हहर शब्द करते हैं, फिर क्या कारण है, जो बाँसों वाला स्वर कानों को सुखद है, और दूसरे स्वर में वह बात नही है? हमें प्रकृति में ऐसे ही नाना भाँति के शब्द मिला करते हैं। इन प्रकृति वाले शब्दों में से जो हमें मीठे लगते हैं, उनसे ही

मिलते-जुलते शब्द भाषा के भी मधुर शब्द जान पड़ते हैं। बालक से कठिन, मुँह के मिले हुए शब्द आसानी से नहीं निकलते, और जिस प्रकार के शब्द उसके मुँह से निकलते हैं, वे बहुत ही प्यारे लगते हैं। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि प्रायः मीलित वर्ण वाले शब्द कान को पसन्द नही आते। इसके विपरीत सानुस्वार, अमीलित वर्ण वाले शब्दों से कर्णेन्द्रिय की तृप्ति-सी हो जाया करती है।

जिस प्रकार बहुत-से शब्द मधुर हैं, उसी प्रकार कुछ शब्द कर्कश भी हैं। इनको सुनने से कानों को एक प्रकार का क्लेश-सा होता है। जिस भाषा में मधुर शब्द जितने ही अधिक होंगे, वह भाषा उतनी ही मधुर कही जायगी। इसके विपरीत वाली कर्कश। परन्तु सदा अपनी ही भाषा बोलते रहने से, अभ्यास के कारण, उस भाषा का कर्कश शब्द भी कभी-कभी वैसा नही जान पडता, और उसके प्रति अनुराग और हठ भी कभी-कभी इस प्रकार के कर्कशत्व के प्रकट कहे जाने में बाधा डालता है। अतएव यदि भाषा की मधुरता या कर्कशता का निर्णय करना हो, तो वह भाषा किसी ऐसे व्यक्ति को सुनाई जानी चाहिए, जो उसे समझता न हो। वह पुरुष तुरन्त ही उचित बात कह देगा, क्योंकि उसके कानों का पक्षपात से अभी तक बिलकुल लगाव नहीं होने पाया है।

मिष्ट-भाषी का लोक पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस बात को भी यहाँ बता देना अनुचित न होगा। जब कोई हमी मे से मधुर स्वर में बात करता है. तो हमको अपार आनन्द आता है। एक सुन्दर स्वरूपवती स्त्री मिष्ट-भाषण द्वारा अपने प्रिय पति को और भी वश में कर लेती है। मधुर स्वर न होना उसके लिये एक त्रुटि है। एक गुणी अनजान आदमी को कर्कश स्वर मे बोलते देख कर लोग पहले उसको उजड्ड समझने लगते हैं। ठीक इसके विपरीत एक निर्गुणी को भी मधुर स्वर में भाषण करते देख-कर एकाएक वे उसे तिरस्कृत नही करते। सभा-समाज में वक्ता अपने मधुर स्वर से श्रोताओं का मन कुछ समय के लिये अपनी मुट्ठी में कर लेता है, और यदि वह वक्ता पं० मदनमोहन जी मालवीय के समान पंडित भी हुआ, तो फिर कहना ही क्या ? सोने में सुगंध वाली कहावत चरितार्थ होने लगती है।

घोर कलह के समय भी एक मधुर-भाषी का वचन अग्नि पर पानी के छीटे का काम करता देखा गया गया है। निदान समाज पर मधुर माषा का खूब प्रभाव है। लोगों ने तो इस प्रभाव को यहाँ तक माना है कि उसकी वशीकरण मंत्र से तुलना की है। कोई कवि इसी अभिप्राय को लेकर कहता है—

कागा कासों लेत है ? कोयल काको देत ?
मीठे बचन सुनाय के जग बस में कर लेत ।

(देव और बिहारी, पृष्ठ १५-१७)

\+ + +

यहाँ तक तो यह प्रतिपादित हो चुका कि शब्दों में भी मधुरता है, इस मधुरता के साक्षी कान हैं, जिस भाषा में अधिक मधुर शब्द हों, उसे मधुर भाषा कहना चाहिए, कविता के लिए मधुर शब्द आवश्यक हैं एवं ब्रज भाषा बहु-सम्मति से मधुर भाषा है, और माधुरी के वश उसने 'सत्पद्य-पीयूष के अक्षय स्रोत प्रवाहित किए हैं।' अब इस सम्बन्ध मे हमें एक बात और कहनी है । कविता के लिये तन्मयता की बड़ी ज़रूरत है। प्रिय वस्तु के द्वारा अभीष्ट-साधन आसानी से होता है । मधुर शब्दावली सभी को प्रिय लगती है । इसलिये यह बात उचित ही जिन पड़ती है कि मधुर वाक्यावली में बद्ध कवि-विचार अंगूर के समान सब प्रकार से अच्छे लगेंगे । अच्छे वस्त्रों में कुरूप भी अनेकानेक दोष छिपा लेता है, पर सुन्दर की सुन्दरता तो और भी बढ़ जाती है । इसी प्रकार अच्छे भाव किसी भाषा में हों, अच्छे लगेंगे । पर यदि वे मधुर भाषा में हों, तो और भी हृदय-ग्राही हो जायँगे । भाव की उत्कृष्टता जहाँ होती है, वहीं पर सत्काव्य होता है, और भाषा की मधुरता इस भावोत्कृष्टता पर पालिश का काम देती है ।

भाषा की चमचमाहट भाव को तुरन्त हृदयंगम कराती है ।

(देव और बिहारी, पृष्ठ २५)

२. समालोचना

निष्पक्षपात-भाव से किसी वस्तु के गुण-दूषणों की विवेचना करना समालोचना है । इस प्रथा के अवलंबन से उत्तम विचारों की पुष्टि तथा वृद्धि होती रहती है ।

भारतवर्ष में समालोचना की प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आती है, यहाँ तक कि 'शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि' यह नीति-वाक्य भारतवासियों को साधारण-सा जँचता है । संस्कृत-पुस्तकों की अनेकानेक टीकाएँ ऐसी हैं, जिन्हें यदि उन पुस्तकों की समालोचनाएँ कहें, तो कुछ अनुचित नहीं है । आजकल महाकवियों के काव्यों में छिद्रान्वेषण-सम्बन्धी जो लेख निकलते हैं, वे प्रायः इन्हीं टीकाकारों के 'निरं-

कुशाः कवयः,' 'कवि-प्रमाद' आदि के आधार पर है। जिस समय भारतवर्ष मे छापे का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, और न आजकल के ऐसे समाचार-पत्रों ही का प्रचार था, उस समय किसी पुस्तक का प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेना बहुत कठिन कार्य था। निदान यदि एक प्रान्त में एक पुस्तक का प्रचार होता था, तो दूसरे में दूसरी का। ग्रंथ विशेष का पूर्णतया प्रचार हो, उसमें लोगों की श्रद्धा-भक्ति बढ़े, इस अभिप्राय से उस समय प्रचलित नाना ग्रन्थों के माहात्म्य बन गए। रामायण-माहात्म्य, भागवत-माहात्म्य आदि पुस्तकों को पढ़कर भला रामायण और भागवत पढ़ने की किसे इच्छा न होती होगी? ऐसी अवस्था में यदि इन्हें हम प्रशंसात्मक समालोचनाएँ मानें, तो कुछ अनुचित नही जान पड़ता। संभव है, इसी प्रकार निन्दा-विषयक भी अनेकानेक पुस्तकें बनी हों, और जिन ग्रन्थों का प्रचार रोकने का उनका आशय रहा हो, उनके नष्ट हो जाने पर वे विशेष उपयोगी न रहने के कारण प्रचलित न रही हों। जो हो, हमारे पूर्वजों के ग्रंथो में उनकी सत्यवादिता स्पष्ट झलकती है—ऐसा जान पड़ता है कि वे लोग समालोचना-सम्बन्धी लाभो से भली भाँति परिचित थे। श्रीपति जी ने केशव जैसे महाकवि के काव्य में निर्भीक होकर दोष दिखलाने में केवल अपना पांडित्य ही प्रदर्शित नही किया वरन् अंधपरम्परानुसरण करने वाले अनेक लोगो को वैसी ही भूलो मे पड़ने से बचा लिया; एतदर्थ हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए।

आजकल जिस प्रकार की समालोचना प्रचलित है, वह अँगरेजी चाल के आधार पर है। जैसी जिस समय लोगों की रुचि होती है, वैसी ही उस समय समालोचनाएँ भी निकला करती हैं, इस कारण समालोचना भी भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। आजकल सम्पादक लोग किसी पुस्तक के अनुकूल या प्रतिकूल अपनी सम्मति प्रकाश कर देने ही से अपने को उत्तम समालोचक समझने लगते हैं, मानो निज अनुमति-अनुमोदनार्थ कतिपय पंक्तियो का उद्धृत करना, उसी के आधार पर कुछ कारणों की सृष्टि कर देना तथा अपने माने हुए गुण-दूषणो की पूर्ण तालिका दे देना ही समालोचना है। जो समालोचक क्लिष्ट कल्पनाओं की सहायता से किसी स्पष्टार्थ वाक्य के अनेकार्थ कर दे, उसकी वाहवाही होने लगती है—लोग उसे सम्मान की दृष्टि से देखने लगते हैं। (देव और बिहारी, पृष्ठ २८–३०)

× × ×

परन्तु अब सरसरी तौर से अनुकूल या विरुद्ध सम्मति दे देने से काम न चलेगा—अब हमको केवल इस बात ही के जानने की आवश्यकता नही है कि यह ग्रंथ उत्तम है या विद्वत्ता-पूर्ण। हमें तो अब उस ग्रंथ के विषय का पूर्ण विवरण चाहिए।

इन सब बातों का सम्यक् उल्लेख होना चाहिए कि किन कारणों से वह ग्रंथ उत्तम कहा गया। ग्रंथकर्त्ता को लेखकों या कवियों में कौन-सा स्थान मिलना चाहिये ? उस विषय के जो अन्य लेखक हों, उनके साथ मिलान करके दिखलाना चाहिए कि उनसे यह किस बात में उच्च या न्यून है, और-और ग्रंथों की अपेक्षा इस प्रकार के ग्रंथों का विशेष आदर होना चाहिए या नही ? यदि होना चाहिए, तो किन कारणों से ? लोगों की रुचि, हृदय-ग्राहकता, पात्रों के चरित्रादि कैसे दिखलाए गए हैं ? आजकल दार्शनिक रीति की जितनी समालोचनाएँ प्रकाशित होती हैं, उन सबमें विवाद को बहुत स्थान मिल सकता है। पहले इतने कम ग्रंथ प्रकाशित होते थे कि उन सबका पढ़ा जाना बहुत सम्भव था, और ग्रंथ का नाम और मिलने का पता जान लेने पर लोग उसे पढ़ डालते थे। अतएव उस समय सूक्ष्म समालोचनाओं ही की आवश्यकता थी। परन्तु आजकल के लोगों को पुस्तके चुन-चुनकर पढ़नी हैं। इस कारण अब दूसरे ही प्रकार की समालोचनाओ की आवश्यकता है।

हमारी समझ में किसी ग्रंथ की समालोचना करते समय तद्गत विषय का प्रत्येक ओर से निरीक्षण होना चाहिए। ग्रंथ का गौण विषय क्या है तथा प्रयोजनीय क्या है, वास्तविक वर्णन क्या है तथा भराव क्या है, आदि बातों का जिस समालोचना में विचार किया जाता है, उससे पुस्तक का हाल वैसे ही विदित हो जाता है, जैसे किसी मकान के मानचित्रादि से गृह का विवरण ज्ञात हो जाता है। अब तक जो समालोचनाएँ अच्छी मानी गई है, उनमें कथानक-मात्र का उल्लेख कर दिया गया है। काल-भंग, दुष्क्रम आदि दूषणो के निरूपण मे, पात्रों के शील-सम्बन्धादि के विषय में या वर्णन-शैली की नीरसता पर कुछ टिप्पणी कर दी गई है। इस प्रकार की समालोचनाओं से पुस्तक के मुख्य भाव, रस-निरूपण, कवि-कौशल, वर्णन-शैली तथा लेखक की मनोवृत्तियों के विषय में कुछ भी विदित नहीं होता। गजट या वंशावली से जो हाल मिलता है, वही ऐसी समालोचनाओं से। ग्रंथ की ओजस्विनी भाषा हृदय की कली-कली को किस भाँति खिला देती है, करुणोत्पादक वर्णन दु.खसागर में कैसे मग्न कर देते हैं, लेख-शैली से लेखक की योग्यता के सम्बन्ध में कैसे विचार उत्पन्न होते हैं—आदि बातों का आभास इनमें कुछ नही मिलता। ग्रंथ में काव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म नियमों का उल्लंघन कहाँ-कहाँ हुआ है, इसके दिखलाने में समालोचक यथासाध्य प्रयत्न करता है, परन्तु वह भिन्न-भिन्न लोगों की रुचि के अनुसार है या नहीं, इसका समालोचना में कही कुछ पता नही लगता। सारांश यह कि ऐसी समालोचनाओं द्वारा ग्रंथ के विषय में सब हाल जानते हुए भी यदि यह कहें कि कुछ नहीं जानते, तो अत्युक्ति न होगी।

ग्रंथ लिखने से ग्रंथकर्ता का क्या अभिप्राय है, यह लिखने का समालोचक बहुत कम कष्ट स्वीकार करता है। कुछ समालोचनाओं की भाषा ऐसी निर्जीव-सी होती है कि उनमें अनेकानेक गुणो का उल्लेख होते हुए भी समालोच्य पुस्तकें पढ़ने की इच्छा ही नहीं होती, और कुछ समालोचनाएँ ऐसे ज़ोरदार शब्दों में होती हैं कि पुस्तक मँगाकर पढ़े बिना कल ही नहीं पड़ती। कुछ समालोचक ऐसे होते हैं, जिन्हें दोषों के अतिरिक्त और कुछ नही देख पड़ता। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी हैं, जो गुण-गान-मात्र ही किया करते हैं। गुण-गायक समालोचकों की समालोचनाएँ वैसी ही हैं, जैसे नदी का बहता हुआ जल। चाहे जो वस्तु गिर पड़े,नदी सब कुछ बहा ले जाती है, ऐसे ही चाहे जैसा ग्रंथ हो, वह उनकी दृष्टि में प्रशसनीय बन जाता है। दोष-दर्शक समालोचकों के कारण हमारी किसी भी ग्रंथ पर श्रद्धा नही होने पाती। पुस्तक की अनुचित प्रशंसा प्रायः मित्र-भाव के कारण होती है, और निन्दा दलबन्दी के अनुसार। प्रत्येक भिन्न दल वाला अपने प्रतिद्वन्द्वी दल की लिखी हुई पुस्तकों की इतनी निन्दा करता है, मानो उनके कर्ता पूर्णतया मूर्ख ही हों। ग्रंथ की अशुद्धियाँ बढ़ा कर लिखने की कौन कहे, कभी तो अनुमान से ऐसी-ऐसी विचित्र बातें गढ़ ली जाती हैं, जिनका कही सिर-पैर ही नहीं होता।

कभी-कभी समालोचक किसी कारण-विशेष से विवश होकर किसी प्रसिद्ध लेखक या कवि को आदर्श-स्वरूप मान लेता है, और अपने उसी आदर्श से समालोचना करता है। ऐसी दशा में यदि आदर्श कवि या लेखक के विपरीत कुछ भी भाव हुए, तो नवीन लेखक के ऊपर उसे क्रोध आ जाता है, और फिर लेखक की वास्तविक योग्यता का विचार होने से रह जाता है। भूषण को वीर-रस के तथा बिहारी या देव को शृंगार-रस के वर्णन मे आदर्श-स्वरूप मानकर समालोचना होते समय किसी नवीन लेखक को न्याय की कभी आशा नही रखनी चाहिए। इसी प्रकार प्राचीन काल के प्रसिद्ध कवियो में से किसी के कवि-कौशल विशेष का लक्ष्य करके समालोचना करने से वास्तविक निर्णय नही हो सकता। जैसे इतिहास-सम्बन्धी सच्ची घटनाओं के वर्णन, जातीय जागृति कराने के उद्योग, वीर-रस-संचार करने की शक्ति आदि बातों का लक्ष्य रखने से समालोचक को भूषण, चद आदि के आगे और सब फीके देख पड़ेंगे, वैसे ही धार्मिक विचारों की प्रौढ़ता, निष्कपट भक्ति-मार्ग-प्रदर्शन, अपूर्व शान्ति-सागर के हिलोरों आदि का लक्ष्य रखने से तुलसी, सूर आदि ही, उसकी राय में, सर्वोच्च पदों पर जा बिराजेंगे। पुनः यौवनोचितोपभोगादिक, मूर्ति-चित्रण-चातुरी निष्कपट तथा शुद्ध प्रेमोद्घाटन, शृंगार-रसाप्लावित काव्य का लक्ष्य रखने से केशव, देव आदि ही बड़े-बड़े आसनों को सुशोभित करने में समर्थ होंगे। भिन्न-भिन्न रस-निरूपण करने में एक दूसरा

किसी से कम नही है। यदि तुलसीदास और सूर शान्त में अग्रगण्य हैं, तो देव और बिहारी शृंगार-शिरोमणि हैं, वैसे ही वीरोचित प्रबन्धोपकथन में भूषण और चन्द ही प्रधान हैं। शान्त में आनन्द पाने वाला तुलसी को, शृंगार वाला देव को और वीर वाला भूषण को श्रेष्ठ मानेगा। इस प्रकार भिन्न-भिन्न रुचि के अनुकूल भिन्न-भिन्न कवि श्रेष्ठ हैं। इसका निर्णय करना कि इनमें क्रमानुसार कौन श्रेष्ठ है, बहुत ही कठिन है। ऐसे अवसर पर विद्वानों में मतभेद हुआ ही करता है, और ऐकमत्य स्थापित होना एक प्रकार से असम्भव ही हो जाता है।

(देव और बिहारी, ३३–३७)

३—तुलनात्मक समालोचना

आइए पाठक, अब आप तुलनात्मक समालोचना के बारे मे भी हमारा वक्तव्य सुन लीजिए। इस ग्रथ में हमने देव और बिहारी पर तुलनात्मक समालोचना लिखी है। इसीलिये इस विषय पर भी कुछ लिखना हम आवश्यक समझते हैं।

कविता विशेष के गुण समझने के लिये उसमें आए हुए काव्योत्कर्ष की परीक्षा करनी पड़ती है। यह परीक्षा कई प्रकार से की जा सकती है – जाँच के अनेक ढंग हैं। कभी उसी कविता को सब ओर से उलट-पलटकर देख लेने में ही पर्याप्त आनन्द मिल जाता है—कविता के यथार्थ जौहर खुल जाते हैं, पर कभी इनता श्रम पर्याप्त नहीं होता। ऐसी दशा में अन्य कवियों की उसी प्रकार की, उन्हीं भावों को अभिव्यक्त करने वाली सूक्तियों से पद्य-विशेष का मुकाबला करना पडता है। इस मुकाबले में विशेषता और हीनता स्पष्ट झलक जाती है। यही क्यों, ऐसी अनेक नई बातें भी मालूम होती हैं, जो अकेले एक पद्य के देखने से ध्यान में भी नही आती। ज़रा-सा फर्क कवि की मर्मज्ञता की गवाही देने लगता है। उदाहरण के लिए महाकवि बिहारीलाल का निम्न-लिखित दोहा लीजिए—

लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहि,
ये मुँहजोर तुरंग-लौं, ऐंचत हूँ चलि जाहिं।

मतिरामजी ने इस दोहे को इसी रूप में अपनाया है। केवल ज़रा-सा हेर-फेर कर दिया है। देखिए—

मानत लाज-लगाम नहिं, नेंक न गहत मरोर,
होत लाल लखि, बाल के, दृग-तुरंग मुंह जोर।

बिहारीलाल के दोहे में 'लौ' (समान) वाचक पद आया है। वह शब्द मतिराम को बहुत खटका। उन्होंने इसी के कारण दोहे में पूर्ण निर्वाह हो सकने वाले रूपक को भंग होते देखा। अतएव लौ' के निर्वासन पर उन्होंने कमर कसी। इस प्रयत्न में वह सफल भी हुए। उनका दोहा अविकलांग रूपक से अलंकृत है। मतिराम की इस मार्मिकता का रहस्य इस मुकाबले से ही खुलता है—इस तुलना से बिहारी के दोहे की सुकुमारता और व्याकुलता और साथ ही मतिराम के दोहे में अलंकार-निर्वाह का दर्शन हो जाता है। कविता की जो परीक्षा इस प्रकार एक या अनेक कवियों की उक्तियों की तुलना करके की जाती है, उसीको 'तुलनात्मक समालोचना' कहते हैं।

(देव और बिहारी, पृष्ठ ३८-३९)

४—रस-राज

कविता का उद्देश हमारी राय में, आनन्द-प्रदान है। कविता-शास्त्र के प्रधान आचार्यों ने देववाणी संस्कृत में भी कविता का मुख्य उद्देश्य यही माना है। कविता लोकोत्तर आनन्ददायिनी है। राजभाषा अँगरेजी के प्रसिद्ध कविता-समालोचकों की सम्मति भी यही है। तत्काल आनन्द (इमीजियेट प्लेजर) मय कर देना कविता का कर्त्तव्य है।

यह आनन्द-प्रदान रस के परिपाक से सिद्ध होता है। यों तो नीरस कविता भी मानी गई है, और चित्र-काव्य का भी कविता के अन्तर्गत वर्णन किया गया है, पर वास्तव में रसात्मक काव्य ही काव्य है। रस मनोविकारों के सम्पूर्ण विकास का रूप है। किसी कारण-विशेष से एक मनोविकार उत्थित होता है, फिर परिपुष्ट होकर वह सफल होता है, इसीको रस-परिपाक कहते हैं। मनोविकार के कारण को विभाव, स्वयं मनोविकार को स्थायी भाव, उसके अन्य पोषक भावों को व्यभिचारी भाव एवं तज्जन्य कार्य को अनुभाव कहते हैं। सो 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव की सहायता से जब स्थायी भाव उत्कट अवस्था को प्राप्त हो मनुष्य के मन में अनिर्वचनीय आनन्द को उपजाता है, तब उसे रस कहते हैं' (रस-वाटिका, पृष्ठ ७)। हमारे प्राचीन साहित्य-शास्त्र-प्रणेताओं ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की सहायता से स्थायी भावों के पूर्ण विकास का खूब मनन किया है। इसी के फलस्वरूप उन्होंने नव रस निर्धारित किए हैं, और इन नव रसों में भी शृंगार, वीर और शान्त को प्रधानता दी है। फिर इन तीनों में भी, उनकी राय के अनुसार, शृंगार ही सर्वश्रेष्ठ है।

शृंगार-रस में ही सब अनुभाव, विभाव, व्यभिचारी भाव-पूर्ण प्रकाश प्राप्त कर पाते हैं, अन्य रसों में वे विकलांग रहते हैं। शृंगार-रस का स्थायी भाव 'रति' और सभी रसों के स्थायियों से अच्छा है। रति (प्रेम) मे जो व्यापकता, सुकुमारता, स्वाभाविकता, संग्राहकत्व, सृजन-शक्ति और आत्म-त्याग के भाव हैं, वे अन्य स्थायियों में नही हैं। नर-नारी की प्रीति में प्रकृति और पुरुष की प्रणय-लीला का प्रतिबिंब झलकता है। रति स्थायी के आलम्बन विभावों में परस्पर समान आकर्षण रहता है। अन्य स्थायियों में परस्पर आकर्षण की बात आवश्यक नही है। शृंगार-रस के उद्दीपन विभाव भी परम मेध्य, सुन्दर और प्राकृतिक सुखमा से मंडित हैं। इस रस के जो मित्र हैं, उनके साथ-साथ और सब रस भी शृंगार की छत्रच्छाया में आ सकते हैं। सो शृंगार सब रसों का राजा ठहरता है।

(देव और बिहारी, पृष्ठ ७३-७५)

× × ×

प्रत्येक वस्तु का सदुपयोग भी होता आया है, और दुरुपयोग भी। अतएव स्त्री-पुरुष की पवित्र प्रीति पर भी दुराचारियों ने कलंक-कालिमा पोती है, परन्तु इससे उस प्रीति की महत्ता तथा स्थायित्व नष्ट नहीं हो सकता।

(देव और बिहारी, पृष्ठ ७६)

+ + +

कविता में 'आदर्शवाद' का जो विवाद उठाया गया है, वह भी स्वकीया के प्रेम के आगे फीका है। इस विषय पर हम कुछ अधिक विस्तार के साथ लिखना चाहते हैं, पर और कभी लिखेंगे। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि स्वकीयाओं के प्रेम में सराबोर जो कविताएँ उपलब्ध हैं, वे 'कवित्व' के लिये अपेक्षित सभी गुणों से परिपूर्ण हैं। कदाचित् शृंगारी कविता पर आधुनिक आदर्श-वादियों का एक यह भी अभियोग है कि वे दुश्चरित्रता की जननी होती हैं। इस अभियोग में सत्यता का कुछ अंश अवश्य है, पर इसके साथ ही अनेक ऐसे वर्णन भी इस श्रेणी में गिन लिए गए हैं, जो इस अभियोग से सर्वथा मुक्त हैं। बात यह है कि शृंगार-रस से परिपूर्ण किसी भी ऐसे वर्णन को, जिसमें बात कुछ खुलकर कही गई हो, ये लोग दुश्चरित्रता-जनक मान बठे हैं। ऐसे लोगों को ही लक्ष्य करके एक प्रसिद्ध अँगरेज़ लेखक ने लिखा है—'जो लोग नग्न वर्णन को ही दुश्चरित्रता मान बैठे हैं, उनके ऐसे विचारों का तीव्र प्रतिवाद होना चाहिए, विशेष करके जब ऐसी धारणा उन लोगों की है जो शिक्षित कहे जाते हैं।'

सारांश यह कि दाम्पत्य-प्रेम से परिपूर्ण कविताओं को हम, आदर्शवाद के विद्रोह की उपस्थिति में भी, बड़े आदर की दृष्टि देखते हैं, जिन प्राचीन तथा नवीन कवियों ने ऐसे उच्च और विशुद्ध वर्णन किए हैं, उनकी भूरि-भूरि सराहना करते हैं, और मनुष्यता के विकास में उनका भी हाथ मानते हैं।

(देव और बिहारी, पृष्ठ ८०-८१)

× × ×

सो शृंगार-रस को रस-राज कहने में भाषा-कवियों को दोष न देना चाहिए। मनोविकारों के स्थायित्व और विकास की दृष्टि से शृंगार-रस सचमुच सब रसों का राजा है। हम कुरुचि-प्रवर्तक कविता के समर्थक नहीं हैं; परन्तु शृंगार-कविता के विरुद्ध जो आजकल धर्मयुद्ध-सा जारी कर रक्खा गया है, उसकी घोर निन्दा करने से भी नहीं हिचकते हैं। कविता और नीति किसी भी प्रकार एक नहीं हैं। जैसे चित्रकार जाह्नवी का पवित्र चित्र खीचता है, वैसे ही वह श्मशान का भीषण दृश्य भी दिखलाता है। वेश्या और स्वकीया के चित्र खीचने मे चित्रकार को समान स्वतन्त्रता है। ठीक इसी प्रकार कवि प्रत्येक भाव का, चाहे वह कितना ही घृणित अथवा पवित्र क्यों न हो, वर्णन करने के लिये स्वतन्त्र है। कवि लोकोत्तर आनन्द-प्रदान करते हुए नीति भी कहता है, उपदेश भी देता है। पर उपदेश-हीन कविता कविता ही न हो, यह बात नितांत भ्रम-पूर्ण है। कविता के लिये केवल रस-परिपाक चाहिए। उपयोगितावाद के चक्कर में डालकर ललित [illegible] का सौंदर्य नष्ट करना ठीक नही।

(देव और बिहारी, पृष्ठ ८२)

५. भाव-सादृश्य

प्राय: देखा जाता है कि कवि लोग अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों का समावेश अपने काव्य में करते है। संसार के बड़े-से-बड़े कवियों ने भी अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों को निस्संकोच अपनाया है। कवि-कुल-मुकुट कालिदास ने संस्कृत में, महामति शेक्सपियर ने अंगरेजी में, तथा भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी ने हिन्दी भाषा में अपना जो अनोखा काव्य रचा है, उसमें अपने पूर्ववर्ती कवियों के भाव अवश्य लिए हैं। अध्यात्मरामायण, हनुमन्नाटक, प्रसन्न राघव नाटक, बाल्मीकीय रामायण, श्रीमद्भागवत तथा ऐसे ही अन्य और कई ग्रन्थों के साथ श्री तुलसीदास की रामायण पढ़िए, तो शंका होने लगती है कि इन सुकवि-शिरोमणि ने कुछ अपने दिमाग से भी लिखा है या नहीं ? एक अंगरेज समालोचक ने महामति शेक्सपियर के कई नाटकों की पंक्तियाँ गिन डाली हैं कि कितनी मौलिक हैं, कितनी यथातथ्य, उसी रूप में, पूर्ववर्ती कवियों की हैं,

तथा कितनी कुछ परिवर्तित रूप में पूर्व में होने वाले कवियों की कविता से ली गई है। शेक्सपियर का 'हेनरी षष्ठ' बहुत प्रसिद्ध नाटक है। इसमें कुल ६०४३ पंक्तियाँ हैं। इनमें से १८९९ पक्तियां ऐसी हैं, जो शेक्सपियर की रचना हैं। पर शेष या तो सर्वथा दूसरों की रचना हैं या शेक्सपियर ने उनमें कुछ काट-छाँट कर दी है। हिन्दी के किसी समालोचक ने ठीक ही कहा है कि "अपने से पूर्व होने वाले कवियों के भाव अपनाने का यदि विचार किया जाय, तो हिन्दी का कोई भी कवि इस दोष से अछूता न छूटेगा। कविता-आकाश के सूर्य और चन्द्रमा को गहन लग जायगा। तारे भी निष्प्रभ हो खद्योत की भाँति टिमटिमाते देख पड़ेंगे।"

कहने का तात्पर्य यह कि कविता-संसार में अपने पूर्ववर्ती कवियों की कृति से लाभान्वित होना एक साधारण-सी बात हो गई है। पर एक बात का विचार आवश्यक है। वह यह कि पूर्ववर्ती कवि की कृति को अपनाने वाला यथार्थ गुणी होना चाहिए। अपने से पहले के साहित्य-भवन से जो ईंट उसे निकालनी चाहिए, उसे नूतन भवन में कम-से-कम वैसे ही कौशल से लगानी चाहिए। यदि वह ईंट को अच्छी तरह न बिठाल सका, तो उसका साहस व्यर्थ प्रयास होगा। उसकी सराहना न होगी, वरन् वह साहित्य का चोर कहा जायगा। पर यदि वह ईंट को पूर्ववर्ती कवि से भी अधिक सफ़ाई के साथ बिठालता है, तो वह ईंट भले ही उसकी न हो, पर वह निन्दा का पात्र नहीं हो सकता। उसे चोर नही कह सकते। यह मत हमारा ही नहीं है—संस्कृत और अँगरेज़ी के विद्वान समालोचकों की भी यही राय है।

कविता के भाव-साहश्य के सम्बन्ध में ध्वन्या[redacted] कहते हैं—

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किंचित्।
स्फुरितमिवमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहाते॥
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्।
सुकविरुपनिबध्नन् निन्द्यतां नोपयाति॥

—कि जिस कविता में सहृदय भावुक को यह सूझ पड़े कि इसमें कुछ नूतन चमत्कार है, फिर चाहे उसमें पूर्व कवियों की छाया ही क्यों न दिखलाई पड़े—भाव अपनाने में कोई हानि नही है—उस कविता का निर्माता सुकवि, अपनी बंध छाया से पुराने भाव को नूतन रूप देने के कारण, निंदनीय नहीं समझा जा सकता।

यह तो संस्कृत के आदर्श समालोचक की बात हुई, अब अँगरेज़ी के परम प्रतिभावान् समालोचक महामति इमर्सन की राय भी सुनिए। वह कहते हैं—

"साहित्य में यह एक नियम-सा हो गया है कि यदि एक कवि यह दिखला सके

कि उसमें मौलिक रचना करने की प्रतिभा है, तो उसे अधिकार है कि अह औरों की रचनाओं को इच्छानुसार अपने व्यवहार में लावे। विचार उसी की संपत्ति है, जो उसका आदर-सत्कार कर सके—ठीक तौर से उसकी स्थापना कर सके। अन्य के लिए हुए विचारों का व्यदहार कुछ भद्दा-सा होता है, परन्तु यदि हम यह भद्दापन दूर कर दें, तो फिर वे विचार हमारे हो जाते हैं।"

उपर्युक्त दो सम्मतियाँ इस बात को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त हैं कि भाव-सादृश्य के विषय मे विद्वान् समालोचको की क्या राय रही है। वर्तमान समय में हिन्दी कविता की समालोचना की ओर लोगों की प्रवृत्ति हुई है। भिन्न-भिन्न कवियो की कविता मे आए हुए सदृश भावों पर भी विवेचन प्रारम्भ हुआ है। जिस समालोचक का अनुराग जिस कवि-विशेष पर होता हैं, वह स्वभावत: उसका पक्षपात कभी-कभी अनजान मे कर डालता है। पर कभी-कभी विद्वान् समालोचक, हठ-वश, अपनी सारी योग्यता एक कवि को बड़ा तथा दूसरे को छोटा दिखाने में लगा देते हैं। यह बात अनजान मे न होकर समालोचक की पूरी-पूरी जानकारी मे होती है। इससे यथार्थ बात छिपाई जाती है, जिससे समालोचना का मुख्य उद्देश्य नष्ट हो जाता है। ऐसी समालोचनाओं को तो "पक्षपात-परिचय" कहना चाहिए। इस "पक्षपात-परिचय" में जब समालोचक आलोच्य कवि को खरी-खोटी भी सुनाने लगता है, तो वह पक्षपात-परिचय भी न रहकर 'कलुषित उद्गार'—मात्र रह जाता है। ऐसी समालोचनाओं में यदि कोई महत्त्वपूर्ण बात रहती भी है, तो वह छिप जाती है। समालोचक का सारा परिश्रम व्यर्थ जाता है। दुःख है कि वर्तमान हिन्दी-साहित्य में कभी-कभी ऐसी समालोचनाएँ निकल जाती हैं।

यदि किसी कवि की कविता मे भाव-सादृश्य आ जाय, तो समालोचना करते समय एकाएक उसे 'तुक्कड़' या 'चोर' न कह बैठना चाहिए, वरन् उस प्रसंग पर इमर्सन और ध्वन्यालोककार की सम्मति देख कर कुछ लिखना अधिक उपयुक्त होगा। कितने ही समालोचक ऐसे हैं, जो कवि की कविता में भाव-सादृश्य पाते ही कलम-कुल्हाड़ा लेकर उसके पीछे पड़ जाते हैं, और समालोच्य कवि को गालियाँ भी दे बैठते हैं। अतएव काव्य में चोरी क्या है, इस बात को हिन्दी-समालोचकों को अच्छी तरह हृदयंगम कर लेना चाहिए।

(देव और बिहारी, पृष्ठ ८४-८७)

गुलाबराय

[जन्म—सं० १९४४ वि०]

ग्रन्थ – सिद्धान्त और अध्ययन, काव्य के रूप

१—काव्य का सौन्दर्य

सौन्दर्य की जो वस्तु अपने लक्ष्य या कार्य के अनुकूल हो वही सुन्दर है। 'सुधा सराहिय अमरता गरल सराहिय मीचु' यह भी उपयोगिता का ही रूप है। क्रोचे ने अभिव्यक्ति को ही कला या सौन्दर्य माना है। वह सफल विशेषण भी नही जोड़ना चाहता क्योंकि असफल अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति नही है। यह परिभाषा कला-कृतियों पर ही अधिक लागू होती है। इन परिभाषाओं से हम इस तथ्य पर आये हैं कि सौन्दर्य का गुण किसी अंश में वस्तुगत है और उसका निर्णय तद्गत गुणो, रेखाओ आदि के सामंजस्य पर निर्भर है। इन गुणों, रूपों आदि का जितना सामंजस्य-पूर्ण बाहुल्य होगा उतनी वह वस्तु सुन्दर होगी (क्रोचे ने सौन्दर्य में श्रेणी-भेद नही माना है, वह असुन्दर की ही श्रेणियाँ मानता है)। उसकी विषयगतता ही लोक-रुचि का निर्माण करती है। वैयक्तिक रुचि यदि विरुद्ध हो तो उसकी सराहना नहीं की जाती।

सीतलताऊ सुगन्ध की, महिमा घटी न मूर।
पीनस वारे जो तज्यो, सोरा जानि कपूर॥

इसी के साथ सौन्दर्य का विषयीगत पक्ष भी है जिसके कारण उसकी ग्राहकता आती है। सौन्दर्य का प्रभाव भी विषयी पर ही पड़ता है, इसीलिए उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

सौन्दर्य बाह्य रूप में ही सीमित नही है वरन् उसका आन्तरिक पक्ष भी है। उसकी पूर्णता तभी आती है जब आकृति गुणों की परिचायक हो। सौन्दर्य का आन्तरिक पक्ष ही शिवं है। वास्तव में सत्य, शिव और सुन्दर भिन्न-भिन्न क्षेत्रो में एक-दूसरे के अथवा अनेकता मे एकता के रूप हैं। सत्य ज्ञान की अनेकता में एकता है, शिव कर्म-क्षेत्र की अनेकता की एकता वा रूप है। सौन्दर्य भाव-क्षेत्र का सामंजस्य है। सौन्दर्य को हम वस्तुगत गुणों का रूपों के ऐसे सामंजस्य को कह सकते हैं जो हमारे भावों में साम्य उत्पन्न कर हमको प्रसन्नता प्रदान करे तथा हमको तन्मय कर ले। सौन्दर्य रस का वस्तुगत पक्ष है। रसानुभूति के लिए जिस सतोगुण की अपेक्षा रहती

है वह सामंजस्य का ही आन्तरिक रूप है। सतोगुण एक प्रकार से रजोगुण और तमोगुण का सामंजस्य ही है। उसमें न तमोगुण की-सी निष्क्रियता रहती है और न रजोगुण की-सी उत्तेजित सक्रियता। संतुलनपूर्ण सक्रियता ही सतोगुण है। इसी प्रकार के सौन्दर्य की सृष्टि करना कवि और कलाकार का काम है। संसार मे इस सौन्दर्य की कमी नही। कलाकार इस सौन्दर्य पर अपनी प्रतिभा का आलोक डालकर इसे जनता के लिए सुलभ और ग्राह्य बना देता है।

कवि जहाँ पर सामंजस्य का अभाव देखता है वहाँ वह थोड़ी काट-छाँट के साथ सामंजस्य उत्पन्न कर देता है। वही सामंजस्य पाठक वा श्रोता के मन में समान प्रभाव उत्पन्न कर उसके आनन्द का विधायक बन जाता है। सौन्दर्य की इतनी विवेचना करने पर भी उसमे कुछ अनिवर्चनीय तत्त्व रहता है, जिसके लिए बिहारी के शब्दों मे कहना पड़ता है—**'वह चितवन और कछू जिहि बस होत सुजान'** इसी अनिवर्चनीयता के कारण प्रभाववादी आलोचना और रुचि को महत्त्व मिलता है।

(सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ ८२-८३)

२—काव्य और साहित्य

साहित्य शब्द अपने व्यापक अर्थ मे सारे वाङ्मय का द्योतक है। वाणी का जितना प्रसार है वह सब साहित्य के अन्तर्गत है। इस अर्थ मे औषधियों के विज्ञापन और बीमा कम्पनियो के सूचना-पत्र भी साहित्य में आ जाते हैं। वैज्ञानिक साहित्य, गणित-शास्त्र अथवा अर्थ-शास्त्र सम्बन्धी साहित्य—ऐसे प्रयोग तो हमारी भाषा में प्रचलित हैं ही। साहित्य का शब्दार्थ भी संग्रह के ही निकट है। अपने सकुचित अर्थ में साहित्य काव्य का पर्याय हो जाता है। जहाँ हम साहित्य का प्रश्न-पत्र कहते हैं वहाँ साहित्य से काव्य ही अभिप्रेत होता है। यही हाल अँग्रेजी शब्द 'लिट्रेचर' का है। व्यापक अर्थ मे जितना अक्षरों (लेटर्स) का आयोजन है वह सब लिट्रेचर है। लिट्रेचर शब्द 'लेटर्स' से ही बना है। सकुचित अर्थ मे लिट्रेचर काव्य का पर्याय है। काव्य मे गद्य और पद्य दोनों ही आते हैं। कविता शब्द यद्यपि पद्यात्मक काव्य में रूढ़ हो गया है तथापि कभी-कभी उसका व्यापक अर्थ मे भी प्रयोग होने लगता है, जैसे जब कोई मनुष्य अधिक भावुकतापूर्ण वार्तालाप करने लगता है तब हम उससे कहते हैं 'भाई, तुम तो कविता करने लगे'। कविता से पद्यात्मक साहित्य का बोध होता है किन्तु काव्य शब्द पूरे भाव-प्रधान साहित्य का बोधक होता है। साहित्य के व्यापक अर्थ में काव्य और शास्त्र दानों ही आ जाते हैं। रस-प्रधान साहित्य काव्य कहलाता है और ज्ञान-

प्रधान साहित्य में, जिसमें बुद्धि और नियम का शासन अधिक रहता है, वह शास्त्र (साइंस) कहलाता है। जीवन की पूर्णता दोनों के अनुशीलन में है—'काव्य-शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीयताम्'। (सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ २३)

३—प्रगीत-काव्य

प्रगीत-काव्य में कवि जो कुछ कहता है अपने निजी दृष्टिकोण से कहता है। उसमें निजीपन के साथ रागात्मकता रहती है। यह रागात्मकता आत्म-निवेदन के रूप मे प्रकट होती है। रागात्मकता में तीव्रता बनाये रखने के लिए उसका अपेक्षाकृत छोटा होना आवश्यक है। आकार की इस संक्षिप्तता के साथ भाव की एकता और अन्विति लगी रहती है। छोटेपन की सार्थकता भाव की अन्विति मे है। गीत-काव्य में विविधता रहती है किन्तु वह प्रायः एक ही केन्द्रीय भाव को पुष्टि के लिए होती है। वह केन्द्रीय भाव प्रायः टेक या स्थायी मे रहता है और वह बार-बार दुहराया जाता है। इस प्रकार प्रभाव घनीभूत होता रहता है और भाव की अन्विति भी होती जाती है। संक्षेप में प्रगीत-काव्य के तत्त्व इस प्रकार हैं– संगीतात्मकता और उसके अनुकूल सरस प्रवाह-मयी कोमल-कान्त पदावली, निजी रागात्मकता (जो प्रायः आत्म निवेदन के रूप में प्रगट होती है), संक्षिप्तता और भाव की एकता। यह काव्य की अन्य विधाओ की अपेक्षा अधिक अन्तःप्रेरित (स्पॉनटेनियस) होता है और इसी कारण इसमे कला होते हुए भी कृत्रिमता का अभाव रहता है।

प्रगीत-काव्य के कई रूप हो सकते हैं (सवैये आदि भी गेय हैं) किन्तु गीत इसका मुख्य रूप है। श्रीमती महादेवी वर्मा ने, जिनका स्थान आजकल के गीत-काव्य लिखने वालों में बहुत ऊँचा है, गीत की परिभाषा इस प्रकार दी है :—

साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा मे तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके। अनुभूति को तीव्र बनाये रखने में तथा उसको दूसरों तक पहुँचाने के लिए भाव की अभिव्यक्ति पर थोड़ा संयम भी आवश्यक हो जाता है। जल बँधी हुई नाली मे ही गति के साथ बह सकता है। यह नियन्त्रण और संयम बाहर से नही वरन् स्वयं ही प्राप्त हो जाता है।

गीत और इतिवृत्त

गीत या प्रगीत-काव्य के लिए यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि जब उसमें रागात्मक आत्म-निवेदन एक आवश्यक तत्त्व है तब गीतावली के या सूरसागर के कथा-सम्बन्धी पदों का क्या स्थान है ? क्या वे प्रगीत-काव्य की सज्ञा से बाहर हो जाते हैं ?

जहाँ पर भक्त अपने निजी उल्लास के साथ अपने इष्टदेव की लीला का वर्णन करता है वहाँ उसमें रागात्मक आत्म-निवेदन आ ही जाता है। सूर और तुलसी के पदों में यह रागात्मक निजीपन पूर्ण रूप में पाया जाता है। सूर तो पद के अन्त में 'सूर के प्रभु' 'सूर के ठाकुर' कहकर निजी सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा के शब्दो में हम कह सकते हैं कि 'मिट्टी के भरे पात्र में जैसे रजकण ही अपने भीतर पानी के लिए जगह बना देते है वैसे ही यथार्थ के लिए भाव में ऐसी स्वाभाविक स्थिति चाहिए जो भाव ही से मिल सके। इससे अधिक इतिवृत्त गीत में नही समा पाता।' इसीलिए गीतकार को बहुत-सी बातें छोड़ देनी पड़ती हैं। रौद्र, भयानक, वीभत्स रस गीत-काव्य के कोमल हार्द (स्प्रिट) के कारण त्याज्य हो जाते हैं। इसी कारण तुलसीदास जी की गीतावली में युद्ध का वर्णन नहीं है।

लोकगीत और साहित्यिक गीत

गीत लोक-गीत भी होते हैं और साहित्यिक भी। लोक-गीतों के निर्माता प्रायः अपना नाम अव्यक्त रखते हैं और कुछ में वह व्यक्त भी रहता है। (बुन्देलखण्डी कवि ईसुरी की फागों मे उसके नाम की छाप मिलती है)। वे लोक-भावना में अपने भाव मिला देते हैं। लोक-गीतों में होता तो निजीपन ही है किन्तु उनमें साधारणीकरण और सामान्यता कुछ अधिक रहती है, तभी वे वैयक्तिक रस की अपेक्षा जनरस उत्पन्न कर सकते हैं। उन गीतो में प्रत्येक गायक और श्रोता का तादात्म्य हो जाता है। इनका सम्बन्ध प्रायः अवसर विशेष, (होली, विवाह, जन्मोत्सव आदि) से रहता है। साहित्यिक गीतों मे निर्माता का निजीपन अधिक रहता है। लोक-गीतों में भी साहित्यिक गीतों की-सी कल्पना रहती है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने एक लोक-गीत अपने संग्रह में दिया है। उसका भाव यह है कि एक हरिनी जिसके पति को राजा दशरथ ने आखेट में मार डाला था माता कौशल्या के पास जाती है। वे पीढ़ा पर बैठी थीं और वह उनसे उसकी खाल माँगती हुई कहती है कि मांस तो रसोई में रँध रहा है, मुझे खाल दे दो, मैं उसे पेड़ पर टाँग कर देखा करूँगी और समझूँगी कि मानो हिरन जीता है। माता कौशल्या कहती है कि इससे मेरे राम के लिए खंजरी बनेगी। जब-जब खंजरी बजती थी तब-तब हरिनी कान उठाकर उसका शब्द सुनती थी और उसी ढाक के नीचे खड़ी होकर हिरन के लिए रोती थी :—

मचिये बैठी कौशल्या रानी हरिनी अरज करइ।
रानी! मसवा त सिझहिं रोसइयां खलरिया हमें देतिउ॥

पेड़वा से टँगतिउँ खलरिया त हेरिफेरि देखितिउँ ।
रानी देखि-देखि मन समझाइत जनुक हरिना जीतइ ।।
जाहु हरिनी घर आपने खलरिया नहीं देबइ ।
हरिनी ! खलरीक खंझड़ी मिढ़ऊबइ त राम मोर खेलिहँइ ।।
जब-जब बाजइ खँजड़िया सबद सुनि अनकइ ।
हरिनी ठाढ़ि ढंकुलिया के नीचे हरिन का बिसूरइ ।।

इस गीत के अज्ञात कवि की कल्पना में करुण रस पराकाष्ठा को पहुँच गया है।

एक विरहिरणी नायिका की, जिसका पति रात को प्रवास से लौटने वाला था, उत्साहमयी मनोदशा का चित्रण नीचे की पंक्तियों मे देखिए :—

"आजु ऊओ मोरे चन्दा जुन्हैया आंगन लीपं,
झिलमिल होंहि तरइयां तो मोतिन चौक धरं।"

लोक-गीत भी जातीय साहित्य से सामग्री ग्रहण करते रहते हैं। रामायण और महाभारत से सम्बन्धित अनेकों लोक-गीत हैं।

साहित्यिक गीत कई प्रकार के होते हैं। इनमे हम दो मुख्य भेद देखते हैं। कुछ तो शुद्ध संवेदनात्मक होते हैं, जैसे—कबीर तथा मीरा के गीत अथवा तुलसी के विनय-पत्रिका के पद और कुछ कथाश्रित होते हैं, जैसे—सूर के लीला-सम्बन्धी पद। उनमे भी कवि आत्म-निवेदन करता है। किन्तु किसी दूसरे पात्र द्वारा। शुद्ध संवेदनात्मक गीतों में कवि स्वयं ही अपना निवेदन करता है। उसके निवेदन मे और लोग भी भाग ले तो दूसरी बात है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि तुलसी अपने विनय के पदों में भी लोक का प्रतिनिधित्व करते हैं। साहित्यिक गीतों का उदय लोक-गीतों से ही हुआ है। मेरी समझ में तो महाकाव्य भी लोक-गीतों के विकसित और संगठित रूप हैं। बहुत से साहित्यिक गीत भी लावनी आदि लोक-गीतो के अनुकरण में बने हैं।

(काव्य के रूप, पृष्ठ १०७-११०)

४. दुःखान्त नाटक

पाश्चात्य देशों में नाटकों का विभाजन दु.खान्त और सुखान्त रूप में किया जाता था। दुःखान्त नाटक आरम्भ में गम्भीर नाटक होते थे। दु ख में गाम्भीर्य अधिक रहता है। इसीलिए गम्भीर नाटकों ने दुःखान्त का रूप धारण किया। आजकल

दुःखान्त-सुखान्त का ऐसा कटा-छँटा विभाजन नही रहा जैसा पहले था। भारतवर्ष में तो सब नाटक सुखान्त ही होते थे। किन्तु उनमें थोड़ा-बहुत दुःख का तत्त्व भी रहता था : इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि दुःखान्त नाटकों के देखने से क्यों सुख होता है ? यदि सुख नही मिलता है तो हम पैसा दे कर क्यों आँसू बहाने जाते हैं ? इस सम्बन्ध से अरस्तू ने तो अपना रेचन का सिद्धान्त चलाया था। उनका कथन है कि हमारे मन मे जो करुणा और भय की मात्रा रहती है, यदि वह इकट्ठी होती रहे तो हानिकारक हो जायेगी। जिस प्रकार वैद्य हमारे मलों को निकालकर हमारे शरीर को शुद्ध कर देता है, उसी प्रकार दुःखान्त नाटक में कृत्रिम रूप से हमारी करुणा और भीति (भय) को निकास मिल जाता है।

यह सिद्धान्त सर्वमान्य नही है। अँगरेज़ी के आलोचक (एफ० एल० लूकास) का कथन है कि हम इन भावो को निकालना नही चाहते हैं वरन् उनका उपभोग करना चाहते हैं। कुछ लोगो का यह भी कहना है कि कथानक के दुःखात्मक होते हुए भी शैली की सरसता उसमे आनन्द की सृष्टि कर देती है।

इस सम्बन्ध मे यह भी कहा जा सकता है कि दुःखान्त नाटक अथवा दुःखात्मक नाटक, नाटक तो होते ही हैं और जिस प्रकार और कोई नाटक या काव्य हमको प्रसन्नता देते हैं। उसी प्रकार और उन्ही कारणों से दुःखान्त नाटक भी प्रसन्नता देते हैं। काव्य या नाटक से हम को क्यों प्रसन्नता होती है ? इसके भी कई उत्तर हो सकते हैं। उनमें से एक यह भी है कि काव्य के द्वारा हमारी आत्मा का विस्तार होता है। हम शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध में आते है। नाटक चाहे दुःखान्त हो, चाहे सुखान्त, उसके पात्र हमारे जैसे हाड़, मांस, चाम के पुतले होते हैं और वे हमारी तरह ही इच्छा द्वेष और प्रयत्न कर सुख या दुःख के भागी बनते हैं। मनुष्य स्वभाव से सहानुभूति-शील है। वह अपने कुल और गोत की वृद्धि चाहता है।

मनुष्य सामाजिक जीव है। वर्तमान सभ्यता का जटिल जीवन अथवा संसार में जीवन के सीमित उपादान उसको प्रतिद्वंद्विताशील और असामाजिक बना देते हैं। यद्यपि ऐसे भी लोग हैं जो 'बिन काज दाहिने बाएँ' होते हैं, तथापि वे विरले हैं और यदि उनका इतिहास देखा जाय तो ज्ञात होगा कि वे भी जीवन के किसी अभाव या निराशा के कारण ऐसे बने होगे। नाटक देखने या उपन्यास पढ़ने से हमारे सामाजिक भाव की तृप्ति होती है। नाटक या उपन्यासों के पात्रों से हमारा सम्बन्ध किसी प्रकार से दूषित भाव का नही होता। वे हमारे प्रतिद्वन्द्वी नही होते और न उनसे हमारा ज़मीन-जायदाद का कोई झगड़ा होता है। उनके प्रति हमको ईर्ष्या और मात्सर्य भी नहीं होता और न उनकी विभूति देखकर हमको जूड़ी आती है क्योंकि ज्यादातर हमको

अपने पड़ौसी को मोटर में जाते देखकर ईर्ष्या होती है, दुनिया-भर से नहीं। जिनका ईर्ष्या-भाव अधिक व्यापक हो जाता है, उनको नाटक या सिनेमा मे भी आनन्द न मिलेगा। इस प्रकार नाटक, सिनेमा, उपन्यास, प्रबन्ध-काव्य सभी हमारे सामाजिक भाव की तृप्ति करते हैं। काव्य के द्वारा लौकिक जीवन की कटुता, रुखाई और दाहकता, माधुर्य, स्निग्धता और शीतलता का रूप धारण कर लेती है और काव्य के आलम्बनों से हमारा निजी सम्बन्ध न रह कर मानवता का नाता हो जाता है। हमारे लौकिक सम्बन्ध कभी-कभी मानवता से हटे रहते हैं। काव्य के सम्बन्ध मानवता के सम्बन्ध होने के कारण सत्त्व-गुण-प्रधान होते हैं। इसी सत्त्व-गुण की अभिवृद्धि से जिज्ञासा-वृत्ति से उत्पन्न चित्त की एकाग्रता द्वारा आत्मा का स्वाभाविक आनन्द प्रस्फुटित हो उठता है। यही ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यानन्द है। हिन्दू शास्त्रों का कुछ ऐसा ही मत है।

दुःखान्त नाटकों का दु.ख क्या इस आनन्द में बाधक होता है? इसके लिए हमको दुःख का कारण जानना चाहिए। वास्तविक जीवन में दुःख का कारण निजीपन ही तो है। इसी से ज्ञानी मुक्त होना चाहता है। काव्य द्वारा हम लौकिक जीवन के निजीपन को तो खो देते हैं। ऐसा करने में कुछ नुकसान अवश्य होता है क्योंकि सुखानुभूति की तीव्रता कुछ कम हो जाती है। (यदि दर्शक को स्वयं लाटरी मिल जाय तो उसको नाटक के नायक को लाटरी या सम्पत्ति मिलते देखने से कहीं अधिक प्रसन्नता होगी) लेकिन उसी के साथ अनुभूति की व्यापकता बढ़ जाती है। तीव्रता के स्थान में व्यापकता आती है।

नाटक का आनन्द सहानुभूति का आनन्द है। वह वैसा ही आनन्द है, जैसा कि एक परोपकारी जीव को दुःखित और पीड़ितों की सहायता से मिलता है। दुःखान्त नाटकों के देखने से करुण रस की उत्पत्ति होती है। हम शोक नहीं चाहते किन्तु करुण रस में मग्न होना चाहते हैं। भाव सुख-दुःखमय होते हैं, रस आनन्दमय है।

दुःखान्त या दुःखात्मक नाटको का दुःख आनन्द में बाधक नही वरन् सहायक होता है। दुःखान्त नाटक (ट्रेजडी) का मूल अर्थ गम्भीरता-प्रधान (सीरियस) नाटक था। दुःखान्त नाटकों में जीवन का गाम्भीर्य अधिक होने के कारण उनमें सुखान्त नाटकों की अपेक्षा सहानुभूति की मात्रा अधिक होती है। इस सहानुभूति से हमारी आत्मा का विस्तार ही सुख है। सुखान्त नाटकों में ईर्ष्या आदि के बुरे भाव भी जागरित हो सकते हैं किन्तु दुःख की अतिशयता का भी हमारे ऊपर बुरा प्रभाव पड़ता है इसीलिए हमारे यहाँ दुःखात्मक नाटक होते हैं, दुःखान्त नहीं।'

दुःखान्त नाटकों में मनुष्य की सहनशीलता को देखकर हम मे गर्व की भावना जाग्रत होती है और कभी-कभी हम अपने अपेक्षाकृत तुच्छ दु.खों को भूल जाते है। सुख में तो विलास की उन्मत्तता आती है और दुःख मे सात्त्विकता का उदय होता है। इस दृष्टि से दुःखान्त नाटकों का महत्त्व अवश्य है फिर भी उनके द्वारा हमारी ईश्वरीय न्याय की भावना में ठेस लगती है। भारतीय नाटककार इस भावना को ठेस नहीं पहुँचाते। (काव्य के रूप, पृष्ठ ३३-३९)

५. साहित्य में चरित्र-चित्रण

सौन्दर्य-वर्णन के साथ चरित्र-चित्रण का भी प्रश्न उपस्थित हो जाता है। आलम्बन के आपे या आत्म-भाव (परसनेलिटि) में उसका रूप और चरित्र सभी कुछ आ जाता है। यद्यपि हमारे यहाँ नायक और विशेषकर नायिकाओं का वर्गीकरण हास्यास्पद कोटि तक पहुँच गया है और उनमें नायकों और नायिकाओं के सामान्य या ढाँचे (टाइप्स) उपस्थित करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है तथापि हमारे यहाँ व्यक्तित्व की अवहेलना नही की गई है। नाटकों मे तो व्यक्तित्व काफ़ी निखरा हुआ रहता है। धीरोदात्त नायक एक सामान्य (टाइप) अवश्य है किन्तु राम और युधिष्ठिर का व्यक्तित्व भिन्न है, इसी प्रकार दुष्यन्त और अग्निमित्र दोनों ही धीर-ललित हैं किन्तु उनका व्यक्तित्व एक नही है।

सामान्य और व्यक्ति का समन्वय ही चरित्र-चित्रण की मूल समस्या है। यदि पात्र अधिक सामान्य की ओर जाता है तो उसका अस्तित्व नहीं रहता है और यदि वह सामान्य से बहुत हट जाता है तो पागल या विक्षिप्त कहलाने लगता है, इसलिए सफल पात्र वे ही हैं जो सामान्य से दूर न होते हुए भी अपनी विशेषता बनाये रखते हैं और उसके कारण वे पहचाने जा सकते हैं। एक सफल पात्र में दोनो ही अंश होते हैं। उसको जो कुछ समाज से मिलता है वह उसका सामान्य अंश होता है और जो व्यक्ति स्वयं अपनी गाँठ का लाता है वह उसका वैयक्तिक भाग होता है। फिर भी कुछ पात्र सामान्य की ओर अधिक झुके होते हैं और कुछ व्यक्तित्व की ओर। सामान्य की ओर झुके हुए पात्र सरल होते हैं और व्यक्तित्व की ओर झुके हुए पात्र अपेक्षाकृत पेचीदा। किन्तु यह बात नियम रूप से नही स्वीकृत हो सकती है। आचार्य शुक्लजी ने मंथरा को सामान्य (टाइप) पात्र ही माना है। अपनी मालकिन की हित-कामना तथा इधर की उधर लड़ाने की प्रवृत्ति उसमें अन्य नौकरानियों की सी ही है किन्तु इन दो प्रवृत्तियों की साधना का प्रकार सब मे एक-सा नही होता है। इसी में व्यक्ति की विशेषता आ जाती है।

हमारे यहाँ उपन्यासों में प्रेमचन्दजी के पात्र सामान्य की ओर अधिक झुके रहते हैं। इसका यह अर्थ नही है कि उनमे व्यक्तित्व नही है। कुछ का तो व्यक्तित्व बड़ा स्पष्ट है जैसे कर्मभूमि में सलीम का। वह अपने कक्ष के मैजिस्ट्रेटों से भिन्न है किन्तु वैसे लोग भी जीवन मे मिल जाते हैं। जैनेन्द्रजी तथा इलाचन्द्र जोशी के पात्र साधारण से हटे हुए होते है। कुछ तो इतने हटे होते हैं (जैसे जैनेन्द्र जी के हरिप्रसन्न और और सुनीता) कि विक्षिप्तता की कोटि को पहुँच जाते हैं। इलाचन्द्र जोशी के 'प्रेत और छाया' का नायक मानसिक विकृतियों का शिकार होने के कारण साधारण से हटा हुआ है। पात्र जितना पेचीदा होता है उतनी ही उसके मनोवैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता होती है। शेखर ऐसा ही पात्र है। कुछ पात्रो मे एक गुण ऐसा होता है जो साधारण से विलक्षण होता है वही उनके चरित्र की कुंजी होती है और उसी के कारण वे सदा याद रहते हैं, जैसे स्कन्दगुप्त की देवसेना अपने समय-कुसमय के सगीत-प्रेम के लिए सदा याद रहेगी।

चरित्र-चित्रण महाकाव्य, खण्डकाव्य, कथात्मक मुक्तक, नाटक, उपन्यास, कहानी सभी मे थोड़ी-बहुत मात्रा मे होता है किन्तु सब मे अलग-अलग प्रकार से। महाकाव्य में वैयक्तिक गुण तो रहते हैं किन्तु वे जाति के सामान्य गुणों की छाया-रूप होते हैं। नाटक, उपन्यास, कहानी आदि में व्यक्तित्व की मात्रा अधिक रहती है। उपन्यास में विश्लेषात्मक के (जिसमें लेखक स्वयं चरित्र का विश्लेषण कर देता है) अतिरिक्त अभिनयात्मक पद्धति की भी (जिसमे पात्र स्वयं अपने बारे में कहता है या दूसरे उसके बारे मे अपनी राय जाहिर करते है अथवा उसके कार्यों द्वारा चरित्र पर प्रकाश पड़ता है) गुंजाइश रहती है। नाटक मे केवल अभिनयात्मक पद्धति से ही काम लिया जाता है। एकांकियो और कहानियो मे चरित्र का विकास तो दिखाने की गुंजाइश नही होती किन्तु उनमें प्राय. बने-बनाये चरित्र पर एक साथ प्रकाश डाला जाता है या यदि परिवर्तन होता है तो एक साथ होता है, जैसा कि डा० रामकुमार वर्मा के रेशमी टाई या अट्ठारह जुलाई की शाम में अथवा प्रेमचन्द जी की 'शखनाद' अथवा कौशिक जी की 'ताई' नाम की कहानी मे। हमारे देश के प्राचीन काव्य और नाटको में पात्र आदर्श की ओर अधिक झुके हुए थे किन्तु उनमें व्यक्तित्व की कमी न थी—हाँ उनमे विकास और परिवर्तन की गुंजाइश कम रहती थी। यह बात राम-कृष्ण आदि अवतारी पुरुषों पर अधिक लागू होती थी। मनुष्य के अन्तःकरण का परिचायक या तो उसका वार्तालाप होता है या उसका काम, यदि दिखावटी न हो। ये सब विभाव के ही अग हैं। (सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ ८७–९०)

६—साधारणीकरण का स्वरूप

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि साधारणीकरण व्यक्ति का नही (उसकी मुख्य विशेषताओं की सम्पन्नता अक्षुण्ण रहती है) वरन् उसके सम्बन्धो का होता है। जल, वायु, नीलाकाश की भाँति उस पर किसी का विशेषाधिकार नही रहता। उसमे न ममत्व-जन्य दुःख और परत्व-जन्य ईर्ष्यादि भावो की गुंजाइश रहती है। कवि भी अपने निजी व्यक्तित्व से ऊँचा उठकर साधारणीकृत हो जाता है। वह लोक का प्रतिनिधि होकर (जब वह निजी भावों की अभिव्यक्ति करता है तब वह भी लोक मे शामिल हो जाता है) भावाभिव्यक्ति करता है। पाठक का साधारणीकरण इस अर्थ मे होता है कि वह अपने व्यक्तित्व के क्षुद्र बन्धनों को तोड़ कर लोक-सामान्य की भाव-भूमि मे आ जाता है, उसका हृदय कवि और लोक-हृदय (जिसमे विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर काव्य का आश्रय भी आ जाता हैं) के साथ प्रति-स्पन्दित होने लगता है। अपने व्यक्तित्व की अनुभूति रसास्वाद मे बाधा मानी गई है।

भावो का साधारणीकरण इस अर्थ मे होता है कि उनसे भी 'अय निजः परो वा' की भावना जाती रहती है और इस कारण उनमे लौकिक अनुभव की स्थूलता, कटुता, तीक्ष्णता और रुक्षता नही रहती है। एकात्मवाद के अधिक प्रचार के कारण भारतीय मनोवृत्ति सामान्य की ओर अधिक झुकी हुई है। एकात्मवाद के कारण अनुभवो और प्रवृत्तियों की एकता और भावो के तादात्म्य को दृढ़ भित्ति मिल जाती है किन्तु साधारणीकरण के प्रवाह में वैयक्तिक विशेषताओ को न बहा देना चाहिए। कवि की विशेषताएँ ही जनता की मनोवृत्ति को बदलती हैं। पाश्चात्य देशों मे व्यक्ति का मान है। हमको भी उसे भूलना न चाहिए।

प्राचीन आदर्शो और वर्तमान आदर्शो मे इस बात का अन्तर हो गया है कि पहले नायक प्रख्यात और उच्चकुलोद्भव होता था और अब होरी किसान भी उपन्यास का नायक बन जाता है। पहले प्रख्यात नायक इसीलिए रहता था जिससे कि सहृदय पाठको का सहज मे तादात्म्य हो जाय, अब लोगो की मनोवृत्तियाँ कुछ बदल गई हैं। आभिजात्य का अब उतना मान नही रहा है। इसीलिए होरी के सम्बन्ध में पाठकों का सहज मे ही तादात्म्य हो जाता है। पात्र के कल्पित होने से भी उसके साधारणीकरण में बाधा नही पड़ती क्योंकि वह प्रायः अपनी जाति का प्रतिनिधि होता है।

साधारणीकरण की उपयोगिता काव्यानुशीलन की उपयोगिता है। उसके द्वारा हमारी सहानुभूति विस्तृत हो जाती है। हम दूसरे के साथ भाव-तादात्म्य करना सीखते हैं। हमारे भावों का परिष्कार हो कर उनका पारस्परिक सामंजस्य भी होने

लगता है। शृंगार, जो लौकिक अनुभव में विषयानन्द का रूप धारण कर लेता है, काव्य में परिष्कृत हो आत्मानन्द के निकट पहुँच जाता है। काव्यानुशीलन करने वाले की रति भी सात्विकोन्मुखी हो जाती है। काव्य के अनुशीलन से व्यक्ति ऊँचा उठ जाता है और उसके जीवन में सन्तुलन आ जाता है।

(सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ १७५–१७६)

जयशंकर प्रसाद

[समय—सन् १८८९-१९३७ ई०]

ग्रन्थ—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध

१—काव्य

सत्य की अभिव्यक्ति हमारे वाङ्मय में दो प्रकार से मानी गई हैं—काव्य और शास्त्र। शास्त्र में श्रेय का आज्ञात्मक ऐहिक और आमुष्मिक विवेचन होता है और काव्य मे श्रेय और प्रेय दोनों का सामंजस्य होता है। शास्त्र मानव-समाज में व्यवहृत सिद्धान्तों के संकलन हैं। उपयोगिता उनकी सीमा है। काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया-नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है, क्योकि आत्मा को मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय माना गया है। 'अयमात्मा वाङ्मयः, मनोमयः, प्राणमयः' (बृहदारण्यक) : उपविज्ञात प्राण, विज्ञात वाणी और विजिज्ञास्य मन है।

इसीलिए कवित्व को आत्मा की अनुभूति कहते हैं। मनन-शक्ति और मनन से उत्पन्न हुई अथवा ग्रहण की गई निर्वचन करने की वाक्-शक्ति और इनके सामञ्जस्य को स्थिर करने वाली सजीवता अविज्ञात प्राणशक्ति ये तीनों आत्मा की मौलिक क्रियाएँ हैं। + + + + काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नही है। वह एक श्रेय-मयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्को से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय-रूप मे अभिव्यक्त होती है वह निःसन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।

इसी कारण हमारे साहित्य का आरम्भ काव्यमय है। वह एक द्रष्टा कवि का सुन्दर दर्शन है। संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य मे संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है। कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि संकल्पात्मक मन की सब अनुभूतियाँ श्रेय और प्रेय दोनों ही से पूर्ण होती हैं, इसमे क्या प्रमाण है? किन्तु इसीलिए साथ-ही-साथ असाधारण अवस्था का भी उल्लेख किया गया है। असाधारण

अवस्था युगो की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित रहती है, क्योकि सत्य अथवा श्रेय-ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नही, वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञान-धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणो के समान भिन्न-भिन्न सस्कृतियो के दर्पण में प्रतिफलित होकर वह आलोक को सुन्दर और ऊर्जस्वित बनाती है।

२—कला

कला को भारतीय दृष्टि में उपविद्या मानने का जो प्रसङ्ग आता है उससे यह प्रकट होता है कि यह विज्ञान से अधिक सम्बन्ध रखती है। उसकी रेखाएँ निश्चित सिद्धान्त तक पहुँचा देती हैं। सम्भवत: इसीलिए काव्य-समस्या-पूरण इत्यादि भी छन्द-शास्त्र और पिङ्गल के नियमो के द्वारा बनने के कारण उपविद्या-कला के अन्तर्गत माना गया है। छन्द-शास्त्र काव्योपजीवी कला का शास्त्र है। इसलिए यह भी विज्ञान का अथवा शास्त्रीय विषय है। वस्तु-निर्माण, मूर्त्ति और चित्र शास्त्रीय दृष्टि से शिल्प कहे जाते हैं और इन सबकी विशेषता भिन्न-भिन्न होने पर भी, ये सब एक ही वर्ग की वस्तु हैं।

× × × ×स्व को कलन करने का उपयोग, आत्म-अनुभूति की व्यञ्जना मे प्रतिभा के द्वारा तीन प्रकार से किया है—अनुकूल, प्रतिकूल और अद्‌भुत। ये तीन प्रकार के प्रतीक-विधान काव्य जगत मे दिखाई पडते हैं। अनुकूल, अर्थात् ऐसा हो। यह आत्मा के विज्ञात अश का गुणनफल है। प्रतिकूल, अर्थात् ऐसा नही। यह आत्मा के अविज्ञात अश की सत्ता का ज्ञान न होने के कारण हृदय के समीप नही। अद्‌भुत—आत्मा का विजिज्ञास्य रूप, जिसे हम पूरी तरह समझ नही सके हैं, कि वह अनुकूल है या प्रतिकूल। इन तीन प्रकार के प्रतीक विधानो मे आदर्शवाद, यथातथ्यवाद और व्यक्तिवाद इत्यादि साहित्यिक वादो के मूल सन्निहित है जिसकी विस्तृत आलोचना की यहाँ आवश्वकता नही। कला को तो शास्त्रो मे उपविद्या माना है। फिर उसका साहित्य मे या आत्मानुभूति मे कैसा विशेष अस्तित्व है, इस प्रश्न पर विचार करने के समय यह बात ध्यान में रखनी होगी कि कला की आत्मानुभूति के साथ विशिष्ट भिन्न सत्ता नही, अनुभूति के लिए शब्द विन्यास कौशल तथा छन्द जाति भी अत्यन्त आवश्यक नही।

व्यजना वस्तुत: अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वय परिणाम है। क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही। कवि की अनुभूति को उसके परिणाम मे अभिव्यक्त देखते है। उस अनुभूति और अभिव्यक्ति के अन्तरालवर्ती सम्बन्ध को जोड़ने के लिए हम चाहे तो कला का नाम ले सकते हैं, और कला के प्रति अधिक पक्षपात-

पूर्ण विचार करने पर यह कोई कह सकता है कि अलंकार, वक्रोक्ति और रीति और कथानक इत्यादि मे कला की सत्ता मान लेनी चाहिये, किन्तु मेरा मत है कि यह सब समय-समय की मान्यता और धारणाएँ हैं। प्रतिभा का किसी कौशल विशेष पर कभी अधिक झुकाव हुआ होगा। इसी अभिव्यक्ति के बाह्य रूप को कला के नाम से काव्य मे पकड रखने की साहित्य में प्रथा-सी चल पड़ी है।

३--यथार्थवाद

यथार्थवाद की विशेषताओ मे प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमे स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावो का वास्तविक उल्लेख। × × × × दुरुपयोग से मानवता के प्रतिकूल होने पर अपराध कहे जाने वाले कर्मो से जिस युग के लेखक समझौता कराने का प्रयत्न करते हैं, वे ऐसे कर्मो के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं। व्यक्ति की दुर्बलता के कारण की खोज मे व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक अवस्था और सामाजिक रूढियों को पकडा जाता है। और इस विषमता को ढूँढने पर वेदना ही प्रभुत्व होकर सामने आती है। साहित्यिक न्याय की व्यावहारिकता मे वह संदिग्ध होता है। तथ्यवादी पतन और स्खलन का भी मूल्य जानता है। और वह मूल्य है, स्त्री नारी है और पुरुष नर है; इनका परस्पर केवल यही सम्बन्ध है।

वेदना से प्रेरित होकर जन-साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है। इस दिशा में प्रायः सिद्धान्त बन जाता है कि हमारे दुःख और कष्टों के कारण प्रचलित नियम और प्राचीन सामाजिक रूढियाँ हैं। फिर तो अपराधो के मनोवैज्ञानिक विवेचन के द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न होता है कि वे सब समाज के कृत्रिम पाप हैं। अपराधियो के प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर सामाजिक परिवर्तन के सुधार का आरम्भ साहित्य मे होने लगता है। इस प्रेरणा मे आत्म-निरीक्षण और शुद्धि का प्रयत्न होने पर भी व्यक्ति के पीड़न, कष्ट और अपराधो से समाज को परिचित कराने का प्रयत्न भी होता है और यह सब व्यक्ति-वैचित्र्य से प्रभावित होकर पल्लवित होता है। स्त्रियो के सम्बन्ध में नारीत्व की दृष्टि ही प्रमुख होकर, मातृत्व से उत्पन्न हुए सब सम्बन्धों को तुच्छ कर देती है। वर्तमान युग की ऐसी प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप मे मनुष्यता पहुँच जाती है, तब उन्ही सामाजिक बन्धनों की बाधा घातक समझ पड़ती है और इन बन्धनों को कृत्रिम और अवास्तविक माना जाने लगता है। यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नही अपितु महानो का भी है। वस्तुत. यथार्थवाद का मूल भाव है वेदना। जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न होकर पीड़ित होने लगती है, तब वेदना की विवृति आवश्यक होजाती है।

४—छायावाद

कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परम्परा से—जिसमे बाह्य वर्णन की प्रधानता थी—इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावो की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। × × × × बाह्य उपाधि से हटकर आन्तर-हेतु की ओर कवि-कर्म प्रेरित हुआ। इस नये प्रकार की अभिव्यक्ति के लिये जिन शब्दो की योजना हुई, हिन्दी मे पहले वे कम समझे जाते थे, किन्तु शब्दों में भिन्न प्रयोग से एक स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द-विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने मे सहायक होते हैं। भाषा के निर्माण में शब्दो के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता है।

× × अभिव्यक्ति का यह निराला ढग अपना स्वतन्त्र लावण्य रखता है। इसके लिए प्राचीनों ने कहा—

मुक्ताफलेषु यच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते।

मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसी ही कान्ति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को सस्कृत-साहित्य मे छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगो ने निरूपित किया था। कुन्तक ने वक्रोक्ति-जीवित में कहा है:—

प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते।

शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कान्ति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है। 'वैदग्ध्य भंगी भणिति' में शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता लोकोत्तीर्ण रूप से अवस्थित होती है। (शब्दस्यहि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्—लोचन २०८) कुन्तक के मत मे ऐसी भणिति (शास्त्रादि प्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्ध व्यतिरेकी) होती है। यह रम्यच्छायान्तरस्पर्शी वक्रता वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक में होती है। कुन्तक के शब्दों में यह (उज्ज्वलाछायातिशय रमणीयता—१३३) वक्रता की उद्भासिनी है।

परस्परस्य शोभार्थं बहवः पतिताः क्वचित् ।
प्रकारा जनयन्तेतां चित्रच्छायामनोहराम् ॥ ३४ ॥

(२ उन्मेष व० जी०)

कभी-कभी स्वानुभव संवेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति के लिये सर्वनामादिकों का सुन्दर प्रयोग इस छायामयी वक्रता का कारण होता है ।

× × × × कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा भूषण की तरह होती है । ध्यान रहे कि यह साधारण अलंकार जो पहन लिया जाता है वह नही है, किन्तु यौवन के भीतर रमणी-सुलभ श्री की बहिन ही है, घूँघट वाली लज्जा नही । सस्कृत-साहित्य में यह प्रतीयमान छाया अपने लिए अभिव्यक्ति के अनेक साधन उत्पन्न कर चुकी है । अभिनवगुप्त ने लोचन में एक स्थान पर लिखा है—

परां दुर्लभां छायां आत्मरूपतां यान्ति ।

इस दुर्लभ छाया का संस्कृत काव्योत्कर्ष-काल में अधिक महत्व था । आवश्यकता इसमें शाब्दिक प्रयोगों कों भी थी, किन्तु आन्तर अर्थ-वैचित्र्य को प्रकट करना भी इनका प्रधान लक्ष्य था । इस तरह की अभिव्यक्ति के उदाहरण संस्कृत में प्रचुर हैं। उन्होंने उपमाओं में भी आन्तर सारूप्य खोजने का प्रयत्न किया था । × × प्राचीनों ने भी प्रकृति की चिर-निःशब्दता का अनुभव किया था—

शुचिशीतलचन्द्रिकाप्लुताश्चिरनिःशब्दमनोहरा दिशाः ।
प्रशमस्य मनोभवस्य वा हृदि तस्याप्यथ हेतुतां पयुः ॥

इन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है । अलंकार के भीतर आने पर भी ये उनसे कुछ अधिक हैं । कदाचित् ऐसे प्रयोगों के आधार पर जिन अलंकारो का निर्माण होता था, उन्ही के लिये आनन्दवर्धन ने कहा है :—

तेऽलंकाराः परां छायां यान्तिध्वन्यं गतां गताः । (२-२९)

प्राचीन साहित्य में यह छायावाद अपना स्थान बना चुका है । हिन्दी में जब इस तरह के प्रयोग आरम्भ हुए तो कुछ लोग चौंके सही, परन्तु विरोध करने पर भी अभिव्यक्ति के इस ढंग को ग्रहण करना पड़ा । कहना न होगा कि ये अनुभूतिमय आत्मस्पर्श काव्य-जगत के लिये अत्यन्त आवश्यक थे । काकु या श्लेष की तरह यह सीधी वक्रोक्ति भी न थी । बाह्य से हट कर काव्य की प्रवृत्ति आन्तर की ओर चल पड़ी थी ।

× × × छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।

५—नाटकों में रस का प्रयोग

भाव ही आत्म-चैतन्य में विश्रान्ति पा जाने पर रस होते हैं। जैसे विश्व के भीतर से विश्वात्मा की अभिव्यक्ति होती है, उसी तरह नाटकों से रस की। आत्मा के निजी अभिनय में भाव-सृष्टि होती है। जिस तरह आत्मा की और इदं की भिन्नता मिटाने मे अद्वैतवाद का प्रयोग है, उसी प्रकार एक ही प्रत्यगात्मा के भाववैचित्र्यों का—जो नर्तक आत्मा के अभिनय मात्र हैं—अभेद या साधारणीकरण भी रस में है। इस रस में आस्वाद का रहस्य है। × × × इधर एक निम्न कोटि की रसानुभूति की भी कल्पना हुई है। कुछ लोग कहते हैं कि 'जब किसी अत्याचारी के अत्याचार को हम रंगमंच पर देखते हैं, तो हम उस नट से अपना साधारणीकरण नही कर पाते। फलतः उसके प्रति रोष-भाव ही जागृत होता है, यह तो स्पष्ट विषमता है।' किन्तु रस मे फलयोग अर्थात् अन्तिम सन्धि मुख्य है, इन बीच के व्यापारों में जो संचारी भावों के प्रतीक हैं रस को खोज कर उसे छिन्न-भिन्न कर देना है। ये सब मुख्य रस वस्तु के सहायक मात्र हैं। अन्वय और व्यतिरेक से, दोनों प्रकार से वस्तु-निर्देश किया जाता है। इस लिए मुख्य रस का आनन्द बढ़ाने मे ये सहायक मात्र ही हैं, वह रसानुभूति निम्न कोटि की नहीं होती।

× × × आत्मा की अनुभूति व्यक्ति और उसके चरित्र-वैचित्र्य को ले कर ही अपनी सृष्टि करती है। भारतीय दृष्टिकोण रस के लिए इन चरित्र और व्यक्ति-वैचित्र्यों को रस का साधन मानता रहा, साध्य नही। रस में चमत्कार ले आने के लिए इनको बीच का माध्यम सा ही मानता आया। सामाजिक इतिहास में, साहित्य-सृष्टि के द्वारा, मानवीय वासनाओं को संशोधित करने वाला पश्चिम का सिद्धान्त व्यापारों में चरित्र-निर्माण का पक्षपाती है। यदि मनुष्य ने कुछ भी अपने को कला के द्वारा सम्हाल पाया, तो साहित्य ने संशोधन का काम कर लिया। दया और सहानुभूति उत्पन्न कर देना ही उसका ध्येय रहा और है भी। वर्तमान साहित्यिक प्रेरणा—जिसमें व्यक्ति-वैचित्र्य और यथार्थवाद मुख्य हैं—मूल मे संशोधनात्मक ही है। कहीं व्यक्ति से सहानुभूति उत्पन्न कर के समाज का संशोधन है; और कही समाज की दृष्टि से व्यक्ति का!

किन्तु दया और सहानुभूति उत्पन्न करके भी वह दुःख को अधिक प्रतिष्ठित करता है, निराशा को अधिक आश्रय देता है। भारतीय रसवाद में मिलन, अभेद सुख की सृष्टि मुख्य है। रस में लोक-मङ्गल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अन्तर्निहित है। सामाजिक स्थूल रूप से नहीं, किन्तु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर। वासना से ही क्रिया सम्पन्न होती है और क्रिया के संकलन से व्यक्ति का चरित्र बनता है। चरित्र में महत्ता का आरोप हो जाने पर, व्यक्तिवाद का वैचित्र्य उन महती लीलाओं से विद्रोह करता है। यह है पश्चिम की कला का गुणनफल ! रसवाद में वासनात्मक तथा स्थित मनोवृत्तियाँ, जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं; इसलिए वह वासना का संशोधन न करके उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रस-सृष्टि वह करता है, उसमें व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता हट जाती है; और साथ ही सब तरह की भावनाओ को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं। सब प्रकार के भाव एक दूसरे के पूरक बन कर, चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बना कर, रस की सृष्टि करते हैं। रसवाद की यही पूर्णता है।

६—रंगमंच

अनुकरण मे फैशन की तरह बदलते रहना, साहित्य में ठोस अपनी वस्तु का निमन्त्रण नही करता। वर्तमान और प्रतिक्षण का वर्तमान सदैव दूषित रहता है, भविष्य के सुन्दर निर्माण के लिये। कलाओं को अकेले प्रतिनिधित्व करने वाले नाटक के लिये तो ऐसी 'जल्दबाजी' बहुत ही अवांछनीय है। यह रस की भावना से अस्पृष्ट व्यक्ति-वैचित्र्य की यथार्थवादिता ही का आकर्षण है, जो नाटक के सम्बन्ध में विचार करने वालों को उद्विग्न कर रहा है। प्रगतिशील विश्व है; किन्तु अधिक उछलने में पदस्खलन का भी भय है। साहित्य में युग की प्रेरणा भी आदरणीय है, किन्तु इतना ही अलम् नही। जब हम यह समझ लेते हैं कि कला को प्रगतिशील बनाये रखने के लिये हमको वर्तमान सभ्यता का--जो सर्वोत्तम है—अनुसरण करना चाहिये, तो हमारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण हो जाता है। अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है; इसलिए हमको साहित्य में एकांगी लक्ष्य नही रखना चाहिये। जिस तरह हम स्वाभाविक या प्राचीन शब्दों में लोकधर्मी अभिनय की आवश्यकता समझते हैं, ठीक उसी प्रकार से नाट्य-धर्मी अभिनय की भी; देश, काल, पात्र के अनुसार रंगमंच में संगृहीत रहना चाहिए। पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोड़ कर नये को नहीं पाया है।

श्री भारतेन्दु ने रंगमंच की अव्यवस्थाओं को देखकर जिस हिन्दी रंगमंच की स्वतन्त्र स्थापना की थी, उसमें इन सब का समन्वय था। उस पर सत्य-हरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, नीलदेवी, चंद्रावली, भारत-दुर्दशा, प्रेमयोगिनी सब का सहयोग था। हिन्दी रंगमंच की इस स्वतन्त्र चेतना को सजीव रख कर रंगमंच की रक्षा करनी चाहिए। केवल नई पश्चिमी प्रेरणाएँ हमारी पथ-प्रदर्शिका न बन जायँ। हाँ, उन सब साधनों से जो वर्तमान विज्ञान द्वारा उपलब्ध हैं, हमको वंचित भी न होना चाहिये।

आलोचकों का कहना है कि "वर्तमान युग की रंगमंच की प्रवृत्ति के अनुसार भाषा सरल हो और वास्तविक भी हो।" वास्तविक का प्रच्छन्न अर्थ इब्सेनिज्म के आधार पर कुछ और भी है। वे छिपकर कहते हैं, हमको अपराधियो से घृणा नहीं, सहानुभूति रखनी चाहिये। इसका उपयोग चरित्र-चित्रण में व्यक्ति वैचित्र्य के समर्थन मे भी किया जाता है। रंगमच पर ऐसे वस्तु-विन्यास समस्या बनकर रह जायँगे। प्रभाव का असम्बद्ध स्पष्टीकरण भाषा की क्लिष्टता से भयानक है।

× × × रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिये लिखे जायँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिये कि नाटक के लिए रंगमंच हों, जो व्यावहारिक है। हाँ, रंगमंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है। देश-काल की प्रवृत्तियों का समुचित अध्ययन भी आवश्यक है। फिर तो पात्र रंगमंच पर अपना कार्य सुचारु-रूप से कर सकेंगे। इन सब के सहयोग से ही हिन्दी रंगमंच का अभ्युत्थान संभव है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

[जन्म—सन् १८९६]

ग्रन्थ—पन्त और पल्लव, परिमल

१. कवित्त छन्द

कवित्त-छंद के संबंध मे पंत जी का जान पडना आर्यो के आदि आवास पर की गई आर्यों ही के सृष्टि-तत्त्व के प्रतिकूल अँग्रेजो की भिन्न-भिन्न कल्पनाओ की तरह बुद्धि का वयन-शिल्प प्रदर्शन करने के अतिरिक्त और कोई संग्राह्य सार पदार्थ नही रहता। हिन्दी के प्रचलित छन्दों मे जिस छद को एक विशाल भू-भाग के मनुष्य कई शताब्दियो तक गले का हार बनाए रहे, जिसमें उनके हर्ष-शोक, संयोग-वियोग और मैत्री-शत्रुता की समुद्गत विपुल भाव-राशि आज साहित्य के रूप में विराजमान हो रही है—आज भी जिस छंद की आवृत्ति करके ग्रामीण सरल मनुष्य अपार आनन्द अनुभव करते हैं, जिसके समक्ष कोई दूसरा छंद उन्हें जँचता ही नही, करोड़ों मनुष्यों के उस जातीय छंद को—उनके प्राणों की जीवनी-शक्ति को परकीय कहना कितनी दूरदर्शिता का परिचायक है, पंतजी स्वयं समझे। पंतजी की रुचि तमाम हिंदी-संसार की रुचि नही हो सकती। जो वस्तु उनकी अपनी नही, उसके संबंध में विचार करते समय, वह जिनकी वस्तु है, उन्ही की रुचि के अनुकूल उन्हें विचार करना था। मै समझता हूँ, जो वस्तु अपनी नही होती, उस पर किसी की ममता भी नही होती, वह किसी के हृदय पर विजय प्राप्त नहीं कर सकती। जिस दिन कवित्त-छंद की सृष्टि हुई थी, उस दिन वह भले ही हिंदी-भाषी अगणित मनुष्यों की अपनी वस्तु न रहा हो, परन्तु समय के प्रवाह ने हिंदी के अन्यान्य प्रचलित छंदों की अपेक्षा अधिक बल उसे ही दिया, उसी की तरग मे हिंदी-जनता को अपने मनोमल के धोने और सुभाषित रत्नों की प्रशंसा में बहुत कुछ कहने और सुनने की आवश्यकता पडी। पंतजी ने जो कवित्त-छंद को हिंदी के उच्चारण संगीत के अनुकूल, अस्वाभाविक गति से चलने वाला बतलाया, इसका कारण पंतजी के स्वभाव में है, जिसका पता शायद वह लगा नही सके। उनकी कविता में (Female graces) स्त्रीत्व के चिह्न अधिक होने के कारण उनके स्वभाव का स्त्रीत्व कवित्त-जैसे पुरुषत्व-प्रधान काव्य के समझने में बाधक हुआ है। रही संगीत की बात, सो सगीत में भी स्त्री-पुरुष भेद हुआ करता है—राग और रागिनियों के नाम ही उनके उदाहरण हैं।

अक्षर-मात्रिक स्वर-प्रधान राग स्त्री-भेद में और व्यंजन प्रधान पुरुष-भेद में होंगे। पंतजी ने कवित्त की लड़ी को १६ मात्राओं से जो अपने अनुकूल कर लिया, वह स्त्री-भेद में जा नहीं सकती, उसके स्त्रीत्व का परिवर्तन नही हो सकता, परन्तु कवित्त में यह बात नही। इस छंद में एक ऐसी विशेषता है, जो संसार के किसी छंद में न होगी। निर्गुण आत्मा की तरह यह पुरुष भी बनता है और स्त्री भी। यों पंतजी ने तो इसे नपुसक सिद्ध कर ही दिया है। चौताल मे इस छंद के पुरुषत्व का कितना प्रसार होता है, स्वर किस तरह परिपुष्ट उच्चरित होते हैं, आनन्द कितना बढ़ता है।

यही कवित्त-छंद जिसे आप ४८ मात्राओं में चौताल के वर्गीकृत चार चरणो में अलग-अलग देखते हैं, जब ठुमरी के सुकोमल-स्वरूप में आता है, उस समय न यह उदात्त भाव रहता है, न यह पुरुष पुरातन तक ले जानेवाला उसका पौरुष। उस समय के परिवर्तित स्वरूप मे इस समय के उनके लक्षण बिलकुल नही मिलते।

पंतजी की कविताओं में स्वच्छंद छंद की एक लड़ी भी नही, परन्तु वह कहते हैं, "पल्लव' में मेरी अधिकांश रचनाएँ इसी छंद मे हैं, जिनमे 'उच्छ्वास', 'आँसू' तथा 'परिवर्तन' विशेष बड़ी हैं।" यदि गीति-काव्य और स्वच्छंद छंद का भेद, दोनों की विशेषताएँ पंतजी को मालूम होतीं तो वह ऐसा न लिखते।

यदि यथार्थ तत्त्व की दृष्टि से उनकी पंक्तियों की जाँच की जाय, तो कहना होगा कि उनकी इस तरह की पंक्तियाँ—

"दिव्य स्वर या आंसू का तार
बहा दे हृदयोद्गार।"

जिनकी संख्या उनकी अब तक की प्रकाशित कविताओ मे बहुत थोड़ी है—विषम-मात्रिक होने पर भी गीति-काव्य की परिधि को पार कर स्वच्छंद छंद की निराधार नदन-भूमि पर पैर नही रख सकती। उद्धृत प्रथम पंक्ति में चार आघात हैं और दूसरी में तीन। इस तरह की पक्तियों मे छद की मात्राओ से पहले संगीत की मात्राएँ सूझ जाती हैं। छद भी संगीत-प्रधान है, अतएव यह अपनी प्रधानता को छोड़ कर एक दूसरे छद के घेरे मे, जो इसके लिये अप्रधान है, नही जा सकता। दूसरे स्वच्छद छद मे 'तार' और 'गार' के अनुप्रासों की कृत्रिमता नही रहती—वहाँ कृत्रिम तो कुछ है ही नही। यदि कारीगरी की गई, मात्राएँ गिनी गई, लडियों के बराबर रखने पर ध्यान रक्खा गया, तो इतनी बाह्य विभूतियों के गर्व मे स्वच्छंदता का सरल सौदर्य, सहज प्रकाशन, निश्चय है कि, नष्ट हो जाता है। पंतजी ने जो लिखा है कि स्वच्छंद छंद ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत पर चल सकता है, यह एक बहुत बड़ा भ्रम है। स्वच्छद छंद मे (Art of music) नही मिल सकता, वहाँ है (Art of Readiug); वह

स्वर-प्रधान नहीं, व्यंजन-प्रधान है। वह कविता की स्त्री-सुकुमारता नही, कवित्व का पुरुष-गर्व है। उसका सौंदर्य गाने में नही, वार्तालाप करने में है। उसकी सृष्टि कवित्त से हुई है, जिसे पंतजी विदेशी कहते हैं, जो उनकी समझ में नही आया। मेरे—

"देख यह कपोत-कंठ—
बाहु-बल्ली-कर-सरोज—
उन्नत उरोज पीन-क्षीण कटि—
नितंब-भार—चरण सुकुमार—
गति मंद-मंद
छूट जाता धैर्य ऋषि-मुनियों का;
देवों-योगियों की तो बात ही निराली है।"

इस छद को, जिसे मै हिन्दी का मुक्त-काव्य समझता हूँ, पतजी ने रवीन्द्रनाथ की—

"हे सम्राट कवि,
एइ तल हृदयेर छवि,
एइ तव नव मेघदूत,
अपूर्व अद्भुत"—आदि—

पंक्तियों के उद्धरण से बँगला से लिया गया सिद्ध करने की चेष्टा की है। वह कहते हैं, निरालाजी का यह छंद बँगला के अनुसार चलता है। उनका यह रवीन्द्रनाथ के छंद से समता दिखाने का प्रयत्न शायद उनके कृत कार्यों का सस्कार-जन्य फल हो, परन्तु वास्तव में इस छंद की स्वच्छन्दता उनकी समझ में नही आई। यदि वह कवित्त-छंद को कुछ महत्व देते तो शायद समझ भी लेते।

'देख यह कपोत-कठ' के 'ह' को निकाल दीजिए। अब देखिए, कवित्त-छंद के एक चरण का टुकडा बनता है या नही। इसी तरह 'बाहु-बल्ली कर-सरोज' के 'र' को निकालकर देखिए। लिखे हुए संपूर्ण चरणो की धारा कवित्त-छंद की है, नियमों की रक्षा नही की गई, न स्वच्छद में की जा सकती है। कही-कही बिना किसी प्रकार का परिवर्तन किए ही मेरे मुक्त-काव्य मे कवित्त-छद के बद्ध लक्षण प्रकट हो जाते हैं। अवश्य इस तरह की लड़ी मै जान-बूझकर नही रक्खा करता। पंतजी द्वारा उद्धृत मेरे उस अंश की तीसरी लड़ी—

"उन्नत उरोज पीन।"

इसका प्रमाण है। यदि कोई महाशय यह पूछे कि कही-कही तो कवित्त-छंद का सच्चा स्वरूप प्रकट होता है, और कही-कही नही हो पाता, ऐसा क्यों ?—यह तो

छंद की कमज़ोरी है, ऐसा न होना चाहिए, उत्तर में निवेदन मुझे जो कुछ करना था, एक बार संक्षेप में कर चुका हूँ, यहाँ फिर कहता हूँ। मुक्त-काव्य में बाह्य समता दृष्टि-गोचर नही हो सकती, बाहर केवल पाठ से उसके प्रवाह मे जो सुख मिलता है, उच्चारण से मुक्ति की जो अबाध धारा प्राणों को सुख-प्रवाह-सिक्त निर्मल किया करती है, वही इसका प्रमाण है। जो लोग उसके प्रवाह में अपनी आत्मा को निमज्जित नही कर सकते, उसकी विषमता की छोटी-बड़ी तरंगों को देख कर ही डर जाते हैं, हृदय खोल कर उससे अपने प्राणों को मिला नही सकते, मेरे विचार से यह उन्ही के हृदय की दुर्बलता है।

(पन्त और पल्लव, पृष्ठ ४४)

२. मुक्त काव्य और मुक्त छन्द

मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है, और कविता की मुक्ति छन्दो के शासन से अलग हो जाना। जिस तरह मुक्त मनुष्य कभी किसी तरह भी दूसरे के प्रतिकूल आचरण नहीं करता, उसके तमाम कार्य औरों को प्रसन्न करने के लिये होते हैं—फिर भी स्वतन्त्र, इसी तरह कविता का भी हाल है। मुक्त-काव्य कभी साहित्य के लिये अनर्थ-कारी नही होता, किन्तु उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है, जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है। जैसे बाग की बँधी और वन की खुली हुई प्रकृति। दोनों ही सुन्दर हैं, पर दोनों के आनन्द तथा दृश्य दूसरे-दूसरे हैं। जैसे आलाप और ताल की रागिनी। इसमे कौन अधिक आनन्द-प्रद है, यह बतलाना कठिन है। पर इसमे सन्देह नही कि आलाप, वन्य प्रकृति तथा मुक्त काव्य स्वभाव के अधिक अनुकूल हैं।

(परिमल, पृष्ठ १४)

× × ×

वैदिक साहित्य-काव्य मे इस प्रकार की स्वच्छन्द सृष्टि को देखकर हम तत्कालीन मनुष्य-स्वभाव की मुक्ति का अन्दाज़ा लगा लेते है। परवर्ती काल मे ज्यों-ज्यो चित्र-प्रियता बढ़ती गई है, साहित्य में स्वच्छन्दता की जगह नियन्त्रण तथा अनुशासन प्रबल होता गया है, यह जाति त्यो-त्यों कमज़ोर होती गई है। सहस्रों प्रकार के साहित्यिक बन्धनों से यह जाति स्वयं भी बँध गई, जैसे मकड़ी आप ही अपने जाल में बंध गई हो, जैसे फिर निकलने का एक ही उपाय रह गया हो कि उस जाल की उल्टी परिक्रमा कर वह उससे बाहर निकले। उस ऊर्णनाभ ने जितनी जटिलता दूसरे जीवो को फाँसने के लिये उस जाल में की थी, वह उतने ही दृढ़ रूप से बँधा हुआ है, अब उसे अपनी मुक्ति

के लिये उन तमाम बन्धनों को पार करना होगा। यही हाल वर्तमान समय मे हमारे काव्य-साहित्य का है। इस समय के और पराधीन काल के काव्यानुशासनों को देखकर हम जाति की मानसिक स्थिति को भी देख ले सकते हैं। अनुशासन के समुदाय चारों तरफ़ से उसे जकड़े हुए हैं—साहित्य के साथ-साथ राज्य, समाज, धर्म, व्यवसाय, सभी कुछ पराधीन हो गए हैं। चित्र स्वयं ससीम हैं, इसलिये उन्हें प्यार करवाने वाली वृत्ति भी एक सीमा के अन्दर चक्कर लगाया करती है, और इस तरह उस वृत्ति को धारण करने वाला मनुष्य भी चाहे पहले का स्वतन्त्र हो, पर पीछे से सीमा में बँध कर पराधीन हो जाता है। नियम और अनुशासन भी सीमा के ही परिचायक होते हैं, और क्रमशः मनुष्य-जाति को क्षुद्र से क्षुद्रतर तथा गुलाम से गुलाम कर देने वाले।

साहित्य की मुक्ति उसके काव्य में देख पड़ती है। इस तरह जाति के मुक्ति-प्रयास का पता चलता है। धीरे-धीरे चित्र-प्रियता छूटने लगती है। मन एक खुली हुई प्रशस्त भूमि में विहार करना चाहता है। चित्रों की सृष्टि तो होती है, पर वहाँ उन तमाम चित्रों को अनादि और अनन्त सौन्दर्य में मिलाने की चेष्टा रहती है। बर्फ में जैसे तमाम वर्णों की छटा, सौन्दर्य आदि दिखला कर उसे फिर किसी ने वाष्प मे विलीन कर दिया हो या असीम सागर से मिला दिया हो। साहित्य में इस समय यही प्रयत्न जोर पकड़ता जा रहा है, और यही मुक्ति-प्रयास के चिह्न भी हैं। अब लीलाम्बरी ज्योतिर्मूर्ति की सृष्टि कर चतुर साहित्यिक फिर उसे अनन्त नील-मण्डल में लीन कर देते हैं। पल्लवों के हिलने में किसी अज्ञात चिरन्तन अनादि सर्वज्ञ को हाथ के इशारे से अपने पास बुलाने का इंगित प्रत्यक्ष करते हैं। इस तरह चित्रो की सृष्टि असीम सौन्दर्य में पर्यवसित की जाती है। और वही जाति के मस्तिष्क मे विराट् दृश्यों के समावेश के साथ-ही-साथ स्वतन्त्रता की प्यास को भी प्रखरतर करते जा रहे हैं।

यही बात छन्दों के सम्बन्ध मे भी है। छन्द भी जिस तरह कानून के अन्दर सीमा के सुख मे आत्म-विस्मृत हो सुन्दर नृत्य करते, उच्चारण की शृखला रखते हुए श्रवण-माधुर्य के साथ-ही-साथ श्रोताओं को सीमा के आनन्द मे भुला रखते हैं, उसी तरह मुक्त छन्द भी अपनी विषम गति में एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य देता है, जैसे एक ही अनन्त महासमुद्र के हृदय की सब छोटी-बडी तरगे हों, दूर-प्रसरित दृष्टि मे एकाकार, एक ही गति में उठती और गिरती हुई।

(परिमल, पृष्ठ १६-१८)

× × ×

इस तरह की (प्रियप्रवास, ग्रन्थि आदि की छन्दोबद्ध) कविता अतुकान्त काव्य का गौरव-पद भले ही अधिकृत करती हो, वह मुक्त-काव्य या स्वच्छन्द छन्द कदापि

नही। जहाँ मुक्ति रहती है, वहाँ बन्धन नही रहते। न मनुष्यों में, न कविता में। मुक्ति का अर्थ ही है बन्धनों से छुटकारा पाना। यदि किसी प्रकार का शृंखलाबद्ध नियम कविता में मिलता गया, तो वह कविता उस शृंखला से जकड़ी हुई ही होती है, अतएव उसे हम मुक्ति के लक्षणो मे नही ला सकते, न उस काव्य को मुक्त काव्य कह सकते हैं। ऊपर जितने प्रकार के अतुकान्त काव्य के उदाहरण दिए गए हैं, सब एक-एक सीमा मे बँधे हुए हैं, एक-एक प्रधान नियम सबमे पाया जाता है। गण-वृत्तों में गणों की शृंखला, मात्रिक वृत्तों में मात्राओं का साम्य, वर्ण-वृत्तों मे अक्षरों की समानता मिलती है। कही भी इस नियम का उल्लंघन नही किया गया। इस प्रकार के दृढ नियमों से बँधी हुई कविता कदापि मुक्त छन्द नही हो सकती। मुक्त छन्द तो वह है, जो छन्द की भूमि में रहकर भी मुक्त है। इस पुस्तक के तीसरे खण्ड में जितनी कविताएँ हैं, सब इस प्रकार की हैं। उनमे नियम कोई नही। केवल प्रवाह कवित्त-छन्द का-सा जान पड़ता है। कही-कही आठ अक्षर आप-ही-आप आ जाते हैं। मुक्त-छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है, और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।

"विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी
स्नेह स्वप्न-मग्न अमल-कोमल-तनु तरुणी
जुही की कली
दृग बन्द किए—शिथिल पत्रांक में।"

यहाँ 'सोती थी सुहाग-भरी' आठ अक्षरो का एक छन्द आप-ही-आप बन गया है। तमाम लड़ियों की गति कवित्त-छन्द की तरह है। हिन्दी मे मुक्त-काव्य कवित्त-छन्द की बुनियाद पर सफल हो सकता है। कारण, यह छन्द चिर-काल से इस जाति के कण्ठ का हार हो रहा है। दूसरे, इस छन्द में एक विशेष गुण यह भी है कि इसे लोग चौताल आदि बड़ी तालों मे तथा ठुमरी की तीन तालो मे भी सफलतापूर्वक गा सकते हैं, और नाटक आदि के समय इसे काफ़ी प्रवाह के साथ पढ भी सकते हैं। आज भी हम रामलीलाओं में लक्ष्मण-परशुराम-संवाद के समय, वार्तालाप में इस छन्द का चमत्कार प्रत्यक्ष कर लेते है। यदि हिन्दी का कोई जातीय छन्द चुना जाय, तो वह यही होगा। आजकल के मार्जित कानो को कवित्त-छन्द का नाटक में प्रयोग ज़रा खटकता है, और वह इसलिये कि बार-बार अन्त्यानुप्रास का आना वार्तालाप की स्वाभाविकता को बिगाड़ देता है। बाबू मैथिलीशरणजी को इस विचार से विशेष सफलता मिली है। कारण, कवित्त-छन्द की गति पर उनके अमित्र छन्द मे अन्त्यानुप्रास मिटा दिया गया है। नाटकों में सबसे अधिक रोचकता इसी कवित्त-छन्द की बुनियाद पर

लिखे गए स्वच्छन्द छन्द द्वारा आ सकती है। इस अपने छन्द को मैं अनेक साहित्यिक गोष्ठियों में पढ़ चुका हूँ, और हिन्दी के प्रसिद्ध अधिकाश सज्जन सुन चुके हैं। एक बार कलकत्ता पब्लिक स्टेज पर भी इस छन्द में नाटक लिखकर खेल चुका हूँ। लोगों से मुझे अब तक उत्साह ही मिलता रहा है। पर दूसरों की पठन-अक्षमता के आक्षेप भी अक्सर सुनता रहा हूँ। मेरा विचार है कि अनभ्यास के कारण उन्हे पढने में असुविधा होती है। छन्द की गति का कोई दोष नही। आजकल हिन्दी के दो-चार और लेखकों तथा कवियों ने इस छन्द में रचना-प्रयास किया है, और उन्हें सफलता भी मिली है। इससे मेरा विश्वास इस पर और भी दृढ हो गया है। इस छन्द मे Art of Reading का आनन्द मिलता है, और इसीलिये इसकी उपयोगिता रंगमंच पर सिद्ध होती हैं। कही-कही मिल्टन और शेक्सपियर ने सर्वत्र अपने अतुकान्त काव्य का उपयोग नाटकों में ही किया है। बँगला में माइकेल मधुसूदन द्वारा अतुकान्त कविता की सृष्टि हो जाने पर नाट्याचार्य गिरीशचन्द ने अपने स्वच्छन्द-छन्द का नाटको में ही प्रयोग किया है। स्वच्छन्द छन्द नाटक-पात्रों की भाषा के लिये ही हैं, यों उसमें चाहे जो कुछ लिखा जाय। अब इसके समर्थन में अधिक कुछ नही लिखना। कारण, समर्थन की अपेक्षा अधिकाधिक रचना इसके प्रचार तथा प्रसार का योग्य उपाय है।

(परिमल, पृष्ठ २१-२३)

३—मुक्त-छन्द

अलंकार-लेश-रहित, श्लेष-हीन
शून्य विशेषणों से—
नग्न-नीलिमा-सी व्यक्त
भाषा सुरक्षित वह वेदों में आज भी—
मुक्त छन्द,
सहज प्रकाशन वह मन का—
निज भावों का प्रकट अकृत्रिम चित्र।

(परिमल, पृष्ठ २६४, 'जागरण' शीर्षक कविता)

सुमित्रानन्दन पन्त

[समय—सन् १९००]

ग्रन्थ—पल्लव, ग्राम्या, आधुनिक कवि, उत्तरा

१. काव्य-भाषा

भाषा संसार का नाद मय चित्र है, ध्वनिमय-स्वरूप है। यह विश्व के हृत्तन्त्री की झंकार है, जिसके स्वर मे वह अभिव्यक्ति पाता है। विश्व की सभ्यता के विकास तथा ह्रास के साथ वाणी का भी युगपद् विकास तथा ह्रास होता है। भिन्न-भिन्न भाषाओं की विशेषताएँ, भिन्न-भिन्न जातियो तथा देशों की सभ्यता की विशेषताएँ हैं। संस्कृत की देव-वीणा में जो आध्यात्मिक-संगीत की परिपूर्णता है वह संसार की अन्य शब्द-तन्त्रियों मे नही, और पाश्चात्य-साहित्य के विशद यन्त्रालय मे जो विज्ञान के कल-पुर्जों की विचित्रता, बारीकी तथा सजधज है, वह हमारे भारती-भवन में नही।

प्रत्येक युग की विशेषता भी संसार की वाणी पर अपनी छाप छोड़ जाती है। एक नित्य-सत्य है, एक अनित्य; अनित्य-सत्य के क्षणिक पद-चिह्न संसार की सभ्यता के राज-पथ पर बदलते जाते, पुराने मिटते, नवीन उनके स्थान पर स्थापित होते रहते हैं। नित्य-सत्य उसके शिलालेखों में गहरा अकित हो जाता है, उसे कालानिल के झोंके नही मिटा सकते। प्रत्येक युग इस अखण्डनीय सत्य के अपरिमेय वृत्त का एक छोटा-सा खण्ड-मात्र, इस अनन्त-सिन्धु की एक तरंग-मात्र है, जिसका अपना विशेष-स्वरूप, विशेष आकार-प्रकार, विशेष विस्तार एवं विशेष ऊँचाई होती है, जो अपने सद्य-स्वर में सनातन के एक विशेष-अश को वाणी देता है। वही नाद उस युग के वायु-मण्डल में गूंज उठता, उसकी हृत्तन्त्री से नवीन छन्दों, तालो मे नवीन रागों, स्वरों में प्रतिध्वनित हो उठता, नवीन युग अपने लिए नवीन वाणी, नवीन जीवन, नवीन रहस्य, नवीन स्पन्दन-कम्पन, तथा नवीन साहित्य ले आता, और पुराना जीर्ण-पतझड़ इस नवजात वसन्त के लिए बीज तथा खाद-स्वरूप बन जाता है। नूतन-युग ससार की शब्द-तन्त्री में नूतन-ठाठ जमा देता, उसका विन्यास बदल जाता, नवीन युग की नवीन आकांक्षाओं, क्रियाओं, नवीन इच्छाओं, आशाओं के अनुसार उसकी वीणा से नये गीत, नये छन्द, नये राग, नई रागिनियाँ, नई कल्पनाएँ तथा भावनाएँ फूटने लगती हैं।

इस प्रकार भाषा का कुछ परिवर्तनशील अंश उसके लिए खाद्य-सामग्री बन,

भारती की नाड़ियों में नवीन रक्त का संचार, हृदय में नवीन स्फूर्ति तथा स्पन्दन पैदा कर, उसके शरीर को सुन्दर, शुद्ध, विकसित तथा पुष्ट बनाता रहता है। यह अचिर-अंश हमारे हृद्गत-संस्कारों, विचारों, हमारी प्रवृत्तियों, मनोवेगों, हमारी इन्द्रियों तथा दैनिक क्रिया-कम्पनों से ऐसा एकाकार हो जाता, इतनी अधिक प्रीति तथा घनिष्ठता स्थापित कर लेता है कि वास्तव में जो अतिविश्वास मात्र है उससे हम अपने को पृथक् नही कर सकते, वह हमारा जीवन ही बन जाता, हमारे प्राणों का स्पन्दन उसी की लय में ध्वनित होने लगता, दोनो अभिन्न तथा अभेद्य हो जाते हैं।

(पल्लव पृष्ठ १६-२१)

× × ×

भाषा का, और मुख्यतः कविता की भाषा का, प्राण राग है। राग ही के पंखो की अबाध उन्मुक्त उड़ान में लयमान होकर कविता सान्त को अनन्त से मिलाती है। राग ध्वनि-लोक निवासी शब्दों के हृदय मे परस्पर स्नेह तथा ममता का सम्बन्ध स्थापित करता है। संसार के पृथक्-पृथक् पदार्थ पृथक्-पृथक् ध्वनियों के चित्र-मात्र हैं। समस्त-ब्रह्माण्ड के रोओं में व्याप्त यही राग, उसकी शिरोपशिराओ मे प्रधावित हो, अनेकता में एकता का संचार करता, यही विश्व-वीणा के अगणित तारों से जीवन की अँगुलियों के कोमल-कर्कश घात-प्रतिघातों, लघु-गुरु सम्पर्कों, ऊँच-नीच प्रहारों से अनन्त झंकारों, असंख्य स्वरों में फूट कर हमारे चारों ओर आनन्दाकाश के स्वरूप में व्याप्त हो जाता, यही संसार के मानस-समुद्र में अनेकानेक इच्छाओं-आकांक्षाओं, भावनाओं-कल्पनाओ की तरंगों में प्रतिफलित हो, सौन्दर्य के सौ-सौ स्वरूपों में अभिव्यक्ति पाता है। प्रेम के अक्षय मधु में सने, सृजन के बीजरूप पराग से परिपूर्ण संसार के मानस-शतदल के चारों ओर यह चिर-असुप्त स्वर्ण-भृंग एक अनन्त गुंजार में मँडराता रहता है।

राग का अर्थ आकर्षण है; यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिंचकर हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते हैं। हमारा हृदय उनके हृदय मे प्रवेश कर एक-भाव हो जाता है। प्रत्येक शब्द एक संकेत-मात्र, इस विश्व-व्यापी संगीत की अस्फुट झंकार-मात्र है। जिस प्रकार समग्र पदार्थ एक दूसरे पर अवलम्बित हैं, ऋणानुबन्ध हैं, उसी प्रकार शब्द भी; ये सब एक विराट् परिवार के प्राणी हैं। इनका आपस का सम्बन्ध, सहानुभूति, अनुराग-विराग जान लेना, कहाँ कब एक की साड़ी का छोर उड़ कर दूसरे का हृदय रोमांचित कर देता, कैसे एक की ईर्ष्या अथवा क्रोध दूसरे का विनाश करता, कैसे फिर दूसरा बदला लेता; कैसे ये गले लगते, बिछुड़ते, कैसे जन्मोत्सव मनाते तथा एक दूसरे की मृत्यु से शोकाकुल होते,—इनकी पारस्परिक प्रीति-मैत्री, शत्रुता तथा वैमनस्य का पता लगा लेना क्या आसान है ? प्रत्येक शब्द एक-एक कविता है; लक्ष और मल-द्वीप की तरह कविता भी अपने बनाने वाले शब्दों की कविता को खा-खाकर बनती है।

जिस प्रकार शब्द एक ओर व्याकरण के कठिन नियमों से बद्ध होते, उसी प्रकार दूसरी ओर राग के आकाश में पक्षियों की तरह स्वतन्त्र भी होते हैं। जहाँ राग की उन्मुक्त-स्नेहशीलता तथा व्याकरण की नियम-वश्यता में सामंजस्य रहता है, वहाँ कोमल माँ तथा कठोर पिता के घर मे लालित-पालित सन्तान की तरह, शब्दों का भरण-पोषण, अंग-विन्यास तथा मनोविकास स्वाभाविक और यथेष्ट रीति से होता है। कौन जानता है, कब, कहाँ और किस नदी के किनारे, न जाने कौन, एक दिन साँझ या सुबह के समय वायु-सेवन कर रहा था, शायद बरसात बीत गई थी, शरद की निर्मलता कलरव की लहरो मे उच्छ्वासित हो, न जाने, किस ओर बह रही थी। अचानक, एक अप्सरा जल से बाहर निकल, मुँह से घूँघट हटा, अपने सुनहले-रुपहले पंख फैला, क्षण भर चंचल-लहरों की ताल पर मधुर नृत्य कर, अन्तर्धान हो गई। जैसे उस परिस्फुट-यौवना सरिता ने अपने मीन-लोचन से कटाक्षपात् किया हो। तब मीन आँखों का उपमान भी न बना होगा, न जाने, हर्ष तथा विस्मयातिरेक से उस अज्ञात-कवि के हृदय से क्या कुछ निकल पड़ा—"मत्स्य।" उस कवि का समस्त आनन्द; आश्चर्य, भय, प्रेम, रोमांच तथा सौन्दर्यानुभूति जैसे सहसा "मत्स्य" शब्द के रूप में प्रतिध्वनित तथा संगृहीत हो साकार बन गई। अब भी यह शब्द उसी चटुल मछली की तरह पानी में छप्-छप् शब्द करता हुआ एक बार क्षिप्रगति से उछल कर फिर अपनी ही चंचलता में जैसे डूब जाता है। शकुन्तला-नाटक के "पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्" मृग की तरह इस शब्द का पूर्वार्ध भी जैसे अपने पश्चार्ध में प्रवेश करना चाहता है।

भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः, संगीत-भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसे, 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्ष की चंचलता, 'भौहों' मे स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है। ऐसे ही 'हिलोर' में उठान, 'लहर' मे सलिल के वक्षःस्थल की कोमल-कम्पन, 'तरंग' मे लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठ कर गिर पड़ना, 'बढ़ो-बढ़ो' बहने का शब्द मिलता है, 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, 'ऊर्म्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिल्लोल-कल्लोल से ऊँची-ऊँची बाँहें उठाती हुई उत्पात-पूर्ण तरंगों का आभास मिलता है। 'पंख' शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान के लिए भारी लगता है; जैसे किसी ने पक्षी के पंखों में शीशे का टुकडा बाँध दिया हो, वह छटपटा कर बार-बार नीचे गिर पड़ता हो; अँगरेज़ी का 'विंग' जैसे उड़ान का जीता-जागता चित्र है। उसी तरह 'टच' मे जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती। 'स्पर्श', जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच हो उठता है, उसका चित्र है; व्रज-भाषा के 'परस' में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है; 'जौय' से जिस प्रकार मुँह भर

जाता है, 'हर्ष' से उसी प्रकार आनन्द का विद्युत्-स्फुरण प्रकट होता है। अँगरेज़ी के 'एअर' में एक प्रकार की ट्रान्सपेअरेन्सी मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखाई पड़ती हो, 'अनिल' से एक प्रकार की कोमल-शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छन कर आ रही हो; 'वायु' में निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फीते की तरह खिचकर फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है; 'प्रभंजन' 'विड' की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्तों को उखाड़ता हुआ बहता है; 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नही सकती; 'पवन' शब्द मुझे ऐसा लगता है जैसे हवा रुक गई हो, 'प' और 'न' की दीवारो से घिर-सा जाता है; 'समीर' लहराता हुआ बहता है।

कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिये, जो बोलते हों, सेव की तरह जिनके रस की मधुर-लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े; जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि मे आँखो के सामने चित्रित कर सके, जो झंकार मे चित्र, चित्र में झंकार हों, जिनका भाव-संगीत विद्युद्वारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके; जिनका सौरभ सूंघते ही साँसों द्वारा अन्दर पैठ कर हृदयाकाश में समा जाय; जिसका रस मदिरा की फेन-राशि की तरह अपने प्याले से बाहर छलक उसके चारों ओर मोतियों की झालर की तरह झूलने लगे, छत्ते में न समा कर मधु की तरह टपकने लगे; अर्धनिशीथ की तारावली की तरह जिनकी दीपावली अपनी मौन-जड़ता के अन्धकार को भेद कर अपने ही भावो की ज्योति में दमक उठे; जिनका प्रत्येक चरण प्रियंगु की डाल की तरह अपने ही सौन्दर्य के स्पर्श से रोमांचित रहे; जापान की द्वीप-मालिका की तरह जिनकी छोटी-छोटी पंक्तियाँ अपने अन्तस्तल मे सुलगी ज्वालामुखी को न दबा सकने के कारण अनन्त श्वासोच्छ-वासों के भूकम्प मे काँपती रहे।

भाव और भाषा का सामंजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र-राग है। जैसे भाव ही भाषा मे घनीभूत हो गये हों; निर्झरिणी की तरह उनकी गति और रव बन गये हों, छुड़ाये न जा सकते हों; कवि का हृदय जैसे नीड़ में सुप्त पक्षी की तरह किसी अज्ञात स्वर्ण-रश्मि के स्पर्श से जग कर, एक अनिर्वचनीय आकुलता से, सहसा अपने स्वर की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता मे कूक उठा हो, एक रहस्यपूर्ण सगीत के स्रोत मे उमड़ चला हो; अन्तर का उल्लास जैसे अपने फूट पड़ने के स्वभाव से बाध्य होकर, वीणा के तारों की तरह, अपने आप झंकारों में नृत्य करने लगा हो; भावनाओ की तरुणता, अपने ही आवेश से अधीर हो, जैसे शब्दों के चिरालिगन-पाश मे बँध जाने के लिए, हृदय के भीतर से अपनी बाँहें बढ़ाने लगी हो; यही भाव और स्वर का मधुर-मिलन, सरस-सन्धि है। हृदय के कुंज में छिपी हुई भावना मानो चिरकाल तक प्रतीक्षा

करने के बाद अपने प्रियतम से मिली हो, और उसके रोएँ-रोएँ आनन्दोद्रेक से झनझना उठे हो।

जहाँ भाव और भाषा मे मैत्री अथवा ऐक्य नही रहता, वहाँ स्वरों के पावस में केवल शब्दों के 'बटु-समुदाय' ही, दादुरों की तरह, इधर-उधर कूदते, फुदकते तथा साम-ध्वनि करते सुनाई देते हैं। ब्रज-भाषा के अलंकृत काल की अधिकांश कविता इसका उदाहरण है। अनुप्रासों की ऐसी अराजकता तथा अलंकारों का ऐसा व्यभिचार और कही देखने को नही मिलता। स्वस्थवाणी में जो एक सौन्दर्य मिलता है उसका कही पता ही नही। उस 'सूधे पाँय न धरि परत शोभा ही के भार' वाली ब्रज की वासक-सज्जा का सुकुमार शरीर अलंकारों के अस्वाभाविक बोझ से ऐसा दबा दिया गया, उसके कोमल-अगो में कलम की नोक से असंस्कृत रुचि की स्याही का ऐसा गोदना भर दिया गया कि उसका प्राकृतिक रूप-रंग कही दीख ही नही पड़ता; उस बालिका के अस्थि-हीन अग खीच-खीच, तोड़-मरोड़ कर, प्रोक्रस्टीज् की तरह, किसी प्रकार छन्दों की चारपाई में बाँध दिये, फ़िट कर दिये गये हैं। प्रत्येक पद्य, मेसर्स व्हाइटवे, लेडलो एण्ड कं० के केटलाग मे दी हुई नर-नारियो की तस्वीरों की तरह, जिनकी सत्ता संसार में और कही-न-कही, एक नये फैशन के गौन या पेटी-कोट,नई हैट या अण्डर-वियर,नये विन्यास के अलंकार-आभूषण अथवा वस्त्रों के नये-नये नमूनों का विज्ञापन देने के लिए ही जैसे बनाया गया हो।

(पल्लव, पृष्ठ २२८२८)

२—अलंकार

अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं; वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं; वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं; पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी की झंकारे विशेष घटना से टकरा कर फेना-कार हो गई हों, विशेष भावों के झोंके खाकर बाल-लहरियों, तरुण-तरंगों में फूट गई हो, कल्पना के विशेष बहाव में पड़ आवर्तों में नृत्य करने लगी हों। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता, शब्दों की कृपण-जड़ता में बंध कर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।

जिस प्रकार संगीत में सात स्वर तथा उनकी श्रुति-मूर्छनाएँ केवल राग की अभिव्यक्ति के लिए होती है, और विशेष स्वरों के योग, उनके विशेष प्रकार के आरोह-अवरोह से विशेष राग का स्वरूप प्रकट होता है, उसी प्रकार कविता में भी विशेष

अलंकारों, लक्षणा-व्यंजना आदि विशेष शब्द-शक्तियों तथा विशेष छन्दों के सम्मिश्रण और सामंजस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है। जहाँ उपमा उपमा के लिए, अनुप्रास के लिए, श्लेष, अपह्नुति, गूढ़ोक्ति आदि अपने-अपने लिए हो जाते—जैसे पक्षी का प्रत्येक पंख यह इच्छा करे कि मैं भी पक्षी की तरह स्वतन्त्र रूप से उड़ूँ, वे अभीप्सित स्थान में पहुँचने के मार्ग न रह कर स्वयं अभीप्सित-स्थान, अभीप्सित-विषय बन जाते हैं, वहाँ बाजे के सब स्वरों के एक साथ चिल्ला उठने से राग का स्वरूप अपने ही तत्त्वों के प्रलय में लुप्त हो जाता है; काव्य के साम्राज्य में अराजकता पैदा हो जाती है, कविता साम्राज्ञी हृदय के सिंहासन से उतार दी जाती है, और उपमा, अनुप्रास, यमक, रूपक आदि उसके अमात्य, सचिव, शरीर-रक्षक तथा राजकर्मचारी, शब्दों की छोटी मोटी सेनाएँ संगृहीत कर, स्वयं शासक बनने की चेष्टा में विद्रोह खड़ा कर देते, और सारा साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

(पल्लव, पृष्ठ २८-२९)

३—कविता और छन्द

कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है; कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन; कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट पर अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन-हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है,—उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भर उन्हे सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियमित साँसें नियन्त्रित हो जाती, ताल-मुक्त हो जाती; उसके स्वर मे प्राणायाम, रोओ मे स्फूर्ति आ जाती, राग की असम्बद्ध झंकारें एक वृत्त में बँध जाती, उनमें परिपूर्णता आ जाती है। छन्द-बद्ध शब्द, चुम्बक के पार्श्ववर्ती लोहचूर्ण की तरह, अपने चारों ओर एक आकर्षण-क्षेत्र (मैगनेटिक फील्ड) तैयार कर लेते, उनमे एक प्रकार का सामंजस्य, एक-रूप, एक-विन्यास आ जाता; उनमें राग की विद्युत्-धारा बहने लगती, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।

(पल्लव, पृष्ठ ३०-३१)

\+ \+ \+

संस्कृत का संगीत जिस तरह हिल्लोलाकार मे प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नहीं। वह लोल-लहरों का चंचल कलरव, बाल-झंकारों का छेकानुप्रास है। उसमें प्रत्येक शब्द का स्वतन्त्र हृत्स्पन्दन, स्वतन्त्र अंग-भंगी, स्वाभाविक साँसें हैं। हिन्दी

का संगीतस्वरों की रिमझिम में बरसता, छनता-छनकता, बुदबुदो में उबलता, छोटे-छोटे उत्सों के कलरव में उछलता-किलकता हुआ बहता है। उसके शब्द एक दूसरे के गले पड़कर, पगों से पग मिलाकर सेनाकार नही चलते; बच्चों की तरह अपनी ही स्वच्छन्दता में थिरकते-कूदते हैं। यही कारण है कि संस्कृत में सयुक्ताक्षर के पूर्व अक्षर को गुरू मानना आवश्यक-सा हो जाता है, वह अच्छा भी लगता है; हिन्दी में ऐसा नियम नही है, और वह कर्ण-कटु भी हो जाता है।

हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों ही मे अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्ही के द्वारा उसमें सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। वर्ण-वृत्तों की नहरो मे उसकी धारा अपना चचल नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता, कल्-कल्, छल्-छल्, तथा अपने क्रीड़ा, कौतुक, कटाक्ष एक साथ ही खो बैठती, उसकी हास्य-दृप्त सरल मुख-मुद्रा गम्भीर मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ़ हो जाती, उसका चंचल भृकुटि-भंग दिखलावटी गरिमा से दब जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि उसके चंचल-पदों से स्वाभाविक नृत्य छीन कर किसी ने, बलपूर्वक, उन्हे सिपाहियो की तरह गिन-गिन कर पाँव उठाना सिखला कर, उनकी चंचलता को पद-चालन के व्यायाम की बेड़ी से बाँध दिया है। हिन्दी का संगीत ही ऐसा है कि उसके सुकुमार पद-क्षेप के लिए वर्ण-वृत्त पुराने फैशन के चाँदी के कड़ों की तरह बड़े भारी हो जाते हैं, उसकी गति शिथिल तथा विकृत हो जाती है, उसके पदों मे वह स्वाभाविक नूपुर-ध्वनि नहीं रहती।

बँगला के छन्द भी हिन्दी कविता के लिए सम्यक् वाहन नही हो सकते, बँगला का संगीत आलाप-प्रधान होने से अनियन्त्रित-सा है। उसकी धारा पहाडी नदी की तरह ओठो के तटों से टकराती, ऋजु-कुचित चक्कर काटती, मन्द-क्षिप्र गति बदलती, स्वरपात के रोड़ों का आघात पाकर फेनाकार शब्द करती, उठती, पड़ती हुई आगे बढती है। उसके अक्षर हिन्दी की रीति से ह्रस्व-दीर्घ के पलड़ो मे सूक्ष्म रूप से नही तुले मिलते; उनका मात्रा-काल उच्चारण की सुविधानुसार न्यूनाधिक होता जाता है। अँगरेजी की तरह बँगला में भी स्वरपात (एक्सेन्ट) अधिक परिस्फुट रूप में मिलता है। यदि अँगरेजी तथा बँगला के शब्द हिन्दी के छन्दों मे कम्पोज कर कस दिये जाये, तो वे अपना स्वर खो बैठे। संस्कृत के शब्द जैसे नपे-तुले, कटे-छँटे (डायमन्ड-कट के) होते हैं, वैसे बँगला और अँगरेजी के नही; वे जैसे लिखे जाते वैसे नहीं पढे जाते; बँगला के शब्द, उच्चारण की धारा में पड़ स्पंज के टुकड़े की तरह स्वर से फूल उठते; और अँगरेजी के शब्दों का कुछ नुकीला भाग, उच्चारण करते समय, विलायती मिठाई की तरह, मुँह के भीतर ही गलकर रह जाता, वे चिकने-चुपड़े, गोल तथा कोमल होकर बाहर निकलते हैं।

बँगला में, अधिकतर, अक्षर-मात्रिक छन्दों में कविता की जाती है। पुराने वैष्णव-कवियों के अतिरिक्त, जिन्होने संस्कृत और हिन्दी के ह्रस्व-दीर्घ का ढग अपनाया, अन्यत्र, ह्रस्व-दीर्घ के नियमों पर बहुत कम कविता मिलती है; इस प्रणाली पर चलने से बँगला का स्वाभाविक संगीत विनष्ट भी हो जाता है; रावीन्द्रिक ह्रस्व-दीर्घ में बंगला का प्रकृतिगत राग अधिक प्रस्फुटित तथा परिपूर्ण मिलता है; उसके अनुसार 'ऐ' 'ओ' तथा संयुक्ताक्षर के पूर्व-वर्ण को छोडकर और सर्वत्र—आ, ई, ऊ, ऋ, ए, ओ मे—एक ही मात्रा-काल माना जाता, और वास्तव मे, बँगला में इनका ठीक-ठीक दीर्घ उच्चारण होता भी नहीं। पर हिन्दी मे तो सोने की तोल है, उसमे आप रत्ती भर भी किसी मात्रा को, उच्चारण की सुविधा के लिए, घटा-बढा नही सकते, उसकी आवश्यकता ही नही पड़ती, इसलिए बँगला-छन्दो की प्रणालियों मे ढालने से उसके सगीत की रक्षा नही हो सकती।

ब्रज-भाषा के अलंकृत काल मे 'सवया' और 'कवित्त' का ही बोल-बाला रहा, दोहा-चौपाई महात्मा तुलसीदासजी ने इतने ऊँचे उठा दिये, ऐसे चमका दिये, तुलसी की प्रगाढ़ भक्ति के उद्गारो को बहाते-बहाते उनका स्वर ऐसा सध गया, ऐसा उज्ज्वल, पवित्र तथा परिणत हो गया था कि एक-दो को छोड़, अन्य कवियो को उन पवित्र-स्वरों को अपनी शृंगार की तन्त्री में चढाने का साहस ही नही हुआ; उनकी लेखनी द्वारा वे अधिक परिपूर्ण रूप पा भी नहीं सकते थे। इसके अतिरिक्त सवैया तथा कवित्त छन्दों मे रचना करना आसान भी होता है, और सभी कवि सभी छन्दो मे सफलतापूर्वक रचना कर भी नही सकते। छन्दों की अपनी अँगुलियो में नचाने के पूर्व, कवि को छन्दों के संकेतों पर नाचना पडता है; सरकस के नवीन अदम्य अश्वो की तरह उन्हे साधना, उनके साथ घूमना, दौडना, चक्कर खाना पड़ता है, तब कही वे स्वेच्छानुसार, इगित-मात्र पर वर्तुलाकार, अडाकार, आयताकार बनाये जा सकते हैं। जिस प्रकार सा रे ग म आदि स्वर एक होने पर भी पृथक्-पृथक् वाद्य-यन्त्रो में उनकी पृथक्-पृथक् रीति से साधना करनी पड़ती है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न छन्दों के तारो, परदों तथा तन्तुओ से भावनाओ का राग जागृत करने के पूर्व भिन्न-भिन्न प्रकार से निहित प्रत्येक की स्वर-योजना से परिचय प्राप्त कर लेना पडता है, तभी छन्दों की तन्त्रियों से कल्पना की सूक्ष्मता, सुकुमारता, उसके बोल-तान, आलाप, भावना की मुरकियाँ तथा मीड़ें स्वच्छन्दता तथा सफलतापूर्वक झकारित की जा सकती हैं।

(पल्लव, पृष्ठ ३३-६६)

१—काव्य का सत्य

नहीं जानता, कैसे इस संक्रांति काल की
नित्य बदलती हुई वास्तविकता के पट में
मूर्तित करूँ चिरंतन सत्य मनुज आत्मा का।
परिवर्तित होती जग की वास्तवता प्रतिदिन,
किंतु नहीं आदर्श बदलता है उस गति से,
उसका दिन, कहते हैं, ब्रह्मा का दिन होता।
बाह्य क्रांति ही मात्र नहीं यह भौतिक युग की,
बदल रहा अंतर का भी आदर्श साथ ही,
आज कला को अभिनव को कल्पित करना है,
मिट्टी की जड़ता में फूँक सके जो जीवन।
हार गया मैं खोंट खोंट पाषाण शिला को
पर आदर्श नहीं अँट पाता रेखाओं में,
सूक्ष्म सत्य, छाया-सा खिसक, दूर हट जाता।...
विस्मित हूँ मैं!

(शिल्पी पृष्ठ १७)

५—काव्य और सौन्दर्य

क्या है यह सौन्दर्य चेतना? जग जीवन की
अंतरतम स्वर संगति: जो अब अंतर्नभ के
शिखरों से है उतर रही स्वर्णिम प्रवाह सी
स्वप्नों से शोभा उर्वर करने वसुधा को!
जीवन का आनन्द स्वतः ही मूर्तिमान हो
देख रहा निज रत्नच्छाया स्मित वैभव को।
मानव के अपलक हृत् शतदल में सुख दोलित
दिव्य प्रेम का अमर स्वप्न प्रस्फुटित हुआ जब
अंतर्मन को प्रथम उषा में, शांत सौम्य स्मित,
वह जीवन सौन्दर्य चेतना में लिपटा था।
ज्योति प्रीति आनंद मधुरिमा,—अब मानव का
जीवन भी पर्याय बन रहा उसी सत्य का!
अंतरैक्य में, बाह्य साम्य में संयोजित हो
भू जीवन नव शोभा का प्रतिमान बन रहा।

(शिल्पी, पृष्ठ १०७)

६—काव्य और सिद्धि

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !

भव कर्म आज युग की स्थितियों से है पीड़ित,
जग का रूपान्तर भी जनैक्य पर है अवलंबित,

तुम रूप कर्म से मुक्त, शब्द के पंख मार,
कर सको सुदूर मनोनभ में जन के विहार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !

चित् शून्य—आज जग, नवनिनाद से हो गुंजित,
मन जड़, उसमें नवस्थितियों के गुण हों जागृत,

तुम जड़ चेतन की सीमाओं के आर पार,
झंकृत भविष्य का सत्य कर सको स्वराकार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !

युग कर्म शब्द, युग रूप शब्द, युग सत्य शब्द,
शब्दित कर भावी के सहस्र शत मूक अब्द,

ज्योतित कर जन मन के जीवन का अंधकार,
तुम खोल सको मानव उर के निःशब्द द्वार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !

(ग्राम्या)

७—काव्य में सत्य, शिव और सुन्दर

× × × सत्य शिव में स्वयं निहित है। जिस प्रकार फूल में रूप-रंग हैं, फल में जीवनोपयोगी रस; और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों ही द्वारा होती है, उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिवम् में सत्य ही द्वारा हो सकती है। यदि कोई वस्तु उपयोगी (शिव) है तो उसके आधारभूत कारण उस उपयोगिता से सम्बन्ध रखने वाले सत्य में अवश्य होने चाहिए, नही तो वह उपयोगी नही हो सकती। इसी प्रकार अनुभूति की तीव्रता भी सापेक्ष है × × × × × × सत्य के दोनों रूप हैं,—शराबा शराब पीता है यह सत्य है; उसे शराब नही पीना चाहिये यह भी सत्य है। एक उसका वास्तविक (फ़ैक्चुअल) रूप है, दूसरा परिणाम से सम्बन्ध रखने वाला। × × × ×

× × अनुभूति की तीव्रता का बोध बहिर्मुखी (एक्स्ट्रोवर्ट) स्वभाव अधिक करवा सकता है, मगल का बोध अन्तर्मुखी स्वभाव (इन्ट्रोवर्ट)। क्योंकि दूसरा कारण रूप अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त न कर उसके फलस्वरूप कल्याणमयी अनुभूति को वाणी देता है।

(आधुनिक कवि, भूमिका)

८—काव्य के नवीन आदर्श

प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श समय के प्रवाह में अपनी उपयोगिता के साथ अपना सौन्दर्य संगीत भी खो बैठते हैं, उन्हें सजाने की जरूरत पड़ती है। नवीन आदर्श और विचार अपनी ही उपयोगिता के कारण संगीतमय एवं अलंकृत होते हैं। क्योकि उनका रूप-चित्र अभी सद्य होता है और उनके रस का स्वाद नवीन। × × × × × × जिन विचारो की उपयोगिता नष्ट हो गई है, जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि खिसक गई है, वे पथराए हुए मृत विचार भाषा को बोझिल बनाते है। नवीन विचार और भावनाएँ, जो हृदय की रस-पिपासा को मिटाते हैं, उड़ने वाले प्राणियों की तरह, स्वयं हृदय मे घर कर लेते हैं। आने वाले काव्य की भाषा अपने नवीन आदर्शों के प्राणत्व से रसमयी होगी, नवीन विचारो के ऐश्वर्य से सालंकार और जीवन के प्रति नवीन अनुराग की दृष्टि से सौन्दर्यमयी होगी। इस प्रकार काव्य के अलकार विकसित और सांकेतिक हो जाएंगे।

(आधुनिक कवि)

९—कला और जन-जीवन

यही प्रश्न है आज कला के सन्मुख निश्चय,
जो दुःसाध्य प्रतीत हो रहा कलाकार को;
बहिरंतर की जटिल विषमताओं में उसको
नव समत्व भरना होगा, सौन्दर्य संतुलित !—
मानव उर की वंशी में नव स्वर संगति भर,
भावपूर्ण कर निखिल अभावों के जीवन को !
नव्य सृजन की कृच्छ व्यथा से पीड़ित कब से
कलाकार का हृदय विकल है नव जीवन की
प्रतिमा अंकित करने को सर्वांग पूर्णतम—
जनयुग की निर्मम पाषाण शिला के उर में !–
महत् प्रेरणा का आकांक्षी है युग मानव !

(शिल्पी, पृष्ठ ३४)

१०—आदर्श और वस्तुवाद

मै केवल आदर्शवाद का ही पक्ष नही ले रहा हूँ, वस्तुवादियों के दृष्टिकोण की भी उपयोगिता स्वीकार करता हूँ। वास्तव में आदर्शवाद, वस्तुवाद, जड़-चेतन, पूर्व-पश्चिम आदि शब्द उस युग-चेतना के प्रतीक अथवा उस सभ्यता के विरोधाभास हैं जिसका संचरण वृत्त अब समाप्त होने को है। आदर्शवाद द्रष्टा या ज्ञाता का दृष्टिबिन्दु है, जो आदर्श को प्रधान तथा सत्य मानता है और वास्तविकता या यथार्थ को उसका बिम्ब रूप, जिसे आदर्श की ओर अग्रसर या विकसित होना है। यह स्पष्ट ही है कि गतिविधि या विकास के पथ को निर्धारित करने के लिए आदर्श का बोध या ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है। तथोक्त वस्तुवाद कर्ता या कर्म का दृष्टिकोण है जिसके लिए गोचर वस्तु ही यथार्थ तथा प्रधान है, आदर्श उसी का विकास या परिणति। वस्तु से उसका विधायक या निर्माता का सम्बन्ध होने के कारण वह उसकी यथार्थता को अपनी दृष्टि से ओझल नही होने देता एवं उसी को सत्य मानता है। किन्तु यदि हम आदर्श तथा वस्तु को एक ही सत्य का, जो अव्यक्त तथा विकासशील होने के कारण दोनों से अतिशय तथा ऊपर भी है,—सूक्ष्म-स्थूल रूप या बिम्ब-प्रतिबिम्ब मान ले तो दोनो दृष्टिकोणों मे सहज ही सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है, और आदर्श तथा वस्तु-वादी, अपनी-अपनी उपयोगिता तथा सीमाओं को मानते हुए, विश्व-कर्म मे परस्पर सहायक की तरह हाथ बँटा सकते हैं। विनय, आत्म-त्याग, सच्चाई, सहानुभूति, अहिंसा आदि व्यावहारिक आदर्शों को अपना कर—जो मनुष्यत्व की परिचायक, सनातन सामाजिक विभूतियाँ हैं—दोनो शिविरों का संयुक्त कर्म भू-निर्माण के कार्य को अधिक परिपूर्ण रूप से आगे बढ़ा सकता है।

(उत्तरा, भूमिका)

महादेवी वर्मा

[जन्म—सन् १९०७]

ग्रन्थ—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य

१—काव्य-कला

काव्य में कला का उत्कर्ष एक ऐसे बिन्दु तक पहुँच गया, जहाँ से वह ज्ञान को भी सहायता दे सका, क्योंकि सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता में अनन्त; इसी से साधन के परिचय-स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मयभरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर पर लहर उठाता हुआ चलता है।

(पृष्ठ १)

२—बुद्धि-तत्त्व और हृदय-तत्त्व

मस्तिष्क और हृदय परस्पर पूरक रहकर भी एक ही पथ से नहीं चलते। बुद्धि में समानान्तर पर चलनेवाली भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं और अनुभूति में एकतारता लिये गहराई। ज्ञान के क्षेत्र में एक छोटी रेखा के नीचे उससे बड़ी रेखा खींच कर पहली का छोटा और भिन्न अस्तित्व दिखाया जा सकता है। इसके असंख्य उदाहरण, विज्ञान जीवन की स्थूल सीमा में और दर्शन जीवन की सूक्ष्म असीमता में दे चुका है। पर अनुभूति के क्षेत्र में एक की स्थिति से नीचे और अधिक गहराई में उतरकर भी हम उसके साथ एक ही रेखा पर रहते हैं। एक वस्तु को एक व्यक्ति अपनी स्थिति-विशेष में अपने विशेष दृष्टि-बिन्दु से देखता है, दूसरा अपने धरातल पर अपने से और तीसरा अपनी सीमा रेखा पर अपने से। तीनों ने वस्तु-विशेष को जिन विशेष दृष्टिकोणों से जिन विभिन्न परिस्थितियों में देखा है वे उनके तद्विषयक ज्ञान को भिन्न रेखाओं में घेर लेंगी। इन विभिन्न रेखाओं के नीचे ज्ञान के एक सामान्य धरातल की स्थिति है अवश्य, परन्तु वह अपनी एकता के परिचय के लिए ही इस अनेकता को सँभाले रहती है।

अनुभूति के सम्बन्ध में यह कठिनाई सरल हो जाती है। एक व्यक्ति अपने दुःख को बहुत तीव्रता से अनुभव कर रहा है, उससे निकट आत्मीय की अनुभूति में तीव्रता की मात्रा कुछ घट जायगी और साधारण मित्र में उसका और भी न्यून हो जाना सम्भव है, पर जहाँ तक दुःख के सामान्य संवेदन का प्रश्न है वे तीनों एक ही रेखा

पर, निकट, दूर, अधिक दूर, की स्थिति में रहेंगे। हाँ जब उनमें से कोई उस दुःख को, अनुभूति के क्षेत्र से निकालकर बौद्धिक धरातल पर रख लेगा तब कथा ही दूसरी हो जायगी। अनुभूति अपनी सीमा मे जितनी सबल है उतनी बुद्धि नही। हमारे स्वयं जलने की हल्की अनुभूति भी दूसरे के राख हो जाने के ज्ञान से अधिक स्थायी रहती है।

बुद्धि वृत्ति अपने विषय को ज्ञान के अनन्त विस्तार के साथ रखकर देखती है, अतः व्यष्टिगत सीमा में उसका संदिग्ध हो उठना स्वाभाविक ही रहेगा। 'अमुक ने धूम देखकर अग्नि पाई' की जितनी आवृत्तियाँ होंगी हमारा धूम और अग्नि की सापेक्षता विषयक ज्ञान उतनी ही निश्चित स्थिति पा सकेगा। पर अपने विषय पर केन्द्रित हो कर उसे जीवन की अनन्त गहराई तक ले जाना अनुभूति का लक्ष्य रहता है, इसी से हमारी व्यक्तिगत अनुभूति जितनी निकट और तीव्र होगी दूसरे का अनुभूत सत्य हमारे समीप उतना ही असन्दिग्ध होकर आ सकेगा। 'तुमने जिसे पानी समझा वह बालू की चमक है,' 'तुमने जिसे काला देखा वह नीला है,' 'तुमने जिसे कोमल पाया वह कठोर है,' आदि आदि कहकर हम दूसरे में, स्वयं उसी के इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के प्रति, अविश्वास उत्पन्न कर सकते हैं, परन्तु 'तुम्हें जो काँटा चुभने की पीड़ा हुई वह भ्रान्ति है' यह हमसे असंख्य बार सुन कर भी कोई अपनी पीड़ा के अस्तित्व में सन्देह नही करेगा।

जीवन के निश्चित बिन्दुओं को जोड़ने का कार्य हमारा मस्तिष्क कर लेता है, पर इस क्रम से बनी परिधि में सजीवता के रँग भरने की क्षमता हृदय में ही सम्भव है। काव्य या कला मानो इन दोनों का सन्धि-पत्र है जिसके अनुसार बुद्धि-वृत्ति झीने वायुमण्डल के समान बिना भार डाले हुए ही जीवन पर फैली रहती है और रागात्मिका वृत्ति उसके धरातल पर, सत्व को अनन्त रंग-रूपों मे चिर-नवीन स्थिति देती रहती है। अतः काव्य-कला का सत्य जीवन की परिधि में सौन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखण्ड सत्य है।

(पृष्ठ ६-८)

\+ \+ \+

कवि में दार्शनिक को खोजना बहुत साधारण हो गया है। जहाँ तक सत्य के मूल रूप का सम्बन्ध है वे दोनो एक दूसरे के अधिक निकट हैं अवश्य, पर साधन और प्रयोग की दृष्टि से उनका एक होना सहज नहीं। दार्शनिक बुद्धि के निम्न स्तर से अपनी खोज आरम्भ करके उसे सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचा कर सन्तुष्ट हो जाता है—उसकी सफलता यही है कि सूक्ष्म सत्य के उस रूप तक पहुँचने के लिए वही बौद्धिक दिशा सम्भव रहे। अन्तर्जगत् का सारा वैभव परख कर सत्य का मूल्य आँकने का उसे अवकाश नहीं, भाव की गहराई में डूब कर जीवन की थाह लेने का उसे अधिकार नहीं। वह तो चिन्तन-जगत का अधिकारी है। बुद्धि, अन्तर का बोध करा कर एकता का

निर्देश करती है और हृदय एकता की अनुभूति देकर अन्तर की ओर संकेत करता है। परिणामतः चिन्तन की विभिन्न रेखाओं का समानान्तर रहना अनिवार्य हो जाता है। सांख्य जिस रेखा पर बढ़कर लक्ष्य की प्राप्ति करता है वह वेदान्त को अंगीकृत न होगी और वेदान्त जिस क्रम से चलकर सत्य तक पहुँचता है उसे योग स्वीकार न कर सकेगा।

काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित रहकर ही सक्रियता पाती है इसीसे उसका दर्शन न बौद्धिक तर्क-प्रणाली है और न सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचाने वाली विशेष विचार-पद्धति। वह तो जीवन को, चेतना और अनुभूति के समस्त वैभव के साथ, स्वीकार करता है। अतः कवि का दर्शन, जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है। दर्शन में, चेतना के प्रति नास्तिक की स्थिति भी सम्भव है, परन्तु काव्य मे अनुभूति के प्रति अविश्वासी कवि की स्थिति असम्भव ही रहेगी। जीवन के अस्तित्व को शून्य प्रमाणित करके भी दार्शनिक बुद्धि के सूक्ष्म बिन्दु पर विश्राम कर सकता है परन्तु यह अस्वीकृति कवि के अस्तित्व को, डाल से टूटे पत्ते की स्थिति दे देती है।

(पृष्ठ २०-२१)

३—सौन्दर्य

सौन्दर्य-सम्बन्धी समस्या भी कुछ कम उलझी हुई नही है। बाह्य जगत अनेक-रूपात्मक है और उन रूपों का सुन्दर तथा कुरूप में एक व्यावहारिक वर्गीकरण भी हो चुका है। क्या कला इस वर्गीकरण की परिधि में आने वाले सौन्दर्य को ही सत्य का माध्यम बनाकर शेष को छोड़ दे ? केवल बाह्य रेखाओं और रंगों का सामंजस्य ही सौन्दर्य कहा जावे तो प्रत्येक भू-खण्ड का मानव-समाज ही नही प्रत्येक व्यक्ति भी अपनी रुचि में दूसरे से भिन्न मिलेगा। किसके रुचि-वैचित्र्य के अनुसार सामंजस्य की परिभाषा बनाई जावे यह प्रश्न सत्य से भी अधिक जटिल हो उठेगा।

सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएँ जिस सौन्दर्य का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है, केवल बाह्य रूपरेखा पर नही। प्रकृति का अनन्त वैभव प्राणिजगत की अनेकात्मक गतिशीलता, अन्तर्जगत की रहस्य-मयी विविधता सब कुछ इनके सौन्दर्य-कोष के अन्तर्गत है और इसमें से क्षुद्रतम वस्तु के लिए भी ऐसे भारी मुहूर्त आ उपस्थित होते हैं जिनमें वह पर्वत के समकक्ष खड़ी होकर ही सफल हो सकती है और गुरुतम वस्तु के लिए भी ऐसे लघु क्षण आ पहुँचते हैं जिनमें वह तृण के साथ बैठ कर ही कृतार्थ बन सकती है

जीवन का जो स्पर्श विकास के लिए अपेक्षित है उसे पाने के उपरान्त छोटा, बड़ा, लघु, गुरु, सुन्दर, विरूप, आकर्षक, भयानक, कुछ भी कला-जगत से बहिष्कृत नहीं किया जाता।

(पृष्ठ ८-९)

४—उपयोगी और ललित कला

कला शब्द से किसी निर्मित पूर्ण खण्ड का ही बोध होता है और कोई भी निर्माण अपनी अन्तिम स्थिति में जितना सीमित है आरम्भ मे उतना ही फैला हुआ मिलेगा। उसके पीछे स्थूल जगत का अस्तित्व, जीवन की स्थिति किसी अभाव की अनुमति, पूर्त्ति का आदर्श, उपकरणों की खोज, एकत्रीकरण की कुशलता आदि का जो इन्द्रजाल रहता है उसके अभाव में निर्माण की स्थिति शून्य के अतिरिक्त कौन-सी सज्ञा पा सकेगी। चिड़िया का कलरव कला न होकर कला का विषय हो सकेगा पर मनुष्य के गीत को कला कहना होगा। एक में वह सहज प्रवृत्ति मात्र है। पर दूसरे ने सहज प्रवृत्ति के आधार पर अनेक स्वरों को विशेष सामंजस्यपूर्ण स्थिति मे रखकर एक विशेष रागिनी की सृष्टि की है जो अपनी सीमा मे जीवन-व्यापी सुख-दु.खो की अनुभूति को अक्षय रखती है। इस प्रकार प्रत्येक कला-कृति के लिए निर्माण-सम्बन्धी विज्ञान की भी आवश्यकता होगी और उस विज्ञान की सीमित रेखाओं मे व्यक्त होने वाले जीवन के व्यापक सत्य की अनुभूति की भी। जब हमारा ध्यान किसी एक पर ही केन्द्रित हो जाता है तब दोनों को जोड़ने वाली कड़ियाँ स्पष्ट होने लगती हैं।

एक कृति को ललित कहकर चाहे हम जीवन के, दृष्टि से ओझल शिखर पर प्रतिष्ठित कर आवें और दूसरी को उपयोगी का नाम देकर चाहे जीवन के धूल भरे प्रत्यक्ष कणों पर रख दे, परन्तु उन दोनो ही की स्थिति जीवन से बाहर सम्भव नही। उनकी दूरी हमारे विकास-क्रम से बनी है कुछ उनकी तात्त्विक भिन्नता से नही। नीचे की पहली सीढी से चढकर जब हम ऊपर की अन्तिम सीढ़ी पर खड़े हो जाते हैं तब उन दोनो की दूरी हमारे आरोह-क्रम की सापेक्ष है—स्वय एक-एक तो न वे नीची हैं, न ऊँची।

(पृष्ठ ९-१०)

\+ \+ \+

सत्य तो यह है कि जब तक हमारे सूक्ष्म अन्तर्जगत का बाह्य जीवन में पग-पग पर उपयोग होता रहेगा तब तक कला का सूक्ष्म उपयोग सम्बन्धी विवाद भी विशेष महत्त्व नही रख सकता। हमारे जीवन मे सूक्ष्म और स्थूल की जैसी समन्व-

यात्मक स्थिति है वही कला को, केवल स्थूल या केवल सूक्ष्म मे निर्वासित न होने देगी। जब हम एक व्यक्ति के कार्य को स्वीकार करेंगे तब उसकी पट-भूमिका बने हुए वायवी स्वप्न, सूक्ष्म आदर्श, रहस्यमयी भावना आदि का भी मूल्य आँकना आवश्यक हो जायगा और कला यदि उस वातावरण का ऐसा परिचय देती है जो कार्य से न दिया जा सकेगा तो जीवन को उसके लिए भीतर बाहर के सभी द्वार खोलने पड़ेंगे।

उपयोग की ऐसी निम्नोन्नत भूमियाँ हो सकती हैं जो अपने बाह्य रूपों में एक दूसरी से सर्वथा भिन्न जान पड़ें; परन्तु जीवन के व्यापक धरातल पर उनके मूल्य मे विशेष अन्तर नहीं रहता।

(पृष्ठ ११)

५—बुद्धि-तत्त्व और राग-तत्त्व

साहित्य में मनुष्य की बुद्धि और भावना इस प्रकार मिल जातीं हैं जैसे धूप-छाहीं वस्त्र मे दो रंगों के तार, जो अपनी-अपनी भिन्नता के कारण ही अपने रंगों से भिन्न एक तीसरे रंग की सृष्टि करते हैं। हमारी मानसिक वृत्तियों की ऐसी सामंजस्य-पूर्ण एकता साहित्य के अतिरिक्त और कही सम्भव नहीं। उसके लिए न हमारा अन्तर्जगत त्याज्य है और न बाह्य क्योंकि उसका विषय सम्पूर्ण जीवन है, आंशिक नही है।

मनुष्य के बाह्य जीवन मे जो कुछ ध्वंस और निर्माण हुआ है, उसकी शक्ति और दुर्बलता की जो परीक्षाएँ हुई हैं, जीवन संघर्ष में उसे जितनी हार-जीत मिली है केवल उसी का ऐतिहासिक विवरण दे देना साहित्य का लक्ष्य नहीं। उसे यह भी खोजना पड़ता है कि इस ध्वंस के पीछे कितनी विरोधी मनोवृत्तियाँ काम कर रही थी। निर्माण मनुष्य की किस सृजनात्मक प्रेरणा का परिणाम था, उसकी शक्ति के पीछे कौन-सा आत्मबल अक्षय था, दुर्बलता उसके किस अभाव से प्रसूत थी, हार उसकी किस निराशा की संज्ञा थी और जीत में उसकी कौन-सी कल्पना साकार हो गई।

जीवन का वह असीम और चिरन्तन सत्य जो परिवर्तन की लहरों में अपनी क्षणिक अभिव्यक्ति करता रहता है अपने व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही रूपो की एकता लेकर साहित्य में व्यक्त होता है: साहित्यकार जिस प्रकार यह जानता है कि बाह्य-जगत मे मनुष्य जिन घटनाओं को जीवन का नाम देता है वे जीवन के व्यापक सत्य की गहराई और उसके आकर्षण की परिचायक हैं, जीवन नहीं; उसी प्रकार यह भी

उससे छिपा नहीं कि जीवन के जिस अव्यक्त रहस्य की वह भावना कर सकता है उसी की छाया इन घटनाओं को व्यक्त रूप देती है। इसी से देश और काल की सीमा में बँधा साहित्य रूप में एक-देशीय होकर भी अनेक-देशीय और युग-विशेष से सम्बद्ध रहने पर भी युग-युगान्तर के लिए सवेदनीय बन जाता है।

(पृष्ठ ४६-४७)

६—कविता की परिभाषा

कविता हमारे व्यष्टि-सीमित जीवन को समष्टि-व्यापक जीवन तक फैलाने के लिए ही व्यापक सत्य को अपनी परिधि मे बाँधती है। साहित्य के अन्य अग भी ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु न उसमे सामजस्य की ऐसी परिणति होती है न आयास-हीनता। जीवन की विविधता में सामजस्य को खोज लेने के कारण ही कविता उन ललित कलाओं मे उत्कृष्टतम स्थान पा सकी है जो गति की विभिन्नता, स्वरों की अनेकरूपता या रेखाओं की विषमता के सामंजस्य पर स्थित है।

कविता मनुष्य के हृदय के समान ही पुरातन है परन्तु अब तक उसकी कोई ऐसी परिभाषा न बन सकी जिसमे तर्क-वितर्क की सम्भावना न रही हो। धुँधले अतीत भूत से लेकर वर्तमान तक और 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' से लेकर आज के शुष्क बुद्धिवाद तक जो कुछ काव्य के रूप और उपयोगिता के सम्बन्ध में कहा जा चुका है वह परिमाण में कम नही, परन्तु अब तक न मनुष्य के हृदय का पूर्ण परितोष हो सका है और न उसकी बुद्धि का समाधान। यह स्वाभाविक भी है क्योकि प्रत्येक युग अपनी विशेष समस्याएँ लेकर आता है जिनके समाधान के लिए नई दिशाएँ खोजती हुई मनोवृत्तियाँ उस युग के काव्य और कलाओ को एक विशिष्ट रूपरेखा देती रहती हैं। मूल तत्त्व न जीवन के कभी बदले हैं और न काव्य के, कारण वे उस शाश्वत चेतना से सम्बद्ध हैं जिसके तत्त्वतः एक रहने पर ही जीवन की अनेक-रूपता निर्भर है।

अतीत युगो के जितने सचित ज्ञानकोष के हम अधिकारी हैं उसके आधार पर कहा जा सकता है कि कविता मानव-ज्ञान की अन्य शाखाओ की सदैव अग्रजा रही है।

(पृष्ठ ४८-४९)

७—छायावाद

मनुष्य का जीवन चक्र की तरह घूमता रहता है। स्वच्छन्द घूमते-घूमते थक कर वह अपने लिए सहस्र बन्धनों का आविष्कार कर डालता है और फिर बन्धनों से ऊब

कर उनको तोडने मे अपनी सारी शक्तियाँ लगा देता है। छायावाद के जन्म का मूल कारण भी मनुष्य के इसी स्वभाव मे छिपा हुआ है। उसके जन्म से प्रथम कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव-अनुभूतियो का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है।

उन छाया-चित्रों को बनाने के लिए और भी कुशल चितेरो की आवश्यकता होती है; कारण, उन चित्रो का आधार छूने या चर्म-चक्षु से देखने की वस्तु नही। यदि वे मानव-हृदय मे छिपी हुई एकता के आधार पर उसकी सवेदना का रग चढाकर न बनाये जाये तो वे प्रेतछाया के समान लगने लगे या नही इसमें कुछ ही सन्देह है।

प्रकाश-रेखाओ के मार्ग में बिखरी हुई बदलियो के कारण जैसे एक ही विस्तृत आकाश के नीचे हिलोरें लेने वाली जल-राशि में कही छाया और कही आलोक का आभास मिलने लगता है उसी प्रकार हमारी एक ही काव्यधारा अभिव्यक्ति की भिन्न शैलियों के अनुसार भिन्न-वर्णी हो उठी है।

आज तो कवि धर्म के अक्षयवट और दरबार के कल्प-वृक्ष की छाया बहुत पीछे छोड़ आया है। परिवर्तनो के कोलाहल मे काव्य जब से मुकुट और तिलक से उतर कर मध्य-वर्ग के हृदय का अतिथि हुआ तब से आज तक वही है और सत्य कहे तो कहना होगा कि उस हृदय की साधारणता ने कवि के नेत्रो से वैभव की चकाचौध दूर कर दी और विषाद ने कवि को धर्मगत संकीर्णताओं के प्रति असहिष्णु बना दिया।

छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त्त और अमूर्त्त विश्व को मिला कर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति मे बिखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनो के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्म-वाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामो का भार सँभाल सकी।

छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध मे प्राण डाल दिये जो प्राचीनकाल से बिम्ब प्रतिबिम्ब के रूप मे चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दु ख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। छाया-वाद की प्रकृति घट, कूप आदि मे भरे जल की एक-रूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई, अत· अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जल-कण और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओ का एक ही कारण, एक ही मूल्य है।

(पृष्ठ ५९-६१)

८—गीति-काव्य

सुख-दु ख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का, गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है । इसमे कवि को सयम की परिधि मे बँधे हुए जिस भावातिरेक की आवश्यकता होती है वह सहज प्राप्त नही, कारण हम प्राय. भाव की अतिशयता मे कला की सीमा लाँघ जाते है और उसके उपरान्त, भाव के सस्कार-मात्र मे मर्मस्पर्शिता का शिथिल हो जाना अनिवार्य है । उदाहरणार्थ—दु:खातिरेक की अभिव्यक्ति आर्त-क्रन्दन या हाहाकार द्वारा भी हो सकती है जिसमें संयम का नितान्त अभाव है, उसकी अभिव्यक्ति नेत्रो के सजल हो जाने मे भी है जिसमे संयम की अधिकता के साथ आवेग के भी अपेक्षाकृत संयत हो जाने की सम्भावना रहती है, उसका प्रकाशन एक दीर्घ नि श्वास में भी है जिसमें संयम की पूर्णता भावातिरेक को पूर्ण नही रहने देती और उसका प्रकटीकरण नि स्तब्धता द्वारा भी हो सकता है जो निष्क्रिय बन जाती है ।

वास्तव मे गीत के कवि को आर्त्तक्रन्दन के पीछे छिपे हुए भावातिरेक को, दीर्घ नि.श्वास मे छिपे हुए सयम से बाँधना होगा तभी उसका गीत दूसरे के हृदय मे उसी भाव का उद्रेक करने मे सफल हो सकेगा ।

गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख-दुःख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है इसमे सन्देह नही ।

(पृष्ठ १४१-१४२)

९—आदर्श और यथार्थ

आदर्श का सत्य निरपेक्ष है, परन्तु यथार्थ की सीमा के लिए सापेक्षता आवश्यक ही नही अनिवार्य रहेगी, इसी से एक की भावना जितनी कठिन है दूसरे की अभिव्यक्ति उससे कम नही । आदर्श का भावन मनुष्य के हृदय और बुद्धि के परिष्कार पर निर्भर होने के कारण सहज नही, परन्तु एक बार भावन हो जाने पर उसकी अभिव्यक्ति यथार्थ के समान कठिन बन्धन नही स्वीकार करती । पूर्ण और सुन्दर स्वप्न देख लेना किसी असुन्दर हृदय और विकृत मस्तिष्क के लिए सहज सम्भाव्य नही रहता, पर जब हृदय और मस्तिष्क की स्थिति ने इसे सहज कर दिया तब केवल अभिव्यक्ति-सम्बन्धी प्रश्न उसे व्यक्त होने से नही रोक पाते । विश्व के स्थूल से सूक्ष्मतम अनेक रूपकों के भरोसे, भाषा की कोमल से कठोर तक असंख्य रेखाओ की सहायता से और भावो के हल्के से गहरे तक असंख्य रंगों के सहारे वह बार-बार व्यक्त होकर सुन्दर से सुन्दरतम, पूर्ण से पूर्णतम होता रह सकता है । आदर्श के सम्बन्ध मे अभिव्यक्ति की समस्या नही, परन्तु अभिव्यक्ति के ग्रहण का प्रश्न रहता है; क्योकि व्यक्त होते ही

वह यथार्थ की परिधि में आ जाता है और इस रूप में, उसे अपना पूर्ण परिचय देने के लिए, दूसरे की सामंजस्य-भावना की अपेक्षा होगी।

(पृष्ठ १६१-६२)

\+ \+ \+

आदर्श हमारी दृष्टि की मलिन संकीर्णता धोकर उसे, बिखरे यथार्थ के भीतर छिपे हुए सामंजस्य को देखने की शक्ति देता है, हमारी व्यष्टि में सीमित चेतना को, मुक्ति के पख देकर समष्टि तक पहुँचने की दिशा देता है और हमारी खण्डित भावना को, अखण्ड जागृति देकर उसे जीवन की विविधता नाप लेने का वरदान देता है। जब आदर्श जलभरे बादल की तरह आकाश का असीम विस्तार लेकर पृथ्वी के असंख्य रंगो और अनन्त रूपों मे नही उतर सकता, तब शरद् के सूने मेघ-खण्ड के समान शून्य का धब्बा बना रहना ही उसका लक्ष्य हो जाता है।

आदर्श और यथार्थ की कला-स्थिति के सम्बन्ध मे एक समस्या और भी है। आदर्श हमारे सत्य की भावना होने के कारण अन्तर्जगत की परिधि में मुक्त हो सकता है और बाह्य जगत में केवल व्यापक रेखाओं का बन्दी रह कर अपनी अभिव्यक्ति कर सकता है। परन्तु यथार्थ हमारी भावना से बाहर भी, कठिन स्थूल बन्धनों के भीतर एक निश्चित स्थिति रखता है, अतः उसे इस प्रकार व्यक्त करना कि वह हमारा भी रहे और अपनापन भी न खोये सहज नही।

(पृष्ठ १६५-६६)

१०—यथार्थवाद

यथार्थ का काव्यगत चित्रण सहज होता है यह धारणा भ्रान्तिमूलक ही प्रमाणित होगी। वास्तव मे यथार्थ के चितेरे को अपनी अनुभूतियो के हल्के-से-हल्के और गहरे-से-गहरे रगों के प्रयोग मे बहुत सावधान रहना पडता है, क्योकि उसका चित्र आदर्श के समान न अस्पष्ट होकर अग्राह्य हो सकता है और न व्यक्तिगत भावना मे बहुरंगी। वह प्रकृत न होने पर विकृत के अनेक रूप-रूपान्तरों में से किसी एक में प्रतिष्ठित होगा ही। यथार्थ की कविता को जीवन के उस स्तर पर रहना पड़ता है जहाँ से वह हमें जीवन के भिन्नवर्णी चित्र ही नही देती, प्रत्युत उनमें व्यक्त जीवन के प्रति एक प्रतिक्रियात्मक संवेदन भी देती है। घृणित कुत्सित के प्रति हमारी करुण संवेदना की प्रगति और क्रूर कठोर के विरुद्ध हमारी कोमल भावना की जागृति, यथार्थ का ही वरदान है। परन्तु अपनी विकृति में यथार्थवाद ने हमें क्या दिया है इसे जानने के लिए हम अपने नैतिक पतन के नग्न रूप पर आश्रित साहित्य को देख सकते हैं।

(पृष्ठ २१४)

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

[जन्म-सन् १९०८]

ग्रन्थ--अभिभाषण-विशेष, जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, काव्य में अभिव्यंजनावाद

१. काव्य में आदर्श और यथार्थ

पाप का पर्यवसान दुःख मे होना चाहिये और पुण्य की परिणति सुख में। यदि जीवन में सामान्यतः ऐसा नही होता है तो कम-से-कम साहित्य मे ऐसा होना चाहिए। आदर्शवादी साहित्य की ऐसी मान्यता है। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि जीवन की बहुत-सी मार्मिक घटनाएँ भी हमारे चित्त पर उतना प्रभाव नही डाल सकती जितना वे ही घटनाएँ काव्य या साहित्य के माध्यम से हमारे चित्त पर डालती हैं। मुख्यतः यह विषय साहित्य-शास्त्र का नही है और मानस-शास्त्र भी इस पर स्पष्ट नही है। काव्य या साहित्य के प्रति हमारी उन्मुख मनोदशा के विश्लेषण से इस रहस्य पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है। अपने स्वार्थ या सुख-दुःख की वैयक्तिक परिधि से बाहर जाने पर ही अहंकार का तिरोभाव होता है। जब तक अहं की सत्ता वर्तमान रहती है तब तक रसानुभूति के लिये अनुकूल मुक्त-दशा की कल्पना ही नही की जा सकती। मुक्त-दशा में हमारी वैयक्तिक सत्ता अपने अहं को लेकर डूब जाती है, हृदय एकांत रूप से स्वच्छ और निर्मल हो जाता है। यही अवस्था सत्वोद्रेक की है जिससे रस-दशा लाई जाती है। अपने क्रोध, घृणा, शोक, भय के अनुभव को रसानुभूति नही कहते। जो भाव वैयक्तिक परिधि से मुक्त होकर बृहत्तर रूप से समष्टिगत होता है उसी की निष्पत्ति साहित्य मे रस के रूप में हो सकती है। जो अपना शोक नही है, जो अपना भय नही है, या जो कुछ अपना दुःखात्मक या सुखात्मक भाव नही है उसके प्रति हमारे हृदय मे संवेदन की तीव्रता नही रहती, केवल लोक-सामान्य सहृदयता के कारण हृदय की सामान्य वृत्तियो को ग्रहण करने की क्षमता बनी रहती है। सुख और दुख को उपाधि रूप से ग्रहण करना और तदनुकूल हृदय की वृत्तियों को संकुचित तथा विकसित करना अहं का धर्म है। जब अहं की सत्ता का तिरोभाव हो जाता है तभी हम अपनी व्यक्तिगत परिधि से बाहर समष्टि के सुख-दुख को अनुभव करने की क्षमता प्राप्त करते हैं। अहं के प्राबल्य से हमारा हृदय जो एक ग्राहक-यंत्र की तरह है, बिगड़ा रहता है, और

अपनी वैयक्तिक सत्ता के अतिरिक्त बाह्य जगत को आत्मसात् नही कर सकता। इसी-लिए प्रत्यक्ष जीवन की घटनाएँ, जिनके साथ अहं की सत्ता किसी-न-किसी रूप से रहती है हमारी चित्त-वृत्ति पर शेष प्रभाव नही डाल सकती।

आदर्शवादी मान्यता के विपरीत यदि यथार्थवादी दृष्टिकोण से इस पर विचार किया जाय तो जीवन की वस्तु-स्थिति के समान साहित्य में भी निर्दोष तथा पुण्यात्मा मात्र के लिये यह कोई आवश्यक नही कि वे अंततः अपने दुःखों से मुक्त ही चित्रित किये जायँ। पश्चिमी साहित्य-शास्त्रियों ने भी इस सम्बन्ध में जो नियम बनाये उनका ठीक-ठीक परिपालन सर्वत्र नहीं किया जा सका। सुखान्त तथा दुःखान्त काव्यों के द्वारा पाठकों तथा दर्शकों के हृदय में आनन्द, उल्लास, शोक, चेतना, पीड़ा रोमांच का ही अनुभव कराना अभिप्रेत रहता है, लेकिन एक ही निश्चित नियम का यदि सर्वत्र अनु-गमन किया जाय तो रस-सिद्धान्त की दृष्टि से उसकी उद्देश्य-सिद्धि सम्भव नहीं। यदि पुण्यात्मा व्यक्ति को अन्त में सुखी और पापात्मा को दुःखी बनाने का नियम निश्चित मान लिया जाय तो उनके सुख-दुख के प्रति हमारे हृदय में उतनी अनुकम्पा उत्पन्न नही हो सकती जिननी सुख-दुःख के अनिश्चय में हो सकती है। काव्य-साहित्य में असमंजस का भाव आकर्षण के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है। जब हम यह मान लेगे कि पुण्यात्मा अंत में विजयी होगा ही तब फिर उसकी क्षणिक विपत्ति या उसके दुख से छुटकारा पाने के प्रयत्न को आशंका या समवेदना की दृष्टि से देखने की स्वाभाविकता नही रह जायगी। रसोद्रेक के सम्बन्ध में भी हमारी भावना कुछ ऐसी शिथिल पड़ जायगी कि हम अपने भावों की सक्रियता का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकेगे। प्रकृति का नियम, तर्क तथा अनुभव, इन सबसे भी यह प्रामाणित नहीं होता कि पुण्य से सुख तथा पाप से दुःख प्राप्त करने का परिणाम अटल है। इस दृष्टिकोण ने पश्चिमी साहित्यकारों को यथार्थवाद की जैसी प्रेरणा दी उससे उनके साहित्य में निर्दोष तथा पुण्यात्मा पात्रों को भी अपनी विपत्ति से मुक्ति नहीं मिल सकी। पूर्वीय साहित्य के दृष्टिकोण ने साहित्य को नैतिकता का प्रधान आधार मान कर इस प्रकार का विपरीत तथा पूर्वापर विरोधी परिणाम दिखलाने की अनुमति नही दी। इसके मूल में कौन-सा दार्शनिक रहस्य है, इस पर हमें विचार करना चाहिये।

आदर्शवाद भारतीय जीवन के सदा अनुकूल रहा है। इस सम्बन्ध में आदर्श की प्रकृति के सम्बन्ध में विचार कर लेना आवश्यक है। किसी व्यक्ति का आदर्श आरोपित नहीं रहता। व्यक्ति से पृथक् उसकी सत्ता भी नही है। हमारे हृदय में जो संस्कार हैं वे ही हमारे लिये अपना आदर्श चुनते हैं। हम अपने संस्कार से अन्यथा आदर्श को ग्रहण करने की प्रवृत्ति ही नहीं रखते। इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श उसके संस्कार के अनुकूल रहता है। यही बात व्यक्ति से आगे बढ़कर जाति या

राष्ट्र के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। आदर्श के साथ साहित्य का सम्बन्ध इसी सीमा पर आरम्भ होता हैं। व्यक्ति-कल्याण, समाज-कल्याण, विश्व-कल्याण ही भारतीय साहित्य का मूल मंत्र है। कुछ समीक्षक यह तर्क करते हैं कि भारतीय साहित्य ने भारतीय जीवन के स्वास्थ्य को पुष्ट करने का उद्देश्य तो रखा, किन्तु उसके रोग को पहचानने की तरफ ध्यान नही दिया। इसी कारण भारतीय समाज में ऐसे कितने रोग हैं जिनकी चिकित्सा नही हो सकती। स्वस्थ साहित्य के ऊपर इसका उत्तरदायित्व होना चाहिये कि वह समाज के रोगों का निराकरण करे और ऐसे वातावरण की सृष्टि करे जिससे रोग को उत्पन्न होने का अवसर ही नहीं मिले। यह बहुत महत्वपूर्ण बात है, लेकिन इतना बड़ा उत्तरदायित्व केवल साहित्य के ऊपर लादना उचित नहीं माना जा सकता।

धर्म-शास्त्र हमें काम, क्रोध, मद, लोभ से निर्लिप्त रहने का आदेश देता है। किन्तु उस आदेश के साथ दंड-भय लगा रहता है। आदर्शवादी साहित्य प्रतीति के मार्ग से हमें बुरे भावों से विरत कर सद्भावों की ओर प्रेरित करता है।

(काशी नागरी प्रचारिणी सभा के हीरक जयन्ती समारोह पर ९ मार्च १९५४ ई० को सभापति पद से दिये गये अभिभाषण से उद्धृत, पृष्ठ ४-८)

२—काव्य की प्रेरणा

प्रेरणा की दृष्टि से कवियों की प्रवृत्तियाँ भी भिन्न-भिन्न हुआ करती है। जीवन की प्रत्येक मनोदशा या स्थिति में काव्य-रचना नही हो सकती। कोई ऐसे आशुकवि हों भी, जो हर समय काव्य-रचना का दम्भ रखते हों, तो उनकी रचनाएँ किसी महत्त्व की नही हो सकती। प्रत्येक कलाकार, काव्य, चित्र, शिल्प आदि जो कुछ भी विषय हों, अपनी मनोदशा को कला-प्रवृत्त बनाने के लिए किसी-न-किसी विधि का अवलम्बन करता पाया जाता है। किसी को सौंदर्योपासना से काव्य-प्रवृत्ति होती है, तो किसी को संगीत की मीठी स्वर-लहरी से। किसी को विजया की तरंग से, तो किसी को शराब की बोतलों से। किसी को प्रकृति के हरे-भरे दृश्य, जंगल, पहाड़, झरने को देखने से नई सूझ होती है, तो किसी को एकान्त में ही गति मिलती है। शायद ही ऐसा कोई कलाकार होगा, जो किसी-न-किसी प्रकार के वैध, अवैध, पूत, अपूत कारण से अपनी कला-प्रवृत्ति का सम्बन्ध न रखता हो। ऐसे अनेक कवि हैं, जिनको स्त्री-दर्शन के अभाव

में काव्य-दर्शन होता ही नहीं। पश्चिमी कलाकारों में अधिकांश ऐसे हैं, जिन्होंने अपनी कलाभिमुख प्रवृत्ति की रक्षा अवैध प्रेम तथा मदिरा के बल पर की। प्रकृति के रमणीय दृश्य, संगीत की स्वर-लहरी से काव्य के मनोभाव जगते हैं, किन्तु उन सब में अनुराग ही प्रधान तत्त्व है। प्रेम के संयोग तथा वियोग, दोनों अवस्थाओं मे, काव्य-प्रेरणा होती है, लेकिन वियोग-काल में जितनी मार्मिक कविताएँ लिखी गई हैं उतनी संयोग-काल में नहीं। प्रेम-दशा भाव-योग की दशा है, इसीलिए अपने प्रेम को व्यक्त करने या उसके आधार पर जगत् के प्रति अपने जीवन के अनुराग को प्रदर्शित करने में हृदय को जो उल्लास मिलता है, वह दूसरी स्थिति में नही। अपनी घृणा को व्यक्त करने के लिए काव्य की रचना नहीं हो सकती। प्रेम ने जितने कवि उत्पन्न किए, उतने किसी अन्य भाव ने नहीं। यही कारण है कि प्रेम काव्य की प्रेरणा का एक मौलिक आधार है।

अवस्था-भेद से काव्य-प्रेरणा

काव्य-रचना के लिए जीवन मे अनुकूल परिस्थिति तो चाहिए ही, अवस्था-भेद का प्रभाव भी उस पर पड़ता है। काव्य की प्रेरणा किस अवस्था में होती है, इस पर भी विचार किया जा सकता है। प्रतिभा के उदित होने के लिए न कोई निश्चित परिस्थिति अनुकूल होती है और न कोई खास अवस्था ही उपयुक्त होती है। प्रतिभा किसी भी अवस्था में उत्पन्न हो सकती है। जो बाल्यावस्था में मन्द रहा, वह युवावस्था में तेज हो गया है और जो बचपन में प्रतिभा-सम्पन्न रहा, वह जवानी में शिथिल पड़ा है। बहुतों की बुद्धि वृद्धावस्था में तीव्र होते पाई गई है। बुद्धि की सीमा को पार कर ही प्रतिभा का उदय होता है। इस प्रकार उसकी उद्भावना का कोई निश्चित समय नही बताया जा सकता। ऐसे भी कुछ कलाकार पैदा हो गए हैं, जिनकी प्रतिभा आरम्भ से अन्त तक एकरस बनी रही है। किन्तु इतनी सत्यता रहने पर भी, काव्य-रचना के सम्बन्ध में साधारण ढंग से, अवस्था-भेद के अनुसार, प्रेरणा-शक्ति का विश्लेषण नही किया जा सकता। क्वेटेलेट ने अवस्था-क्रम के अनुसार काव्य-रचना की शक्ति की एक तालिका बनाई है। नाटक के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि इक्कीस वर्ष की अवस्था से नाटक लिखने की प्रवृत्ति होती है और पचीस से तीस वर्ष की अवस्था तक वह पूरे ज़ोर पर रहती है। पचास या पचपन वर्ष की उम्र तक उसका सिलसिला बना रहता है। उसके बाद इस प्रवृत्ति का प्रायः अन्त हो जाता है। सयोगान्त की अपेक्षा वियोगान्त नाटक लिखने की प्रेरणा विशेष होती है। क्वेटेलेट ने स्वभावतः अपनी तालिका बनाते समय पाश्चात्य लेखकों पर ही दृष्टि रखी है। इसमे सन्देह नही कि क्वेटेलेट के अनुसन्धान में जितना सत्य है, उतना उसका अपवाद भी है। आरम्भ में जीवन और

जगत में जो उल्लास दिखाई पड़ता है, वह बाद की अवस्था में उसी रूप में नही रहता। साधारणतः किशोर, युवा तथा वृद्धावस्था में क्रमशः भावना, क्रिया तथा स्मृति की प्रबलता रहती है। किन्तु इसके अनुक्रम की कोई तालिका नही बनाई जा सकती। देश, काल, पात्र के अनुसार एक ही तथ्य का बहुधा रूपान्तर हो जाता है। युवावस्था में अनुभूति-मूलक प्रेमोच्छ्वास को व्यक्त करने की जैसी प्रवृत्ति होती है, वैसी बाद मे सदैव नही रहती, किन्तु ऐसी प्रवृत्ति किसी नियम के अन्तर्गत नही लाई जा सकती। रीतिकाल के बूढ़े हिन्दी-कवियों ने अपनी वृद्धावस्था में भी यौवन के रस-प्रसंग को न भुलाया और जब तक प्राण रहे, प्रणय ने भी पिण्ड न छोड़ा।

× × ×

प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों के मत से काव्य-प्रेरणा

काव्य की प्रेरणा के मूल में, संस्कृत के प्राचीन साहित्याचार्यों के मतानुसार, कई कारण पाये जाते हैं। यश, द्रव्य, व्यवहार-ज्ञान, दुःख-नाश आदि कई ऐसी बातें काव्य-रचना के मूल में पायी जाती हैं, जिनका विवरण उन्होने दिया है। सब कारणों का एक ही मूल है और वह है सुख। यश, कीर्त्ति, प्रशंसा के आवरण के नीचे मनुष्य की सुख-लिप्सा ही छिपी हुई है।

यथार्थ की अतिव्याप्ति ही प्रशंसा है। अपनी प्रशंसा से कवियों को जो प्रेरणा मिलती है, वह आत्म-विस्तार के परितोष से खाली नही रहती। दूसरों द्वारा निर्व्याज रूप से अपनी वाणी के अवतरण तथा अनुश्रवण की अपेक्षा कवियो को कोई अन्य भाव अधिक सुख नही पहुँचा सकता। दूसरो के कण्ठ मे वाणी के व्याज से अपनी भावात्मक सत्ता की प्रतिष्ठा करना एक बड़ी साधना है। द्रव्य-लाभ की प्रेरणा मे भी सुख-लाभ ही अन्तर्हित है। काव्य-रचना कर जो धन प्राप्त करने की कामना होती है, वह धन के वस्तुगत सौन्दर्य से प्रेरित होकर नही, प्रत्युत् उस धन की क्रय-शक्ति मे जीवन की जो सुख-सुविधा लगी हुई है, वही भावना काव्य-रचना की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। द्रव्य-लाभ की प्रेरणा से जो काव्य-रचना की जाती है, उसमे कवि की अनन्यता विशेष मात्रा मे नही रहती। इसी कारण ऐसी रचनाएँ कवि को द्रव्य-लाभ का सुख जिस मात्रा में दे सकती हैं, उस मात्रा में यश का सुख नहीं। किसी भी स्थिति मे, अपने सुख की कामना के अतिरिक्त मनुष्य को आत्म-विस्तार का कोई लक्ष्य दृष्टिगत नही होता।

कुछ लोग 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' की पुकार उठा कर काव्य-साहित्य के उद्देश्य को निश्चित करना चाहते है। ऐसे प्रश्न के उत्तर में कोई 'स्वान्तः सुखाय', कोई 'जन-हिताय' और कोई कुछ कहते हैं। काव्य की रचना अपने अन्तःकरण के सुख-सन्तोष

के लिए की जाय या जन-समाज के हित-विचार से, दोनों ही अपनी-अपनी स्थिति में सत्य हैं। मानव-ज्ञान इतना सीमित है कि वह अपनी सारी संवेदनाओं को शायद ही जान सके। प्रकट रूप में हम प्रत्येक कर्म का कोई-न-कोई हेतु, उसकी प्रेरणा बतला दिया करते हैं, किन्तु प्रत्येक स्थिति में वह यथार्थ ही होता हो, यह कहना भ्रम से खाली नहीं है। हमारी चेतना में जो हेतु प्रत्यक्ष रहता है, उसका उल्लेख कर देते हैं, पर उस प्रत्यक्ष हेतु को उपस्थित करने वाला कौन-सा अप्रत्यक्ष कारण है, इस सम्बन्ध में हमारा मौन ही उत्तर है। अपने हित को जनता के हित से भिन्न देखने की दृष्टि कवि को नही होती। संसार में जितने काम होते हैं, प्रायः सब स्वांत.सुखाय ही किये जाते है। कर्म-प्रयत्न में इच्छा का योग एक आवश्यक प्रतिबन्ध है। यदि भीतरी प्रवृत्ति न हो, तो बाहर की पुकार पर दौड़ने वाला शायद ही कोई मिले। अपने अन्तःकरण की किसी प्रेरणा के परितोष के लिए भी काव्य-रचना करना वस्तुतः जीवन और जगत से निरपेक्ष होकर नही होता। गोस्वामी तुलसीदास ने 'स्वांतः सुखाय' ही रघुनाथ-गाथा लिखी, यह सच है, पर दो-तीन दर्जन पंक्तियों में देव, ऋषि यहाँ तक कि 'बन्दौं सन्त असन्तन चरणा' की गुहार करने की क्या आवश्यकता पड़ गयी ? वस्तु-स्थिति यह है कि जीवन और जगत से निरपेक्ष रहना मनुष्य के लिए एक कठिन व्यापार है, कवि के लिए असम्भव। तुलसी के हृदय मे लोक-कल्याण की भावना थी, यही उनकी प्रेरणा है। अपने आत्म-प्रकाश को प्रत्यक्ष करने का रामायण एक प्रयत्न मात्र है। हम दूसरों पर दया करते हैं, करुणा करते हैं, उपकार करते हैं, दूसरों के दुःख के साथ अपनी सहानुभूति रखते हैं, यह सब स्वान्त.सुखाय ही होता है। दूसरों के दु ख को देखकर जब तक हृदय मे सवेदना उत्पन्न नही होती, तब तक कोई दया, करुणा, उपकार कर ही नही सकता। वस्तुतः हम अपनी संवेदना के ही कष्ट से मुक्ति पाने के लिए दूसरों का उपकार आदि करते है। अपने अन्तःकरण को जब तक परितोष न हो, तब तक जन-हिताय भी कुछ नही किया जा सकता।

स्वान्त सुखाय और जन-हिताय दोनों तत्त्वतः एक ही हैं। प्रत्यक्ष मे नही, तो कल्पना मे भी यदि लोक-समुदाय का ग्राहक-रूप उपस्थित न रहे, तो कविको तदनुरूप काव्य-रचना की प्रवृत्ति नही हो सकती। मनोभाव का यह तथ्य केवल दार्शनिक ही नही, ऐतिहासिक भी है। प्रत्येक भाव का बाह्य अभिनन्दन उसकी प्रकृति तथा विकास पर निर्भर करता है। कोयल की स्वान्तः-सुखाय कूक पर हम आनन्दमत्त हो जाते हैं, र कौवे के स्वान्तःसुखाय काँव-काँव-टाँय पर फिदा होने वाले कितने मिलेगे ? केवल स्वान्तः-सुखाय होने से ही किसी का कोई कर्म अभिनन्दनीय नही माना जा सकता, उससे लोक-रंजन या लोक-कल्याण किस सीमा तक हो सकता है, यह भी उसका एक मापदण्ड है।

(जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, पृष्ठ १२०-१२३ तथा १२५-१२८)

३—काव्य में प्रतीक-योजना

प्रत्येक भाषा में कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनसे केवल अर्थ की व्यक्ति ही नही होती, वरन् भावनाओं का उद्‌बोधन भी होता है। जिन वस्तुओं में तनिक भी निजी विशेषतापूर्ण आकर्षण है तथा जिन पर दीर्घ सांस्कृतिक वासना का प्रभाव पड़ा है वे शब्द हमारे काव्य मे प्रतीक का काम करते हैं। प्रतीकों के स्वरूप में कुछ-न-कुछ ऐसी व्यंजना रहती है जिससे भावनाओं को विकास के संकेत मिल जाते हैं। ऐसे प्रतीक मुख्यत: दो तरह के होते हैं। वे हैं भावोत्पादक (इमोशनल सिम्बल्स) तथा विचारोत्पादक (इन्टलेक्चुअल सिम्बल्स), पर दोनों में से किसी एक का भी शुद्ध उदाहरण चुनना कुछ कठिन है। प्राय: सब भावोत्पादक प्रतीकों में विचार मिले रहते हैं और उसी प्रकार प्राय: सब विचारोत्पादक प्रतीकों में भाव की स्थिति बनी रहती है। दो भेद करने का तात्पर्य भाव और विचार की प्रधानता तथा गौणता से है। 'कमल' से सौन्दर्य का जैसा कोमल भाव जागरित होता है वैसा 'साँप' से क्रूरता तथा कुटिलता का भाव उद्‌बुद्ध नही होता। साँप मे भाव से अधिक विचार का सम्पर्क है। इसी प्रकार सब प्रतीको मे मनोविकारों की थोड़ी-बहुत जटिलता बनी रहती है।

प्रत्येक देश की परिस्थिति तथा संस्कृति के विचार से प्रतीक भी भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। जल-वायु, रहन-सहन, सभ्यता शिष्टाचार, विचार-परम्परा के अनुकूल ही काव्य में आदर्श का विधान होता है। एक देश के काव्य के जो प्रतीक हैं वे दूसरी जगह भी सम्मानित होंगे, यह कुछ आवश्यक नही। प्रतीक की उद्‌भावना के लिए किसी जाति की धार्मिक संस्कृति तथा परम्परागत विचार-शृंखला को भुला नही दिया जा सकता। फारस मे प्रणय की मधुरता को दिखाने के लिए शराब का प्रतीक व्यवहृत होता है, पर धार्मिक भावना ने जब शराब के प्रतीकत्व का विरोध किया तब काव्य मे नाम-मात्र का ही उल्लेख कर शायर मजा लूटने लगे। हमारे वैदिक साहित्य में सोमरस-पान की बड़ी अधिकता है। उसके परवर्ती साहित्य में सुरा-पान का वर्णन भी है, किन्तु भारतीय काव्य में न तो सोमरस का प्रतीकत्व मान्य रहा और न सुरा का। सुधा उन दोनों से बाजी मार ले गई। काव्य के प्रतीक बनने का सौभाग्य सुधा को ही प्राप्त हुआ। सुधा को किसी ने देखा नही, लेकिन उसके स्वरूपगत आकर्षण तथा अद्‌भुत शक्ति की जो धारणा परम्परा से हमारे मन में बँध गई है वह काव्य की भाव-व्यंजना मे बल प्रदान करती है। यूरोपीय काव्य मे थोड़ी देर तक उगने वाली धूप से आनन्द तथा जाड़े की सन्ध्या से उदासी का संकेत मिलता है, पर भारत की भौगोलिक स्थिति में अन्तर रहने के कारण वहाँ के ये प्रतीक यहाँ मान्य नही। बहुत ही थोड़े प्रतीकों को सार्वभौमिक महत्ता प्राप्त हो सकती है।

प्रतीक और उसकी विशेषताएँ

प्रतीक के लिए यह कोई आवश्यक बात नही कि वह कोई गोचर वस्तु ही हो। गोचर हो या अगोचर, प्रतीक में सब से बड़ी बात भाव या विचार को जगाने की क्षमता होनी चाहिये। ब्रह्मा, विष्णु, शिव को हमने देखा नही, किन्तु उनके नाम से ही मन मे स्वरूपगत विशेषताएँ आ जाती हैं। कल्प-वृक्ष के अस्तित्व को कोई प्रमाणित नहीं कर सकता, पर हमारी धार्मिक संस्कृति से सम्बन्ध रहने के कारण हम भाव-जगत में उसकी स्थिति मानते हैं। कल्प-वृक्ष के नाम-मात्र से हमारी आँखों के सामने एक ऐसी वस्तु आ जाती है जिससे जब जो चीज माँगी जाय देने को सदा तैयार है। यह तो हुई अगोचर प्रतीकों की बात, लेकिन जो गोचर प्रतीक हैं वे काव्य में कुछ विशेष प्रयोजन भी सिद्ध करते हैं। चन्द्र, कुमुदिनी, आकाश, समुद्र, हंस, पतंग आदि हमारे मन में विशिष्ट भावनाएँ जागरित करते हैं। चन्द्र से स्निग्धता, आह्लाद तथा शीतल ज्योत्स्ना का; कुमुदिनी से शुभ्र हास का; आकाश से उच्चता, अनन्तता, सूक्ष्मता का; समुद्र से अगाधता, गम्भीरता, प्रचुरता का; हंस से विवेक, पक्षपात-हीनता का और पतंग से लगन तथा एकनिष्ठा के भाव-संकेत मिलते हैं।

हमारे काव्यों में प्रतीकों के प्रतीकवत् व्यवहार बहुत ही कम हुआ करते हैं। वे प्रायः अलंकार-प्रणाली के भीतर उपमान के रूप मे प्रयुक्त किये गये हैं। प्रतीक और उपमान में सब से बड़ा अन्तर यही है कि प्रतीक के लिए सादृश्य के आधार की आवश्यकता नहीं बल्कि उसमें भावोद्बोधन की शक्ति रहनी चाहिये, पर उपमान में सादृश्य के आधार का रहना आवश्यक है। वर्तमान कविताओं में अभिव्यंजनावाद के प्रभाव के कारण उपमान का आधार विशेषतः प्रभाव साम्य तथा रमणीयता है।

(काव्य मे अभिव्यंजनावाद, पृष्ठ १२४-१२७)

× × ×

प्रतीक-स्वरूप उपमान

सादृश्य-मूलक अलंकारों के उपमानों मे बहुत थोड़े ऐसे हैं जिनमे प्रतीकत्व है। काव्य मे अप्रस्तुत-योजना का मुख्य उद्देश्य है भावोत्तेजना। केवल आकार-प्रकार या नाप-जोख से मिले हुए उपमान भाव-बोध चाहे करा भी सकें, किन्तु भावोत्तेजन के विचार से वे सदा असमर्थ रहेंगे। जो उपमान प्रतीक-स्वरूप हैं वे काव्य का बड़ा मार्मिक विधान कर सकते हैं। यहाँ यह बात भूल न जानी चाहिये कि प्रत्येक देश के साहित्य में ऐसी कम ही वस्तुएँ रहती हैं जिनमें प्रतीकत्व मिलता है, लेकिन काव्य की अप्रस्तुत-योजना को इसी सीमा में रखने से उसका व्यापार आगे नहीं बढ़ सकेगा। प्रकृति के

भिन्न-भिन्न व्यापार, तरह-तरह के दृश्यों से कवि अपनी सामग्री का संचय करता है। उस पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही लगाया जा सकता। इस सम्बन्ध मे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उसे प्रकृति को देखने के लिए मार्मिक अन्तर्दृष्टि चाहिए। इसी एक से उसका काम पूरा हो जायगा।

जिस अप्रस्तुत मे जितना ही प्रतीकत्व रहेगा उस पर की गई अन्योक्ति उतनी ही मार्मिक होगी। भ्रमर, कमल, हंस आदि के ऊपर अप्रस्तुतत्व का बोझ बहुत दिनों से लदा हुआ है, किन्तु उनमें प्रतीकत्व है, इसी कारण अब तक वे हमारी काव्याभिरुचि के बहुत बड़े बोझ नही बन सके हैं। रुचि पर बोझ पड़ते ही काव्य की सरसता नष्ट हो जाती है। अन्योक्ति पर विचार करते समय यह ध्यान में अवश्य रखना चाहिए कि केवल सादृश्य से उसका काम नही चलने का, अथवा यही कहा जा सकता है कि रूप-साहश्य का उसमें कुछ प्रयोजन ही नही। जैसे—

'काल कराल परै कितनो
पै मराल न ताकत तुच्छ तलैया'

इस अन्योक्ति का तात्पर्य यह है कि विवेकी पुरुष विपन्न होने पर भी अनुचित कार्य की ओर नही झुकते। अब यहाँ यह स्पष्ट है कि मराल-हंस और विवेकी पुरुष में कुछ भी रूप-साम्य नही है, बल्कि इसके विपरीत केवल भिन्नता-ही-भिन्नता है। हंस के प्रति विवेक की जो धारणा हमारे चित्त में बद्धमूल है वही उसमे और विवेकी पुरुष मे साम्य की स्थापना करती है।

अन्योक्ति में समता का उल्लेख दोष माना जाता है, अतएव अप्रस्तुत और प्रस्तुत के साम्य की भावना ऐसी व्यापक होनी चाहिए जिससे अन्योक्ति सुनते ही अप्रस्तुत का आरोप प्रस्तुत पर किया जा सके। इस प्रकार साम्य-स्थापन केवल उपमान या रूढ़ उपमान के बल पर नही किया जा सकता। प्रतीकत्व के बिना यह संभव नही, प्रतीक में साम्य की क्षमता स्वभावतः रहती है।

लाक्षणिकता के बल पर आधुनिक कविताओ मे कुछ ऐसे उपमान भी रखे जाते हैं जिनमें उपमान के गुण तो पूरे नही रहते, किन्तु प्रतीकत्व मिलते हैं। ऐसे उपमानों के विधान में प्रायः लाक्षणिक चमत्कार दिखाने के लिए धर्म के स्थान मे धर्मी का उल्लेख कर दिया जाता है। इस प्रकार के प्रयोग शुद्ध प्रतीक नही, बल्कि लाक्षणिक प्रतीक हैं।

(काव्य मे अभिव्यजनावाद, पृष्ठ ११८-१३०)

४—काव्य में छन्द-प्रयोग

छन्द भी कवि के अन्तर्जगत की वह अभिव्यक्ति है जिस पर नियम का बन्धन डाल दिया गया है। भिन्न-भिन्न स्वाभाविक अभिव्यक्तियों के लिये कोई आदर्श साँचा तैयार नही किया जा सकता। जितने प्रकार की अभिव्यक्तियाँ लय के सामंजस्य के साथ हो सकती थी, उनका विधान छन्द-शास्त्र में कर दिया गया है। पर, इसका तात्पर्य यह न ी कि भावो को प्रकाशित करने के लिए जो विधान छन्द-शास्त्र में कर दिया गया है, उससे अधिक के लिए अब गुंजाइश नही। छन्दों की संख्या बढ़ायी जा सकती है, किन्तु इस धारणा से नही कि पुराने छन्द आधुनिक जीवन के उल्लास-विषाद को व्यक्त करने में अनुपयुक्त हो गए हैं। यदि छन्दों का नया पुराना होना सम्भव हो, तो पुरानी वर्णमाला को भी हटाकर नयी ध्वनियाँ निश्चित कर लेनी चाहिये। इस दृष्टि से मनुष्य के मनोविज्ञान मे भी कुछ मूल व्यतिक्रम होना चाहिये। किन्तु, मनुष्य यहाँ अपनी पराजय समझता है। वर्ण के चिह्न मे हम भले ही कतर-ब्योंत करते रहें, लेकिन उच्चारण की ध्वनियाँ कुछ ऐसी निश्चित जैसी हैं, जो सम्मेलनो के प्रस्तावों से तनिक भी प्रभावित नही हो सकती। मनोविज्ञान के विषय में भी यही बात है। यदि काव्य-रचना के लिए नये छन्द विधान की अनिवार्यता प्रमाणित करने की चेष्टा की जाय, तो उससे पहले इसी प्रश्न का उत्तर मिलना चाहिए—क्या पुराने छन्द-विधान में आबद्ध कालिदास, भवभूति, सूर, तुलसी, देव, बिहारी को हम भूल सकते हैं? क्या हम शाकुन्तल, उत्तर रामचरित, रामायण, सूरसागर, प्रियप्रवास, साकेत, यशोधरा, कामायनी, कुरुक्षेत्र मे वर्णित जीवन-वृत्त की उपेक्षा कर सकते हैं? यदि नही, तो फिर काव्य में न छन्द पुराना है, और न जीवन का उल्लास-विषाद। सच्ची बात यह है कि प्रत्येक छन्द, जिसकी कुछ मर्यादा निश्चित कर दी गई है, विषय तथा कवि के व्यक्तित्व के साथ एकांत रूप से बदल जाता है। भाषा की अर्जित शक्ति के साथ कवि के व्यक्तित्व की शक्ति मिल जाने से छन्दगत अभिव्यक्ति का सौदर्य बढ़ जाता है। प्राचीन और नवीन का भेद, काव्य की सौन्दर्य-वृद्धि की आवश्यकता से अधिक, कवि की अपनी क्षमता को व्यक्त करने से ही सम्बन्ध रखता है।

\+ \+ \+

प्राचीन और नवीन छन्द

यह कहना बहुत ही भ्रमपूर्ण है कि पुराने छन्दों में नवीन जीवन का उल्लास व्यक्त नही किया जा सकता। छन्द कभी पुराना नही होता, नवीन उल्लास भरते ही वह स्वतः नवीन हो जाता है। यदि छन्दों का पुराना और अनुपयुक्त होना सम्भव है,

तो पुरानी वर्णमाला को भी हटाकर नयी वर्णमाला का निर्माण करना उचित है। किन्तु मनुष्य के उच्चारण की ध्वनियाँ इतनी निश्चित हैं कि इसका निराकरण नहीं हो सकता। एक ही प्रकार के मानव-शरीर में हम भिन्न-भिन्न आत्माएँ, तरह-तरह के जीवन देखते हैं। तब क्या यह सम्भव नही है कि एक ही प्रकार के छन्द में हम भिन्न-भिन्न उच्छ्वास, तरह-तरह की सवेदनाएँ देख सके ! यदि काव्य-रचना के नये कला-विधान की अनिवार्यता प्रमाणित करने की चेष्टा की जाय, तो सबसे पहले इसी बात का उत्तर मिलना चाहिए कि कला के पुराने कहे जाने वाले आवरण में बँधे हुए कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट, तुलसी, सूर या बिहारी को हम क्या भूल सकते हैं ? क्या नयी रचनाएँ हमें पुरानी रचानाओ के पढ़ने मे विराग उत्पन्न करा सकती है ? यदि नही, तो नये कला-विधान की आवश्यकता बहुत दूर तक प्रमाणित नही की जा सकती। आधुनिक जीवन का जो आत्मभाव है, वह यदि शक्ति-सम्पन्न है, तो काव्य के किसी भी आवरण मे अपनी नवीनता अवश्य प्रतिपादित करेगा। संक्राति मे जीवन का एक नया उल्लास अवश्य रहता है, परन्तु इस नये उल्लास मे इतनी क्षमता नही कि वह पुराने उल्लास पर कोई आवरण डाल सके। पिछला उल्लास भी तो मानव-जीवन का उल्लास है, पिछला विषाद भी तो मानव-जीवन का ही विषाद है। जब तक मनुष्य-जीवन के समान तत्त्व वर्तमान हैं, तभी तक काव्य स्थिर है। यदि जीवन नया या पुराना नही होता, तो काव्य भी नया या पुराना नही हो सकता।

\+ \+ \+

छन्द का विधान

हमारे यहां के छन्द, 'घुणाक्षर न्याय' के अनुसार, अटकल पर ही नही बनाए गए। उनके भीतर कुछ तथ्य हैं, और वह तथ्य जीवन के रक्षणात्मक और मनोरंजनात्मक तत्त्वों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। प्रचलित छन्दों का विधान नाद-सौदर्य की विशेषता पर अवलम्बित है। उनके भीतर लय की जो स्थिति है, वह कोई बाहरी चीज नही, प्रत्युत जीवन के ही तत्त्वो के अनुसार निर्माण किया हुआ भाषा का बन्धन है। लय-सौदर्य के अनुरूप ही ये बन्धन बनाए गए हैं और इनसे काव्य को दीर्घायु प्राप्त होती है। चलते हुए झरने का जो स्वर है, उससे, आधारभूमि को एक व्यवस्थित क्रम से उच्च, निम्न तथा समतल और विस्तृत तथा सकुचित, बनाकर कई प्रकार के स्वर निकाले जा सकते हैं। प्रत्येक भाषा का भी एक स्वाभाविक स्वर है और इससे, कई प्रतिवन्धों से, भिन्न-भिन्न स्वर उत्पन्न किये जा सकते हैं। भाषा-प्रयोग के ये प्रतिबन्ध वस्तुतः बन्धन नही, प्रत्युत् धनुप की चढी हुई प्रत्यचा की तरह उसकी शक्ति को बढ़ाने

वाले हैं। नदी की स्वाभाविक धारा से जो काम न चल पाता, वह उसकी गति के क्षेत्रों को कम कर, बाँध कर, अधिक तेज बना कर किया जाता है और इस प्रकार शक्ति पैदा करने का वह एक अद्‌भुत् साधन बन जाती है। साधारण वाक्य में जो प्रवाह और क्षमता लक्षित नही होती, वह छन्द-व्यवस्था से पैदा कर ली जाती है। परस्पर की बातचीत में बिना पूछे ही 'दाल-भात में मूसरचन्द बनना' और उपदेश दे बैठना कितनी अशिष्टता है, पर छन्दो की ओट मे यह कहना—"बिन पूछे ही कहत हैं सज्जन हित के बैन"—दोष का कितना परिहार कर देता है।

काव्य और छन्द का सम्बन्ध

काव्य और छन्द मे जो सम्बन्ध है, वह अविच्छिन्न और अनिवार्य नही है। काव्य का साधारण अर्थ उसके पद्यात्मक रूप से माना जाता है, किन्तु काव्यत्व इसी रूप में आबद्ध नही, वह गद्यात्मक भी हो सकता है। गद्य और पद्य का मौलिक भेद बुद्धि और हृदय की क्रिया का है। किंतु इसका यह तात्पर्य नही कि दोनों एक-दूसरे के प्रभाव से सर्वथा अलग रहकर ही क्रिया-तत्पर होते हैं। गद्य बुद्धि-प्रधान होता है और पद्य हृदय-प्रधान। यहाँ काव्यत्व की सीमा को हमने विवेचन की सुविधा के लिए पद्य में ही सीमित कर दिया है। गद्य-रचना के लिए छन्द का कोई प्रतिबन्ध नही, बल्कि छंद से भिन्न रहकर ही उसकी रचना होती है। पद्य की रचना के लिए छंद एक आवश्यक प्रतिबन्ध है, अनिवार्य भी हम कह सकते हैं, यदि दो-एक वर्तमान क्रांतिकारी कवि को इसमें विशेष आपत्ति न हो। काव्यत्व का क्षेत्र गद्य और पद्य दोनों हैं, किंतु पद्य की तरह सर्वांगतः काव्यत्व की पहुँच गद्य में नही होती; क्योंकि उसमें अनेक ऐसे विषयों का विवेचन या वर्णन तर्क-संयुक्त रहता है, जो बुद्धि की प्रधानता से ही सम्भव है।

\+ \+ \+

मुक्त छन्द का श्रीगणेश

वर्णिक तथा मात्रिक के अतिरिक्त एक प्रकार का और छंद है, जिसे पूर्वापर विरोध के रूप में मुक्त छंद कहा जाता है। यह एक पद्य-हीन व्यवस्था है। एक क्रांतिकारी योजना के रूप में हिन्दी में यह प्रविष्ट कराया गया है। शुरू-शुरू हिन्दी में जयशंकर प्रसाद ने मुक्त-वृत्त के अनुसार रचना की थी, किंतु अब निराला इसके मुख्य पुरोहित माने जाते हैं। यह पश्चिमी बीज का पूर्वी अंकुर है। अमेरिकन कवि वाल्ट ह्विटमैन ने छन्द-बद्धता की प्रतिक्रिया से छन्द-हीन कविता का श्रीगणेश अंग्रेजी में

किया और अपनी आरम्भिक कविताओं का एक संग्रह 'घास की पत्तियाँ' (Leaves of grass) के नाम से प्रकाशित कराया। 'घास की पत्तियाँ' जैसे सब बराबर नहीं होती, कोई बड़ी और कोई छोटी, वैसे ही ऐसी कविताओं की पंक्तियाँ सब समान नही होती, कोई बड़ी और कोई छोटी होती हैं। इस संग्रह के प्रकाशन के बाद भी उनकी काव्य-रचना अपने ढंग पर चलती रही। स्वेज-नहर खुल जाने पर उन्होंने 'भारत का पथ' (Passage to India) शीर्षक एक लम्बी पद्यहीन कविता रची। अंग्रेज़ी-साहित्य के सम्पर्क से इस स्वच्छन्दता की हवा बँगला को लगी और फिर उसकी पड़ोसिन हिन्दी भी प्रभावित हुई।

छन्द-विधान में क्रान्ति की सापेक्ष्यता

जीवन में प्रतिक्षण क्रांति होती रहती है। काव्य का क्षेत्र भी इससे भिन्न नही। मनुष्य में साधारणतः दो तरह की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। कुछ लोग भले-बुरे से निरपेक्ष रहकर प्राचीनतावादी होते हैं और किसी भी प्रकार के परिवर्तन का विरोध करते हैं; क्योकि उनकी समझ से परिवर्तन अतीत का अपमान है। दूसरे ढग के लोग नवीनता के नाम पर विवेक-शून्य होकर सर्वग्राही बनते हैं। इनकी समझ में नवीनता ही जीवन है। इन दोनो से भिन्न एक तीसरी प्रवृत्ति के लोग भी हैं, जो हिताहित के विचार से ही प्राचीनता तथा नवीनता का स्वागत करते हैं। हमारे जीवन मे कुछ क्रांतियाँ ऐसी होती हैं, जो धीरे-धीरे परिवर्तन करती जाती हैं और हम उनका तीव्र विरोध नही करते, कुछ कर भी नहीं सकते। इच्छा या अनिच्छा से अपने सामने वैसा ही वातावरण देखकर उसमें प्रवाहित हो जाते हैं। वैज्ञानिक सभ्यता ने हमारे रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान—यहाँ तक कि कुछ अंशों में भाव-विचार की बाह्य-अभिव्यक्ति में भी इतनी क्रांति कर दी है कि परम्परागत प्राचीन मानव के साथ जब हम अपने आधुनिक जीवन की तुलना करते हैं, तब अन्तर स्पष्ट हो जाता है। परम्परा या परिपाटी को अधिक दिनों तक यथासम्भव एकरस चलाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके नियमों का विधान कर उस पर धार्मिकता का आवरण चढा दिया जाय। धर्म की स्थिति सत्य पर है, और सत्य चिरन्तन है; अतः धार्मिकता जिस परम्परा या नियम के साथ लिपटेगी, उसे अपनी शक्ति से बहुत दूर तक वह खीचती चली जायगी। पिंगल ने छंद-शास्त्र का विधान किया और उस पर धर्म की मुहर लगाकर कवि समाज के सामने रख दिया। जिस वस्तु में कुछ तथ्य रहता है, उसी को धर्म अपनी शक्ति के साथ खींचकर बढ़ा सकता है, किंतु तथ्यहीन वस्तु को धर्म रूढ़ि बनाकर भले ही खींचता चला जाय, उसमे जीवन की प्रांजलता नही झलकेगी। छंद, जहाँ तक लय-तत्त्व का सम्बन्ध है, वहाँ तक रूढ़िग्रस्त नही माना जा सकता। वह जीवन की चिरन्तन उद्-

भावना है। क्रांति वही सफल होती है और समझी जाती है जो जीर्ण रूढ़ि के स्थान में नवीन जीवन अनुप्राणित करने में समर्थ हो। मनुष्य की कृति में परिवर्तन करना सम्भव है और समयानुसार उसमे संशोधन, परिवर्द्धन या परिवर्तन करना भी आवश्यक हो जाता है, किंतु इसी अभ्यास के अनुसार यदि प्रकृति के क्षेत्र में भी क्रांति का शख फूँका जाय तो, प्रकृति की विभूति को भस्म करने की क्षमता के अभाव में, मानव-प्रयत्न ही नष्ट हो जायगा। जीवन मे जो तत्त्व प्राकृतिक है, उसे कोई क्रांतिकारी आंदोलन हिला नही सकता, लेकिन जो बाह्य और प्रक्षिप्त है, उसमें क्रांति सफल हो सकती है।

(जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत, पृष्ठ १३०-१३४, ४६-४७, १३४-१३६ तथा १४८-१५२)

हजारीप्रसाद द्विवेदी

(जन्म सन्—१९०७)

ग्रन्थ—अशोक के फूल, विचार और वितर्क, हिन्दी साहित्य

१—भाषा की सहजता

सहज भाषा पाने के लिये कठोर तप आवश्यक है। जब तक आदमी सहज नही होता तब तक भाषा का सहज होना असम्भव है। स्वदेश और विदेश के वर्तमान और अतीत के समस्त वाङ्मय का रस निचोड़ने से वह सहज भाव प्राप्त होता है। हर अदना आदमी क्या बोलता है यह क्या नही बोलता, इस बात से सहज भाषा का आदर्श नही स्थिर किया जा सकता। क्या कहने या क्या न कहने से मनुष्य उस उच्चतर आदर्श तक पहुँच सकेगा जिसे संक्षेप में 'मनुष्यता' कहा जाता है, यही मुख्य बात है। सहज मनुष्य ही सहज भाषा बोल सकता है। दाता महान् होने से दान महान् होता है।

जिन लोगों ने गहन साधना करके अपने को सहज नही बना लिया है, वे यह सहज भाषा नहीं पा सकते। व्याकरण और भाषा-शास्त्र के बल पर यह भाषा नहीं बनाई जा सकती, कोषों में प्रयुक्त शब्दो के अनुपात पर इसे नही गढ़ा जा सकता। कबीरदास और तुलसीदास को यह भाषा मिली थी, महात्मा गांधी को भी यह भाषा मिली, क्योंकि वे सहज हो सके। उनमे दान करने की क्षमता थी। शब्दों का हिसाब लगाने से यह दातृत्व नही मिलता, अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर महासहज को समर्पण कर देने से प्राप्त होता है। जो अपने को निःशेष भाव से दे नही सका वह दाता नही हो सकता। आप मे अगर देने लायक वस्तु है तो भाषा स्वयं सहज हो जायगी। पहले सहज भाषा बनेगी फिर उसमे देने योग्य पदार्थ भरे जायँगे, यह गलत रास्ता है। सही रास्ता यह है कि पहले देने की क्षमता उपार्जन करो। इसके लिये तप की ज़रूरत है, साधना की ज़रूरत है, अपने को निःशेष भाव से दान कर देने की जरूरत है।

(अशोक के फूल, पृष्ठ १८३-१८४)

× × ×

निस्सन्देह मैं सहज भाषा का पक्षपाती हूँ। परन्तु सहज भाषा मैं उसे समझता हूँ जो सहज ही मनुष्य को आहार-निद्रा आदि पशु सामान्य धरातल से ऊँचा उठा सके। सहज भाषा का अर्थ है, सहज ही महान् बना देने वाली भाषा। वह भाषा, जो मनुष्य को उसकी सामाजिक दुर्गति, दरिद्रता, अंध-संस्कार और परमुखापेक्षिता से न बचा सके, किसी काम की नही है, भले ही उसमे प्रयुक्त शब्द बाज़ार मे विचरने वाले अत्यन्त निम्न-स्तर के लोगो के मुख से संग्रह किए गए हो। अनायास लब्ध भाषा को मैं सहज भाषा नहीं कहता। तपस्या, त्याग और आत्म-बलिदान के द्वारा सीखी हुई भाषा सहज भाषा है। बाज़ार की भाषा को, मोटे प्रयोजनों की भाषा को, मैं छोटी नहीं कहता परन्तु मनुष्य को उन्नत बनाने के लिये जो भाषा प्रयोग की जायगी यह उससे भिन्न होगी। कबीरदास ने बड़ी व्यथा के साथ कहा था कि 'सहज' 'सहज' तो सभी कहते फिरते हैं परन्तु सहज क्या है, यह विरले ही जान पाते हैं। सहज वे हैं जो सहज ही विषय-त्याग कर सके हैं—

सहज सहज सब कोई कहै, सहज न बूझै कोई।
जिन सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोई॥

सहज ही विषय-त्याग करना सहज काम नहीं। कबीरदास ने इस रहस्य को समझा था। वे जानते थे कि सहज वस्तुतः व्यक्ति हुआ करता है, वस्तु नही, दाता के सहज होने से ही दान सहज होता है। जो लोग सहज भाषा लिखना चाहते हैं उन्हें स्वयं सहज बनना पड़ेगा। तपस्या और त्याग से मनुष्य 'सहज' होता है और उसी हालत में वह सहज भाषा का प्रयोग कर सकता है। भाषा तो साधन मात्र है। साध्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास है। सड़क पर चलने वाला आदमी क्या बोलता है यह बात भाषा का आदर्श नही होना चाहिए। देखना चाहिए कि क्या बोलने या न बोलने से मनुष्य उस उच्चतर आदर्श को प्राप्त कर सकता है जिसे संक्षेप मे 'मनुष्यता' कहा जाता है। केवल संस्कृत या अरबी बोलने से वह उद्देश्य सिद्ध नही होगा और केवल अशिक्षित या अपढ़ लोगों की बोलियो से बटोरे हुए शब्दों से भी नही होगा। ये सभी आवश्यक हो सकते हैं, ये सभी अनावश्यक हो सकते हैं। जो व्यक्ति मनुष्य रूपी भगवान् के हाथों अपने आपको निःशेष भाव से दान नही कर सका उसे सहज भाषा के विषय में कोई सिफ़ारिश करने का हक नही है। यह बात हम रोषवश नही कह रहे हैं। हमारा विश्वास है कि ऐसा करने वाले मनुष्य का कोई उपकार नही कर सकते, क्योकि वे बाहरी ज्ञान उगला करते हैं। शास्त्र वे नही जानते यह बात मै नही कहता, पर शास्त्रगत सत्य उनका अपना सत्य नही होता।

(विचार और वितर्क, पृष्ठ १९४-१९६)

२—साहित्य और सामंजस्य

साहित्य के उपासक अपने पैर के नीचे की मिट्टी की उपेक्षा नही कर सकते। हम सारे बाह्य जगत को असुन्दर छोड़ कर सौन्दर्य की सृष्टि नही कर सकते। सुन्दरता सामंजस्य का नाम है। जिस दुनिया में छोटाई और बड़ाई मे, धनी और निर्धन मे, ज्ञानी और अज्ञानी मे आकाश-पाताल का अन्तर हो, वह दुनिया सामजस्यमय नही कही जा सकती और इसीलिए वह सुन्दर भी नही है। इस बाह्य असुन्दरता के ढूह मे खड़े होकर आन्तरिक सौन्दर्य की उपासना नही हो सकती। हमें उस बाह्य असौन्दर्य को देखना ही पड़ेगा। निरन्न निर्वसन जनता के बीच खड़े होकर आप परियों के सौन्दर्य-लोक की कल्पना नही कर सकते। साहित्य सुन्दर का उपासक है, इसीलिए साहित्यिक को असामंजस्य को दूर करने का प्रयत्न पहले करना होगा, अशिक्षा और कुशिक्षा से लड़ना होगा, भय और ग्लानि से लड़ना होगा। सौन्दर्य और असौन्दर्य का कोई समझौता नही हो सकता। सत्य अपना पूरा मूल्य चाहता है। उसे पाने का सीधा और एकमात्र रास्ता उसकी कीमत चुका देना ही है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नही है। हमारे देश का बाह्य रूप न तो आँखों को प्रीति देने लायक है, न कानो को, न मन को, न बुद्धि को। यह सचाई है।

यदि किसी देश का बाह्य रूप सम्मान योग्य तथा सुन्दर नही बन सका है तो समझना चाहिए कि उस राष्ट्र की आत्मा में एक उच्च जगत का निर्माण किया जाना शुरू नही हुआ है, अर्थात् वहाँ सच्चे साहित्य के निर्माण का श्रीगणेश नही हुआ है। साहित्य ही मनुष्य को भीतर से सुसंस्कृत और उन्नत बनाता है और तभी उसका बाह्य रूप भी साफ़ और स्वस्थ दिखाई देता है। और साथ ही बाह्य रूप के साफ और स्वस्थ होने से आन्तरिक स्वास्थ्य का भी आरम्भ होता है। दोनों ही बातें अन्योन्याश्रित हैं। जब कि हमारे देश मे नाना भाँति के कुसंस्कार और गंदगी वर्तमान है, जब कि हमारे समाज का आधा अंग पर्दे में ढँका हुआ है, जब कि हमारी नव्वे फीसदी जनता अज्ञान के मलबे के नीचे दबी हुई है तब हमें मानना चाहिए कि अभी दिल्ली बहुत दूर है। हम साहित्य के नाम पर जो कुछ कर रहे हैं और जो कुछ दे रहे हैं उसमे कही बड़ी भारी कमी रह गई है। हमारा भीतर और बाहर अब भी साफ़-स्वस्थ नही है। साहित्य की साधना तब तक बंध्या ही रहेगी जब तक हम पाठको में एक ऐसी अदमनीय आकांक्षा जागृत न कर दें जो सारे मानव-समाज को भीतर से और बाहर से सुन्दर तथा सम्मान-योग्य देखने के लिए सदा व्याकुल रहे। अगर यह आकाक्षा जागृत हो सकी तो हममे से प्रत्येक अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उन सामग्रियों को जरूर संग्रह कर लेगा जो उक्त इच्छा की पूर्ति की सहायक है। अगर यह आकांक्षा जागृत नही हुई है तो कितनी भी विद्या क्यों न पढी हो, वह एक जंजाल मात्र सिद्ध होगी और दुनिया-

दारी और चालाकी का ढकोसला ही बनी रहेगी। जो साहित्यिक निष्ठा के साथ इस इच्छा को लेकर रास्ते पर निकल पड़ेगा वह स्वयं अपना रास्ता खोज निकालेगा। साधन की अल्पता से कोई महती इच्छा आज तक नही रुकी है।

(अशोक के फूल, पृष्ठ १८६-१६०)

३—यथार्थवाद

साहित्य में यथार्थवाद शब्द का प्रयोग नये सिरे से होने लगा है। यह अंग्रेजी साहित्य के 'रियलिज्म' शब्द के तौल पर गढ़ लिया गया है। यथार्थवाद का मूल सिद्धांत है वस्तु को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करना। न तो उसे कल्पना के द्वारा विचित्र रंगों से अनुरंजित करना, और न किसी धार्मिक या नैतिक आदर्श के लिये उसे काट-छाँटकर उपस्थित करना। यूरोपियन साहित्य में 'रियलिज्म' का व्यवहार 'रोमेण्टिसिज्म' (स्वच्छन्दतावाद) और 'आईडियलिज्म' (आदर्शवाद) के विरुद्ध अर्थ मे हुआ। यथार्थवाद के विरोधी लेखकों ने इस दृष्टि से लिखे हुए उपन्यासो और काव्यो को 'फोटोग्रेफ़िक' चित्रण कहा है। अर्थात् जिस प्रकार कैमरा वस्तु के प्रत्येक अवयव और वातातरण को ज्यों-का-त्यों उपस्थित कर देता है, न घटाता है, न बढाता है, उसी प्रकार लेखक वक्तव्य-वस्तु को ज्यो-का-त्यों उपस्थित करता है, अपने राग-विराग से उसे कुछ-का-कुछ बनाकर नही उपस्थित करता। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये यथार्थवादी लेखक कुछ कौशलों का आश्रय लेता है। वह (१) वक्तव्यवस्तु के इर्द-गिर्द की प्रत्येक बात का ब्यौरेवार विवरण उपस्थित करता है, और गन्दी और घिनौनी समझी जाने वाली चीज़ों का विशेष रूप से उल्लेख करता है, (२) समसामयिक घटनाओं और रीति-रस्मों का विस्तारपूर्वक उल्लेख करता है, (३) वक्तव्य वस्तु के साथ अत्यन्त क्षीण सूत्र से सम्बद्ध नगण्य व्यक्तियों की भी चर्चा करता है, (४) भिन्न-भिन्न पात्रो की बोलियों का हू-ब-हू लेखन करता है, और उनमे यदि जुगुप्सित अश्लील गालियां भी हों, तो उन्हे ज्यो-का त्यों रख देने में नही हिचकता, (५) विभिन्न व्यवसाय और पेशे के लोगों की पारिभाषिक शब्दावली को चुन-चुन कर संग्रह और व्यवहार करता है, (६) घटना की सचाई का वातावरण उपस्थित करने के लिये चिट्ठियों, सनदों और अन्य प्रामाणिक समझी जाने योग्य बातों को उपस्थित करता है।

रोमांस के पक्षपातियों ने यथार्थवादी चित्रण पर बड़ा कठोर आघात किया है, कभी-कभी इसे प्रकृतिवाद (नैचुरलिज्म) के साथ घुला दिया गया है। प्रकृतिवाद भी उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के साहित्य में बहुत प्रसिद्ध मतवाद था। इसके अनुसार मनुष्य प्रकृति का उसी प्रकार से क्रमशः विकसित जन्तु है, जिस प्रकार संसार के अन्य

प्राणी। उसमें पशु-सुलभ सभी आकर्षण-विकर्षण ज्यों के त्यों वर्तमान हैं। प्रकृतिवादी लेखक मनुष्य को काम, क्रोध आदि मनोरोगों का गट्ठर मात्र समझता है, और उसके अर्थ-हीन आचरणों, कामासक्त चेष्टाओं और अहंकार से उत्पन्न धार्मिक वृत्तियों का विशेष भाव से उल्लेख करता है। यथार्थवादी लेखक ठीक इन्ही सिद्धान्तो को नही मानता, परन्तु मनुष्य को ब्यौरेवार चेष्टाओं के चित्रण करते समय कभी-कभी प्रकृतिवादी लेखक के समानान्तर चलने लगता है। वस्तुतः यथार्थवाद का उल्टा शब्द आदर्शवाद है और प्रकृतिवाद का उल्टा शब्द मानवतावाद, क्योंकि मानवतावादी लेखक मनुष्य को पशु-सामान्य धरातल से ऊपर का प्राणी मानता है। वह त्याग और तप को मनुष्य का वास्तविक धर्म मानता है। वह विश्वास करता है कि यद्यपि मनुष्य मे बहुत पशु-सुलभ वृत्तियाँ रह गई हैं, तथापि वह पशु नही है। वर्षों की साधना से उसने अपने भीतर त्याग, तप, सौन्दर्य-प्रेम और पर-दुःख-कातरता जैसे गुणों का विकास किया है। ये गुण ही मनुष्य की मनुष्यता की निशानी हैं। इस प्रकार मानवतावादी लेखक प्रकृतिवादी लेखक के ठीक उल्टे रास्ते पर चल सकता है। यथार्थवाद सब समय मानवतावाद का विरोधी नही, परन्तु ऐसे अवसर आते हैं जब यथार्थवादी लेखक मानवतावाद के विरुद्ध चला जाता है।

(हिन्दी साहित्य; पृष्ठ ४२७-२९)

४. मानवतावाद

उन्नीसवी शताब्दी में यूरोप में प्रबल ज्ञान-पिपासा जागृत हुई थी। उन दिनों वहाँ के मनीषियो मे दो बातो के बारे मे विशेष मतभेद नही था। (१) प्रथम तो यह कि इस संसार में सब कुछ क्रमशः विकसित होता आ रहा है, कुछ भी जैसा है वैसा ही बनके नही आया था। मनुष्य का मन, बुद्धि, संस्कार, धर्म-मत, सब कुछ क्रमशः विकसित हुए हैं। उनके धार्मिक विश्वास का भी विकास क्रमशः ही हुआ है। सृष्टि परम्परा में मनुष्य का विकास अद्‌भुत बात है। वह इस सृष्टि-प्रक्रिया का फल मानते हैं। यह ऐतिहासिक दृष्टि आज के शिक्षित व्यक्ति की निजी दृष्टि हो गई है। (२) दूसरा प्रधान विश्वास यह था कि मनुष्य को सुखी बनाना, उसे सब प्रकार की आर्थिक और राजनीतिक गुलामी से मुक्त करना और उसे रोग-शोक के चंगुल से छुड़ाना ही सब प्रकार के शास्त्रों और विद्याओं का प्रधान लक्ष्य है। मनुष्य को किसी परलोक में अनन्त सुखों का अधिकारी बनाना दूसरी बात है और उसे इसी नश्वर जगत् मे इसी मर्त्यकाया में सुखी बनाना बिलकुल दूसरी बात है। इस मनुष्य को इसी मर्त्यकाया मे इसी दुनिया में सुखी बनाने का लक्ष्य क्या है? उत्तर यह है कि मनुष्य अद्‌भुत शक्तियो

का भण्डार है। उसने अनेक त्याग और आत्म-दमन के बाद अपने भीतर अनेक सद्‌गुणों का विकास किया है, वह पशु-सामान्य धरातल से जो ऊपर उठ सका है, इसका कारण यह है कि उसने अपने भीतर त्याग की, तपस्या की और आत्म-संयम की बुद्धि विकसित की है। उसके भीतर संभावनाएँ अनेक हैं। इसी मर्त्यलोक को अद्‌भुत अपूर्व शान्ति-स्थल बनाने की क्षमता इस मनुष्य में है। इसी दृष्टि को उन दिनों मानवतावादी कहा गया था। यह सिद्धान्त केवल लोकप्रिय ही नहीं हुआ, वह आधुनिक संस्कृति का मेरुदण्ड सिद्ध हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के मानवतावादी विचारक बहुत आशावादी थे। उस समय जो शिक्षा-पद्धति सोची गई उसके केन्द्र मे यह मानवतावादी विचारधारा थी। उस काल की सभी व्यवस्थाओं के केन्द्र में मानवतावादी दृष्टि का हाथ था। भारतवर्ष में भी वही शिक्षा-पद्धति आई। इस शिक्षा-पद्धति में जो लोग शिक्षित हुए वे मनुष्य की महिमा में अपार विश्वास लेकर विद्यालयों से निकले। प्राचीन धर्म-भावना में मनुष्य को परलोक में सुखी बनाने का संकल्प था। स्पष्ट रूप से पुरानी धर्म-भावना का विरुद्धगामी दृष्टिकोण विकसित हुआ। फलस्वरूप आचारों, विश्वासों और क्रियाओं के मूल्यों में बड़ा अन्तर आ गया। ईश्वर और मोक्ष को मानना, न मानना, गौण बात हो गई, मनुष्य को इसी लोक में सुखी बनाना मुख्य। प्रेमचन्द ने अपने एक मौजी पात्र से कहलवाया है—"जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है इस पर तो मुझे हँसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा है जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वही ईश्वर है, और जीवन को सुखी बनाना ही मोक्ष और उपासना है। ज्ञानी कहता है होठो पर मुस्कुराहट न आवे, आँखों में आँसू न आवे। मैं कहता हूँ, अगर तुम हँस नही सकते, रो नही सकते, तो तुम मनुष्य नही पत्थर हो। वह ज्ञान जो मानवता को पीस डाले, ज्ञान नही कोल्हू है।" इस उद्धरण मे आधुनिक मानवतावादी दृष्टि बहुत स्पष्ट हुई है। बीसवी शताब्दी के सभी हिन्दी लेखक इस मानवतावादी दृष्टि से प्रभावित थे पर सबके विचारों में फिर भी ऐक्य नहीं था क्योकि मानवतावाद भी विभिन्न लेखको की रुचि और संस्कारों से प्रभावित होकर कुछ भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट हुआ।

यूरोप में भी मनुष्य को इसी जीवन में सुखी बनाने की दृष्टि ने स्वदेशी राष्ट्रीयतावाद के आन्दोलन को बल दिया। व्यवहार में उसे अपने देश के मनुष्यों तक ही संकुचित बनना पड़ा और मशीनों के नवीन साधनो से सम्पन्न व्यवसायियो के लिए अपनी सम्पत्ति बढ़ाने और दूसरे देशों का शोषण करने का अस्त्र सिद्ध हुआ। इस देश में समस्या दूसरी थी। यहाँ राष्ट्रीयता का विकास हो रहा था परन्तु वह शोषण से मुक्ति पाने का प्रयासी था। इसलिए शुरू-शुरू में मानवतावादी दृष्टि के साथ राष्ट्रीयतावादी दृष्टि का कोई संघर्ष नही हुआ। उस काल के सभी लेखकों और कवियों में दोनो

ही दृष्टिकोण प्राप्त होते हैं। परन्तु साहित्य क्षेत्र में मूल चालक मनोवृत्ति मानवतावाद ही थी। इस मानवतावादी दृष्टि के पेट से ही काव्य में छायावाद का जन्म हुआ और कहानियों के क्षेत्र में सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक शोषण से विद्रोह करने वाली स्वच्छंदतावादी प्रेमधारा का भी जन्म हुआ। बीसवीं शताब्दी के उपन्यासों, कहानियों और काव्यों का प्रधान स्वर शोषित के प्रति सहानुभूति का है। इस साहित्य में शोषित के प्रति केवल सहानुभूति ही नही मिलती बल्कि यह विश्वास भी काम करता है कि जो शोषित है वह यदि शोषण से मुक्त हो जाय तो उसमे सब प्रकार के सद्गुणों का विकास हो जाता है।

(हिन्दी साहित्य पृष्ठ ४३०-४३३)

५—समालोचना और अध्ययन

समालोचना की दुनिया निराली होती है। अन्य वैज्ञानिक ठोस वस्तुओ की नाप-जोख करते रहते हैं, पर समालोचक अनिन्द्रिय-ग्राह्य अलौकिक रस-वस्तु की जाँच करता है। इसलिए पहले उसे अपने मनोभावों को ही प्रधानता देनी चाहिए। अर्थात् छूटते ही उसे जो काव्यादि अपील कर जाएँ, 'पदझकार मात्रेण' उसका मन हर जायँ उसी को उसे बुद्धि-परक विवेचना का रूप देना चाहिए। मुझे इस बात की शिकायत नही है। ऐसी हालत में आप समालोचक को जज या द्रष्टा या और कुछ कहें तो मुझे ज़रूर शिकायत होगी, क्योकि ऐसा करके आलोचक वस्तुतः कवि बनता है। अन्तर यही होता है कि कवि फूल-पत्ता को देखकर भावोन्मत्त होता है और आलोचक उसकी कविता को। मै इस बात को स्वीकार करता हूँ कि कवि के चित्त के अन्तस्तल में या उसके (सबकाशियस माइन्ड) में ऐसी बहुत-सी चीजें होती हैं जो अनजान में उसकी कविता मे आ जाती हैं और आलोचक का दावा बिल्कुल ठीक है कि वह उन अनजान प्रवृत्तियों से सहृदयों को परिचित कराता है। परन्तु जब वह कहता है कि उससे किसी अनिर्वचनीय हेतु या फल का संधान उसे मिलता है तो मुझे ऐसा लगता है कि वह मानव-बुद्धि का अपमान करता है। कोई चीज हमें सौ-दो-सौ कारणो से प्रभावित करती है। वैज्ञानिक को आज शायद दस-पाँच का ही ज्ञान है। बाकी अज्ञात हैं। किन्तु वैज्ञानिक का यह धर्म है कि उसे जितना मालूम है उतना कह कर बाकी के लिए भावी पीढ़ियों में कुतूहल और उत्सुकता का भाव जगा जाय, यह नहीं कि कह दे कि बाकी किसी अज्ञात और अज्ञेय उत्स से आ रही हैं। समालोचक से हमारी यह भी शिकायत है।

लेकिन मुझे केवल इन्ही दो कारणों से आलोचना-कार्य के प्रति संशय का भाव

नही उदित हुआ है। यह जो बात मै अब तक कहता आया हूँ वह इस दृष्टि से कि काव्य या नाटक अथवा अन्य किसी साहित्यांग को साध्य मान लिया गया है। आदि काल से अब तक हम इसी दृष्टि से देखते रहे हैं। पर अगर साध्य रूप में ही साहित्य को पढ़ना-पढाना हो तो कम-से-कम हिन्दी के प्राचीन साहित्य का ९०% हमें यथा-शीघ्र फेक देना चाहिए और भविष्य में पाण्डुलिपियों के पीछे भागते फिरने के श्रम से भी छुट्टी ले लेनी चाहिए। वस्तुतः साहित्यिक अध्ययन-तत्रापि साहित्य के अध्ययन-साध्य रूप में नही, बल्कि साधन रूप में ही अधिक लेना चाहिए। उसे अपनी आधुनिक समस्याओ के वर्तमान जटिल रूप के समझने मे सहायक के रूप मे ही अधिक देखना चाहिये।) प्रधान बात है हमारी आधुनिक समस्याएँ। साहित्य अगर उसके लिए उपयुक्त अध्ययन-सामग्री नही उपस्थित करता तो वह बेकार है। और इतना तो आप भी मानेगे कि केवल बिहारी, भूषण और देव को घोटकर कंठाग्र कर रखने वाले पंडित भी आधुनिक युग मे केवल निकम्मे ही नही, समाज के भार हो जाएँगे। मै आशा करता हूँ कि पाठक मुझे गलत नही समझेगे। आखिर बिहारी या मतिराम हमारी कौन-सी राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक या वैयक्तिक समस्याओ का जवाब है? उनके अध्ययन से हम केवल एक ही फायदा उठा सकते हैं। वह यह कि इनको पढकर, इनका क्रम-बद्ध विकास देखकर हम अपनी नित्य-प्रति की उन समस्याओ का असली कारण और स्वरूप-समझ सकते हैं जो हमे रोज ही जूझने को ललकारती रहती हैं। इसी को मै साधन-रूप में साहित्य का अध्ययन कहता हूँ। मै जानता हूँ कि आप मेरे साथ निश्चय ही सहमत होंगे कि हिन्दी-साहित्य को इस रूप में अध्ययन करने की चेष्टा बहुत कम हुई है।

(अशोक के फूल, पृष्ठ १५२-१५४)

६—साहित्य में शव-साधना और शिव-साधना

कई वार मेरे मन में यह बात आई है कि प्राचीन युग के अध्येता जिस महान् तात्रिक साधना में लगे हैं उसका रहस्य क्या हमे मालूम है? कुछ को जरूर मालूम होगा, सब तो शायद नही जानते।

जड़ तत्त्वों का सर्वाधिक सामंजस्य-पूर्ण संघात मनुष्य का शरीर है। जब तक उसमें जीवात्मा का संयोग वर्तमान रहता है तब तक वह विशुद्ध जड़ तत्त्व नहीं कहा जा सकता, परन्तु जब जीव उसमें से निकल जाता है तो साथ-ही-साथ मन, बुद्धि आदि तत्त्व भी उसमें से निकल जाते हैं, यहाँ तक कि प्राण-वायु के दस भेदों में से केवल एक धनंजय को छोड़ कर बाकी नौ भी निकल जाते हैं। उस समय शव सम्पूर्ण क्रिया-

हीन, राग-विराग से रहित, इच्छा-द्वेष से विनिर्मुक्त, धर्म-अधर्म से परे हो जाता है। वह साक्षात् आनन्द-भैरव का प्रतीक होता है। साधक जब शिवानन्द और परमानन्द की अवस्था में होता है तब वह इसी प्रकार इच्छा-द्वेष, राग-विराग, धर्म-अधर्म से परे एक अनुभवैकगम्य अवस्था में होता है। उस साधक से इस शव का भेद है, परन्तु जो शक्ति मे विश्वास करते हैं वे जानते हैं कि उचित संघात ही नई-नई शक्तियों का जन्म-दाता है। शव मे वह संघात प्रायः पूर्ण है, इसीलिये शाक्त साधक शव को साधना का उत्तम साधन मानते है। इस शव का परिपूर्ण जड़-संघात होना आवश्यक है। रोग से, व्याधि से, जहर खाकर और मानसिक सन्ताप से कातर होकर जिसने प्राण खोए हैं, उसका शव ग्रहणीय नही होता। युद्ध लड़ते-लड़ते जो मरा, उल्लास के साथ जिसने अपने को बलि कर दिया है, जीवितावस्था मे जिसके चेहरे पर कभी शिकन नही पड़ी, उसी का शव-साधना में ग्रहणीय माना गया है। यह शव निष्क्रिय शिव का उत्तम प्रतीक है, साधक चण्डिका के संचार से उसे सक्रिय बनाता है। शुरू में ही वह शव की स्तुति करता है—

वीरेश परमानन्द शिवानन्द कुलेश्वर
आनन्दभैरवाकार देवीपर्यंक शंकर
वीरोऽहंत्वां प्रपद्यामि उत्तिष्ठ चण्डिकार्चने।

(भावचूड़ामणि)

मुझे एक तान्त्रिक साधक ने बताया है कि शव का मुँह नीचे कर दिया जाता है और साधक उसकी पीठ पर बैठकर विविध मन्त्रो का जप करता है। सिद्धि प्राप्त होने के पहले अनेक विघ्न होते है। जो साधक डर जाता है वह नष्ट हो जाता है, परन्तु जो विचलित नही होता वह अन्त मे विजयी होता है। जब शव-देह में चण्डिका का आवेश होता है तो उसका मुँह घूम कर साधक की ओर हो जाता है और साधक से वह बातचीत करने लगता है, उस शव के मुख से ही चण्डिका साधक को वर देती हैं। परन्तु तान्त्रिक ग्रन्थों में बताया गया है कि शव जैसे का तैसा पड़ा रहता है, आकाश में देवता नाना भाँति के प्रलोभन के वाक्य उच्चारण करते हैं। साधक अविचलित रहकर उन्हें प्रतिज्ञापाश में बद्ध करता है और तब कही जाकर सिद्धि प्राप्त होती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि जो साधक जड़-संघात के सर्वोत्तम मूर्तरूप इस शव के गठन को ठीक-ठीक जानता है वही सिद्धि पाता है। शव जीवित नही होता परन्तु तन्त्र ग्रंथ में बताया गया है कि प्रसन्न होने पर शव जो कुछ दे सकता है वह कोई जीवित व्यक्ति नही दे सकता, क्योकि शव साक्षात् निष्क्रिय शिव का स्वरूप है। वह इच्छा-द्वेष से परे, परमानन्दस्वरूप है। वह उस शंकर (निष्क्रिय) का प्रतीक है जो देवी के विकराल ताण्डव के पादपीठ हैं।

शव-साधना का महान् साधन

मैं जब-जब अपने देश के प्राचीन आचार-विचार और क्रिया-कलाप के अध्ये-ताओं को देखता हूँ तब-तब मुझे इस तान्त्रिक शव-साधना की बात याद आती है। शव-साधक शव को ही अपना लक्ष्य नही मानता, परन्तु फिर भी शव का कितना आदर उसके चित्त में होता है ! मरे हुए जमाने की पीठ पर बैठकर जो पण्डित आज ज्ञान की साधना कर रहे हैं वे भी उस प्राचीन मरे हुए काल को उतना ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वह युग हमे दण्ड नही दे सकता. उस युग का उदार नरेश किसी पण्डित को प्रति अक्षर पर लक्ष-लक्ष का दान नही दे सकता, उस युग की कोई सुन्दरी अपने विच्छित्ति-शेष वर्णों से, सिगारदान के बचे हुए रंगों से, अपने अंचल पर हमारी यशोगाथा नही लिखती, उस युग का कोई हूण हमारे नगरों और शस्य-क्षेत्रों को आग में नही झुलस देता, वस्तुतः उस युग का ईर्ष्या-द्वेष, राग-विराग, धर्म-अधर्म हमें स्पर्श नही कर सकता। और फिर भी वह युग हमे आनन्द के अद्‌भुत लोक में उपस्थित कर देता है, हमारी नस-नस में एक अपूर्व भाव-सौन्दर्य उज्जीवित कर देता है। उस युग में कोई क्रिया नही है। बड़े-बड़े विशाल मन्दिर, जयस्तम्भ, राजप्रासाद और दुर्गप्राकार इस प्रकार खड़े हुए हैं मानो हँसते-खेलते उन्हें बिजली मार गई हो, मानो सम्मुख युद्ध में उन्हें किसी ने काट डाला हो। शव-साधना का इतना बड़ा साधन कहाँ मिलेगा ?

साधना का लक्ष्य

परन्तु हमारे प्राचीन ज्ञान का लक्ष्य क्या सभी साधकों को मालूम है ? प्राचीन युग मर चुका है, वह जी नही सकता, फिर भी उसकी अच्छी जानकारी हुए बिना हमें सिद्धि नही मिल सकती। जितना ही हम उसे समझेंगे उतना ही स्पष्ट होगा कि यह निष्क्रिय शिव आनन्द-भैरवाकार है, परमानन्द-स्वरूप है क्योंकि इसके भीतर से हम जो आनन्द पाते हैं वह इच्छा-द्वेष से परे, राग-विराग से विनिर्मुक्त है। परन्तु वह समूचा युग एक साधन है। यदि इस युग का लक्ष्य वह युग ही है तो साधना अधूरी है। पुराने युग के मृत शव पर बैठा हुआ ज्ञानी साधक आकाश से सिद्धि पाएगा। शास्त्र-ज्ञान का लक्ष्य शास्त्र-ज्ञान नही है। इस प्राचीन युग के आचार-विचार के अध्ययन का लक्ष्य वह आचार-विचार ही नही है, लक्ष्य है भविष्य का युग। यदि हमारे समूचे प्राक्तन तत्त्वों का ज्ञान हमारे भविष्य के निर्माण में सहायक नही होता तो वह बेकार है। शव-देह मे शक्ति-सचार होने से ही भावी सिद्धि प्राप्त होती है। शव-देह की अच्छी जानकारी हर हालत मे अपेक्षित है। इसी प्रकार हमारे प्राचीन शास्त्रों, रीतियों, क्रियाओं, आचारों के अध्ययन का लक्ष्य भविष्य मे होना चाहिए। यदि कोई पण्डित समझता है

कि पुराना जमाना जी जायगा, पुराने आचार फिर से प्रचलित हो जायँगे, पुराना गौरव फिर पनप उठेगा तो उसने अपनी साधना का रहस्य नही समझा है। इन सब-कुछ का लक्ष्य है इस युग के कोटि-कोटि मनुष्यों को परमुखापेक्षिता, दरिद्रता, अज्ञान, और शोषण से मुक्त करना। यह क्या सम्भव है ?

युग पर अधिकार

शव की पीठ पर मन्त्र-तन्त्र से चाहे जितनी साधना की जाय, जब तक उसका मुख साधक की ओर नही होता, तब तक समझना चाहिए कि साधक सिद्धि के निकट नही आया है, शव तब भी शव ही है, उसमे शक्ति का संचार नही हुआ है। शव की साधना तभी पूर्ण होती है जब उसका मुख साधक के सामने होता है, वह उससे जीवित मनुष्य की भाँति बात करता है। प्राचीन ज्ञान-विज्ञान के साधक को यह बात याद रखनी होती है। हम ऐसे साधकों को जानते हैं जिन्होने अपने गम्भीर अध्यवसाय से प्राचीन युग का मुख अपनी ओर फेर लिया है। तुलसीदास ऐसे ही साधक थे। उन्होंने जो कुछ पढ़ा, गुना, उसे निःशेष भाव से भविष्य के निर्माण में लगा दिया। केवल ज्ञान भार है यदि वह मुक्ति की ओर नही ले जाता। वह भी बाह्याचार मात्र है, मृत है। ज्ञान का फल मुक्ति है। प्राचीन ज्ञान के उपासको मे से थोड़े ही इस रहस्य को समझ पाते हैं। मुक्ति किससे ? जड़ता से, अज्ञान से, परमुखापेक्षिता से, दम्भ से, अहंकार से, दासत्व से। ज्ञान का लक्ष्य यही है।

उत्तम शव-साधना

हमारा यह देश नौसिखुआ नही है। उसके ज्ञान-विज्ञान का इतिहास विशाल है। उसके खोहों और भग्नावशेषों मे प्रेरणा का समुद्र लहरा रहा है। यह हमारा परम सौभाग्य है कि जड़ तत्त्वों के इतने परिपूर्ण संघात हमारी साधना के लिये देश के कोने-कोने में बिखरे पड़े है। अन्य किसी भी देश को शायद ही इतनी परिपूर्ण साधन-सामग्री प्राप्त हो। हम यदि निष्ठा और प्रेम के साथ इस सम्पूर्ण सामग्री का उपयोग भविष्य-निर्माण के लिये करे; तभी कल्याण है। केवल इन सामग्रियों को ही लक्ष्य मान लेना ग़लती है। इनके ज्ञान मात्र से सिद्धि नही मिलेगी, यद्यपि इनकी सूक्ष्म और ठीक-ठीक जानकारी परमावश्यक है। प्राचीनता का अध्ययन उत्तम शव-साधना है। उसमें पद-पद पर सावधानी की आवश्यकता है, प्रतिक्षण अपने लक्ष्य को याद रखने की आवश्यकता है और सदा सर्वदा कठोर संयम और अपार साहस का होना जरूरी है।

(विचार और वितर्क, पृष्ठ १४४-१४८)

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

[जन्म सन्—१९०६ उ०]

ग्रन्थ—आधुनिक साहित्य, हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी

१. कविता का स्वरूप

कविता क्या है—यह प्रश्न अब यहाँ उपस्थित है। काव्य तो प्रकृत मानव-अनुभूतियों का, नैसर्गिक कल्पना के सहारे; ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्य-मात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-संवेदन उत्पन्न करता है। इसी सौन्दर्य-संवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' कहते हैं, यद्यपि यह स्वीकार करना होगा कि 'रस' का हमारे यहाँ दुरुपयोग भी कम नहीं किया गया। ऊपर की व्याख्या से हम काव्य या साहित्य मात्र के सम्बन्ध मे कतिपय निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं। प्रकृत मानव-अनुभूति एक सार्वजनिक वस्तु है, इसमें वे कृत्रिम अनुभूतियाँ सम्मिलित नहीं हैं, जिनकी शिक्षा कुछ विशेष व्यक्तियों या वर्गों को दी जाती है; जिससे साम्प्रदायिक काव्य का निर्माण होता है। इन अनुभूतियों का चित्रण जिस नैसर्गिक कल्पना के सहारे होता है, उसकी उद्भाविका कवि की प्रतिभा होती है। यह कल्पना जितनी ही नैसर्गिक और प्रशस्त होगी, उतने ही उन्नत काव्य का सृजन करेगी, उतना ही चित्रण की सौन्दर्यमयता बढ़ जायगी और उतना ही समुन्नत और प्रगाढ़ उसका संवेदन होगा। सार्वजनीन होने के कारण ही यह सौन्दर्य-तत्त्व नित्य और शाश्वत है। एक ही कविता सैकड़ो-हजारो वर्ष के बाद भी वही सौन्दर्य-चेतना उत्पन्न करती है जो उसने आरम्भ मे उत्पन्न की थी।

अवश्य कविता सार्वजनीन और शाश्वत वस्तु है, किन्तु कवि के व्यक्तिगत विकास और सस्कार के अनुसार उसकी सौन्दर्यानुभूति की शक्ति-मात्रा और कीमतीपन में अन्तर हुआ करता है, और अनुभूतियों को व्यक्त करने का सामर्थ्य या योग्यता भी कम या अधिक हुआ करती है। इन सारी वस्तुओ का परिचय हमें कवि की उस रचना से ही प्राप्त होता है, इसलिये काव्य-विवेचन में रचना या अभिव्यक्ति ही सब कुछ है। वास्तव में काव्य के उत्कर्ष या अपकर्ष की परीक्षा इन्ही विशेषताओं के आधार पर की जा सकती है। यों, व्यावहारिक विभाग के लिये हम महाकाव्य, गीति-काव्य, उपन्यास, आख्यायिका और नाटक आदि के विभाग करते हैं। उनके विभिन्न तत्त्वों का इतिहास और सामाजिक विकास क्रम में उनके परिवर्तित स्वरूपों का अध्ययन करते हैं। किन्तु काव्य-साहित्य का तात्त्विक मूल्य तो प्रथम वर्गीकरण में ही है।

अब यह पूछा जा सकता है कि कविता यदि शाश्वत वस्तु है तो उस पर देश-काल आदि बदलती हुई स्थितियों और विचार-धाराओं का क्या कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता ? यह पहेली ऊपर से जितनी सदिग्ध जान पड़ती है, वास्तव में उतनी है नही। देश, काल और वातावरण का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति और समाज पर पड़ता है। कवि की दृष्टि तो और भी तीव्र और ग्राहिका शक्ति सजग रहती है। इसलिये सच्चे कवि और साहित्यकार प्रायः प्रगतिशील ही हुआ करते हैं। किन्तु कवि का कार्य प्रगतिशील होना ही नही है; प्रगतिशील सामाजिक प्रेरणाओं, स्वरूपो और प्रवृत्तियो को शाश्वत सौन्दर्य-सवेदन का स्वरूप देना उसका कार्य है। आज का प्रगतिशील व्यक्ति कल पिछड़ सकता है, किन्तु हृदय के चिरन्तन सौन्दर्य-तारों को स्पर्श करने वाला कवि कभी पिछड़ता नही। कालिदास और शेक्सपियर, होमर और मिल्टन, वाल्मीकि और व्यास, सूर, तुलसी और कबीर शताब्दियों पुराने हैं, किन्तु उनका काव्य उतना ही मनोरम आज है जितना वह अपने निर्माण के दिन रहा होगा।

(आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ४०७-४०९)

अन्तिम प्रश्न काव्य में वादों की स्थिति का है। वाद तो वास्तव मे जीवन-सम्बन्धिनी धारणाओ और प्रवृत्तियों के बौद्धिक निरूपण हैं। प्रत्येक वाद की एक सीमा-रेखा होती है। प्रत्येक वाद के अन्तर्गत समय-समय पर ऐसी जीवन-दृष्टियाँ संघटित होती है; जिनसे सामाजिक उन्नति और ह्रास दोनो के संयोग इकट्ठे हो सकते हैं। प्रत्येक वाद मे शक्तिमत्ता और दुर्बलता के परमाणु समयानुसार घटते-बढते रहते हैं। किसी भी वाद के साथ न्याय करने के लिये उसकी पारिभाषिक शब्दावली का उसके अभिप्रेत अर्थ में, युग की ऐतिहासिक प्रगति को ध्यान में रखकर, अध्ययन करना आवश्यक है। बिना इसके वाद के साथ न्याय नही हो सकता।

वाद एक स्थूल और परिवर्तनशील जीवन-दृष्टि है। काव्य जीवन-व्यापी अनुभूति है। काव्य और वाद दोनो के स्वरूपो और प्रक्रियाओ मे अन्तर है। सामाजिक जीवन से दोनो का निष्क्रमण होता है, काव्य का भी और वाद का भी। किन्तु एक की प्रणाली हार्दिक और व्यक्तिमुखी है, दूसरे की सैद्धान्तिक और समूहमुखी। काव्य का कार्य है सवेदना की सृष्टि करना, वाद का कार्य है ज्ञान-विस्तार करना। वाद का स्वरूप एकदेशीय है, काव्य का सार्वभौम। वाद की सार्थकता सामाजिक विकास के साथ अग्रसर होने में है, काव्य का सौन्दर्य चिर-नवीन रहने मे है। काव्य का लक्ष्य मानव-स्वभाव और मानवीय भावना के मार्मिक और स्थायी रूपों का चित्रण है। वाद का लक्ष्य है तथ्य-विशेष की बौद्धिक व्याख्या करना। काव्य सूक्ष्म और असाधारण परिस्थितियो में मानव-चरित्र और आचरण की भावमयी झाँकी दिखाता है, वाद साधारण और असाधारण समस्त परिस्थितियों का सामूहिक आधार लेकर चलता है और उसी

पर अपना नियम-निरूपण करता है। काव्य-कल्पना एक बार कवि की वाणी का आशय लेकर जो रूप-निर्माण करती है, उसकी अनुरूप अनुभूति प्रत्येक सहृदय को सभी देशों और सभी समयो में अनायास ही होगी, किन्तु वाद के द्वारा जिस सत्य का एक बार निरूपण होता है, वह नया ज्ञान उपलब्ध होने पर फीका पड़ जाता है—कभी-कभी अर्ध-सत्य या असत्य भी बन जाता है, और तब उस वाद को नए व्यक्तियों द्वारा नया जीवन देने की आवश्यकता होती है, नए सिरे से समझाना होता है, नया संशोधन और नई उपपत्तियाँ रखनी पड़ती हैं। और इतना करने पर भी वह सदैव पुनरुज्जीवित नही हो पाता। अस्तु, हम कह सकते हैं कि काव्य और वाद मानव-जीवन से सम्बद्ध होते हुए भी दोनों का क्षेत्र पृथक् है। सहकारी होते हुए भी दोनों की कार्य-शैली भिन्न है।

(आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ४१०-४११)

२—साहित्य का प्रयोजन—आत्मानुभूति

साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति है, यहाँ 'प्रयोजन' और 'आत्मानुभूति' शब्दों पर पहले विचार कर लेना आवश्यक है। 'प्रयोजन' शब्द कभी निमित्त के अर्थ में आता है और कभी उद्देश्य के अर्थ में व्यवहृत होता है। इससे कभी हेतु या कारण का अर्थ लिया जाता है और कभी फल या कार्य का। विशेषकर हिन्दी में इसके प्रयोगो में बड़ी विभिन्नता है। यहाँ हम इसका प्रयोग हेतु या प्रेरक के अर्थ में ही कर रहे हैं। आत्मानुभूति साहित्य का प्रयोजन है, इसका अर्थ हम यह लेते हैं कि आत्मानुभूति की प्रेरणा से ही साहित्य की सृष्टि होती है।

'आत्मानुभूति' शब्द भी निश्चयार्थक नही है। इसके प्रयोग में भी बड़ा मतभेद है। यह दर्शन-शास्त्र का शब्द है, परन्तु कुछ दार्शनिक तो इस शब्द को ही स्वीकार नही करते। उनका कहना है कि आत्मा के साथ अनुभूति का सम्बन्ध ही नही है, अतः ये दोनो शब्द एक साथ नही रह सकते। आत्मा निरपेक्ष तत्त्व है और अनुभूति गुण है। निरपेक्ष तत्त्व का सापेक्ष वस्तु से कोई योग नहीं हो सकता। अखंड, अज, अव्यय, नित्य, अविकारी, आत्मा से सीमित, व्यक्तिगत अथवा समूहगत अनुभूति का सम्बन्ध सम्भव नही है। 'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाय भूत्वा भविता वा न भूयः'। त्रिकाल में भी न उत्पन्न होने वाली और न मरने वाली आत्मा से देश-काल परिच्छिन्न अनुभूतियो की क्या संगति ?

जहाँ एक ओर यह धारणा या मत है, वही दूसरी ओर आत्मा और अनुभूति का परस्पर सम्बन्ध मानने वाले दार्शनिक और विचारक भी हैं। यदि पहला तत्त्व-ज्ञान उपनिषद् और गीता का है, तो दूसरे मत की प्रतिष्ठा भी उपनिषद् और गीता से ही

की जाती है। भारतीय तत्त्व-चिन्तन में पुरुष और प्रकृति के साथ-साथ आत्मा और अनुभूति का सापेक्ष सम्बन्ध स्थिर करने वाले अनेक आचार्य हैं। विशेषकर द्वैतवादी दर्शनों में इस प्रकार की विचार-भूमिकाएँ मिलती हैं। शक्ति-सिद्धान्त को मानने वाले सम्प्रदाय जो अपने मत-चिन्तन को शक्ति-अद्वैत के नाम से घोषित करते हैं, आत्मा को शक्ति-रूप ही स्वीकार करते हैं। उनके विचार मे शक्ति ही आत्मा है, अनुभूति शक्ति है, अतः अनुभूति ही आत्मा है।

इस प्रकार आत्मा और अनुभूति के सम्बन्ध की अनेकरूपता का आभास हमे भारत की विभिन्न चिंता-धाराओं से प्राप्त होता है। हम यहाँ किसी एक मत को स्वीकार करने या दूसरे मत का तिरस्कार करने की दृष्टि से इस दार्शनिक चर्चा में नही पड़े हैं। हमारा प्रयोजन केवल आत्मानुभूति शब्द और उसके अर्थ पर दृष्टिपात करना है, और हम देखते हैं कि इस शब्द को लेकर दार्शनिकों मे मतैक्य नही है। मतैक्य तो दूर, आत्मा और अनुभूति के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर सभी सम्भव दृष्टियों के स्थापन की चेष्टाएँ की गई हैं, जिनमे साम्य या समन्वय ढूँढने का प्रयास हम यहाँ नही कर सकेंगे। एक ओर निरपेक्ष और स्वाधीन आत्म-तत्त्व के साथ त्रिकाल में भी अनुभूति का कोई सम्बन्ध न मानने वाले अद्वैत दार्शनिक हैं, दूसरी ओर अनुभूति के बिना आत्मा की सत्ता ही न स्वीकार करने वाले शक्ति-तन्त्र के संस्थापक आचार्य हैं, और इन दोनों के मध्य आत्मा और अनुभूति का बहुरूपी सम्बन्ध स्थिर करने वाले सापेक्षवादी द्वैत चिंतक हैं। हम इस अन्तहीन विचार-व्यूह में प्रवेश करने मे अभिमन्यु की भाँति ही शंकित हैं, अतएव हम इससे विरत रह कर ही सन्तोष करेंगे।

सच तो यह है कि हमें इस दार्शनिक ऊहापोह में जाने की आवश्यकता ही नही है। हमारा प्रस्तुत विषय इसकी अपेक्षा नही करता। आत्मानुभूति के स्थान पर हमारा काम केवल अनुभूति से चल सकता है। अतः हम आत्मानुभूति के शब्द-प्रपच मे न पड़ कर 'अनुभूति' से ही काम निकालेंगे।

काव्य की प्रेरणा अनुभूति से मिलती है, यह स्वतः एक अनुभूत तथ्य है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस का निर्माण करते समय लिखा था—स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबधमति मंजुल मातनोति। यहाँ 'स्वात.सुखाय' से उनका तात्पर्य आत्मानुभूति या अनुभूति से ही है। रस-सिद्धांन्त का निरूपण करने वाले शास्त्रज्ञों ने काव्य का उपादान विभाव, अनुभाव, सचारीभाव आदि को बताया है। साहित्य-मात्र के मूल में अनुभूति या भावना कार्य करती है, यह रस-सिद्धान्त की प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है।

हम एक नाटक का अभिनय देखते हैं जिसमे अनेक पात्र भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में उपस्थित होकर परस्पर वार्तालाप करते हैं और अनेक परिस्थितियो का दिग्दर्शन

कराते हुए नाटकीय व्यापार को आगे बढ़ाते है। इसमें हमें नाटककार की अनुभूति प्रत्यक्ष दिखाई नही देती, परन्तु यह स्पष्ट है कि प्रत्येक पात्र की अनुभूति के रूप में रचयिता की अनुभूति काम करती रहती है। हम कोई उपन्यास पढ़ते हैं, जिसमे विविध व्यक्तियों की दैनिक घटनावली का चित्रण रहता है। पढते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि हम जीवन के वास्तविक रूप को ही देख रहे हैं और उन घटनाओं का परिचय पा रहे हैं जो वास्तव में घटित हुई हैं। हम इस ऊपरी जीवन-व्यापार में रचयिता की सत्ता को भूल जाते हैं, पर क्या उसकी अनुभूति के बिना वह रचना किसी प्रकार सम्भव है ? क्या स्रष्टा की अनुभूति से रहित काव्य-सृष्टि की कल्पना भी की जा सकती है ?

काव्य में अनुभूति की इस व्यापकता का निर्देश करने में भारतीय साहित्य-शास्त्र का ध्वनि-सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। वह प्रमुख रूप से इसी तत्त्व पर प्रकाश डालता है कि काव्य और साहित्य की बाहरी रूप-रेखा के मर्म मे आत्मानुभूति या विभावन व्यापार ही काम करता है। काव्य की सम्पूर्ण विविधता के भीतर ऐकात्म्य स्थापित करने वाली यही शक्ति है। सम्पूर्ण काव्य किसी रस को अभिव्यक्त करता है, और वह रस किसी स्थायी भाव का आश्रित होता है और वह स्थायी भाव रचयिता की अनुभूति से उद्गम प्राप्त करता है।

यहाँ कुछ ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनकी ओर हमें आवश्यक रूप से ध्यान देना पड़ता है। काव्य-साहित्य मे अनुभूति की व्यापकता को स्वीकार करते हुए भी क्या हम उसे सम-रस या सम-रूप कह सकते हैं ? क्या समस्त कवियों और रचनाकारों की अनुभूति एकरूप या समान होती है ? यदि नही तो क्या अनुभूति में स्वरूप-गत भेद होते हैं ? इसके साथ ही दूसरा प्रश्न यह है कि साधारण अनुभूति और काव्यानुभूति एक ही हैं या उनमे भी अन्तर है ? अन्तर है, तो किस प्रकार का ? साधारणतः हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ-न-कुछ अनुभूति होती है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति मे काव्य की शक्ति नही होती। उसमे अपनी अनुभूतियो के प्रकाशन की क्षमता नही होती। तो क्या ये दोनों वस्तुएँ—अनुभूति और काव्यानुभूति, स्वरूपतः भिन्न हैं ?

यहाँ सुविधा के लिए हम दूसरे प्रश्न को पहले लेगे। यह सम्भव है कि प्रत्येक व्यक्ति कवि नही होता, उसमे अपनी अनुभूतियों के प्रकाशन की योग्यता नही होती। पर इतने से ही यह नही कहा जा सकता कि साधारण अनुभूति और काव्यगत अनुभूति दो भिन्न वस्तुएँ हैं। इस सम्बन्ध में वर्तमान युग के प्रसिद्ध कला-शास्त्री बेनिडिटो क्रोचे का मत ध्यान देने योग्य है। क्रोचे का कथन है कि अनुभूति वही है जो काव्य या कलाओं के रूप में अभिव्यक्त होती है। जिस अनुभूति मे यह अभिव्यक्ति-क्षमता नही है, वह वास्तव में अनुभूति न होकर कोरी इन्द्रियता या मानसिक जमुहाई मात्र है।

वह अनुभूति जो आत्मिक व्यापार का परिणाम है, सौन्दर्य-रूप में अभिव्यक्त हुए बिना रह ही नही सकती। उसे काव्य-स्वरूप ग्रहण करना ही पड़ेगा। क्रोचे के मत में अनुभूति अभिव्यक्ति ही है और अभिव्यक्ति ही काव्य है। यह तीनों अन्वर्थ या समानार्थी शब्द हैं, इनमें परस्पर पूर्ण तादात्म्य है।

यदि क्रोचे के इस निर्देश को हम स्वीकार कर ले, तो पहले प्रश्न का उत्तर भी हमें आप-ही-आप मिल जाता है। वह प्रश्न अनुभूति की समरूपता या समरसता का है। क्रोचे के निरूपण के अनुसार अनुभूति का सम-रस या सम-रूप होना अनिवार्य है। एक ही अखंड अनुभूति समस्त कवियों और रचनाकारों में होती है। काव्य मात्र में उसकी अखंडता स्वयं-सिद्ध है। समस्त कवि एक हैं, उनमें परस्पर भेद नही। अनुभूतिशील मानवता ही सर्वत्र और सब काल में एक है। काव्य और कला की अजस्र धारा देश और काल का भेद नही जानती। भेद वास्तविक नही है, उसका यथार्थ रूप हमे समझना होगा।

काव्यगत अनुभूति के सम्बन्ध मे यह क्रोचे की स्थापना है। भारतीय विचार भी इससे भिन्न नही है। अभी मैंने विभाव, अनुभाव आदि रस के प्रमुख उपादानो में भावना या अनुभूति की व्याप्ति का उल्लेख किया है। काव्य के आस्वादन के निमित्त 'सहृदय' की योग्यता बता कर और शब्दों पर उलझने वाले न्याय-शास्त्रियों तथा वैयाकरणों को काष्ठ-कुड्म की उपमा देकर हमारे विनोदप्रिय पूर्वजो ने काव्यगत अनुभूति की विशेषता सिद्ध की थी। उन्होने काव्य के विविध प्रकारों, शैलियों और पद्धतियो के बीच कोई ऐसी विभेदक रेखा नही खीची है जिससे उसके सर्व-सामान्य स्वरूप पर किसी प्रकार का व्याघात या विक्षेप आए। समस्त काव्य-शैलियों और काव्य-स्वरूपो में अनुभूति की अखड एकरूपता का अनवरत प्रवाह दिखा कर भारतीयो ने काव्य की सार्वजनीनता और सार्वभौमिकता सिद्ध की थी।

आत्माभिव्यंजक रचना से कभी-कभी उन कृतियों का अर्थ लिया जाता है जिसमें रचनाकार की व्यक्तिगत अनुभूति अधिक प्रत्यक्ष होकर आती है। परन्तु इसी कारण दूसरी रचनाओं को अनुभूति-रहित नही कहा जा सकता। कुछ समीक्षकों ने 'सब्जेक्टिव' (व्यक्तिगत) और 'आब्जेक्टिव' (वस्तुगत) काव्य के दो भेद कर आत्मानुभूति की प्रधानता 'सब्जेक्टिव' काव्य में मानी है, परन्तु इस भेद को हम वास्तविक नही कह सकते। यह तो केवल प्रकार-भेद है। 'व्यक्तिगत अनुभूति' से प्रेरित रचनाएँ कभी-कभी तो वास्तविक अनुभूति के स्तर पर पहुँचती ही नही, अतएव उन्हें तो काव्य की संज्ञा भी नहीं दी जा सकती। वास्तव में अनुभूति के व्यक्तिगत और वस्तुगत भेद किए ही नहीं जा सकते, उसकी तो अखंड सत्ता है। आत्मानुभूति तो काव्यमात्र की विशेषता है। किसी एक प्रकार की रचना को आत्माभिव्यंजक कह कर दूसरी काव्य-

रचनाओं को आत्माभिव्यंजना से रहित मानना कोरी भ्रान्ति है ।

इसी प्रकार हम कभी किसी रस-विशेष की रचना को दूसरे रसों की रचना से श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं और कभी महाकाव्य, खण्डकाव्य, प्रगीत आदि काव्य-भेदों की निरपेक्ष रूप में तुलना करने लगते हैं । उदाहरण के लिए, प्रायः शृंगार रस को रस-राज घोषित किया जाता है । परन्तु इसका यह अर्थ नही कि कोई भी शृंगारिक रचना किसी भी अन्य रस की रचना से स्वतः श्रेष्ठ है । सभी रसों में एक ही अनुभूति-धारा प्रवाहित रहा करती है, अतएव यह भेद कृत्रिम है । महाकाव्य इसलिए महाकाव्य नही है कि उसमें 'काव्य' की सत्ता किसी लघुगीत या प्रगीत की काव्य-सत्ता से प्रकृत्या भिन्न है, दोनों काव्यत्व की भूमि पर समान हैं । आकार-प्रकार और परिमाण आदि के अंतर भले ही हों ।

किसी प्रचंड बुद्धिवादी समस्या-नाटक में और किसी अतितरल गीति-नाट्य में, सहस्रों पृष्ठों के समाहित उपन्यास में और चार या दस पंक्तियों के गद्य-गीत में भी अभूनुति की समानता रहती है । इसी समता के बल पर वह समस्या-नाटक भी काव्य है, वह विशाल उपन्यास भी और अतिलघु गद्य-गीत भी । यदि अनुभूति की सत्ता मे अन्तर होता तो इनमें से किसी एक, दो या सबको काव्य की पदवी ही न मिलती । यदि ये सभी काव्य-साहित्य के अंग हैं, तो इनमें अनुभूति की अजस्र एकरूपता है ही।

एक ओर सूर, तुलसी और मीरा आदि कवियों में और दूसरी ओर देव, बिहारी और मतिराम आदि रचनाकारों में क्या अन्तर है ? क्या यह कि वे भक्त और संत थे और उनकी रचनाओं से भक्ति और ईश्वर-प्राप्ति की शिक्षा मिली और ये संसारी और दरबारी व्यक्ति थे और इनकी कृतियो से लोक-कल्याण न हो सका ? परन्तु भक्ति और ईश्वर-प्राप्ति के सदेशवाहक सभी तो कवि नही हुए और न सभी संसारी और दरबारी व्यक्तियों ने कलम हाथ मे ली । ऐसी अवस्था में तुलना की भूमि भक्ति, ईश्वर प्राप्ति या लोक-कल्याण नही हो सकती । तुलना का आधार होगा कवित्व या काव्यत्व जिससे ऊपर गिनाई वस्तुओं का कोई सम्बन्ध नही और जिसका एकमात्र मानदण्ड है अनुभूति । सम्भव है हम यह कहें कि देव-बिहारी आदि में अनुभूति थी ही नही, वे कवि ही नही थे । यह कहने का हमें अधिकार है, पर इस कारण हम यह कहने के अधिकारी नही हो जाते कि सूर और तुलसी पहुँचे हुए भक्त थे, अतएव वे श्रेष्ठ कवि भी थे । इस प्रकार का तर्क करने वाले व्यक्ति ही भक्ति को स्वतन्त्र काव्य-रस सिद्ध करना चाहते हैं, पर उनकी यह उपपत्ति सच्चे काव्य-प्रेमियों को मान्य नही हो सकती।

अनुभूति को काव्य का प्रयोजन मानने वालों के सम्मुख यह प्रश्न भी आता है कि अनुभूति के प्रकाशन का माध्यम क्या हो । कभी कागज और कूची की सहायता से, कभी स्वर-ताल-लय के योग से, कभी पत्थर को काट-छाँटकर और कभी शब्दों की

अर्थ-व्यंजक शक्ति का आश्रय लेकर अनुभूति प्रकाशित होती है। इन विभिन्न माध्यमों का उपयोग भिन्न-भिन्न कलाकार अपनी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार करते हैं। इन माध्यमों में कौन अधिक उपयुक्त और कौन कम उपयुक्त होगा, यह तो रचयिता की योग्यता पर अवलंबित है। इस सम्बन्ध में नियम-निर्देश करना संभव नहीं। परन्तु एक ही माध्यम द्वारा प्रकाशित होने वाली अनुभूति के सम्बन्ध मे यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रत्येक अनुभूति एक ही उत्कृष्ट अभिव्यक्ति पा सकती है। हम एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द अथवा एक छन्द के स्थान पर दूसरा छन्द रखकर आदर्श अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। आदर्श अभिव्यक्ति सदैव एक ही होगी।

यदि प्राचीन वन्य कलाकार के सम्मुख आज के समृद्ध साधन नही थे तो इसका अर्थ नही कि उसकी अनुभूति अपनी आदर्श अभिव्यंजना नहीं प्राप्त कर सकी। वन्य कलाकार की वही आदर्श अभिव्यंजना है जो उसने अपने मोटे साधनों से की है। महात्मा कबीर के पास शुद्ध परिष्कृत शब्द-राशि नही थी, किन्तु उन्होंने जिस प्रकार से अपने भाव व्यक्त किये, वही उनका आदर्श प्रकार है। अनुभूति और अभिव्यक्ति में ऊपरी सापेक्षता रहते हुए दोनों की अंतरंग अनन्यता मे सन्देह नही किया जा सकता।

वह काव्य भी काव्य ही है जिसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति की पूर्ण एकरूपता न स्थापित हो पाई हो, जिसमें कवि अपनी अनुभूति के प्रकाशन का उपयुक्त और आदर्श माध्यम प्राप्त करने में असफल रहा हो। पर वह रचना काव्य नही है जिसमें वास्तविक अनुभूति का ही अभाव हो। भारतीय समीक्षा के अनुसार ऐसी रचना ध्वन्यात्मक या रसात्मक काव्य के अन्तर्गत नहीं आती, उसे गुणीभूत व्यंग्य या चित्र-काव्य मात्र कहते हैं। अनुभूति की अस्पष्टता अथवा उसका अभाव ही इन दोनों प्रकार की रचनाओं के मूल मे रहा करता है।

(आधुनिक साहित्य पृष्ठ ४१२-४१८)

३. छायावाद का स्वरूप

मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किंतु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है। इस व्याख्या में आये 'सूक्ष्म' और 'व्यक्त' इन अर्थ-गर्भ शब्दों को हम अच्छी तरह समझ लें। यदि यह सौंदर्य सूक्ष्म नही है, साकार होकर स्वतन्त्र क्रियाशील है और किसी कथा या आख्यायिका का विषय बन गया है तो हम उसे छायावाद के अन्तर्गत नही ले सकेंगे। छायावाद के इस सीमांत पर हम स्काट और बाइरन जैसे अँगरेज़ी के कवियों को पाते हैं जिन्होने विमोहक और तल्लीनताकारी नारी-सौन्दर्य को लम्बी कथाओं के सूत्र में ताना है, और

प्रकृति की अनिर्वचनीय सुषमा को पृष्ठभूमि बनाकर चित्रित किया है। वे प्रकृत छायावादी नही कहे जा सकते। और छायावाद के दूसरे सीमान्त पर वर्ड्सवर्थ को देखते हैं जिसकी प्रकृति के प्रति इतनी सार्वत्रिक प्रीति है कि वह व्यक्त सौन्दर्य के प्रति निस्पन्द, बेपहचान, निगूढ़-सी मालूम देती है, सब कुछ तो सुन्दर ही है, ऐसी भाव-मयता मे मग्न-सी हो गई है। वह भी प्रकृत-छायावादी नही है। प्रकृत छायावादी तो अँगरेजी मे प्राकृतिक सूक्ष्म सौन्दर्य-भावना का एकमात्र अधिष्ठाता 'शैली' ही हुआ है जो एक ओर कुछ समीक्षकों द्वारा (जो सूक्ष्म के विरोधी हैं) हवाई और आसमानी बताया गया है किन्तु दूसरी ओर जिसे नास्तिक (अव्यक्त सत्ता का विरोधी) कहे जाने का श्रेय भी प्राप्त है। आशा है, छायावाद की इस मध्यवर्तिनी भूमि पर पाठकों की दृष्टि गई होगी।

(हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी, पृष्ठ १६३-६४)

× × ×

नई छायावादी काव्य-धारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवी शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। भारतीय परम्परा-गत आध्यात्मिक दर्शन की नवप्रतिष्ठा का वर्त्तमान अनिश्चित परिस्थितियों में यह एक सक्रिय प्रयत्न है। इसकी एक नवीन और स्वतन्त्र काव्य-शैली बन चुकी है। आधुनिक परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था और विचार-जगत में छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की, नवीन परिस्थिति के अनुरूप, स्थापना करता है। जिस प्रकार मध्ययुग का जीवन भक्तिकाल में व्यक्त हुआ, उसी प्रकार आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति इस काव्य मे हो रही है। अन्तर है तो इतना ही कि जहाँ पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य मे जीवन के लौकिक और व्यावहारिक पहलुओं को गौण स्थान देकर उनकी उपेक्षा की गई थी, वहाँ छाया-वादी काव्य प्राकृतिक सौन्दर्य और सामयिक जीवन-परिस्थितियों से ही मुख्यतः अनु-प्राणित है। इस दृष्टि से वह पूर्ववर्त्ती भक्ति-काव्य की प्रकृति-निरपेक्षता और संसार-मिथ्या की सैद्धान्तिक प्रक्रियाओं का विरोधी भी है। छायावाद मानवजीवन-सौन्दर्य और प्रकृति को आत्मा का अभिन्न स्वरूप मानता है, उसे अव्यय की वेदी पर बलिदान नहीं कर देता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन-काव्य की सीमा में मानव-चरित्र और दृश्य जगत, अपने प्रकृत रूप में उपेक्षित ही रहे जब कि नवीन काव्य में समस्त मानव-अनुभूतियों की व्यापकता पूरा स्थान पा सकी।

(आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ३१६-३२०)

× × ×

छायावाद-काव्य मध्ययुग की काव्य-धारा से प्रमुखतः इस अर्थ में भिन्न है कि

वह किसी क्रमागत साम्प्रदायिकता या साधना-परिपाटी का अनुगमन नही करता। अध्यात्मवादी काव्य का अधिष्ठान देशकालातीत परम पवित्र सत्ता हुआ करती है। व्ययशील सांसारिक आदर्शो और स्थितियों आदि से उनका मुख्य सम्बन्ध नहीं होता। वह विकास जो समय का आश्रित है, वह विज्ञान जो व्यक्त द्रव्य तथा उसकी परिणतियों पर अधिष्ठित है, मध्यकालीन आध्यात्मिक काव्य के विषय नही हैं। प्रत्यक्ष वस्तु का मानवजीवन के सुख-दुःख, विकास-ह्रास आदि की अवस्थाओं से जो सम्बन्ध है, वह काव्य उसकी उपेक्षा कर गया है। किन्तु आधुनिक छायावादी काव्य उसकी उपेक्षा नही करता। अध्यात्मवादी परम्परा दृश्य मात्र को विनाशी कह कर चुप हो रहती है, अथवा उसे व्यावहारिक बता कर मुँह मोड़ लेती है। छायावादी काव्य में यह परम्परा स्वीकृत नही है। दैन्य से पीड़ित और प्रताड़ित तथा भोगैश्वर्य से प्रसक्त और परिवेष्टित व्यक्ति, समुदाय, देश, राष्ट्र या सृष्टि-चक्र के विभेदो में अध्यात्मवाद नही जा सका। समय और समाज को आन्दोलित करने वाली शक्तियों का आकलन उसमे कम ही है। वह तो उस शाश्वत सत्ता से ही सर्वथा संपृक्त है जिसमें परिवर्तन का नाम नही। उस सत्ता का स्वरूप सगुण है या निर्गुण, विश्वमय है या विश्वातीत, ये प्रश्न ही उस अध्यात्म मे आते हैं। छायावाद की काव्य-सरणी इन अध्यात्मवादी सीमा-निर्देशों से आबद्ध नही है, वह भावना के क्षेत्र में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करती।

आधुनिक छायावादी काव्य किसी क्रमागत अध्यात्म-पद्धति को लेकर नही चलता। नवीन जीवन-प्रगति में ही उसने आत्म-सौन्दर्य की झलक देखी है। परम्परित अध्यात्म प्रायः पुरुष से प्रकृति की ओर प्रवर्तित होता है। एक चेतन केन्द्र से नाना चेतना-केन्द्रो की सृष्टि करता है। किन्तु छायावादी काव्य प्रकृति की चेतन-सत्ता से अनुप्राणित होकर पुरुष या आत्मा के अधिष्ठान में परिणत होता है। उसकी गति प्रकृति से पुरुष की ओर, दृश्य से भाव की ओर होती है। और इस दार्शनिक अनुभूति के अनुरूप काव्य-वस्तु का चयन करने मे छायावादी कवियो ने प्रकृति के अपार क्षेत्र से यथेच्छ सामग्री ग्रहण की है।

(आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ३२२-३२३)

नगेन्द्र

[जन्म सन्—१९१५]

ग्रन्थ—रीति-काव्य की भूमिका, विचार और विवेचन

१—साधारणीकरण

प्रश्न यह उठता है कि साधारणीकरण किसका होता है ? 'मानस' में पुष्प-वाटिका के प्रसंग को पढ़ते हुए मुझे तीन व्यक्तियों की चेतना है—अपनी (सहृदय की), राम (आश्रय) की, और सीता (आलम्बन) की। इनके अतिरिक्त एक अव्यक्त व्यक्तित्व और है—कवि का। मेरे (सहृदय के) व्यक्तिगत आलम्बन का भी एक अव्यक्त व्यक्तित्व हो सकता है। परन्तु यह चूंकि सभी दशाओं में सम्भव नही है, इस-लिए इसे छोड़ देते हैं। साधारणीकरण की सम्भावना दो की ही हो सकती है (क्योंकि मै तो साधारणीकृत रूप का भोक्ता हूँ) १. आश्रय की और २. आलम्बन की। क्या साधारणीकरण आश्रय का होता है ? अर्थात् क्या राम का व्यक्तित्व सभी सहृदयों का व्यक्तित्व हो जाता है—और स्पष्ट शब्दों में, क्या सभी सहृदय अपने को राम समझकर रति का अनुभव करते हैं ? नही। यहाँ शायद आश्रय का व्यक्तित्व प्रेय होने के कारण और भाव मधुर होने के कारण आपको 'हाँ' कहने का लोभ हो जाय। परन्तु जहाँ आश्रय अप्रिय है और भाव कटु है वहाँ इसकी सम्भावना कैसे हो सकती है ? उदा-हरण के लिए आश्रय रावण है और वह सीता के प्रति क्रोध प्रदर्शित कर रहा है। वास्तव में आश्रय तो घृणित क्रूर, नीच, आपके व्यक्तित्व के ठीक विपरीत भी हो सकता है—आप उसके साथ कहाँ तक तादात्म्य करते फिरेंगे ? अच्छा, आश्रय को छोड़िये। साधारणीकरण नायक का होता है "नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽभवत्तत." (भट्टतौत)। इसमें क्या आपत्ति है ? आपत्ति स्पष्ट है। संस्कृत काव्य का नायक, ऐसे गुणों से विभूषित होता था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय को सहज और स्पृहणीय था; परन्तु आज तो काव्य पर यह प्रतिबन्ध नही है। आज अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में नायक का रूप उक्त आदर्श के बिलकुल विपरीत मिलता है जिसके साथ तादात्म्य आपके लिए न सहज होगा, न स्पृहणीय। उदाहरण के लिए, एक साम्यवादी उपन्यासकार किसी हृदयहीन पूँजीपति को नायक के रूप में हमारे सामने लाकर पूँजीवाद के प्रति अपनी सम्पूर्ण घृणा को उसके व्यक्तित्व में पुञ्जीभूत

कर देता है। उपन्यास व्यक्ति-प्रधान है। क्योंकि उसका उद्देश्य पूँजीवाद की मूल चेतना व्यक्तिवाद के प्रति घृणा जगाना है : नायक असंदिग्ध रूप में वही घृणित व्यक्ति है। परन्तु क्या आप उससे तादात्म्य कर सकेंगे ? यदि ऐसा कर सकेंगे तो यह उपन्यासकार की घोर विफलता होगी। इस प्रकार मूलतः नायक का भी साधारणीकरण नहीं होता। अब रह जाता है आलम्बन का प्रश्न। क्या आलम्बन का साधारणीकरण होता है ? अर्थात् पुष्पवाटिका के प्रसंग में जिस सीता के प्रति राम की रति का अंकुर प्रस्फुटित हुआ, उसके प्रति क्या प्रत्येक सहृदय की भी रति जागृत हो जाती है। क्या राम की प्रिया विश्व-प्रिया बन जाती है ? हमारा आस्तिक आचार्य (भट्ट-नायक आदि) "शान्तं पापं, शान्तं पापं," कह उटता। और उसने स्पष्ट शब्दों मे उसका तिरस्कार भी किया है। परन्तु क्या ऐसा होता नही ? क्या पुष्प-वाटिका की भी सीता हमारी माता ही बनी रहती है। अगर माता ही बनी रहती है तो यह कहना मिथ्या है कि हम अमिश्रित शृंगार रस का अनुभव कर रहे हैं। हम उसे जब तक प्रेयसी के रूप में नही देखेंगे, शृ गार रस की दशा से दूर रहेंगे। और इसमें कोई अनौचित्य नही है, क्योकि यह सीता उस वास्तविक सीता से, जिसमे हम मातृ-बुद्धि रखते हैं, सर्वथा स्वतन्त्र है, जब तक कि कवि की प्रेरक अनुभूति में ही मातृ-भावना का मिश्रण न रहा हो। पर ऐसी दशा मे जैसा कि तुलसी के शृंगार चित्रों से स्पष्ट है हमें अमिश्रित शृंगार नही मिलता : हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं और काव्य की यह आलम्बन-रूप सीता कोई व्यक्ति नही है, जिससे हमको किसी प्रकार का संकोच करने की आवश्यकता हो, वह कवि की मानसी सृष्टि है। अर्थात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है। उसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को हमारे प्रति संवेद्य बनाया है। बस। इसलिए जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव मे कवि की अपनी अनुभूति का सवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण; जो भट्ट नायक और अभिनवगुप्त का प्रतिपाद्य है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदय मे समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है। अनुभूति सभी में होती है, सभी व्यक्ति उसे यत्किंचित् व्यक्त भी कर लेते हैं, परन्तु उसका साधारणीकरण करने की शक्ति सब में नही होती। इसीलिए तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के होते हुए भी सब कवि नही होते। कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके, दूसरे शब्दों में "जिसे लोक हृदय की पहचान हो।" यहाँ आकर ये सभी बाधाएँ आप दूर हो जाती हैं कि किसी आश्रय का व्यक्तित्व हमारे विपरीत है, या कोई नायक हमारे घृणा और क्रोध का विषय है, अथवा किसी आलम्बन के प्रति हमारा भाव-विशेष अनुचित है। आश्रय-रूप रावण यदि कहीं राम की

भर्त्सना करता है तो क्या हुआ ? हमारी रसानुभूति में कोई बाधा नहीं आती क्योंकि हमारे अन्तर में तो वही अनुभूति जागेगी जो कवि ने इस प्रतीक द्वारा व्यक्त की है। माईकेल को रावण से सहानुभूति है इसीलिए मेघनाद-वध का यह प्रसंग हमारे हृदय में रावण के लिए सहानुभूति और राम के प्रति तुच्छ भाव जागृत करेगा। तुलसी को यदि राम के प्रति भक्ति और रावण के प्रति घृणा है तो, यह प्रसंग उसी के अनुकूल हमारे लिए रावण को उपहास या तुच्छ भाव या घृणा का विषय बना कर राम के प्रति हमारी भक्ति जागृत करेगा। हमको रस दोनो ही अवस्था में आयेगा। इसी प्रकार यदि साम्यवादी लेखक के उपन्यास का पूँजीपति नायक अपनी कुत्साओं में जघन्य है, तो हुआ करे, हम उससे तादात्म्य थोड़ा ही स्थापित करते हैं। हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते हैं, अतएव हम लेखक की तरह ही उसकी जघन्यता के प्रति अपनी घृणा और क्रोध जागृत कर उपन्यास का रस लेंगे। ठीक इसी तरह यदि सीता में हमारी परम्परागत पूज्य-बुद्धि है तो हो। यह सीता नहीं है, यह तो कवि की अनुभूति की ही प्रतीक है। तुलसी को यदि उसके प्रति अमिश्रित रति की अनुभूति न होकर श्रद्धा-मिश्रित रति की अनुभूति होती है तो हमको भी वैसी ही होगी। हम राम से तादात्म्य न कर तुलसी से ही तादात्म्य कर पायँगे। ऐसी दशा में हमको रसानुभूति तो होगी पर अमिश्रित शृंगार की नही। इसके विपरीत 'कुमार सम्भव' या रीतिकालीन राधाकृष्ण प्रेम-प्रसंगों को पढ़कर यदि हमे अमिश्रित शृंगार की अनुभूति होती है तो उसका कारण यही है कि तुलसी के विपरीत कालिदास या रीति युग के कवि की तद्-विषयक अनुभूति अमिश्रित रति की ही अनुभूति थी : उसमे कोई मानसिक ग्रन्थि नही थी। यह सीधा सत्य है। जिसे एक ओर साधारणीकरण के आविष्कारक भट्ट नायक और अभिनवगुप्त भारत की अव्यक्तिगत काव्य-परम्परा के कारण, दूसरी ओर आधुनिक आलोचना मे उसके सबसे प्रबल पृष्ठपोषक शुक्ल जी अपनी वस्तु-सीमित दृष्टि के कारण स्पष्ट रूप मे व्यक्त नही कर पाए।

(रीति काव्य की भूमिका,)

२—रस की स्थिति

अभिनवगुप्त का सिद्धान्त भारतीय साहित्य-शास्त्र मे सर्वमान्य-सा ही हो गया है, और वास्तव में वह बहुत अंशों में पूर्ण भी है। रस सर्वथा विषयीगत है। सहृदय की आत्मा में ही उसकी स्थिति है, वस्तु मे नही; वस्तु तो केवल उसको उद्बुद्ध करती है। काव्य के आस्वादन में हमारे सामने मूलतः तीन सत्ताएँ आती हैं—कवि, वस्तु और सहृदय। आधुनिक आलोचना की शब्दावली में हम कह सकते हैं कि कवि वह व्यक्ति है जो अपनी अनुभूति को संवेद्य बनाता है; वस्तु तत्त्वतः उसकी अनुभूति है,

और सहृदय वह व्यक्ति है जो कवि की इस सवेद्य अनुभूति को ग्रहण करता है। वस्तु को मैंने तत्त्व रूप में कवि की अनुभूति कहा है जिस पर आपत्ति उठ सकती साहित्य-शास्त्र मे तो जैसा कि वस्तु शब्द से ही स्पष्ट है, उसकी कवि की अनुभूति से पृथक् सत्ता मानी ही गई है। आज भी प्रश्न हो सकता है कि ऐतिहासिक वृत्त या लोक-प्रचलित कहानी या घटना, जिसको कवि अपनी मूल सामग्री के रूप में प्रयुक्त करता है, कवि की अनुभूति कैसे कही जा सकती है? इसक स्पष्ट उत्तर यह है कि कवि का उद्देश्य उस कथा या वृत्त को कहना कभी नहीं होता, उसके ब्याज से अपनी अनुभूति को ही अभिव्यक्त करना होता है। उस कथा का सहत्व उद्दीपन, या फिर, माध्यम से अधिक नही होता क्योकि सवेद्य कवि की अनुभूति ही है कथा का एक अणु भी नही। दूसरे की कही बात को केवल दुहराने के लिए ही कोई क्यों दुहरायेगा? साधारणतः यदि किसी दूसरे की बात को हम अक्षरशः दुहराते हैं, तो उसके द्वारा वास्तव में हम अपनी ही बात कहते हैं। हमारा उद्देश्य अपना आशय प्रकट करना होता है, दूसरे की बात को दुहराना नहीं। इस प्रकार तत्त्व-रूप मे वस्तु की सत्ता कवि के व्यक्तित्व से स्वतन्त्र नही है। अतएव वस्तु या विषय में रस खोजना अर्थवाद से अधिक नही है। वस्तु के अन्तर्गत भट्टलोल्लट के नायक-नायिका भी आ जाते हैं। ये नायक-नायिकायें भी, चाहे वे ऐतिहासिक हों या पौराणिक किंवा कल्पित, काव्य में कवि से पृथक् अपनी सत्ता नही रखते। उनका ऐतिहासिक अस्तित्व एक ब्याज मात्र है, और उनका व्यक्तित्व सर्वथा निर्विशेष है। देश और काल की सीमा मे बँधे हुए शकुन्तला और दुष्यन्त व्यक्तियों की हमारे लिए [नाटक-काव्य के श्रोता-प्रेक्षक के लिए] उस समय कम-से-कम कोई सत्ता नही है। इसका प्रमाण यह है कि दुष्यन्त और शकुन्तला के नाम बदल कर चन्द्रमोहन और जयश्री कर दिये जायें, या हमें इतिहास [महाभारत] का ज्ञान ही न हो, अथवा कोई पुरातत्त्व-वेत्ता असंदिग्ध रूप में यह प्रमाणित कर दे कि महाभारत का शकुन्तलोपाख्यान प्रक्षिप्त है, तो भी 'शाकुन्तलम्' पढ़कर हमें काव्य-रस की अनुभूति अवश्य होगी। मान लीजिए कि वाल्मीकि के राम वास्तव में ऐतिहासिक हैं (यद्यपि ऐसा हो नही सकता)! अब देखिये कि जब वाल्मीकि के ऐतिहासिक राम, तुलसी के इतिहास-भिन्न ईश्वरावतार राम, मैथिलीशरण के आधुनिक लोकनायक राम और माइकेल मधुसूदनदत्त के इतिहास-विपरीत राम सभी हमें रस-दशा तक पहुँचा सकते हैं, तो रस की दृष्टि से ऐतिहासिक राम का क्या रामत्व रहा? इस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त की यह उक्ति—

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है॥ [साकेत]

मूल में जाकर उनकी भक्ति-भावना की ही व्यंजक है, राम के रामत्व की

नहीं। राम का जो एक स्वतन्त्र रूप हमें प्रतीत होता है वह वास्तव में हमारे अन्तर्मन में पड़ा हुआ वाल्मीकि, तुलसी आदि के काव्यों से प्राप्त संस्कारों का संघात मात्र ही है, वह स्वतन्त्र अस्तित्ववान नही है। यहाँ इसका निषेध नहीं है कि ऐतिहासिक राम थे—वह अवश्य थे। पर एक तो उनके वास्तविक रामत्व की अनुभूति हमें रामायण, रामचरित-मानस, साकेत आदि पढ़कर कदापि नही हो सकती (इसलिए काव्य के रसानुभव में वह हमारे लिए निरर्थक है); दूसरे उन्होने रस का नहीं, प्रकृत भाव का ही अनुभव किया होगा। राम ने सीता के शील-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर प्रेमानन्द का अनुभव अवश्य किया होगा, पर वह रति-भाव का अनुभव था, 'शृंगाररस' का नही। यह संयोग मात्र है कि वह अनुभव भी मधुर था और 'रस' भी मधुर होता है। परन्तु यह समानता सभी दशाओं में सम्भव नही है। उदाहरण के लिए, जब राम रावण के प्रति क्रुद्ध हुए होगे अथवा सीता-वियोग में, विषण्ण वा लक्ष्मण के शक्ति लगने पर क्रोध-मूर्छित तब उनका अनुभव मधुर न होकर कटु ही हुआ होगा। फिर उनका अपना अनुभव रस कैसे हो सकता है? परन्तु उनके इसी अनुभव को काव्य मे पढ़कर हम 'रस' लेते हैं। अतएव नायक में रस की स्थिति साधारणतः विश्वसनीय-सी लगती हुई भी अन्त में मिथ्या ही ठहरती है।

अब दो सत्ताएँ रह जाती हैं—कवि और सहृदय की। कवि अपनी अनुभूति को सहृदय के प्रति इस प्रकार प्रेषणीय बनाता है कि उसको ग्रहण कर सहृदय को आनन्द की उपलब्धि होती है। जैसा मैंने पहले कहा है सहृदय की रसानुभूति में तो किसी को संदेह हो ही नही सकता। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस रस की स्थिति दोनों में से किस में है? इसका उत्तर ठीक वही है जो अभिनव गुप्त ने दिया है—अर्थात् 'सहृदय में'। क्योंकि जब हम प्रसन्न होते हैं तो अपने हृदय-रस का, अपने आनन्द का ही अनुभव करते हैं। आनन्द की स्थिति तो हमारे अपने अन्तर में ही है। इसको स्वदेश के अध्यात्मदर्शी और विदेश के मनोवैज्ञानिक दोनों ही समान रूप से मानते हैं। भारतीय दर्शन सुख को अपनी ही आत्मा का विस्तार मानता है; (सु= सुलभ+ख=आकाश, व्याप्ति)। उसमें आनन्द को अपनी ही अस्मिता वृत्ति का आस्वादन कहा गया है—आत्म का किसी अनात्म के बहाने से आस्वादन ही रस है। "मै हूँ" यही रस का सार-तत्त्व है। (डा० भगवानदास, 'रस-मीमांसा'—द्वि० अ०ग्रं०) विदेश का मनोवैज्ञानिक भी आनन्द को 'अन्तर्वृत्तियों का सामंजस्य' ही मानता है।

यह निश्चित हो जाने पर कि रस की स्थिति सहृदय के अन्तर में ही है, एक दूसरी समस्या सामने आती है:—फिर कवि किस प्रकार अपनी अनुभूति को ऐसी सवेद्य बना पाता है कि उसको ग्रहण कर सहृदय की रस-चेतना जागृत हो जाती है? इसका उत्तर होगा—'अपने हृदय-रस में डबाकर'। कवि जब अपनी अनुभूति को व्यक्त

कर पाता है तो उसे भी आत्माभिव्यक्ति का, अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है। अनुभूति को अभिव्यक्त करने में कवि को अपनी अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है, और उस संवेदित अनुभूति को ग्रहण करने में सहृदय को अपनी अस्मिता का आस्वादन होता है। इस प्रकार कवि अपनी अनुभूति के साथ अपना रस भी सहृदय के पास भेजता है अतएव रस की स्थिति कवि के हृदय में मानना उतना ही अनिवार्य है जितना सहृदय के में क्यों कि यदि कवि के कथन में रस नहीं है तो सहृदय के हृदय मे स्थित रस सुप्त पड़ा रहेगा, और इसी तरह यदि सहृदय के हृदय में रस नही है तो कवि का संवेद्य निष्फल जायगा। पहले तथ्य के प्रमाणों में अनेक नीरस छंद उद्धृत किये जा सकते हैं, और दूसरे के प्रमाण में अनेक अरसिक व्यक्ति। कविता के प्रथम स्फुरण से सम्बद्ध जनश्रुति जिसके अनुसार आदि-कवि का शोक श्लोकत्व को प्राप्त हो गया था; या भट्टतौत का यह सिद्धान्त१ कि 'नायक कवि और श्रोता का अनुभव समान होता है' या फिर अभिनवगुप्त की यह उक्ति२ कि 'कवि के अन्तर्गत भाव को जो वाचिक, आंगिक मुखरागादि, तथा सात्विक अभिनय द्वारा आस्वाद योग्य बनाता है वह भाव कहलाता है'—ये सब इस बात के असंदिग्ध प्रमाण हैं कि संस्कृत का आचार्य कवि के हृदय-रस से परिचित तो अवश्य था परन्तु विधान रूप में कवि की अनुभूति को संस्कृत साहित्य-शास्त्र में पृथक् ही रखा गया है। भट्टतौत का सिद्धान्त उपेक्षित-सा ही रहा है।

यह तो हुई श्रव्य काव्य की बात। लेकिन दृश्य काव्य में नट-नटी की सत्ता और माननी पड़ेगी। इनका रसास्वादन से क्या सम्बन्ध है? रस की स्थिति उनके हृदय में भी माननी पड़ेगी। नट-नटी भी अनिवार्यतः सहृदय ही होने चाहिये, अन्यथा वे सवेद्य का उचित माध्यम नही बन सकते। जब वे सवेद्य अनुभूति को पहले स्वयं ग्रहण कर सकेंगे, अर्थात् जब वे सवेद्य को ग्रहण कर स्वयं रस-मग्न हो सकेंगे, तभी वे सहृदय तक संवेद्य को पहुँचाने में सफल हो सकेंगे। इसलिये उनकी सहृदयता के विरुद्ध किये गये संस्कृत आचार्यों के सभी आक्षेप अनुचित है।

अन्त में निष्कर्ष यह निकलता है : इसमे सन्देह नही कि काव्य पढ़ कर या नाटक देखकर सहृदय को जो रसास्वादन होता है उसकी मूल स्थिति उसी के हृदय में है, अर्थात् मूलतः वह उसी की अपनी अस्मिता का आस्वादन है। यह तभी सम्भव है जब कवि अपनी अनुभूति को उस तक पहुँचाने मे स्वयं रस ले सका हो। अर्थात् अपनी अस्मिता का रस ले सका हो। नाटक में नट-नटी के विषय में भी यही

१—नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः

२—वागंगमुखरागेन सत्वेनाभिनयेन च कवेरन्तरगतं भावं भावयन् भाव इत्युच्यते

(देखिये डाक्टर दासगुप्त का 'काव्य-विचार')

सत्य मानना पड़ेगा। इसको स्पष्ट करने के लिए एक और अधिक प्रत्यक्ष उदाहरण लीजिये। डाडी-यात्रा पर जाते हुए गाँधी का प्रसंग है। यह अतर्क्य है कि गाँधी जी ने उस समय एक सात्त्विक उत्साह का अनुभव किया होगा। मैंने उनके उस भव्य रूप को देखा; सहानुभूति के द्वारा मुझ मे भी वह भाव जागृत हो गया। कवि सियारामशरण ने पहले एक दर्शक के रूप मे उस भाव को ग्रहण किया; फिर बाद में कभी उससे प्रेरित होकर 'बापू' में महामानव गाँधी का यह सात्त्विक उत्साह शब्द-बद्ध कर दिया। मैंने उसे पढ़ा और एक सात्त्विक आनन्द का अनुभव किया। इस प्रकार हमारे सामने पाँच अनुभव हैं : एक अनुभव स्वयं गाँधी जी का; दो अनुभव सियारामशरण के—एक व्यक्ति का जो गाँधीजी के प्रत्यक्ष दर्शन से प्राप्त हुआ था, दूसरा कवि का जो उसे काव्य-रूप देने में प्राप्त हुआ; दो अनुभव मेरे—एक गाँधीजी के प्रत्यक्ष दर्शन से प्राप्त और दूसरा 'बापू' के अध्ययन से प्राप्त। अब यह देखना है कि इसमे रस-संज्ञा किसको दी जा सकती है ? गाँधीजी के अनुभव को ? नही। वह तो भाव (Emotion) मात्र है जो इस प्रसग में मधुर है अन्यथा कटु भी हो सकता है। उदाहरण के लिए सीतारमैया की हार पर गाँधीजी की खीझ स्पष्टतः ही एक कटु अनुभूति थी। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष अनुभव रस नही हो सकता। इस प्रकार मेरे और सियारामशरण के प्रत्यक्ष अनुभव भी रस की कोटि से बाहर पड़ जाते हैं। केवल दो अनुभव रह जाते हैं—कवि का अनुभव और उसके काव्य का अध्ययन करने वाले सहृदय का अनुभव। कवि का अनुभव (गाँधी के भव्य उत्साह से प्राप्त) उस अनुभूति को, जो बाद मे प्रत्यक्ष न रह कर संस्कार मात्र रह गई थी, काव्य-रूप देने का अर्थात् बिंब-रूप मे उपस्थित करने का अनुभव है। काव्य-रूप देने मे वह उस संस्कार-शेष अनुभूति का भावन करता है। भावन की इस प्रक्रिया में एक क्षण ऐसा आता है जब उसके अपने हृदय का भी सात्त्विक उत्साह उद्‌बुद्ध हो जाता है। बस तभी कवि के मानस मे काव्य-रूप पूर्ण हो जाता है और साथ ही वह रस का अनुभव भी प्राप्त कर लेता है। बाहर से प्राप्त किसी अनुभूति के संस्कार का भावन करते हुए अपनी हृदय-स्थित वासना को जगा लेना ही तो रस-दशा को प्राप्त कर लेना है। यही सहृदय करता है और यही कवि। और यदि काव्य का अभिनय किया जाता है तो सहृदय से पहले इसी प्रकार का भावन तथा वासना का उद्‌बोधन नट के लिए भी अनिवार्य हो जाता है।

अतएव आरम्भ में—रचना के समय कवि, और फिर अभिनय के समय नट (यद्यपि उसकी सत्ता अत्यन्त गौण है) अपने हृदय-स्थित रस का आस्वादन तो करते ही हैं—साथ ही उनका यह रसास्वादन सहृदय के हृदय में वासना-रूप से स्थित स्थायी भावों को जागृत कर रस-दशा तक पहुँचाने में अनिवार्य योग भी देता है। इस प्रकार

कविता के विषय में यह लोक-परिचित उक्ति कि वह हृदय से हृदय में पहुँचती है, मनोवैज्ञानिक रूप में भी पूर्णतः सत्य है।

(रीति-काव्य की भूमिका, पृष्ठ ५४-५६)

३—साहित्य में आत्माभिव्यक्ति

आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्त्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है। विचार करने के बाद संसार मे केवल दो तत्त्वों का ही अस्तित्व अंत मे मानना पड़ जाता है—आत्म और अनात्म। इस मान्यता का विरोध दो दिशाओं से हो सकता है—एक अद्वैतवाद की ओर से और दूसरा भौतिकवाद (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) की ओर से। अद्वैतवाद प्रकृति अथवा अनात्म को भ्रम कहता है। और भौतिकवाद आत्म को प्रकृति की ही उद्भूति मानता हुआ उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नही करता। परन्तु वास्तव मे ये दोनो ही दर्शन की चरम स्थितियाँ है—और व्यावहारिक तल पर दोनो ही उपर्युक्त द्वैत को स्वीकार कर लेते हैं। अद्वैतवाद साधना और व्यवहार के लिए जीवन और जगत की महत्ता को अनिवार्यतः स्वीकार कर लेता है। और उधर भौतिकवाद भी, आत्मा को चाहे वह कितना ही भौतिक और अपृथक् क्यों न माने, व्यावहारिक जीवन मे व्यक्ति और वातावरण के पार्थक्य को तो मानता ही है। साहित्य का सम्बन्ध दार्शनिक अतिवादो से न होकर जीवन से है, अतएव उसके लिए यह द्वैत-स्वीकृति अनिवार्य है चाहे आप इसे 'जीव और प्रकृति' कह लीजिए या 'व्यक्ति और वातावरण'। परन्तु ये केवल भिन्न-भिन्न नाम हैं—मै और मेरे अतिरिक्त और जो कुछ है उसको व्यक्त करना ही इनकी सार्थकता है। 'आत्म और अनात्म' चूँकि इनमे सबसे कम पारिभाषिक हैं इसलिए हमने इन्हें ही ग्रहण किया है। दर्शन मे थोड़े-बहुत पारिभाषिक अतर से इन्हें ही जीव और जगत—आध्यात्मिक मनोविज्ञान में अहं और इत्थं, विज्ञान मे व्यक्ति और वातावरण कहा गया है। एक तीसरा तत्त्व ईश्वर भी है और मेरा संस्कारी मन उसके अस्तित्व का निषेध करने को प्रस्तुत नही है, परन्तु उसको मै आत्म से पृथक् वस्तु-रूप मे नही ग्रहण कर पाता। आत्म सतत प्रयत्नशील है—वह अनात्म के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करने का सतत प्रयत्न करता रहता है—इसी को हम जीवन कहते हैं। अनात्म अनेक रूप वाला है—उसी के विभिन्न रूपों के अनुसार यह प्रयत्न भी अनेक रूप धारण करता रहता है—दूसरे शब्दों में आत्माभिव्यक्ति के भी अनेक रूप होते है। इनमें आत्म की जो अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ के द्वारा होती है उसका नाम साहित्य है। जब हम अपनी इच्छा को कर्म में प्रतिफलित कर पाते हैं तो हमें कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्ति का

आनन्द मिलता है। मैं जो चाहता हूँ वह कर रहा हूँ—यह कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्ति है—इसमें विशेष भौतिक व्यवहारों के द्वारा मैं आत्म का प्रतिसंवेदन या आस्वादन कर रहा हूँ। इसी प्रकार जब हम अपने अनुभव को शब्द और अर्थ द्वारा अभिव्यक्त कर पाते हैं तो हमे एक दूसरे माध्यम के द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनन्द मिलता है। यह माध्यम पहले की अपेक्षा स्पष्टतः ही अधिक सूक्ष्म और सीधा भी है—सीधा इसलिए है कि हमारा अनुभव बिना शब्द-अर्थ की पकड़ में आये कोई रूप ही नही रखता—जब तक वह शब्द और अर्थ की पकड़ में नही आता, उसका अस्तित्व सवेदन (Sensations) से पृथक् कुछ भी नही है—उसका वैशिष्ट्य तभी व्यक्त होता है जब वह शब्द और अर्थ मे बँध जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अनुभव को शब्द-अर्थ-रूपी माध्यम की अनिवार्य अपेक्षा रहती है—इच्छा और कर्म का सम्बन्ध अनिवार्य नहीं है, परन्तु अनुभव और शब्द-अर्थ का सम्बन्ध सर्वथा अनिवार्य है।

दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि इस आत्माभिव्यक्ति का मूल क्या है—लेखक के अपने लिए उसकी क्या सार्थकता है और दूसरों के लिए उसका क्या उपयोग है ? तो, जहाँ तक लेखक का सम्बन्ध है, आत्माभिव्यक्ति की सार्थकता उसके आत्म-परितोष में है—काव्य-शास्त्रों ने जिसे सृजन-सुख कहा है। अपने को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करना—चाहे वह कर्म द्वारा हो अथवा वाणी द्वारा, या किसी भी अन्य उपकरण के द्वारा हो, व्यक्तित्व की सबसे बड़ी सफलता है। वाणी मे कर्म की अपेक्षा स्थूलता और व्यावहारिकता कम तथा सूक्ष्मता और आन्तरिकता अधिक होती है, अतएव वाणी के द्वारा जो आत्माभिव्यक्ति होगी उसके आनन्द में सूक्ष्मता और आंतरिकता स्वभावतः ही अधिक होगी—दूसरे शब्दों में यह आनन्द अधिक परिष्कृत होगा। अतः निष्कर्ष यह निकला कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को एक सूक्ष्मतर परिष्कृत आनन्द प्रदान करती है। मुझ-जैसे व्यक्ति को तो, जो आनन्द को जीवन की चरम उपयोगिता मानता है, इसके आगे और कुछ पूछना नही रह जाता। परन्तु उपयोगितावादी यहाँ भी प्रश्न कर सकता है कि आखिर इस परिष्कृत आनन्द की ही ऐसी क्या उपयोगिता हैं ? इसका उत्तर यह है कि इसके द्वारा लेखक के अहं का संस्कार होता है—उसकी वृत्तियों में कोमलता, शक्ति, सामंजस्य, सूक्ष्म-ग्राहकता, अनुभूति-क्षमता आदि गुणो का समावेश होता है और उसका व्यक्तित्व समृद्ध होता है। शब्द और अर्थ अत्यत आंतरिक उपकरण हैं, उनके द्वारा जो सफल आत्माभिव्यक्ति होगी, उसमें निश्छलता अनिवार्यतः वर्तमान रहेगी (क्योकि बिना उसके आत्माभिव्यक्ति सफल हो ही नही सकती)—और उपयोगिता की दृष्टि से निश्छलता मानव-मन की प्रमुख विभूतियों में से है। अन्य गुण तो बहुत कुछ व्यक्ति-सापेक्ष हो सकते हैं—अर्थात् कवि के अपने व्यक्तित्व के अनुसार न्यूनाधिक हो सकते हैं, परन्तु निश्छलता प्रत्येक दशा मे साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य होगी—अतएव उपयोगिता की दृष्टि से भी बड़ी सरलता से यह कहा

जा सकता है कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को (चाहे उसमें कैसे ही दुर्गुण क्यों न हो) अपने प्रति ईमानदार होने का सुख देती है, और इस प्रकार अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्व का संस्कार करती है।

अब प्रश्न का दूसरा अंश लीजिए : लेखक की इस आत्माभिव्यक्ति का दूसरों अर्थात् समाज के लिए क्या उपयोग है ? पहला उपयोग तो यही है कि सहानुभूति (Sympathy) के द्वारा सामाजिकों को उससे परिष्कृत आनन्द की प्राप्ति होती है। यह परिष्कृत आनन्द उसकी संवेदनाओं को समृद्ध करता हुआ उनके व्यक्तित्वों को समृद्ध बनाता है—जीवन मे रस उत्पन्न करता है, पराजय और क्लांति की अवस्था में शांति और माधुर्य का संचार करता है। इस प्रकार की निश्छल आत्माभिव्यक्तियों ने सामाजिक चेतना का कितना सस्कार किया है. इसका अनुमान लगाना आज कठिन है। हिदी की रीति-कविता को ही लीजिए—आज उसे प्रतिक्रियावादी कविता कह कर लांछित किया जाता है, और एक दृष्टि से आरोप सर्वथा उचित भी है, परन्तु उसके मधुर छंदों ने पराभव-मूढ़ समाज की कोमल वृत्तियों को सरस रखते हुए उसकी जड़ता को दूर करने मे अत्यन्त महत्वपूर्ण योग दिया था, इसका निषेध क्या आज कोई समाज-शास्त्री कर सकता है ? बड़े-बड़े लोक-नायको ने अपने संघर्ष-क्लात मनो को इसी की सजीवनी से सरस किया है। लेनिन-जैसे समष्टिवादी नेता पर पुश्किन की वैयक्तिक अभिव्यक्तियों का कितना गहरा प्रभाव था, इसको वह स्वयं लिख गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक की निश्छल आत्माभिव्यक्ति के द्वारा जो परिष्कृत आनन्द प्राप्त होता है वह स्वय एक बड़ा वरदान है—नैतिक एवं सामाजिक मूल्य से स्वतन्त्र भी उसका एक स्वतंत्र महत्व है, जिसको तुच्छ समझना स्थूल बुद्धि का परिचय देना है।

परन्तु मै नैतिक एवं सामाजिक मूल्य का निषेध नही करता। जीवन मे नीति और समाज की सत्ता अतर्क्य है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, सामूहिक हित उसके अपने व्यक्तिगत हितो से निश्चय ही अधिक महत्वपूर्ण हैं, समाज की संघ-शक्ति व्यक्ति की अपनी शक्ति की अपेक्षा निश्चय ही अधिक प्रबल है। समाज के संगठन और हितो की रक्षा करने वाले नियमो का संकलन ही नीति है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अपेक्षा करनी होगी। लेखक मनुष्य-रूप मे समाज का अविभाज्य अंग है—साधारण व्यक्ति की अपेक्षा उसमें प्रतिभा अधिक है अतएव उसी अनुपात से उसका दायित्व भी अधिक है। जिस समाज ने उसे जीवन के उपकरण दिये, बौद्धिक और भावगत परपराएं दी उसका ऋण-शोध करना उसका धर्म है। इससे स्वार्थ-साधना की संकुचित भूमि से उठकर उसके अहं का उन्नयन और विस्तार होता है और इस प्रकार उसको अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की ही सिद्धि होती है। परन्तु ये सब तर्क नैतिक

हैं, साहित्यिक नही । उपर्युक्त कर्त्तव्य-निर्णय सामाजिक है, लेखक का नहीं । और स्पष्ट शब्दों में, सामाजिक के रूप में लेखक निस्सन्देह उपर्युक्त दायित्व से बँधा हुआ है—और उसके निर्वाह में यदि त्रुटि करता है तो वह नैतिक दृष्टि से अपराधी है, परन्तु लेखक के रूप में उसके ऊपर इस प्रकार का बन्धन नही है, लेखक-रूप मे उसका दायित्व केवल एक है—निश्छल आत्माभिव्यक्ति । समाज का तिरस्कार करने से उसके आत्म की क्षति होगी और उसी अनुपात से उसके साहित्य के वस्तु-तत्त्व की भी हानि होगी, परन्तु जब तक वह निश्छल आत्माभिव्यक्ति करता रहेगा, उसकी कृति मूल्यहीन नहीं हो सकती क्योंकि निश्छलता का सात्विक आनन्द वह तब भी अपने को और अपने समाज को दे सकेगा ।

(विचार और विवेचन, पृष्ठ ५२-५८)

परिशिष्ट

परिचय

भरत

भरत मुनि की ख्याति नाट्य-शास्त्र के प्रणेता के रूप में है, पर उन के जीवन और व्यक्तित्व के विषय में इतिहास अभी तक मौन है। इस सम्बन्ध में विद्वानों का एक मत यह भी है कि भरत वस्तुतः एक काल्पनिक मुनि का नाम है। संस्कृत के प्राचीन महाकाव्यों के अनुसार नाटक के नट को भरत कहा जाता था। नाट्य-विधान के जो तत्त्व समय-समय पर निर्मित होते गए, उन का संग्रह भरत (नाटकीय-नट) के नाम पर कर दिया गया। संग्रहकारों मे विशेष उल्लेखनीय नाम कोहल का है; और उस के पश्चात् शाण्डिल्य दत्तिल, और मतंग का। सम्भव है भरत नामक किसी मुनि का भी इस सग्रह में प्रमुख हाथ रहा हो। संग्रह-काल दूसरी शती ई० पू० से तीसरी शती ई० पू० के बीच माना गया है।

नाट्य-शास्त्र के दो संस्करण उपलब्ध हैं—काव्यमाला बम्बई (निर्णयसागर) का संस्करण और काशी संस्कृत सीरीज, काशी (चौखम्बा) का संस्करण। इनमें क्रमशः ३६ और ३७ अध्याय हैं। बड़ौदा से भी गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज में 'अभिनव भारती' नामक भाष्य सहित नाट्य-शास्त्र का प्रकाशन दो खण्डों (नं० ३६ और ६८) में हुआ है; पर वह अभी तक अपूर्ण है। रायल-एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बंगाल द्वारा नाट्य-शास्त्र के प्रथम २७ अध्यायों का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

नाट्य-शास्त्र नाट्य-विधानों का एक अमर विश्व-कोश है—नाट्य की उत्पत्ति, नाट्यशाला, विभिन्न प्रकार के अभिनय, नाटकीय सन्धियाँ, वृत्तियाँ, संगीत-शास्त्रीय सिद्धान्त आदि इस के प्रमुख विषय हैं। इनके अतिरिक्त छठे, और १७वें अध्यायों में काव्य-शास्त्रीय अंगों—रस, गुण, दोष, अलकार तथा छन्द का भी निरूपण हुआ है। नायक-नायिका भेद का भी इस ग्रन्थ में निरूपण है। स्वाधीनपतिका आदि अष्ट नायिकाओं का उल्लेख सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में उपलब्ध है। ग्रन्थकार रसवाद का पूर्ण समर्थक है। रस-स्वरूप-निर्देशक प्रसिद्ध सूत्र, तथा रसोत्पत्ति-विषयक अन्य प्रचुर सामग्री भी इसी ग्रन्थ में उपलब्ध है। विषय के स्पष्टीकरण के लिए इस प्रसंग में गद्य

का भी आश्रय लिया गया है। नाट्य-शास्त्र के प्राचीन टीकाकारों में से कुछ के नाम ये हैं—उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त।

भामह

भामह काश्मीर-निवासी कहे जाते हैं जिनका जीवन-काल षष्ठ शतक का मध्यकाल माना गया है। इन का प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यालंकार है, जिसमें ६ परिच्छेद हैं और कुल ४०० श्लोक। ग्रन्थ में इन विषयो का निरूपण किया गया है—काव्य-शरीर, अलंकार, दोष, न्याय-निर्णय और शब्दशुद्धि।

भामह अलंकार-वाद के समर्थक थे। इन्होंने वक्रोक्ति को सब अलंकारों का मूल माना है। काव्य का लक्षण सर्वप्रथम इन्होंने प्रस्तुत किया है। दस के स्थान पर तीन काव्य-गुणों की स्वीकृति भी इन्होंने सर्वप्रथम की है, तथा वैदर्भ और गौड नामक काव्य-रीतियों के 'प्रदेशाभिधान' का इन्होंने ही सर्वप्रथम खण्डन किया है। भामह के ग्रन्थ की महत्ता का प्रमाण इस से भी मिलता है कि उद्भट जैसे आचार्य ने भामह-विवरण नाम से इन के ग्रन्थ पर भाष्य लिखा था। यदि यह भाष्य उपलब्ध होता तो उस से भामह-सम्मत सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में अवश्य सहायता मिलती।

दण्डी

दण्डी का समय सप्तम शती का उत्तरार्द्ध माना गया है। इन के तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—काव्यादर्श, दशकुमार चरित और अवन्तिसुन्दरी-कथा। प्रथम ग्रन्थ साहित्यशास्त्र-विषयक है, और शेष दो गद्य--काव्य हैं। काव्यादर्श में तीन परिच्छेद हैं और श्लोको की कुल संख्या ६६० है। प्रथम परिच्छेद में काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, रीति और गुण का निरूपण है और द्वितीय में अलंकारों का। तृतीय परिच्छेद में यमक, चित्र-बन्ध और प्रहेलिका के अतिरिक्त दोषों का निरूपण हुआ है।

दण्डी अलंकारवाद के समर्थक थे। काव्य के विभिन्न अंगों को अलंकार में ही अन्तर्निहित करना इन का मान्य सिद्धान्त था। यहाँ तक कि रस, भाव आदि को भी इन्होंने रसवदादि अलंकार माना है। गौड मार्ग की अपेक्षा वैदर्भ मार्ग इन्हें अधिक प्रिय था, फिर भी गौड मार्ग को इन्होंने सर्वथा हेय और त्याज्य नहीं कहा; हाँ, अपेक्षाकृत हीन अवश्य माना है। अलंकारों के लक्षणों में इन पर भामह का प्रभाव है; दस गुणों और दस दोषों के स्वरूप-निर्धारण में इन्होंने भरत से सहायता ली प्रतीत होती है।

काव्यादर्श अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। संस्कृत में इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ रची गईं। तरुण वाचस्पति की टीका के अतिरिक्त हृदयंगमा, प्रभा आदि टीकाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। एस० के बेलवल्कर महोदय ने इस ग्रन्थ का अंग्रेजी में भी अनुवाद प्रस्तुत किया है। हिन्दी में दो साधारण अनुवाद उपलब्ध हैं—(१) श्री ब्रजरत्नदास का; (२) श्री रणवीरसिंह का।

उद्भट

उद्भट काश्मीरी राजा जयापीड़ के सभा-पण्डित थे। इनका समय नवम शती का पूर्वार्द्ध है। इन के तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—काव्यालंकारसार-संग्रह, भामह-विवरण और कुमारसम्भव। इन में से केवल प्रथम ग्रन्थ प्राप्य है, जिस के ६ वर्गों में ४१ अलंकारों के लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। प्रायः अलंकारो के स्वरूप-निर्देश में भामह का आश्रय लिया गया है। कुछ अलंकार नए भी हैं, तथा भामह-सम्मत कुछ अलंकारों को इस ग्रन्थ मे स्थान नही भी मिला। इन्होंने कुछ अलंकारों के उदाहरण स्वरचित कुमारसम्भव काव्य से भी लिए हैं। उद्भट अलकार-वादी आचार्य थे। दण्डी के समान ये भी रस, भाव आदि को रसवदादि अलंकारों के अन्तर्गत मानते थे। इन अलंकारों को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप देने का श्रेय इनको है। अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत उपनागरिका आदि वृत्तियों के निरूपण करने की जो शैली मम्मट ने चलाई थी, उस का मूलाधार भी काव्यालंकारसार-संग्रह है। इस ग्रन्थ पर दो टीकाएँ उपलब्ध हैं—राजानक तिलक की उद्भट-विवेक और प्रतिहारेन्दु राज की लघुवृत्ति।

भामह-विवरण अप्राप्य है, पर आनन्दवर्द्धन, प्रतिहारेन्दुराज, अभिनव गुप्त, रुय्यक, मम्मट, जगन्नाथ जैसे प्रकाण्ड आचार्यों आदि ने उद्भट-सम्मत जिन सिद्धान्तों का बार बार बड़े समादर के साथ उल्लेख किया है, उन का मूल स्रोत यही ग्रन्थ प्रतीत होता है।

वामन

उद्भट के समान वामन भी काश्मीरी राजा जयापीड़ के सभा-पण्डित थे। इन का समय ८०० ई० के आसपास है। इन का प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यालंकारसूत्र-वत्ति है। यह ग्रन्थ सूत्र-बद्ध है और सूत्रों की वृत्ति भी स्वयं वामन ने लिखी है। इस ग्रन्थ में ५ अधिकरण हैं। प्रत्येक अधिकरण में कुछ अध्याय हैं, और हर अध्याय में कुछ सूत्र। ग्रन्थ के पाँचों अधिकरणो मे अध्यायों की सख्या १२ है, और सूत्रों की

संख्या ३१९। प्रथम अधिकरण में काव्य-प्रयोजनादि के उल्लेख के उपरान्त रीति के तीन भेदों तथा काव्य के विभिन्न प्रकारों का निरूपण है। अगले तीन अधिकरणों में क्रमश: दोष, गुण और अलंकारों का विवेचन है तथा अन्तिम अधिकरण में शब्द-शुद्धि-समीक्षा है।

वामन रीतिवादी आचार्य थे। इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना है। गुण रीति के आश्रित हैं। इनके मतानुसार गुण काव्य के नित्य अंग हैं, और अलंकार अनित्य अंग। रस को इन्होंने कान्ति नामक गुण से अभिहित किया है। वामन पहले आचार्य हैं, जिन्होंने वक्रोक्ति को लक्षणा का पर्याय मानते हुए इसे अर्थालंकारों मे स्थान दिया है।

काव्यालंकारसूत्र-वृत्ति के संस्कृत, अंग्रेजी और हिन्दी—तीनों भाषाओं में अनुवाद अथवा भाष्य प्रकाशित हो चुके हैं।

रुद्रट

रुद्रट नाम से ये काश्मीरी आचार्य मालूम पड़ते हैं। इनका जीवन-काल नवम शती का आरम्भ माना गया है। ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार है जिस में १६ अध्याय हैं और कुल ७३४ पद्य। १६ अध्यायों में से ८ अध्यायों में अलंकारों को स्थान मिला है, शेष अध्यायों में काव्य-स्वरूप, काव्यभेद, रीति, दोष, रस और नायक-नायिका भेद का निरूपण है। यद्यपि रुद्रट का झुकाव अलंकारवाद की ओर है, फिर भी भरत के उपरान्त रस का व्यवस्थित और स्वतंत्र निरूपण इनके ग्रन्थ मे उपलब्ध है। नायक-नायिका भेद का व्यवस्थित निरूपण भी इन्होंने सर्वप्रथम किया है। नायिका के प्रसिद्ध तीन भेद स्वकीया, परकीया और सामान्या का उल्लेख सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में मिलता है। प्रेयान् रस की सर्वप्रथम चर्चा भी रुद्रट ने की है, तथा अलंकारों का वर्गीकरण भी सबसे पहले इन्होंने प्रस्तुत किया है। इस प्रकार रुद्रट काव्य-शास्त्रीय आचार्यों में अपना विशेष स्थान रखते हैं।

आनन्दवर्द्धन

ये काश्मीर के राजा अवन्ति वर्मा के सभा-पण्डित थे। इन का जीवन-काल नवम शती का मध्य भाग है। इनकी ख्याति 'ध्वन्यालोक' नामक अमर ग्रन्थ के कारण है। ग्रन्थ के दो प्रमुख भाग हैं—कारिका और वृत्ति। यद्यपि इस विषय में विद्वानों का मतभेद है कि इन दोनों भागों का कर्त्ता एक व्यक्ति है अथवा दो; पर अधिकतर विद्वान आनन्दवर्द्धन को ही दोनों भागों का कर्त्ता मानते हैं। इस ग्रन्थ में चार उद्योत

हैं, और ११७ कारिकाएँ। प्रथम उद्योत में तीन प्रकार के ध्वनि-विरोधियों—अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयवादी—का खण्डन तथा ध्वनि के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय और तृतीय उद्योत में ध्वनि-भेदों का विस्तृत निरूपण है, प्रसंगवश गुण, अलंकार, संघटना और रस-विरोधी तत्त्वों (दोषों) का भी इसी उद्योत में यथेष्ट निरूपण है। अभिधा और लक्षणा के होते हुए भी ध्वनि की स्थिति क्यों आवश्यक है, इस विषय पर भी तृतीय उद्योत में प्रकाश डाला गया है, तथा गुणीभूत व्यंग्य और चित्र का स्वरूप भी निर्दिष्ट किया गया है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि के प्रयोजन का पर्याप्त विवेचन है।

काव्य-शास्त्रीय आचार्यों में आनन्दवर्द्धन एक युगान्तरकारी आचार्य हैं। इन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना। यद्यपि इन्होंने रस को ध्वनि का ही एक भेद माना है, पर रस-ध्वनि के प्रति अन्य ध्वनि-भेदों की अपेक्षा इन्होंने अधिक समादर प्रकट किया है। इस रसध्वनि-सिद्धान्त ने काव्य-शास्त्रीय विधान को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया। अब अलंकार बाह्य आभूषण मात्र रह गए। गुण रीति के विशिष्ट धर्म न हो कर रस के ही नित्य धर्म बन गए। रीति संघटना-मात्र तथा रसोपकर्त्री बन गई। दोषों का अनौचित्य तथा उनकी नित्यानित्य व्यवस्था रस पर ही आधृत हो गई। निष्कर्ष यह कि भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के सिद्धान्त इन के ध्वनि-सिद्धान्त के आगे मन्द पड़ गए। इन के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के कारण आलोचकों ने काव्य-शास्त्र के आचार्यों के बीच विभाजन-रेखा खीचकर उन्हें दो भागों में विभक्त कर दिया —पूर्वध्वनि-कालीन आचार्य और उत्तरध्वनि-कालीन आचार्य।

इन के अमर ग्रन्थ के प्रधान टीकाकार अभिनवगुप्त हैं। इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त दशम शती के अन्त और एकादश शती के आरम्भ में विद्यमान थे। इनका साहित्य-शास्त्र के साथ-साथ दर्शन-शास्त्र पर भी समान अधिकार था। यही कारण है कि साहित्य-शास्त्रीय विवेचन को आप अत्यन्त उच्च स्तर पर ले गए—ध्वन्यालोक पर 'लोचन' और नाट्य-शास्त्र पर 'अभिनव भारती' नामक टीकाएँ इस कथन की प्रमाण हैं। इन टीकाओं के गाम्भीर्य, स्वस्थ विवेचन और मार्मिक व्याख्यान के कारण इन्हे स्वतन्त्र ग्रन्थों का ही महत्त्व प्राप्त है और अभिनवगुप्त को टीकाकार के स्थान पर 'आचार्य' के महामहिमशाली पद से सुशोभित किया जाता है। लोचन और अभिनवभारती में स्थान-स्थान पर इनके गुरुओं

भट्टेन्दुराज और भट्टतौत (तौत) के सिद्धान्तों का उल्लेख भी बड़े समादर से किया गया है। इनके अतिरिक्त भरत-सूत्र के अन्य व्याख्याताओं शंकुक, लोल्लट, तथा भट्टनायक के सिद्धान्तों की चर्चा भी इन ग्रन्थों में की गई है, जिससे ये टीकाएँ सैद्धान्तिक क्रमिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन गई हैं। अभिनवगुप्त का 'अभिव्यक्तिवाद' रस-सिद्धान्त में एक प्रौढ और व्यवस्थित वाद है। यद्यपि इस वाद का समय-समय पर खण्डन किया गया, फिर भी यह वाद शताब्दियों तक अचल बना रहा। यहाँ तक कि जगन्नाथ जैसे पण्डितराज ने भी इसे ज्यों का त्यों अपना लिया। अभिनवगुप्त-प्रणीत दर्शन-शास्त्र के कुछ ग्रन्थों के नाम हैं—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्षिणी, तन्त्रसार और परमार्थसार।

राजशेखर

राजशेखर विदर्भ (बरार) के निवासी थे, और कन्नौज के प्रतिहारवंशी महेन्द्रपाल और महीपाल के राजगुरु थे। इनका जीवन-काल दशम शती का प्रथमार्द्ध माना गया है। काव्य-शास्त्र से सम्बद्ध 'काव्यमीमांसा' नामक इनका एक ग्रन्थ प्रसिद्ध है, जो १८ भागों या अधिकरणों में विभक्त है, पर अभी तक 'कविरहस्य' नामक एक ही भाग प्राप्त हो सका है, जिसे सर्वप्रथम गा० ओ० सी० बड़ौदा ने और फिर बिहार-राष्ट्र-भाषा-परिषद् ने हिन्दी-अनुवाद-सहित प्रकाशित किया। इस भाग में अठारह अध्याय हैं, जिनमें काव्य-स्वरूप, काव्यभेद, काकु-वक्रोक्ति, रीति-प्रकार, कवि-भेद, आलोचक-भेद, कवि-चर्या, राजचर्या, राजदरबारी वैभव, शब्द-हरण, अर्थहरण, कवि-समय, काल-विभाग आदि नवीन और पुरातन विषयों का अद्भुत और विशद संग्रहात्मक निरूपण है। इनके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर भौगोलिक तथ्यों का उल्लेख आचार्य की 'यायावर'[1] वंश से उत्पत्ति की सार्थकता घोषित करता है। साहित्यविद्यावधू और काव्य-पुरुष की यात्रा की काल्पनिक कथा में एक ही साथ काव्य के तीन अंगों—वृत्ति, रीति और प्रवृत्ति का देशपरक स्वरूप-निर्देश राजशेखर की इतिहास-प्रवृत्ति, भूगोल-रुचि तथा साहित्यिक कल्पना-शक्ति का द्योतक है। ग्रन्थ के आरम्भ में कितने ही अख्यात आचार्यों का नामोल्लेख भारतीय काव्य-शास्त्र की विशाल परम्परा और महान् साहित्य की ओर संकेत करता है। निःसन्देह अपने प्रकार का यह एक निराला ग्रन्थ है। राजशेखर के अन्य ग्रन्थ हैं—बालरामायण, बालभारत, कर्पूर-मंजरी और विद्धशाल-मंजिका।

---

१. निरन्तर चलने-फिरने वाले गृहस्थ ऋषि

धनंजय और धनिक

कहा जाता है कि धनंजय और धनिक दोनों भाई थे। वे दसवी शती के अन्त में विद्यमान थे। धनंजय का ग्रन्थ दशरूपक है : और धनिक ने उस ग्रन्थ पर 'अवलोक' नामक टीका लिखी है, जो विद्वत्तापूर्ण और सारगर्भित है। दशरूपक नाटच-शास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ है। इसमें चार प्रकाश और लगभग ३०० कारिकाएँ हैं। प्रथम प्रकाश में सन्धि आदि नाटकीय अंगों का विवेचन है, द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका भेद है, तृतीय प्रकाश में दृश्य-काव्य का सांगोपांग, निरूपण है और अन्तिम प्रकाश में रस-विवेचन। रसनिष्पत्ति के विषय में इन्होंने व्यंजना-वाद को अस्वीकृत कर तात्पर्यवाद का समर्थन किया है। शान्त रस को ये काव्य में तो ग्राह्य मानते हैं, पर नाटक में नही। भरत के नाटच-शास्त्र की विशालता तथा काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों के अविरत सृजन के कारण पाठक नाटच-विधानों से अपरिचित होता जा रहा था। धनंजय ने अपने इस लघु किन्तु सारगर्भित ग्रन्थ द्वारा साहित्यिकों को नाटच-शास्त्रीय विधान की ओर आकृष्ट किया। परिणाम-स्वरूप सागरनन्दी और रामचन्द्र-गुणचन्द्र जैसे आचार्यो ने नाटचशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे, तथा विश्वनाथ जैसे आचार्य ने अपने सकल-काव्यांगनिरूपक ग्रन्थ में नाटच-विधान से भी सम्बद्ध एक परिच्छेद सम्मिलित कर दिया। इस ग्रन्थ की हिन्दी में भी दो टीकाएँ उपलब्ध हैं।

कुन्तक

इनका समय दशम शती का अन्त तथा एकादश शती का आरम्भ माना गया है। इनकी प्रसिद्धि 'वक्रोक्तिजीवितम्' नामक ग्रन्थ के कारण है। इस में चार उन्मेष हैं। प्रथम उन्मेष में काव्य का प्रयोजन, तथा वक्रोक्ति का स्वरूप और उसके छः भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। द्वितीय उन्मेष में वक्रोक्ति के प्रथम तीन भेदों—वर्णविन्यास-वक्रता, पदपूर्वार्द्ध-वक्रता तथा प्रत्यय-वक्रता का वर्णन है, तृतीय उन्मेष में वाक्य-वक्रता का विस्तृत निरूपण है, तथा अन्तिम उन्मेष में अन्तिम दो भेदों—प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता का।

कुन्तक प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य थे। इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का 'जीवित' माना और इसके उक्त छह भेदों में काव्य के सभी अंगों को अन्तर्भूत किया। उदाहरणार्थ, अलंकारों को इन्होंने वाक्य-वक्रता में सम्मिलित कर लिया। कुन्तक की मौलिकता स्तुत्य है। इन्होंने सर्वप्रथम अलंकारों की वर्द्धमान संख्या को स्थिर करने का मार्ग दिखाया। स्वभावोक्ति अलंकार के सम्बन्ध में इन की धारणा साहसपूर्ण है और रसवदादि अलंकारों का विवेचन नितान्त मौलिक है। वैदर्भादि मार्गों के प्रदेशाभिधानवाद का

इन्होंने प्रबल शब्दों में खण्डन किया है, तथा परम्परा से हट कर नवीन गुणों की सृष्टि की है। उपलब्ध प्रतियों में ग्रन्थ के प्रथम दो उन्मेष तो पूर्ण हैं, पर अन्तिम दो खण्डित हैं। अब इस ग्रन्थ का हिन्दी भाष्य भी प्रकाशित हो गया है।

महिम भट्ट

महिम भट्ट काश्मीर-निवासी प्रतीत होते हैं। इनका समय ११वी शती का प्रथम चरण है। इनकी कृति का नाम व्यक्ति-विवेक है, जिस का शाब्दिक अर्थ है व्यक्ति अर्थात् व्यंजना का विवेक। ग्रन्थ में तीन विमर्श हैं। महिम भट्ट अनुमानवादी आचार्य थे। ग्रन्थ के प्रथम और तृतीय विमर्श में महिम भट्ट ने आनन्दवर्द्धन-सम्मत ध्वनि-सिद्धान्त को अनुमान में अन्तर्भूत करके अपने विलक्षण पाण्डित्य का परिचय दिया है। पर महिम भट्ट के अनुमानवाद का अनुसरण नही हुआ, यहाँ तक कि इस ग्रन्थ के टीकाकार रुय्यक ने, जो ध्वनिवाद के समर्थक थे, इस वाद का खण्डन तथा उपहास किया है। द्वितीय विमर्श का सम्बन्ध दोष से है, जिसे इन्होंने अनौचित्य' नाम दिया है। मम्मट ने अपने दोष-निरूपण मे पाँच दोष महिम भट्ट से लिए हैं।

भोज

भोजराज धारा-नरेश का जीवन-काल ११वी शती का प्रथमार्द्ध है। कवियों के आश्रयदाता होने के अतिरिक्त वे स्वयं भी प्रगाढ़ आलोचक और काव्य-शास्त्री थे। काव्य-शास्त्र से सम्बद्ध इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—सरस्वतीकण्ठाभरण और शृंगारप्रकाश। ये दोनों ग्रन्थ विशालकाय हैं। प्रथम ग्रन्थ में पाँच परिच्छेद हैं, जिन में दोष, गुण, अलंकार और रस का विशद एव संग्रहात्मक विवेचन है। स्थान-स्थान पर प्राचीन आचार्यों के उद्धरणों से यह ग्रन्थ भरा पड़ा है। शृंगारप्रकाश में ३६ प्रकाश हैं। प्रथम आठ प्रकाशों में व्याकरण-सम्बन्धी सिद्धान्तो का प्रतिपादन है। अगले चार प्रकाशो में गुण, दोष, महाकाव्य और नाटक का विवेचन है, तथा अन्तिम १३ प्रकाशों में रस का सांगोपांग विशद निरूपण है। भोज का प्रमुख सिद्धान्त है केवल शृंगार रस की ही मान्यता तथा उसी में अन्य रसों का अन्तर्भाव। पर शृंगार के विषय मे भोज की धारणा परम्परागत शृगार रस से नितान्त विभिन्न है। शृगारप्रकाश अभी तक अप्रकाशित है। पर डा० राघवन के प्रबंध "भोज स् शृगारप्रकाश" से ग्रन्थ का सम्यक् परिचय मिल जाता है। इस प्रबंध के प्रथम दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं। भोजराज के इन दोनों ग्रन्थों

को काव्य-शास्त्रीय विश्वकोष कहना चाहिए। सरस्वतीकण्ठाभरण पद्यबद्ध है, और इसकी शैली सरल-सुबोध है, पर शृंगार-प्रकाश गम्भीर एवं प्रौढ शैली में रचित गद्य-पद्यबद्ध ग्रन्थ है। इन दो विभिन्न शैलियों को देख कर सहज अनुमान होता है कि इन ग्रन्थों के कर्त्ता कदाचित् भिन्न-भिन्न हो, और यह अनुमान भोज जैसे आश्रय-दाता के विषय में ठीक भी हो सकता है। सम्भव है दो विभिन्न आचार्यों ने ये ग्रन्थ लिखकर भोजराज के नाम पर समर्पित कर दिए हों, किन्तु ये अप्रिय अनुमान हैं और निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता।

क्षेमेन्द्र

क्षेमेन्द्र काश्मीर निवासी थे। वे ११वी शती के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे। इन के तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—औचित्य-विचार-चर्चा, सुवृत्त-तिलक और कविकण्ठाभरण। प्रथम ग्रन्थ में औचित्य को लक्ष्य मे रखकर क्षेमेन्द्र ने वाणी के विभिन्न अंगों—वाक्य, गुण, रस, क्रिया, करण, लिग, उपसर्ग, देश, स्वभाव आदि का स्वरूप निर्धारित किया है। द्वितीय ग्रन्थ में छन्द के औचित्य का निर्देश है। तीसरा ग्रन्थ कवि-शिक्षा से सम्बद्ध है। ग्रन्थ की ५ सन्धियों में क्रमशः कवित्व-प्राप्ति के उपाय, कवियों के भेद, काव्य के गुण, तथा दोष का विवेचन है। क्षेमेन्द्र के ये ग्रन्थ लघुकाय हैं, पर इनमें भी काव्य के विविध अंगों पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि 'औचित्य' कोई नया तत्त्व नहीं है—आनन्दवर्द्धन 'औचित्य' शब्द को और महिम भट्ट 'अनौचित्य' शब्द को अपने दोष प्रकरणों में स्थान दे आए थे—पर इसी के आधार पर समस्त वागंगों को निर्धारित कर देना क्षेमेन्द्र की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है। कुछ विद्वान् औचित्य को भी काव्य-शास्त्र का एक 'वाद' मानने लगे हैं, पर हमारे विचार में यह काव्य-शास्त्रीय विधानो में से एक आवश्यक विधान है, कोई स्वतन्त्र वाद नही।

मम्मट

मम्मट काश्मीर के निवासी थे। इन का जीवन- काल ११ वी शती का उतरार्द्ध है। इनकी ख्याति काव्यप्रकाश के कारण है, जिसमें दश उल्लास हैं। प्रथम उल्लास में काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु तथा काव्य-भेदों की चर्चा है। अगले दो उल्लासों में शब्द-शक्ति का विवेचन है। चतुर्थ उल्लास मे ध्वनि-भेदों तथा उन के अन्तर्गत रस-भावादि का गम्भीर विवेचन है। पंचम उल्लास मे गुणीभूत व्यंग्य के भेदों के स्वरूप-निर्देश के अनन्तर ध्वनि की स्थापना की गई है। षष्ठ उल्लास में चित्र-काव्य का संक्षिप्त-सा परिचय है। अन्तिम चार उल्लासों मे क्रमशः

दोष, गुण, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का निरूपण है। अनुप्रास नामक शब्दालंकार के अन्तर्गत वृत्तियों अथवा रीतियों की चर्चा भी की गई है। इस प्रकार उनका यह ग्रन्थ सर्वाङ्गपूर्ण बन गया है।

काव्य-शास्त्र के आचार्यों में मम्मट का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन के निरूपण की प्रमुख विशेषता है अपने समय तक की काव्य-शास्त्रीय सभी विषय-सामग्री का संकलन, तथा उस का ध्वनि-सम्प्रदाय की दृष्टि से व्यवस्थापूर्ण सम्पादन। यह ग्रन्थ इतना सुव्यवस्थित और सुसम्बद्ध है कि अद्यावधि इस के अध्ययन के बिना काव्य-शास्त्र का ज्ञान अपूर्ण समझा जाता है। मम्मट ने ध्वनि-सम्प्रदाय की पुष्टि करने के लिए अनुमानवादी, अभिधावादी, लक्षणावादी सभी का पुष्ट शब्दों में खण्डन प्रस्तुत कर ध्वनि की स्थापना की है। अभिनवगुप्त की अभिनवभारती अथवा अन्य स्रोतों से शंकुक आदि भरतसूत्र के चार व्याख्याताओं के व्याख्यान को इन्होंने अत्यन्त संक्षिप्त पर सारगर्भित एवं सुसम्बद्ध शैली में इतनी परिपूर्णता से प्रस्तुत किया है कि साहित्य के विद्यार्थी को मूलस्रोत के अन्वेषण और अध्ययन की आवश्यकता ही नही हुई। काव्य-प्रकाश की अन्य विशेषता है—तीन गुणों की स्वीकृति और उन में वामन-सम्मत २० गुणों का समाहार। दोष-निरूपण का विस्तार इस ग्रन्थ की अन्य उल्लेखनीय विशेषता है। ध्वनि-सम्प्रदाय के महान् समर्थक होते हुए भी मम्मट ने अपने काव्य-लक्षण में समन्वयवाद की ओर रुचि दिखाई है। मम्मट की इन विशिष्टताओं का प्रभाव आगामी आचार्यों पर भी पड़ा हैं। विश्वनाथ जैसे आचार्य ने, जिसने मम्मट के काव्य-लक्षण का बुरी तरह से खण्डन किया है, अपने ग्रन्थ के निर्माण के लिए कुछ एक स्थलों को छोड़कर प्राय: शेष सामग्री काव्यप्रकाश से ही लेकर उसे पद्यबद्ध कर दिया है। इधर हिन्दी के सर्वाङ्ग-निरूपक आचार्यों को भी अनिवार्यत: काव्यप्रकाश की शरण लेनी पड़ी है।

ग्रन्थ की ख्याति और उपादेयता का परिचय इस से भी मिलता है कि संस्कृत मे इस पर ७० से अधिक टीकाएँ रची गई हैं, जिन में से मौलिकता की दृष्टि से गोविन्द ठाकुर की काव्यप्रदीप टीका सर्वश्रेष्ठ है और संकलन की दृष्टि से भट्ट वामन की बाल-बोधिनी टीका। हिन्दी मे भी दो-तीन टीकाएँ अथवा व्याख्याएँ प्रकाशित हो चुकी हैं तथा अंग्रेजी में भी दो टीकाएँ उपलब्ध हैं।

रुय्यक

रुय्यक काश्मीर-निवासी थे जिनका समय १२वीं शती का मध्य-काल था। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अलंकारसर्वस्व' है जिसका अन्य नाम 'अलंकारसूत्र' भी है। इन्होंने 'व्यक्तिविवेक' पर भी टीका लिखी है। पर उस में इन्होंने महिम भट्ट के अनुमानवाद

को अमान्य ठहराया है, तथा एक स्थान पर उस का उपहास भी किया है। अलंकार-सर्वस्व अलंकारों का प्रौढ और प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस में दो नवीन अलंकारों विकल्प और विचित्र का समावेश किया गया है। अलंकारों की शब्दगतता अथवा अर्थगतता का आधार मम्मट ने अन्वय-व्यतिरेक को माना था, पर रुय्यक ने आश्रयाश्रयिभाव को माना है। रुय्यक के निरूपण की एक अन्य विशिष्टता है—ग्रन्थ के आरम्भ में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विभिन्न सिद्धान्तों के सम्बन्ध में सारगर्भित, मार्मिक एवं तुलनात्मक समीक्षण। यह समीक्षण जितना संक्षिप्त है, उतना ही तत्त्वपूर्ण और सुसम्बद्ध भी है।

विश्वनाथ

विश्वनाथ कदाचित् उड़ीसा के निवासी थे। इनका समय १४वीं शती का पूर्वार्द्ध है। इन की ख्याति साहित्यदर्पण नामक ग्रन्थ के कारण है। इस ग्रन्थ में दस परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य-स्वरूप, काव्य-भेद आदि का निरूपण है; द्वितीय में शब्द-शक्ति का और तृतीय में रस और नायक-नायिका-भेद का। चतुर्थ परिच्छेद में ध्वनि तथा गुणीभूत-व्यंग्य के प्रकारों का विवेचन है; पंचम परिच्छेद में व्यञ्जना वृत्ति की स्थापना की गई है। षष्ठ में दृश्य-काव्य का सांगोपांग निरूपण है। अन्तिम चार परिच्छेदों में क्रमशः दोष, गुण, रीति और अलंकार का निरूपण है।

विश्वनाथ ने मम्मट, आनन्दवर्धन, कुन्तक, भोजराज आदि के काव्य-लक्षणों का खण्डन प्रस्तुत कर रस को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए काव्य का लक्षण निर्धारित किया है। सब से घोर खण्डन मम्मट के काव्य-लक्षण का किया गया है, पर फिर भी अपने ग्रन्थ की अधिकांश सामग्री के लिए वे मम्मट के ही ऋणी हैं। आश्चर्य तो यह है कि रस को काव्य की आत्मा मानते हुए भी इन्होंने आनन्दवर्द्धन तथा मम्मट के समान रस को ध्वनि के एक भेद असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का एक रूप माना है। अलंकारों के स्वरूप-निर्देश के लिए इन्होंने मम्मट के अतिरिक्त रुय्यक से भी सहायता ली है।

विश्वनाथ का यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। इस का एक ही कारण है—काव्यप्रकाश की सूत्रबद्ध और समास-प्रधान शैली की अपेक्षा सुबोध शैली में प्रायः पद्यबद्ध सिद्धान्त-प्रतिपादन। इसी गुण के द्वारा विश्वनाथ ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। पर मौलिक प्रतिभा और आचार्यत्व की दृष्टि से इन की देन अधिक नही है। इन के ग्रन्थ की उल्लेखनीय विशिष्टता है—नायक-नायिका भेद तथा दृश्य काव्य के भेदोपभेदों का समावेश। इन प्रसंगों के लिए वे धनंजय के ऋणी हैं, पर यहाँ भी सुबोध शैली इनकी अपनी है।

विश्वनाथ का दूसरा ग्रन्थ है—काव्यप्रकाश-दर्पण, यह स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर काव्य-प्रकाश की टीका है। यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है।

जगन्नाथ

जगन्नाथ का यौवनकाल दिल्ली के प्रसिद्ध शासक शाहजहाँ के दरबार में बीता था, शाहजहाँ ने ही इन्हें पंडितराज की उपाधि से विभूषित किया था। अतः इनका समय स्पष्टतः १७वी शती का मध्यभाग है। इनकी प्रसिद्ध रचना रस-गंगाधर है, जो अपूर्ण है। इसमें दो आनन हैं। प्रथम आनन में काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु तथा काव्य-भेदों के निरूपण के पश्चात् रस, रसदोष तथा गुण आदि का सांगोपांग विशद व्याख्यान है। द्वितीय आनन मे ध्वनि के विभिन्न भेदोपभेदों के विवेचन के उपरान्त अभिधा तथा लक्षणा का विवेचन है, और इस के बाद अलंकार-निरूपण प्रारम्भ हो जाता है। ७० अलंकारों के पश्चात् ग्रन्थ का अगला भाग उपलब्ध नहीं है। अधिक सम्भावना यही है कि इसके आगे ग्रन्थ लिखा ही नहीं गया।

जगन्नाथ का काव्य-लक्षण अधिक परिपूर्ण तथा सुबोध है। इन्होंने काव्य के चार भेद माने हैं—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम। ये ध्वनिवादी आचार्य थे, फिर भी रस के प्रति इन्होंने कम समादर प्रकट नही किया। भरत-सूत्र पर उपलब्ध ११ व्याख्याओं का विशुद्ध संकलन भी केवल इसी ग्रन्थ में उपलब्ध है। इन्होंने गुण को रस के अतिरिक्त शब्द-अर्थ और रचना का भी धर्म सर्वप्रथम समान रूप से स्वीकार किया है।

जगन्नाथ की समर्थ भाषा-शैली, सिद्धान्त-प्रतिपादन की विचित्र और परिपक्व विचार-शक्ति और खण्डन करने की विलक्षण प्रतिभा इन्हे प्रौढ़ एवं सिद्धहस्त आचार्य मानने को बाध्य करती है। विद्वानों की ज्ञान-परीक्षा के लिए रसगंगाधर भले ही एक निकष रहा हो, पर भाषा की कठिनता के कारण सामान्य पाठक इसे नही अपना सके। किन्तु इससे पण्डितराज के गम्भीर पाण्डित्य में कोई क्षति नहीं होती।

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त काव्य-शास्त्र से सम्बद्ध इनका एक अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध है—चित्रमीमांसा-खण्डन। इस में अप्पय दीक्षित के अलंकार-विषयक चित्र-मीमांसा नामक ग्रन्थ की कटु किन्तु यथार्थ आलोचना की गई है।

केशवदास

केशवदास हिन्दी के प्रथम आचार्य हैं। काव्य-शास्त्र से सम्बद्ध इनकी दो पुस्तके प्रसिद्ध हैं—रसिकप्रिया और कविप्रिया, जिनका निर्माण क्रमशः सं॰ १५९१ और १६०१ ई० में हुआ। रसिकप्रिया में १६ प्रकाश हैं जिनमें शृंगाररस, इसके भेदोपभेद तथा नायक-नायिका-भेद का वर्णन है। कविप्रिया में भी १६ प्रभाव हैं जिनमे विभिन्न

काव्यांगों का—और विशेष रूप से सामान्य तथा विशेष अलंकारों का निरूपण साधारण पाठकों को लक्ष्य में रख कर प्रस्तुत किया गया है।

केशवदास को हिन्दी काव्य-शास्त्र का प्रवर्तक होने का गौरव प्राप्त है—हिन्दी के उस व्यापक काव्य-युग के प्रवर्तन का श्रेय न केशव के किसी पूर्ववर्ती रीति-कवि को दिया जा सकता है और न परवर्ती को। केशव ने ही हिन्दी में सबसे पहले सचेष्ट रूप से संस्कृत की पूर्व-ध्वनि और उत्तर-ध्वनि परम्पराओ को अवतरित किया, और अपने पांडित्य-गुरु व्यक्तित्व के बल पर हिन्दी-काव्य मे शास्त्रीय पद्धति की प्रतिष्ठा की। इसमे सन्देह नही कि उनका अलंकार-सिद्धान्त बाद मे मान्य नही हुआ—उनकी भ्रान्तियाँ अत्यन्त स्पष्ट और मुखर हैं। इसमें भी सन्देह नही कि उन्होने हिन्दी के काव्य-साहित्य को आधार मानते हुए सिद्धान्त-व्यवस्था न कर प्रायः संस्कृत का ही अनुवाद किया है। हमे यह भी स्वीकार्य है कि स्वयं हिन्दी के भी कतिपय परवर्ती आचार्यों—कुलपति, श्रीपति, दास आदि—का विवेचन केशव के विवेचन की अपेक्षा अधिक स्वच्छ और व्यवस्थित है, फिर भी केशव की प्रतिभा उनमें से किसी मे नही थी। भक्ति-काव्य की वेगवती धारा को रीति-पथ पर मोड़ने के लिए एक प्रभावशाली व्यक्तित्व की आवश्यकता थी—और प्रतिभा तथा पांडित्य से परिपुष्ट यह व्यक्तित्व था केशव का।

चिन्तामणि

चिन्तामणि त्रिपाठी नागपुर के भोसला राजा मकरन्दशाह के दरबारी कवि थे। कहा जाता है कि दिल्ली-सम्राट शाहजहाँ ने भी इन्हे एक बार पुरस्कृत किया था। इनका जन्म सन् १६०९ ई० के लगभग और रचना-काल १६४३ ई० के लगभग माना गया है। इनके बनाए छह ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—काव्यविवेक, काव्यप्रकाश, कविकुल-कल्पतरु, रसमंजरी, पिंगल और रामायण। प्रथम चार ग्रन्थ काव्य-शास्त्र से सम्बद्ध हैं, पाँचवाँ छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ है और अन्तिम रामचरित्र-सम्बन्धी काव्य प्रतीत होता है। नायक-नायिका-भेद विषयक शृंगारमंजरी नामक ग्रन्थ भी इन्हीं का कहा जाता है। पर मूलतः इसका निर्माण सन्त अकबरशाह उपनाम 'बड़े साहब' ने आन्ध्र भाषा में किया था।

इनके काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में कविकुलकल्पतरु प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो आठ प्रकरणों में समाप्त हुआ है। कुल पद्यसंख्या ११३३ है। इस ग्रन्थ मे काव्य-स्वरूप, काव्य-भेद, गुण, अलंकार, दोष, शब्द-शक्ति और ध्वनि का निरूपण है। इन्होंने मम्मट के समान ध्वनि-प्रकरण के अन्तर्गत रस का निरूपण किया है, और विश्वनाथ

के समान रस-प्रकरण के अन्तर्गत नायक-नायिका भेद का। चिन्तामणि रस-ध्वनिवादी आचार्य हैं। चिंतामणि ने अपने ग्रन्थ के निर्माण के लिए मम्मट के अतिरिक्त अनेक स्थलों पर विद्यानाथ, विश्वनाथ और भानुमिश्र का भी आश्रय लिया है। इनका अलंकार-प्रकरण विद्यानाथ के ग्रन्थ पर प्रायः आश्रित है, और नायक-नायिका भेद प्रकरण भानुमिश्र पर। रस प्रकरण में इन्होंने मम्मट, विश्वनाथ और विद्यानाथ तीनों का आश्रय लिया है। विषय-संकलन की दृष्टि से यह कविकुलकल्पतरु निस्सन्देह उपादेय है। हिन्दी के रीतिकारों में चिन्तामणि प्रथम सर्वांग-निरूपक आचार्य हैं, जिन्होंने मम्मट आदि उत्तरवर्त्ती आचार्यों की शैली पर काव्यांगों का निरूपण एक ही ग्रन्थ में उपस्थित कर आगामी आचार्यों के लिए मार्ग-निर्देशन किया है।

कुलपति

कुलपति आगरा-निवासी थे और कूर्मवंशी जयसिंह के पुत्र रामसिंह के दरबारी कवि थे। रस-रहस्य इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसका निर्माण सन् १६७० ई० में हुआ था। 'गुण रस रहस्य' भी इनका ही ग्रन्थ कहा जाता है, पर वह अनुपलब्ध है। रस-रहस्य में आठ वृत्तान्त हैं, और कुल ६५२ पद्य। विषय को स्पष्ट करने के लिए स्थान-स्थान पर गद्य का भी आश्रय लिया गया है। इस ग्रन्थ मे काव्य-स्वरूप, काव्य-प्रयोजन, काव्य-कारण, शब्द-शक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, गुण, दोष और अलंकारों का निरूपण है। ये प्रकरण प्रायः मम्मट के आधार पर लिखे गए हैं यद्यपि कुछ स्थलों पर विश्वनाथ से भी सहायता ली गई है। मम्मट के समान ध्वनि के ही अन्तर्गत इन्होंने रस का निरूपण किया है जिससे इन्हे ध्वनिवादी आचार्य ही मान सकते हैं। इनके ग्रन्थ में नायक-नायिका-भेद को स्थान नही मिला। कुलपति के निरूपण की यह विशिष्टता है कि इन्होने काव्यप्रकाश की कारिकाओं का अनुवाद मात्र प्रस्तुत न कर काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तो को सरल और सुबोध शैली में प्रतिपादित किया है। इस शैली के निर्वाह में वे प्रायः सफल रहे हैं; विषय-सामग्री का प्रतिपादन भी प्रायः शुद्ध और व्यवस्थित है। दशरूपककार धनिक के समान ये शान्त रस को काव्य का विषय तो मानते हैं, पर नाटक का नहीं।

सोमनाथ

सोमनाथ जयपुर-नरेश महाराज रामसिंह के जन्मगुरु थे। इनका एक ही ग्रन्थ प्रसिद्ध है—रसपीयूषनिधि, जिसका निर्माण सन् १७३७ ई० में ब्रज (भरतपुर) के राजकुमार प्रतापसिंह के लिए किया गया था। इस ग्रन्थ में २२ तरंगे हैं और कुल ११२७ पद्य। प्रथम दो तरंगों में राजकुल आदि तथा आचार्य का अपना परिचय

है। अगली तीन तरंगों में छन्दःशास्त्र का निरूपण है। शेष ग्रन्थ मे काव्य-स्वरूप, काव्य-प्रयोजन, काव्य-कारण, शब्द-शक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, दोष, गुण और अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ में भी ध्वनि के ही अन्तर्गत रस-प्रकरण को स्थान दिया गया है और शृंगार रस के आलम्बन विभाव के प्रसंग में नायक-नायिका भेद को। इनके रस और नायक-नायिका-भेद प्रकरण क्रमशः भानुमिश्र रचित रसतरंगिणी और रसमंजरी पर प्रायः आधृत हैं। अर्थालकार प्रकरण के लिए अप्पय दीक्षित-रचित कुबलयानन्द का आश्रय लिया गया है और शेष प्रकरणों के लिए प्रायः मम्मट और विश्वनाथ के ग्रन्थों का। इनकी शैली की सरलता और सुबोधता आकर्षक है। सोमनाथ का ध्येय साधारण पाठकों के लिए सुबोध काव्य-शास्त्र का निर्माण करना प्रतीत होता है और इस ध्येय में वे निस्सन्देह सफल हुए हैं। इनका दूसरा प्राप्य ग्रन्थ शृंगार-विलास है। इसमें छह पूर्ण-उल्लास हैं, और सातवाँ उल्लास खण्डित है। वस्तुतः शृंगार-विलास कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, रसपीयूषनिधि में प्रतिपादित शृंगार रस और नायक-नायिका-भेद की ही सामग्री को नाममात्र के परिवर्तन के साथ प्रस्तुत कर इसे स्वतन्त्र नाम दे दिया गया है।

भिखारीदास

भिखारीदास प्रतापगढ़ के राजा पृथ्वीपतिसिंह के अनुज हिन्दूपतिसिंह के आश्रित कवि थे। काव्य-शास्त्र पर इनके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—रससारांश, काव्य-निर्णय और शृंगार-निर्णय। इनकी रचना क्रमशः सन् १७३९, १७४६ और १७५० में हुई। रससारांश और शृंगारनिर्णय रस, नायक-नायिका-भेद से सम्बद्ध ग्रन्थ हैं। शृंगारनिर्णय में शृंगारेतर रसों को स्थान नही मिला, पर रससारांश इस दृष्टि से पूर्ण है। दास की ख्याति का आधार काव्यनिर्णय ग्रन्थ है, जिसमें २५ उल्लास हैं, और कुल १२१० पद्य। इसमें काव्य-स्वरूप, शब्द-शक्ति, तुक और दोष का निरूपण है। इस ग्रन्थ में गुणों का निरूपण अलंकार-प्रकरण में किया गया है। नायक-नायिका-भेद का प्रसंग सर्वथा छोड़ दिया गया है—कारण स्पष्ट है—रससारांश नामक ग्रन्थ का निर्माण काव्यनिर्णय से पहले ही हो चुका था। दास ने भी विश्वनाथ के समान रस को ध्वनि के अन्तर्गत निरूपित न कर स्वतन्त्र स्थान दिया है। सिद्धान्त की दृष्टि से इन्होंने रस और ध्वनि का समन्वय ही स्वीकार किया है। काव्य-निर्णय में अलंकार-प्रकरण को छोड़ कर शेष प्रकरण प्रायः मम्मट और विश्वनाथ के अनुकूल हैं। दोष-प्रकरण का निरूपण करते हुए इन्हें ब्रजभाषा-साहित्य का भी ध्यान रहा है, अतः कुछ-एक दोष-उदाहरणों में भाषा के भी दोष दिखाए गए हैं। अलंकार-निरूपण के लिए इन्होंने प्रायः अप्पय दीक्षित का आश्रय लिया है, पर अलंकारों को

नूतन वर्गों में विभक्त करने का श्रेय इन्हीं को है। हिन्दी रीतिकालीन आचार्यों में अकेले दास ने ही इस दिशा मे मौलिक प्रयास किया है। इनके अलंकार-प्रकरण की एक अन्य विशिष्टता है चित्रालकार का निरूपण। मौलिकता की दृष्टि से दास का स्थान रीतिकालीन आचार्यों में अग्रगण्य है।

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि चरखारी-नरेश विक्रमसिंह के आश्रित कवि थे। काव्य-शास्त्र से सम्बद्ध इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं— व्यंग्यार्थ-कौमुदी और काव्यविलास। शेष ग्रन्थों के नाम हैं—काव्यविनोद, शृंगारमंजरी और अलकार-चिन्तामणि।

व्यंग्यार्थकौमुदी का रचनाकाल सन् १८२६ है, और काव्यविलास का १८२९। व्यंग्यार्थकौमुदी ग्रन्थ के दो भाग हैं—मूल भाग और टीका भाग। मूल भाग मे १२५ कवित्त-सवैये हैं, जो नायक-नायिका भेदो के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किए गए हैं। टीका-भाग में उक्त उदाहरणों से सम्बद्ध नायक-नायिका भेदों के अतिरिक्त अलंकारो तथा शब्द-शक्ति और ध्वनि के भेदों के लक्षण भी निर्दिष्ट किए गए हैं। इस प्रकार यह अपने ढग का निराला ग्रन्थ है।

काव्यविलास में छह प्रकाश हैं और कुल ४११ पद्य। इनमे काव्य-स्वरूप, काव्य-प्रयोजन, काव्य-कारण, शब्द-शक्ति, ध्वनि गुणीभूत व्यंग्य, गुण तथा दोषों का निरूपण है। रस का निरूपण यहाँ भी ध्वनि-प्रकरण के ही अन्तर्गत किया गया है। नायक-नायिका भेद तथा अलंकार को इस ग्रन्थ में स्थान नही मिला। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि प्रतापसाहि ने व्यंग्यार्थ-कौमुदी और अलंकार-चिन्तामणि मे वर्णित विषयों की पुनरावृत्ति उचित नहीं समझी। इन प्रकरणों के लिए प्रतापसाहि ने काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण की सहायता ली है। काव्यलक्षण प्रसंग को छोड़ कर शेष प्रसंग प्रायः शास्त्रानुकूल हैं। उदाहरण सरस एवं शास्त्र-सम्मत हैं। प्रतापसाहि निश्चित रूप से ध्वनिवादी आचार्य हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

युग-प्रवर्त्तक साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का समय सन् १८५०-१८८५ ई० तक है। उनसे पूर्व हिन्दी-आलोचना की गति लगभग अवरुद्ध ही रही थी। उन्होंने अपने 'नाटक' शीर्षक ग्रन्थ की रचना द्वारा वर्त्तमान सैद्धान्तिक आलोचना पद्धति का गद्य में प्रारूप स्थिर किया। इस कृति में उन्होंने नाटक के स्वरूप, भेदोपभेद, रचना-प्रणाली और रंगमंच आदि विभिन्न विषयों पर प्रकाश डाला है और

प्रायः संस्कृत-आचार्यों द्वारा प्रतिपादित नाटक-सम्बन्धी सिद्धान्तों का ही समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त अपनी 'हिन्दी-भाषा' नामक कृति और कतिपय स्फुट कविताओं में भी उन्होंने तत्कालीन भाषागत समस्या और हिन्दी-भाषा के महत्व की यत्र-तत्र चर्चा की है। व्यावहारिक आलोचना की दृष्टि से उन्होने अपने 'नाटक' ग्रन्थ मे हिन्दी-नाटक-साहित्य के विकास का संक्षिप्त वर्णन किया है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म सन् १८६४ और देहावसान सन् १९३८ ई० में हुआ। महावीरप्रसाद द्विवेदी के कठोर तथा सजग नियंत्रण-निरीक्षण में तत्कालीन हिन्दी भाषा और साहित्य का रूप परिष्कृत हुआ। उनकी आलोचना यद्यपि दोष-दर्शन की प्रवृत्ति के कारण खण्डनात्मक ही अधिक रही परन्तु उसकी कटुता मे ही द्विवेदी जी के विधायक एवं नियामक रूप की झलक मिलती है। 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में उन्होंने आलोचना की शास्त्रीय परम्परा के अनुसार कवि-कर्म का निर्देश तो किया ही, वर्ण्य-विषय, भाषा-शुद्धि तथा छन्द इत्यादि में प्रचलित तत्कालीन अव्यवस्था को दूर करने का भी प्रयत्न किया। मूलतः उनकी आलोचनाओं का आधार शास्त्रीय है, किन्तु शास्त्रीय होते हुए भी उनकी दृष्टि रूढ़िवादी नही थी। उनके युग-प्रवर्तक व्यक्तित्व ने प्राचीन का नवीन के साथ सामंजस्य कर साहित्य के व्यापक सिद्धान्तों का निरूपण किया। द्विवेदी जी की आलोचनात्मक कृतियों में रसज्ञ-रंजन, आलोचनांजलि, साहित्यालाप और साहित्य-सन्दर्भ प्रमुख हैं।

मिश्रबन्धु

मिश्रबन्धु—अर्थात् पं० गणेशबिहारी मिश्र, पं० श्यामबिहारी मिश्र और पं० शुकदेवबिहारी मिश्र—हिन्दी साहित्य के इतिहासकार तथा निर्णयात्मक आलोचना के प्रवर्त्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं। आलोचना के क्षेत्र में इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं; 'साहित्य-पारिजात', 'हिन्दी नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु-विनोद'। इनके सैद्धान्तिक वक्तव्य मुख्यतः 'साहित्य-पारिजात' मे संकलित हैं और शेष दोनो ग्रन्थ व्यावहारिक आलोचना से सम्बद्ध हैं जिनमें क्रमशः हिन्दी के नौ-दस प्रमुख कवियों का मूल्याकन तथा हिन्दी-साहित्य का वृत्त-वर्णन है। इनकी दृष्टि व्यापक तथा समन्वयात्मक थी।

कन्हैयालाल पोद्दार

जन्म सन्—१८७१ ई०

प्राचीन परिपाटी के काव्य-शास्त्रियों में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का प्रमुख स्थान है। इन्होंने यों तो संस्कृत काव्य-शास्त्र के समस्त अमर ग्रन्थों का मन्थन किया

है किन्तु इनके सिद्धान्त-प्रतिपादन का मूल आधार मम्मट का काव्य-प्रकाश ही है। सेठ जी ने मौलिकता का दावा कभी नहीं किया और वास्तव में प्राचीन काव्य-शास्त्र के प्रसंग में मौलिकता का दावा कर भी कौन सकता है। उनका महत्त्व तो मम्मट-अनुमोदित प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों को अत्यन्त निर्भ्रान्त रूप से हिन्दी मे अवतरित करने में है। हमारा विचार है कि इन सिद्धान्तों का इतना सुथरा और शुद्ध विवेचन हिन्दी में अन्यत्र नही मिलेगा। सेठ जी की शैली अत्यन्त स्पष्ट और उनका खण्डन-मण्डन सर्वथा निर्भीक होता है। इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं—रसमंजरी, अलंकार मंजरी साहित्य समीक्षा, संस्कृत साहित्य का इतिहास आदि।

रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य शुक्ल का जन्म सन् १८८४ तथा निधन सन् १९४० ई० में हुआ। आचार्य शुक्ल की समीक्षा के साथ हिन्दी-आलोचना में नवीन युग का सूत्रपात होता है। उन्होंने चमत्कार-प्रदर्शन और मनोरंजन की उपेक्षा कर जीवन के मांगलिक मूल्यों पर आश्रित रसास्वाद द्वारा हृदय-प्रसार को साहित्य का उद्देश्य घोषित किया। उन्होंने एक ओर पाश्चात्य सिद्धान्तों के आधार पर भारतीय काव्य-सिद्धान्तों का पुनराख्यान किया और मनोविज्ञान के द्वारा रस-सिद्धान्त की पुनः प्रतिष्ठा की, और दूसरी ओर जायसी, तुलसी, सूर आदि के अमर काव्यों की सूक्ष्म-गहन तथा प्रौढ़ व्याख्या प्रस्तुत की। शुक्ल जी की सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचनाएं अन्योन्याश्रित हैं—शास्त्रानुमोदित उनके परिपक्व निष्कर्ष विचार तथा अनुभूति दोनों से पुष्ट रहते थे। आचार्य शुक्ल को आधुनिक युग का सर्वश्रेष्ठ भारतीय आलोचक कहना अत्युक्ति न होगी—भारतीय आचार्यों की गौरवपूर्ण परम्परा में उनका स्थान अक्षुण्ण रहेगा।

श्यामसुन्दरदास

डा० श्यामसुन्दरदास का जन्म सन् १८७५ तथा निधन सन् १९४५ ई० में हुआ। डा० श्यामसुन्दर दास ने पौरस्त्य तथा पाश्चात्य दोनों ही साहित्य-शास्त्रों के आधार पर अपनी आलोचना के मापदण्डों का निर्माण किया। 'साहित्यालोचन', 'रूपक-रहस्य,' 'हिन्दी भाषा और साहित्य' 'तुलसीदास' और 'कबीर-ग्रन्थावली की भूमिका' आदि उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी है। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' परवर्ती आलोचकों तथा साहित्य-शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए पथ-प्रदर्शक रहा है। हिन्दी की भूमिका पर पाश्चात्य काव्यांगों का विवेचन सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में किया गया। डा० श्यामसुन्दर दास हिन्दी काव्य-शास्त्र के व्याख्याता आचार्य थे।

पद्मसिंह शर्मा

श्री पद्मसिंह शर्मा का जन्म सन् १८७६ तथा स्वर्गवास सन् १९५२ ई० में हुआ। प्रमुख आलोचनात्मक ग्रन्थ—बिहारी सतसई की भूमिका, पद्मपराग।

हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा का प्रवर्तन करने का श्रेय आचार्य पद्मसिंह शर्मा को ही है। उनकी आलोचनात्मक कृतियों में सैद्धान्तिक निरूपण भी है और व्यावहारिक समीक्षा भी। हिन्दी में मुक्तक-परम्परा का उद्घाटन आलोचना के क्षेत्र में उनका प्रमुख योगदान है। शर्माजी की आलोचना मूलतः परम्पराभुक्त काव्य-शास्त्रीय आलोचना है : जो रसोद्रेक की अपेक्षा ध्वनि तथा वक्रता पर अधिक आश्रित है। उनकी शैली में एक रोचक सजीवता तथा विदग्धता है जो पुराचीन रसिक-गोष्ठियों तथा अर्वाचीन मुशायरों का-सा समा बाँध देती है।

कृष्णबिहारी मिश्र

जन्म सन् १८९० प्रमुख ग्रन्थ : देव और बिहारी, मतिराम ग्रंन्थावली की भूमिका, नवरसतरंग की भूमिका।

मिश्रजी की आलोचना का आधार प्रायः शास्त्रीय है 'गुणाधिक्य, अलंकार-बाहुल्य, रसपरिपाक एवं भाव-चमत्कार कविता की उत्तमता की कसौटी रहनी चाहिये।' अपनी आलोचना में इन्होंने भी पं० पद्मसिंह शर्मा की तुलनात्मक आलोचना-पद्धति का अनुसरण किया है, परन्तु इनकी विवेचना अधिक स्वच्छ तथा रुचि अधिक परिष्कृत है। मिश्रजी ने सच्चे रसज्ञ की भाँति अपनी आलोचना में, शास्त्रीय मान्यताओं का सुथरा विवेचन, आलोच्य कवियों की भाव तथा कलागत विशेषताओ का मार्मिक विश्लेषण, और वैयक्तिक अनुभूतियों का तथा प्रभाव-प्रतिबिम्बों का संयत अभिव्यंजन किया है।

गुलाबराय

बाबू गुलाबराय का जन्म सन् १८८७ ई० है। सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में उनके 'नवरस' 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' नामक तीन प्रौढ ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनमे से प्रथम ग्रन्थ मे रस का विस्तृत विवेचन है और शेष दोनों में साहित्य के मूलभूत सिद्धान्तों तथा कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध और आलोचना आदि विभिन्न रूपों का पूर्वीय एवं पश्चिमीय साहित्य-शास्त्रों के आधार पर समन्वयात्मक विवेचन है। व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने

'हिन्दी काव्य-विमर्श' और 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' के अंतर्गत विशिष्ट कवियों की आलोचना के अतिरिक्त साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण किया है।

जयशंकर प्रसाद

जन्म—सन् १८८९ मृत्यु—सन् १९३७ ई०। यद्यपि काव्य-स्रष्टा 'प्रसाद' के समक्ष 'आलोचक' प्रसाद का महत्व अपेक्षाकृत गौण है फिर भी उनके साहित्य का यह पक्ष भी गभीर और मौलिक प्रतिभा से उद्भासित है। उनका ग्रन्थ 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' उनके प्रौढ़ समीक्षक रूप का परिचायक है। कुछ स्थलों पर प्रसाद जी ने कवि विशेष तथा काव्य-प्रवृत्तियों की व्यावहारिक समीक्षा भी की है परन्तु उसका प्रधान उद्देश्य सैद्धान्तिक निरूपण ही रहा है। उन्होने भारतीय दर्शन तथा साहित्य-शास्त्र के विभिन्न वादो में सम्बन्ध-स्थापन कर उनका ऐतिहासिक निरूपण किया है। शैवागम से अनुप्रेरित रसवाद ही मूलतः उनका काव्य-दर्शन है। 'रति आदि वृत्तियाँ साधारणीकरण द्वारा भेद-विगलित होकर आनन्द-स्वरूप हो जाती है।' अनुभूति और अभिव्यक्ति मे उन्हे अनुभूति की प्रधानता ही मान्य है। व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही। उनके मत से काव्यानन्द प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण है। जिस काव्य मे 'सत्य-शिव-सुन्दर, सार्वजनीनता, चिरन्तनता, अनुभूति और आदर्श की समष्टि है', वही उनके अनुसार श्रेष्ठ काव्य है।

निराला

जन्म सन् १८९६।

निराला प्रमुख रूप से स्रष्टा साहित्यकार हैं। परन्तु समीक्षात्मक कृतियों में भी उनके प्रौढ़ चिन्तक तथा गम्भीर विश्लेषक रूप का परिचय मिलता है। 'प्रबन्ध-पद्म', 'प्रबन्ध-प्रतिभा' तथा 'चाबुक' उनके आलोचनात्मक निबन्धों के संग्रह हैं। उन्होने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनो ही प्रकार के निबन्ध लिखे हैं। निराला जी ने काव्य और कला को एक श्रेणी के अन्तर्गत रखा है तथा उन्हे सौन्दर्य की सृष्टि माना है। उनके शब्दो में 'कला केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अलंकार, रस या ध्वनि की सुन्दरता नही, किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है। पूरे अंगों की सत्रह साल की सुन्दरी की आँखों की पहिचान की तरह देह की क्षीणता, हीनता में तरंग-सी उतरती चढ़ती हुई, भिन्न वर्णों की बनी वाणी में खुल कर क्रमशः मन्द मधुतर होकर लीन होती हुई।' इसी सौन्दर्य तत्त्व को मानदण्ड बनाकर उन्होंने

विद्यापति तथा चंडीदास की कविताओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। सैद्धान्तिक विवेचन में मुक्तछन्द आदि पर उनके विचार अत्यन्त प्रामाणिक हैं।

सुमित्रानन्दन पन्त

जन्म सन् १९०० ई०। आलोचनात्मक ग्रन्थ—गद्य-पथ।

पंत जी के काव्य में छायावादी कला का चरम उत्कर्ष और उनकी भूमिकाओं में उसका सूक्ष्म विश्लेषण मिलता है। पल्लव का 'प्रवेश' छायावाद युग के आविर्भाव का घोषणा-पत्र था। इस दृष्टि से हमारे साहित्य में इसका महत्व बहुत कुछ वैसा ही है जैसा कि अँग्रेज़ी साहित्य में वर्ड्सवर्थ के लिरिकल बैलड्स की भूमिका का। उस समय तक हिन्दी आलोचना अत्यन्त निर्धन थी। इस भूमिका में हिन्दी साहित्य में पहली बार काव्य में बाह्य उपकरणों का, भाषा-अलंकार-छन्द आदि का अत्यन्त सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया। इसमें भाषा, अलंकार, छन्द, लय, तुक इत्यादि बाह्य छवियों का यह आन्तरिक विश्लेषण अपने समय से इतना आगे था कि कम से कम एक दशाब्द तक हिन्दी आलोचक इसके मर्म को नही समझ पाए। 'गद्य-पथ' में पल्लव के 'प्रवेश' के अतिरिक्त आधुनिक कवि का 'पर्यालोचन' उत्तरा की 'प्रस्तावना', तथा युग-वाणी का 'दृष्टिपात' संकलित हैं। इनमें कला का प्रयोजन, आधुनिक काव्य-प्रेरणा के स्रोत इत्यादि का अत्यन्त गम्भीर और मौलिक विवेचन हुआ है।

महादेवी वर्मा

जन्म सन् १९०७ ई०।

महादेवी जी की प्रतिपादन-शैली चिन्तन की शैली है जिसमें विचार और अनुभूति का संयोग है। बौद्धिक तीक्ष्णता तो उनके विवेचन में अधिक नहीं है परन्तु संश्लेषण सर्वत्र मिलता है। शुक्ल जी की शास्त्रीय गवेषणा से सर्वथा भिन्न उनकी शैली प्रसाद और पंत की ठोस बौद्धिक विवेचना की अपेक्षा टैगोर की लचीली काव्य-चिन्तना के अधिक समीप है। महादेवी की आलोचना की दूसरी विशेषता है उसकी ऐतिहासिक एकसूत्रता। उदाहरण के लिए एक ओर उन्होंने छायावाद की प्रकृति-भावना का वेदों से आरम्भ होने वाली प्रकृति-भावना के साथ सम्बन्ध-निरूपण किया है, दूसरी ओर आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियो का समाज की आर्थिक परम्पराओं के साथ। उनकी आलोचना में अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियों का संतुलन है। महादेवी जी की आलोचना मे काव्य के शाश्वत सिद्धान्तों का प्रौढ़ व्याख्यान मिलता है।

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

जन्म सन् १९०८ वि० ।

सुधांशु जी के 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' और 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' नामक दो आलोचना-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। यद्यपि इन्होंने वर्तमान युग के प्रतिनिधि कवियों का संश्लिष्ट विवेचन भी प्रस्तुत किया है, फिर भी इनका प्रमुख क्षेत्र सैद्धान्तिक आलोचना ही रहा है। सुधांशु जी ने पौरस्त्य और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों के गहन अध्ययन के उपरान्त जीवन की भूमिका पर साहित्य के विभिन्न रूपों और अंगों का गम्भीर विश्लेषण किया है। इन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन अधिमानस-शास्त्र मनोविश्लेषण-विज्ञान आदि का आश्रय लेकर काव्य-शास्त्र को व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित किया है। इस दृष्टि से इनका अपना विशिष्ट स्थान है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

जन्म सन् १९०७ ई०

ऐतिहासिक आलोचना के क्षेत्र में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का स्थान अग्रगण्य है। 'हिन्दी साहित्य', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'कबीर', 'नाथ सम्प्रदाय', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', 'अशोक के फूल', 'विचार और वितर्क' आदि उनकी प्रमुख आलोचनात्मक कृतियां है। जन-जीवन की सांस्कृतिक और सामाजिक परम्पराओं का उद्घाटन करते हुए विवेच्य को समष्टि के साथ सम्बद्ध कर देखना इनकी आलोचना का मूल आधार है। द्विवेदी जी साहित्य का सम्बन्ध समग्र नवजीवन के साथ मानकर चलते हैं। उनकी समीक्षा का आधार-फलक मानववादी होने के कारण अत्यन्त विस्तृत है, और उनका व्यक्तित्व उसको सँभालने योग्य पांडित्य, सहानुभूति तथा कल्पना आदि गुणों से सम्पन्न है।

नन्ददुलारे वाजपेयी

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का जन्म सन् १९०६ ई० है। उन्होंने भी अपनी समीक्षा के मानदण्ड भारतीय साहित्य-शास्त्र तथा पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र से ग्रहण किए हैं। सौष्ठववादी आलोचना पद्धति के ये प्रमुख आलोचक हैं। सैद्धान्तिक आलोचना की अपेक्षा व्यावहारिक समीक्षा में इनकी रुचि अधिक रही है। इनका दृष्टिकोण भी रसवादी है; काव्य मे अनुभूति को ही इन्होंने भी प्रधान माना है, अभिव्यंजना

को नहीं। वाजपेयी जी की आलोचना प्रौढ़ काव्य-दर्शन का आधार लेकर चलती है; सांस्कृतिक-सामाजिक प्रेरणाओं को यथावत् महत्व देने पर भी इनकी विवेचना के मूल्य साहित्यिक ही रहते हैं। 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', 'बीसवी शती', 'जयशंकर प्रसाद' और 'महाकवि सूरदास' इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।